भारत का इतिहास-2

ईश्वरी प्रसाद

1526-1950 ई.

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड

इलाहाबाद

1955

भारत का इतिहास

भाग २

(सन् १५२६ से १९५०)

लेखक

ईश्वरीप्रसाद, एम० ए०, एल्-एल० बी०; डी०-लिट्०

इतिहास-शिरोमणि (नैपाल)

भूतपूर्व अध्यापक इतिहास तथा अध्यक्ष राजनीति विभाग

प्रयाग-विश्वविद्यालय

इंडियन ेलकेशंस), लि०, प्रयाग

१९५५

मूल्य ७)

भूमिका

बहुत दिनों से मेरी यह इच्छा थी कि सेकंडरी स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों के लिए भारतवर्ष के इतिहास पर एक पुस्तक लिखूँ। ऐसी पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी, जो विद्यार्थियों को ऐतिहासिक संस्कृति प्रदान कर सके और साथ ही हाईस्कूल-इंटरमीडियेट की परीक्षाओं की आवश्यकताओं की भी पूर्त्ति कर सके। लेनपूल की पुस्तक समयानुकूल नहीं रही और विन्सेंट स्मिथ की 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इंडिया' भी उपयुक्त नहीं रही, अतः उपस्थित ढंगों के अतिरिक्त किसी नये ढंग से एक नई ऐतिहासिक पुस्तक लिखने की अत्यन्त आवश्यकता थी। मेरे पुरातन विद्यार्थियों ने, जो स्कूल-कालेजों में अध्यापन कार्य कर रहे हैं, यह इच्छा प्रकट की कि मैं भारतवर्ष का एक साधारण इतिहास लिखूँ, जिसमें आधुनिक ऐतिहासिक समस्त अन्वेषण का उपयोग किया जाय और साथ ही पुस्तक बहुत बड़ी और क्लिष्ट भी न हो जाय। इसकी पूर्त्ति में मेरा बहुत दिनों का अध्यापन-कार्य द्वारा प्राप्त अनुभव ही मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है। पुस्तक को पाठकों के लिए उपयोगी और सरल बनाने की यथाशक्ति चेष्टा की गई है। इसमें केवल राजनैतिक घटनाओं की ही उनके महत्त्व क्रम के अनुसार चर्चा नहीं की गई है, बल्कि उस समय की सामाजिक और सांस्कृतिक दशा का भी वर्णन किया गया है, जो राजनैतिक उन्नति के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार [illegible] है। ऐतिहासिक पुस्तकें प्रायः या तो बहुत छोटी या बहुत बड़ी और क्लिष्ट हैं। फल यह होता है कि विद्यार्थी सस्ते नोट आदि खरीदकर रटने के लिए विवश हो जाते हैं और ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व ही नष्ट कर देते हैं। यह एक ऐसा दोष है जिसे सच्चे इतिहास-प्रेमियों को त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए। आशा है कि विद्यार्थी तथा अध्यापक, जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गई है, इससे लाभ उठायेंगे और देखेंगे कि इसमें सभी प्रम[illegible] की विशद व्याख्या उनकी योग्यता के अनसार की गई है।

इंटरमीडियेट के नये पाठ्यक्रम में हाल ही में कुछ संशोधन हुआ है। इसके अनुसार दोनों वर्षों में भारतीय इतिहास ही पढ़ाया जायगा। परीक्षा में दो प्रश्न-पत्र होंगे—एक आरम्भ से १५२६ तक, दूसरा १५२६ से वर्त्तमान काल तक।

यदि कोई भारतीय इतिहास के अध्यापक मुझे पुस्तक को और उन्नत करने के लिए सुझाव दे सकें, तो मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत होऊँगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय,
जून, सन् १९५१

—ईश्वरीप्रसाद

विषय-सूची

भारत का इतिहास

अध्याय १

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ का भारत

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष अनेक राज्यों में विभाजित था। दिल्ली का अफगान साम्राज्य विस्तार में बहुत घट गया था। अफगान बादशाह इब्राहीम लोदी का अधिकार दिल्ली, आगरा, बियाना और चन्देरी तक सीमित था। पंजाब पर दौलत खाँ, उसके पुत्र गाजी खाँ और दिलावर खाँ का अधिकार था, जो इब्राहीम लोदी के उच्छृंखल व्यवहार के कारण सशंक रहते थे और उससे स्वतंत्र हो जाने का अवसर ढूँढ़ रहे थे। अन्य अफगान सरदारों की भाँति इन्हें भी इब्राहीम की अधीनता की अपेक्षा बगावत में ही अधिक भलाई जान पड़ती थी, क्योंकि बादशाह के अनिश्चित स्वभाव तथा मनमाने व्यवहार के कारण सरदारों को सदा अपने जान-माल से हाथ धोने की आशंका बनी रहती थी। पश्चिम में सिन्ध और मुल्तान तथा पूर्व में जौनपुर, बंगाल और उड़ीसा स्वतंत्र राज्य हो गये थे। मध्य में मुसलमान शासकों द्वारा शासित मालवा और खानदेश के राज्य थे। उत्तर और मध्य के राज्यों के बीच राजपूत रियासतें थीं। दिल्ली की शक्ति के ह्रास तथा उत्तर के मुसलमान राज्यों के लगातार झगड़ों के कारण इनकी शक्ति बढ़ गई थी।

अफगान राज्य के दक्षिण-पूर्व में जौनपुर का राज्य था, जो करीब-करीब वर्तमान उत्तर प्रदेश में पूर्वी जिलों के स्थान में था। यह एक शक्तिशाली राज्य था। इसके बादशाह दिल्ली के अफगान साम्राज्य के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक लड़ते रहे। अन्त में १४९१ ई० में सिकन्दर लोदी ने, समूचे बिहार को विजय कर लिया और जौनपुर के अंतिम शासक हुसैनशाह को भगा दिया और उसे बंगाल के

शासक के यहाँ शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया। इब्राहीम लोदी बड़ा घमंडी व्यक्ति था जिसके कारण जौनपुर के मामलों में उसके हस्तक्षेप करते ही वहाँ के शक्तिशाली अफगान सरदार नसीर खाँ लोहानी, मारूफ फरमूली आदि के नेतृत्व में बागी हो गये।

बिहार का दरिया खाँ लोहानी विद्रोहियों के संघ का नेता बना। उसने विद्रोह-दमन के लिए भेजी हुई दिल्ली की सेनाओं को कई बार पराजित किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् विद्रोहियों ने उसके पुत्र को अपना नेता चुना और पहले की तरह दिल्ली के शासक के विरुद्ध लड़ते रहे। बंगाल दिल्ली के साम्राज्य से, फीरोजशाह तुगलक के शासन-काल में, अलग हो गया था। इलियास शाह के पुत्र सिकन्दर ने करीब-करीब समूचे बंगाल पर अपना अधिकार जमा लिया था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुसैनी वंश ने अपनी शक्ति भली भाँति स्थापित कर ली थी। इसका पहला शासक अलाउद्दीन हुसैनशाह (१४९३-१५१९) एक योग्य पुरुष था जिसने अपनी विजयों से अपने राज्य का बहुत विस्तार बढ़ाया। उसके पुत्र नुसरतशाह ने अपने शासन-काल में कई अच्छी इमारतें बनवाई। बाबर ने अपने रोजनामचे में उसे हिन्दुस्तान में एक योग्य शासक माना है। मध्य भारत में तीन प्रसिद्ध मुसलमानी राज्य थे जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

गुजरात—गुजरात के स्वतंत्र राज्य के राजवंश का संस्थापक जफर खाँ था, जो १३९१ ई० में गुजरात का हाकिम नियुक्त हुआ था। इस वंश में मुहम्मद, अहमदशाह और महमूद बीगड़ के समान अनेक योग्य तथा महत्त्वाकांक्षी शासक हुए, जिन्होंने इसकी शक्ति तथा प्रभाव को बहुत बढ़ाया। सुल्तान महमूद बीगड़ की मृत्यु होने पर १५११ ई० में मुजफ्फरशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसे मालवा के स्वतंत्र राजवंश के अन्तिम शासक, सुलतान महमूद खिलजी द्वितीय (१५१०-३१ ई०) तथा मेवाड़ के राजपूत शासक राणा साँगा इन दो शक्तिशाली शत्रुओं का सामना करना पड़ा। मालवा के शासक महमूद की सब शक्ति उसके शक्तिशाली मन्त्री राजपूत सरदार मेदिनीराय ने अपने हाथ में कर ली थी। १५१८ ई० में महमूद के प्रार्थना करने पर गुजरात का शासक एक बड़ी सेना लेकर मालवा की ओर गया और उसने मांडू के किले को ले लिया। राजपूतों ने बड़ी वीरता से सामना

किया। कहा जाता है कि अन्तिम मुठभेड़ में १९ हजार राजपूत खेत रहे, जिनमें मेदिनीराय का लड़का भी था। मेदिनीराय का प्रभाव जाता रहा, किन्तु मेवाड़ के वीर शासक राणा साँगा ने उसे चंदेरी का स्वामी बना दिया। उसने १५२७ ई० के इतिहास-प्रसिद्ध खानवा के युद्ध में बाबर के विरुद्ध राणा साँगा का साथ देकर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया। गुजरात और मेवाड़ के बीच बहुत दिनों से विद्वेष के भाव चले आते थे। एक समय ईदर के मुसलमान सूबेदार ने राणा के प्रति कुछ अपशब्द कहे। जब यह बात राणा के कानों तक पहुँची तो उसने ४०,००० वीर राजपूतों की सेना लेकर ईदर के विरुद्ध रण-यात्रा की और गुजरात की सेना को हराया। हम नहीं कह सकते कि इस समय दिल्ली और गुजरात के राज्यों के बीच कैसे संबंध थे। सन् १५२५ की घटनाओं का उल्लेख करते हुए मिरात-ए-सिकन्दरी के लेखक ने लिखा है कि दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम के चचा आलम खाँ ने मुजफ्फरशाह से भेंट की और अपने घमंडी भतीजे के विरुद्ध उसकी सहायता चाही। निस्संदेह उसे यह सहायता प्राप्त न हो सकी।

मालवा––खानदेश के उत्तर में मालवा का राज्य था। मालवा के स्वतन्त्र शासकों के वंश का संस्थापक दिलावर खाँ था, जो पहले दिल्ली के सुल्तान फीरोज-शाह तुगलक का एक जागीरदार था। तैमूर के हमले के बाद जो अशांति मची, उसमें दिलावर खाँ स्वतंत्र हो गया। गोरी वंश का १४३५ ई० में अंत हो गया और गोरी शासक का मंत्री महमूद खाँ, महमूद खिलजी के नाम से, बादशाह बन बैठा। वह गुजरात और मेवाड़ से बराबर लड़ता रहा। फरिश्ता ने ठीक ही कहा है कि खेमा ही उसका घर था और रणभूमि ही उसकी विश्राम-भूमि थी। खिलजी वंश के चौथे शासक महमूद द्वितीय (१५१०-३१) के शासनकाल में राजपूतों ने मालवा की राजशक्ति को अपने हाथ में कर लिया और उनके सरदार मेदिनीराय ने, जिसने सुल्तान महमूद को राजसिंहासन हस्तगत करने में सहायता दी थी, पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। किन्तु राजपूतों का यह प्रभाव मुस्लिम शक्तियों की आँखों में खटकता था और उन्होंने मेदिनीराय के विरुद्ध एका किया। सुल्तान महमूद गुप्त रूप से मुजफ्फरशाह की सहायता माँगने के लिए गुजरात चला गया। वहाँ उसका स्वागत हुआ। मुजफ्फरशाह ने एक बड़ी सेना के साथ मालवा पर चढ़ाई की और मांडू में महमूद को फिर गद्दी पर बैठा दिया। इसके थोड़े ही समय

बाद, महमूद ने मेदिनीराय के विरुद्ध रण-यात्रा की जिसके सहायक चित्तौर के राणा साँगा थे। राजपूतों और मालवा की सेना के बीच भयंकर युद्ध हुआ जिसमें मालवा की सेना पूर्ण रूप से पराजित हुई और सुल्तान स्वयं घायल होकर बंदी हो गया। विशाल हृदय राणा ने उसके साथ उदारतापूर्वक व्यवहार किया। वह उसे अपने खेमे में ले गया और उसके घावों की मरहम-पट्टी कराई, और स्वस्थ हो जाने पर उसे मुक्त कर दिया। सन् १५२५ में मालवा की ऐसी ही अशान्त स्थिति थी। आन्तरिक फूट के कारण महमूद परेशान था और घरेलू युद्ध के कारण देश की बुरी दशा थी। इसी बीच एक नई आफत आई। सन् १५२६ में महमूद ने मुजफ्फरशाह के बाद गुजरात की गद्दी पर अधिकार जमा लेनेवाले बहादुरशाह के विरोधी भाई चाँद खाँ को शरण दी। बहादुरशाह ने मांडू पर चढ़ाई करके महमूद की सेना को बुरी तरह हरा दिया। महमूद जंजीरों में जकड़ दिया गया और अपने लड़कों के साथ कैद करके आसफ खाँ की निगरानी में चम्पानेर भेज दिया गया। पाँच दिन बाद दोहद के पड़ाव में २,००० भीलों और कोलों ने आसफ खाँ के दल पर छापा मारा। आसफ खाँ ने इसे राजवंश को उसकी कैद से छुड़ाने का प्रयत्न समझा और सुल्तान और उसके लड़कों को मरवा डाला। इस प्रकार मालवा के खिलजी वंश का अन्त हो गया और उसके अधिकृत प्रदेश गुजरात के शासक के अधीन हो गये।

खानदेश—मध्य भारत का एक और राज्य खानदेश था। खानदेश पहले दिल्ली साम्राज्य का एक सूबा था, किंतु मलिक राजा फारूकी के समय में स्वतन्त्र हो गया जो १३७० ई० में इस सूबे का सूबेदार नियुक्त हुआ था। सन् १३९९ में मलिक राजा की मृत्यु होने पर उसका अधिक योग्य तथा महत्त्वाकांक्षी पुत्र मलिक नसीर खाँ गद्दी पर बैठा। उसने विश्वासघात करके आसा अहीर से असीरगढ़ का प्रसिद्ध किला ले लिया। खानदेश का अंतिम प्रसिद्ध शासक आदिल खाँ फारूकी (१४५७–१५०३ ई०) था, जिसने अपने राज्य की आर्थिक समृद्धि की वृद्धि में पूरा योग दिया। उसके समय में बुरहानपुर हिंदुस्तान के सुन्दरतम नगरों में से एक हो गया। आदिल ने ही असीरगढ़ की किलेबन्दी पूरी की। फारूकी बादशाहों के समय सोने-चाँदी

के सलमे-सतारे और रेशम व मखमल पर जरदोजी का काम बहुत उन्नत हुआ। फारूकी बादशाहों ने गुजरात के बादशाहों से वैवाहिक सम्बन्ध किये थे जो दक्षिण के मुस्लिम राज्यों के विरुद्ध उनकी प्रायः सहायता करते थे। हिंदुस्तान पर बाबर के हमले के समय खानदेश का शासक मीरन मुहम्मद था, जो १५२० ई० में गद्दी पर बैठा था। इस वंश के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटनाओं का अर्थात् प्रसिद्ध युद्धों का अभाव रहा जिनका वर्णन पाठकों के लिए मनोरंजक होता है, किंतु इसका सन्तोषजनक फल यह हुआ कि इस वंश के शासनकाल में शांति रहने के कारण यह भूखंड समृद्ध हो गया।

राजपूताना—अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही राजपूताने की रियासतों ने दिल्ली की सल्तनत के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया था। अलाउद्दीन ने चित्तौर का किला जालोर के सोनिगरा सरदार मालदेव को सौंपा था। जान पड़ता है कि अलाउद्दीन के मरने के बाद मालदेव का प्रभाव जाता रहा। मालदेव के जीवनकाल में ही सीसौदिया वीर हम्मीर ने अपनी शक्ति बढ़ाकर चित्तौर के कुछ हिस्सों को हस्तगत कर लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् हम्मीर ने उसके पुत्र जैसी को पराजित कर दिया और धीरे-धीरे मेवाड़ के समूचे राज्य पर अधिकार जमा लिया। हम्मीर एक शक्तिशाली राजा था, जिसने राजपूत विवरण के अनुसार दिल्ली की सेनाओं का सफलतापूर्वक सामना किया। हो सकता है यह ठीक न हो, किंतु महाराणा कुम्भा के समय के १४३८ ई० के एक शिलालेख में हम्मीर के युद्ध-भूमि में असंख्य मुसलमानों के वध द्वारा यशस्वी होने का उल्लेख मिलता है[१]। हम्मीर ने भीलों को बुरी तरह पराजित किया और उनसे जिलवाड़ा जीत लिया। इसी प्रकार ईदर के शासक जीतकर्ण के विरुद्ध भी उसे विजय प्राप्त हुई। १३६४ ई० के लगभग जब हम्मीर देव की मृत्यु हुई, मेवाड़ एक विस्तृत तथा समृद्धिशाली राज्य हो गया था। उसके पुत्र क्षेत्रसिंह ने भी, पिता की भाँति, युद्धों द्वारा अपनी वीरता प्रदर्शित की। उसके पुत्र लाखा ने, जो १३८२ ई० में सिंहासनासीन हुआ, शत्रुओं पर अपनी विजयों द्वारा तथा प्रजा की भलाई

१ Bombay Branch Jour. A. S. XXXIII पृ० ५०

के कार्यों द्वारा ख्याति लाभ की। किंतु १४३३ ई० में जब लाखा का पौत्र राणा कुंभा गद्दी पर बैठा, जो मेवाड़ के राज्यवंश में बहुत प्रसिद्ध है, मेवाड़ की स्थिति मालवा और गुजरात की मुस्लिम शक्तियों के उदय से बहुत प्रभावित हुई। मुसलमान शासकों ने मेवाड़ की शक्ति को कुचल डालने के लिए प्राण-पण से चेष्टा की; किंतु वे सफल न हो सके। अनेक युद्ध हुए जिनमें कभी मुसलमानों की विजय होती और कभी राणा की। १४६८ ई० में राणा के पुत्र ऊदा ने मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार जमाने के लिए उसका वध कर डाला। मेवाड़ के सरदारों ने इस पितृहन्ता का विरोध किया, और पाँच वर्ष बाद १४७३ ई० में उसके भाई रायमल ने उससे गद्दी छीन ली। रायमल की मृत्यु होने पर सन् १५०९ की मई में उसका छोटा भाई संग्रामसिंह गद्दी पर बैठा। उसका राज्याधिकार मेवाड़ के इतिहास में एक चिरस्मरणीय घटना सिद्ध हुई।

दिल्ली के अफगान साम्राज्य की शक्ति बहुत घट गई और संग्रामसिंह को सिकंदर लोदी से भय नहीं था। किंतु मालवा और गुजरात इस समय नसीर-शाह और महमूद बीगड़ द्वारा शासित थे, जिनसे उनका विरोध होना अवश्य-म्भावी था। अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में संग्रामसिंह ने गुजरात की फ़ौजों को हराकर और ईदर के मामलों में काफी दखल देकर अपनी धाक जमा ली। राणा कई वर्षों से दिल्ली राज्य के छोटे-छोटे हिस्सों पर दखल जमाते चले आ रहे थे। जब इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा तो उसने एक बड़ी सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण किया। जीत राजपूतों की हुई। राणा ने मालवा के कुछ जिलों को ले लिया, जिन्हें सिकन्दर लोदी ने दिल्ली के राज्य में मिला लिया था।

इसके बाद मालवा की बारी आई। मालवा के सुल्तान महमूद द्वितीय ने अपने शक्तिशाली अमीरों के प्रभाव को दूर करने के लिए राजपूत सरदार मेदिनीराय को अपना मंत्री बना लिया था। अमीरों ने काफिरों के विरुद्ध दिल्ली और गुजरात के शासकों की सहायता माँगी। मेदिनीराय ने दिल्ली और गुजरात की संयुक्त सेनाओं को पराजित कर दिया और सुल्तान पर अपना प्रभुत्व पूर्ववत् बनाये रखा। इस प्रकार विफल-मनोरथ होने पर विद्वेषी अमीरों

ने मेदिनीराय के विरुद्ध सुल्तान महमूद के कान भरने शुरू किये, जिसमें उन्हें सफलता मिली। सुल्तान ने गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह के यहाँ जाकर सहायता की प्रार्थना की। मुजफ्फर ने एक बड़ी सेना लेकर उसकी सहायता की और मांडू में उसे फिर गद्दी पर बैठा दिया। मेदिनीराय ने राणा साँगा (संग्रामसिंह) से सहायता माँगी। राणा ने ५०,००० राजपूतों को साथ लेकर मांडू के सुल्तान पर आक्रमण किया। सुल्तान युद्ध में बुरी तरह घायल होकर बंदी हुआ और तीन महीने तक चित्तौड़ में कैद रहा। अंत में युद्ध का व्यय और भविष्य में अपने सद्व्यवहार के लिए जामिन के तौर पर एक शाहजादे को देने पर उसने मुक्ति पाई। इसका फल राणा के लिए अच्छा नहीं हुआ।

गुजरात के सुल्तान मुजफ्फर ने अपनी पूर्व पराजय के अपमान को धोने के लिए मालवा के सुल्तान के साथ एका किया। सोरठ का सूबेदार मलिक अयाज को २०,००० सवार और कुछ तोपें लेकर उनकी सहायता को आया था, सम्मिलित सेनाओं का संचालक बनाया गया। राणा एक बड़ी सेना लेकर उनके विरुद्ध बढ़ा। अयाज राणा का मुकाबिला किये बिना ही अपने सूबे को लौट गया और मांडू के सुल्तान ने भी वैसा ही किया। मुसलमान इतिहासकारों ने सेना के संचालकों में फूट के कारण जो पीछे हटना लिखा है, वह संभवतः मेवाड़ की सेना द्वारा पराजय ही थी।

इन विजयों के कारण राणा का यश दूर-दूर तक फैल गया और विदेशी शासक भी उससे डरने लगे। सन् १५२५ तक मेवाड़ एक प्रथम श्रेणी की सैनिक शक्ति हो गया था। उसकी शक्तियाँ सुसंगठित थीं और यह स्पष्ट था कि जो विदेशी भारत को विजय करना चाहता, उसे मेवाड़ के वीर राणा से लोहा लेना पड़ता।

बूँदी के हाड़ा मेवाड़ की प्रमुख शक्ति के विरुद्ध जोर लगा रहे थे, किन्तु दिल्ली की मुस्लिम सल्तनत से उनका कुछ भी संबंध नहीं था। जोधपुर का राठौर वंशीय राज्य सोलहवीं शताब्दी के आदि में, जब राव गंग (१५१६-३२) गद्दी पर थे, घरेलू झगड़ों के कारण कमजोर पड़ गया था, किन्तु जोधा के वंशजों ने अपनी बिखरी शक्तियाँ इकट्ठी करके बाबर के विरुद्ध राणा साँगा का साथ दिया।

सिन्ध--चौदहवीं शताब्दी के आदि में सिन्ध अलाउद्दीन खिलजी के साम्राज्य का एक भाग था। बाद में यह फिर मुहम्मद तुगलक के राज्य में मिला लिया गया। सुल्तान जो एक बागी का पीछा करने के लिए सिन्ध में गया था, वहीं थट्टा में मर गया। फीरोजशाह तुगलक के समय में सिन्ध के जाम सूबेदारों ने स्वतन्त्र हो जाने का प्रयत्न किया, और सुल्तान को फिर सिन्ध विजय करना पड़ा। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में सिन्ध सम्मा वंश के अधिकार में चला गया। इस वंश का भाग्य अफगानिस्तान के राजनैतिक परिवर्तन से बहुत प्रभावित हुआ। सन् १५१६ में बाबर ने कन्धार के शासक शाह बेग अरगून पर चढ़ाई की और उसके किले पर घेरा डाला। शाह किले को समर्पित करने के लिए बाध्य हुआ। कन्धार को खो देने के बाद शाह सिन्ध की तरफ मुड़ा और सन् १५२० में थट्टा पर अधिकार जमाकर उसे लूट लिया। इस प्रकार सिन्ध में अरगून वंश का राज्य स्थापित हुआ। इस वंश की शक्ति को शाह बेग के पुत्र शाह हुसैन ने बहुत बढ़ाया। उसने मुल्तान को अपने राज्य में मिला लिया और लंगा वंश का अन्त कर दिया। जिस समय बाबर हिन्दुस्तान की चढ़ाई की तैयारी कर रहा था, उस समय ये दोनों वंश सिंध के प्रभुत्व के लिए परस्पर युद्ध में व्यस्त थे।

दक्षिण भारत--मुहम्मद बिन तुगलक के शासन-काल में दक्षिण में दो शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित हुए, एक विजयनगर का हिन्दू राज्य और दूसरा बहमनी वंश का मुस्लिम राज्य। ये दोनों राज्य दक्षिण के प्रभुत्व के लिए एक दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी थे, और इनके शासक भिन्न धर्मों के अनुयायी थे, इसलिए इनके बीच युद्ध बहुत होते थे, जिससे दोनों पक्षों को बहुत हानि उठानी पड़ती थी। ये दोनों शक्तिशाली राज्य आपस की प्रतिस्पर्द्धा के कारण उत्तर भारत के राजनैतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सके। विजयनगर का राज्य हरिहर और बुक्काराव नामक दो भाइयों द्वारा सन् १३३६ में स्थापित हुआ था और तभी से यह योग्य राजाओं के प्रयत्न से विस्तार और शक्ति में बढ़ता रहा। कृष्णदेव राय का शासनकाल, जो १५०९ से १५३० ई० तक रहा, इस राज्य के इतिहास में एक परमोज्ज्वल काल था। कृष्णदेव राय के पास एक शक्तिशाली सेना थी। उसने दक्षिण के मुसलमानी

राज्यों के विरुद्ध कई युद्ध किये। उसकी रायचूर घाटी की विजय ने उसके सम्मान को बहुत बढ़ा दिया और बीजापुर के आदिलशाह की ताकत को इतना कमजोर बना दिया कि उसे कुछ समय के लिए राज्य-विस्तार का विचार त्याग देना पड़ा। इस साम्राज्य की राजधानी विजयनगर एक बड़ा विशाल, सुदृढ़, सुन्दर और समृद्धिशाली नगर था, जैसा फारस के राजदूत अब्दुल रज्जाक के वर्णन से विदित होता है जिसने इस नगर को १५४२-४३ ई० में देखा था। विजयनगर के शासकों की विजयों ने उन्हें घमंडी बना दिया जिससे उनका व्यवहार दक्षिण के मुसलमान बादशाहों को असह्य हो गया। उन्होंने एकमत होकर तथा अपनी सम्मिलित शक्ति को संगठित करके सन् १५६५ में तालीकोटा के युद्ध में विजयनगर के साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के आदि में विजयनगर एक शक्तिशाली साम्राज्य था। यह ठीक है कि उत्तर भारत के अफगान साम्राज्य तथा अन्य राज्यों के साथ इसका सम्बन्ध नहीं था, किन्तु जैसा प्रोफेसर रशब्रुक-विलियम्स ने कहा है, इसके कारण दक्षिण के मुसलमान राज्यों की शक्ति बहुत न बढ़ सकी जिससे राजपूत रियासतों की स्वतंत्रता बची रह सकी। इसने दक्षिण के मुसलमानी राज्यों को उत्तर की ओर राज्य-प्रसार करने से रोका। जिन्होंने इसे भी विन्ध्याचल के इस पार विजय-वैजयन्ती फहराने का अवसर नहीं दिया, जैसा पहले इन्द्र और तैलप मालवा और धार पर विजय प्राप्त करके कर चुके थे। बहमनी तैलप राज्य, जो सुल्तान मुहम्मद तुगलक के एक अफगान अफसर हसन द्वारा सन् १३४७ में स्थापित हुआ था, १४८१ ई० में सुयोग्य तथा सुप्रसिद्ध मंत्री महमूद गावान के प्राणदण्ड के बाद––राज्य के सूबेदारों के स्वतन्त्र हो जाने से–– पाँच स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों में विभाजित हो गया। इस राज्य के शक्तिशाली सुल्तान विजयनगर के हिन्दू राज्य के विरुद्ध बराबरी के साथ लड़ते रहे। किन्तु इसके टुकड़े हो जाने पर दक्षिण में मुसलमानों की शक्ति बिखर गई। १५६५ ई० में दक्षिण में मुसलमानों का प्रभुत्व फिर स्थापित हो गया जब उनकी सम्मिलित शक्ति ने विजयनगर के राज्य को नष्ट कर दिया।

बाबर का लिखा हुआ हिन्दुस्तान का राजनैतिक विवरण––बाबर ने अपनी आत्मकहानी में अपनी चढ़ाई के समय के हिन्दुस्तान का एक विवरण दिया

है। वह पाँच मुसलमान और दो हिन्दू प्रसिद्ध शासकों का उल्लेख करता है। वह कहता है कि हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा भाग दिल्ली के साम्राज्य के अधिकार में था, किन्तु देश में कई स्वतंत्र तथा शक्तिशाली राज्य थे। उसके द्वारा उल्लिखित प्रमुख राज्य ये हैं—अफगान राज्य जो बेहरे से बिहार तक फैला हुआ था; पूर्व भारत में जौनपुर और बंगाल के राज्य; मध्य भारत में मालवा का राज्य; गुजरात का राज्य मध्य दक्षिण के मुसलमानी राज्यों के जो बहमनी राज्य के स्थान में स्थापित हुए थे। उसके द्वारा उल्लिखित दो हिन्दू शासक विजयनगर का राय तथा चित्तौर का राणा साँगा हैं। इन शासकों के विषय में बाबर लिखता है :—

> "जिन पाँच बादशाहों का उल्लेख हुआ है, वे प्रतापी मुसलमान शासक हैं, और विशाल सेनाओं और विस्तृत राज्यों के स्वामी हैं। काफिर शासकों में राज्य तथा सेना की दृष्टि से सबमें अधिक शक्तिशाली बीजानगर का राय है। दूसरा राणा साँगा है जिसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान हाल ही में अपनी वीरता तथा तलवार के बल से प्राप्त किया है। शुरू में वह चित्तौर की रियासत का स्वामी था।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के आदि में हिन्दुस्तान बहुत से राज्यों में विभाजित था, जो सदा परस्पर लड़ा करते थे। एक साहसी तथा शक्तिशाली विदेशी आक्रमणकारी के लिए यह एक अच्छा अवसर था।

अध्याय २

मुगल साम्राज्य की स्थापना

बाबर का प्रारम्भिक जीवन—२४ फरवरी १४८३ ई० को बाबर का जन्म हुआ था। वह मुगल नहीं किन्तु तैमूर का वंशज चगताई तुर्क था। वह पितृकुल में तैमूर से पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था और उसकी माँ प्रसिद्ध विजयी मंगोल चंगेज खाँ के वंश की थी। बाबर का पिता उमर शेख मिर्जा फरगाना के छोटे राज्य का शासक था, जो अब रूसी तुर्किस्तान का करीब ५०,००० वर्गमील का एक छोटा सा सूबा है। सन् १४९४ में अपने पिता की मृत्यु के बाद बाबर फरगाना की गद्दी पर बैठा। इस समय उसकी अवस्था केवल १२ बरस की थी। उसकी आरम्भिक शिक्षा का निस्सन्देह बहुत अच्छा प्रबन्ध हुआ था। क्योंकि इसके बाद उसे विद्याध्ययन का अवसर नहीं मिला और इस छोटी उम्र में ही उसने तुर्की और फारसी भाषाओं का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह इन्हें बड़ी आसानी और खूबी से लिख और बोल सकता था।

फरगाना का यह अल्पवयस्क शासक चारों ओर से प्रबल शत्रुओं से घिरा हुआ था। ये शत्रु उसके भाई-बन्धु और उजबेग सरदार शैबानी खाँ थे, जिनसे उसे अपनी रक्षा के लिए लड़ना पड़ा। अवस्था में बहुत छोटा होते हुए भी बाबर ने समरकन्द को जीतने का और तैमूर की गद्दी पर बैठने का निश्चय कर लिया। उसने समरकन्द पर हमला किया और उजबेग सरदार शैबानी खाँ को हराकर समरकन्द की गद्दी पर अधिकार जमा लिया। किन्तु इसी बीच में उसे फरगाना में एक षड्यन्त्र की खबर मिली जिसका उद्देश्य उससे उसका पैतृक राज्य छीन लेना था। यह खबर सुनते ही वह फरगाना को लौट पड़ा और उसकी पीठ फिरते ही समरकंद उसके हाथ से निकल गया। उसने दुबारा समरकंद पर चढ़ाई की और २४० आदमियों की छोटी सेना के द्वारा राजधानी को ले लिया और फिर एक बार तैमूर की गद्दी पर

बैठ गया। किन्तु वह समरकंद की गद्दी पर शान्ति से नहीं रह सका। उजबेग सरदार ने एक बड़ी फौज इकट्ठी की और अरचियान की गहरी लड़ाई (जून १५०३) में उसने बाबर को हरा दिया। बाबर बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा सका। वह करीब एक बरस तक आफतें झेलता हुआ वे घर-बार का मारा मारा फिरा; किन्तु आफतों में भी वह घबराया नहीं। इस समय फरगाना भी उसके हाथ से निकल गया था। तुर्किस्तान में अपना राज्य स्थिर करने की आशा न देखकर बाबर १५०४ ई० में काबुल चला आया और उस पर अधिकार जमा लिया। इस बीच में शैबानी खाँ ने खुरासान के सारे देश पर आसानी से अधिकार जमा लिया था। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकनेवाला कोई नहीं था। बाबर भी अपनी रक्षा के लिए शशंक हो गया था और अपने शत्रुओं के कार्यों को उत्सुकतापूर्वक ध्यान से देख रहा था जिन्होंने ट्रान्स आक्सियाना, ख्वारिज्म, फरगाना और खुरासान को उजाड़ डाला था और तैमूर के वंशजों को उनके राज्यों से भगा दिया था। उजबेग लोगों ने कन्धार पर चढ़ाई की। उनके भय से बाबर हिन्दुस्तान की ओर हट गया। किन्तु उसके सौभाग्य से शैबानी के राज्य के एक दूसरे भाग में विद्रोह हो गया जिससे विवश होकर उसे कन्धार का घेरा उठा लेना पड़ा तथा अफगानिस्तान को छोड़ देना पड़ा। इससे बाबर को शीघ्र ही अपनी राजधानी को लौटने का अवसर मिल गया। इसी समय उसने पादशाह की उपाधि ग्रहण की, जिसे अब तक किसी तैमूर वंशीय ने ग्रहण नहीं किया था। बाबर का सिंहासन अभी सुरक्षित भी नहीं था, किन्तु इस उपाधि से उसके राजनैतिक विचारों में एक महान् परिवर्तन आ गया।

काबुल पर अच्छी तरह अधिकार जमा लेने के बाद बाबर ने एक बार फिर समरकंद जीतने का उद्योग किया। फारस के बादशाहों के सफवी वंश के संस्थापक शाह इस्माइल के द्वारा शैबानी खाँ के नाश ने उसे अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रोत्साहित किया। इस्माइल की सहायता से वह उजबेगों के विरुद्ध बढ़ा। बाबर के नाम ने जादू का काम किया। शहरों और गाँवों के लोगों ने हृदय से उसका स्वागत किया। बुखारा को उसने बिना किसी विरोध के ही ले लिया। वहाँ से वह समरकंद की ओर बढ़ा और अक्टूबर १५११ में उस पर नौ महीने बाद एक बार फिर अधिकार जमा लिया।

किन्तु तैमूर के सिंहासन पर बैठकर राज्य करना बाबर के भाग्य में नहीं था। बाबर ने शाह इस्माइल की शर्त के अनुसार उसकी सहायता प्राप्त करने के लिए दिखावटी तौर पर शिया मत कबूल कर लिया था जिससे उसकी प्रजा उससे असन्तुष्ट हो गई। केवल आठ महीने तक उसका समरकंद पर अधिकार रहा। शैबानी खाँ के पुत्र के अधीनस्थ उजबेगों के विरुद्ध १५१२ ई० में उसे एक युद्ध करना पड़ा जिसमें उसकी पूर्ण पराजय हुई। इस पराजय के बाद वह हिसार के किले में चला गया। उसकी सहायता के लिए शाह इस्माइल ने फारस मे जो सेना भेजी थी, वह उजबेगों द्वारा पराजित हुई और उसका सेनापति लड़ाई में मारा गया। बाबर को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा और वह निराश होकर काबुल लौट आया। उसने देखा कि पश्चिम में सफलता प्राप्त करना उसके लिए असंभव था, इस-लिए उसने पूर्व में अपने भाग्य की परीक्षा करने का इरादा किया।

हिन्दुस्तान पर बाबर के आरंभिक हमले—हिन्दुस्तान पर अपने अंतिम तथा प्रसिद्ध हमले के पहले बाबर ने भारतीय सीमा पार करके कई छोटे-मोटे हमले किये जिनका उल्लेख कर देना ठीक होगा। उसने बजौर के किले पर हमला किया। किले की सेना ने उसकी रक्षा में बड़ी वीरता दिखलाई, किन्तु अंत में वह बाबर के हाथ में आ गया। सन् १५१९ में उसने झेलम के तट पर स्थित भीरा पर चढ़ाई की और बिना किसी लड़ाई के ही उस पर अधिकार जमा लिया। निवासियों के साथ दया का बर्ताव हुआ और जिन सिपाहियों ने अत्याचार किया, वे मार डाले गये। अपने सलाहकारों की राय से बाबर ने सुल्तान इब्राहीम लोदी के पास एक राजदूत इस संदेश के साथ भेजा कि सुल्तान उन प्रदेशों को लौटा दे जो बहुत दिनों से तुर्कों के हाथ में थे। किन्तु वह दूत दौलत खाँ द्वारा लाहौर में ही रोक लिया गया और बिना कुछ उत्तर पाये ही पाँच महीने बाद लौटा। भीरा, खुशाब और चिनाब का प्रदेश वश में लाकर बाबर दर्रा कुर्रम के रास्ते से काबुल लौट गया। उन दिनों बाबर आनन्दोत्सवों में बहुत भाग लेता था। वह बहुत शराब पीने लगा और अफीम भी खाने लगा।

किन्तु बाबर अपनी इन्द्रियों का दास नहीं था। सुरादेवी की उपासना

उसकी विजयों और चढ़ाइयों में बाधा नहीं डाल सकी। सन् १५२० में उसने बदखशाँ ले लिया और शाहजादा हुमायूँ को उसका अधिकारी बना दिया। दो वर्ष बाद बाबर ने अरगूनों से कन्धार छीन लिया और उसे अपने छोटे लड़के कामराँ के हवाले किया।

अफगानिस्तान से निश्चिन्त होकर बाबर ने अपना ध्यान फिर हिन्दुस्तान की ओर फेरा। दिल्ली के अफगान शासक इब्राहीम लोदी की हुकूमत से सब लोग असन्तुष्ट थे। प्रमुख अफगान सरदार उसके घमंड तथा कठोर दंड की नीति के कारण विद्रोह करने के लिए बाध्य हो गये थे। दौलत खाँ लोदी के पुत्र दिलावर खाँ के प्रति इब्राहीम के निर्दय व्यवहार पर सरदारों का असन्तोष चरम सीमा को पहुँच गया। उसके इस व्यवहार से चिढ़कर दौलत खाँ ने अपने पुत्र को हिन्दुस्तान पर चढ़ाई के लिए बाबर को निमन्त्रित करने के लिए काबुल भेजा।

बाबर ने जो बहुत दिनों से भारत-विजय का स्वप्न देख रहा था, इस प्रस्ताव का स्वागत किया। वह काबुल से १५२४ ई० में रवाना हुआ और लाहौर पर हमला किया और यहाँ एक अफगान को हराकर उसने शहर को ले लिया। किन्तु दौलत खाँ ने, जो अब फिर राज-भक्त बन गया था, बाबर के इन कार्यों का समर्थन नहीं किया। बाबर ने उसके असन्तोष पर ध्यान न देकर उसे जालन्धर और सुल्तानपुर की जागीरें दीं। किन्तु जब उसके शत्रुतापूर्ण षड्यन्त्रों का पता चला तो उसकी जागीर ले ली और उसे दिलावर खाँ को दे दिया जिसने दौलत खाँ के षड्यन्त्रों का पता दिया था। दिपालपुर को आलम खाँ को सौंपकर बाबर काबुल लौट गया।

बाबर के लौट जाने पर दौलत खाँ ने अपने पुत्र से सुल्तानपुर छीन लिया और आलम खाँ को दिपालपुर से भगा दिया। आलम खाँ भागकर काबुल गया और बाबर के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार दिल्ली का बादशाह बनाये जाने पर उसने लाहौर और उसके पश्चिम के देश बाबर को समर्पित करना स्वीकार किया। किन्तु थोड़े ही समय बाद आलम खाँ ने दौलत खाँ की मन्त्रणा में आकर यह समझौता तोड़ दिया और उन दोनों ने मिलकर

इब्राहीम लोदी पर आक्रमण किया जिसने उन्हें बुरी तरह से पराजित करके युद्ध-भूमि से भगा दिया।

इन्हीं दिनों राणा साँगा ने भी हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने के लिए बाबर को बुला भेजा। बाबर ने राणा को इस अवसर पर प्रतिज्ञापालन न करने का दोष दिया है। वह अपनी दिनचर्या में लिखता है कि "राणा साँगा ने काबुल में मेरे पास दूत भेजकर कहलाया था कि यदि मैं उधर से दिल्ली राज्य पर हमला करूँ तो वह दूसरी ओर आगरा की ओर से हमला करेगा; किन्तु मैंने इब्राहीम को हराकर दिल्ली और आगरा ले लिया और इस बीच में राणा साँगा ने कुछ भी नहीं किया।" बाबर तो हिन्दुस्तान जीतने के लिए उत्सुक था ही। उसने अच्छा अवसर देखकर अफगान राज्य पर चढ़ाई कर दी। किन्तु जैसा प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स कहते हैं, दौलत खाँ के षड्यंत्रों तथा आलम खाँ के विश्वासघात से उसने जान लिया था कि उनका विश्वास करना ठीक नहीं है, इसलिए उसने अपने बल पर ही भारतवर्ष के साम्राज्य के लिए उद्योग करने का निश्चय किया। किन्तु जब वह पंजाब पहुँचा तो दौलत खाँ ने फिर नई शर्तें रक्खीं और क्षमा माँगी। बाबर ने अपनी स्वाभाविक उदारता से उसे क्षमा कर दिया और उसकी पुश्तैनी जागीर को उसके पास रहने दिया, किन्तु उसकी और सम्पत्ति से उसे बेदखल कर दिया। पंजाब आसानी से उसके अधिकार में आ गया, किन्तु प्रधान कार्य तो दिल्ली की विजय थी। इस कार्य के लिए उसके साधन अपर्याप्त थे। इस बार उसे सरहद्दी जातियों से नहीं किन्तु एक बड़े साम्राज्य की शक्ति से लड़ना था। किन्तु उसने हिम्मत न हारी और ईश्वर में विश्वास रखकर अपने स्वाभाविक साहस तथा उत्साह के साथ इस कार्य में अग्रसर हुआ।

इब्राहीम ने बाबर के आने की खबर सुनकर उसका मुकाबिला करने के लिए सेनाएँ आगे भेजीं, जिन्हें हराकर वह निर्विघ्न सिरसावा तक बढ़ गया। यहाँ वह युद्ध के लिए तैयारियाँ करने लगा। अफगानों की सेना बाबर की सेना से बहुत बड़ी थी, किन्तु उसे विश्वास था कि वह अपनी सुरक्षित घुड़सवार सेना तथा अपने नये तोपखाने की सहायता से उसे हरा सकता था। उसके तोपखाने के अफसर उस्ताद अली और मुस्तफा रूमी सवार और पैदल सेना की सहायता

पाकर अफगानों की सेना को आसानी से हरा सकते थे। इसलिए उसने सबसे अधिक ध्यान तोपखाने के प्रबन्ध पर दिया। उसने ७०० तोपों की गाड़ियाँ इकट्ठी कीं जो बटे हुए चमड़े के रस्सों से जकड़कर मुस्तफा और उस्ताद अली के बन्दूकचियों की रक्षा के लिए उनके आगे आड़ के लिए रक्खी जा सकें और बहुत सी लकड़ी की तिपाइयाँ बनवाई गईं, जो हर दो गाड़ियों के बीच में उनके लिए आड़ का काम दे सकें।

१२ अप्रैल १५२६ को बाबर पानीपत पहुँचा। वहाँ उसने अपनी सेना के लिए एक ऐसा स्थान चुना, जो युद्ध के लिए बहुत ही उपयुक्त था। इसका दाहिना पार्श्व पानीपत के शहर द्वारा सुरक्षित था। इसके मध्य भाग के आगे बाबर ने तोपों को जमा किया और पहले से तैयार की हुई गाड़ियों और सिपाहियों से उसे सुरक्षित कर दिया; जिनके पीछे तोपची और बन्दूकची रक्खे गये। वाम भाग खाई काटकर गिराये हुए पेड़ों द्वारा सुरक्षित किया गया था। मध्य भाग को आगे की ओर से रक्षित करनेवाली गाड़ियों और सिपाहियों की पंक्ति लगातार नहीं चली गई थी, उसमें बीच-बीच में फासले छोड़े हुए थे जिनमें से होकर सिपाही सौ-सौ या डेढ़-डेढ़ सौ की कतारों में शत्रु की सेना पर हमला कर सकें।

सुल्तान इब्राहीम भी एक बड़ी सेना लेकर पानीपत पहुँच गया था। बाबर के अनुमान के अनुसार उसके साथ एक लाख सिपाही थे। किन्तु वह सेना सुशिक्षित नहीं थी और इसमें बहुत से रँगरूट थे जिन्हें लड़ाई का अनुभव बिलकुल नहीं था। इसके अतिरिक्त सुल्तान भी एक कुशल तथा अनुभवी सैन्य-संचालक नहीं था। इन कारणों से व्यक्तिगत रूप में अफगान सिपाहियों के वीर होते हुए भी अफगान सेना इतनी आसानी से हराई जा सकी।

दोनों सेनाएँ आमने-सामने एक दूसरे पर बिना आक्रमण किये आठ दिनों तक पड़ी रहीं। अंत में बाबर ने युद्ध आरंभ करने का निश्चय किया। उसने अपनी सेना को मध्य, वाम और दक्षिण इन तीन भागों में विभाजित किया और इस सेना के दोनों दूरस्थ पार्श्वों पर मंगोलों की एक एक सेना रक्खी जिसका काम युद्ध जम जाने पर दोनों ओर से बढ़कर शत्रु की सेना को घेर

लेना था। मंगोल व्यूह-रचना की यह प्रसिद्ध रीति जो तुलुगमा कहलाती है, विजय का एक प्रसिद्ध साधन मानी जाती थी, शत्रुओं पर इसका बड़ा घातक प्रभाव पड़ता था। अफगान सेना बाबर की सेना के दक्षिण पार्श्व पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ी। इस पर उसने अपनी रक्षित सेना को उसकी सहायता के लिए बढ़ने की आज्ञा दी। अफगान जब तोपों और गाड़ियों की पंक्ति, खाइयों और कटे पेड़ों की रुकावट के पास पहुँचे तो कुछ देर तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ से रह गये। उन्हें जान नहीं पड़ता था कि हमला करना चाहिए या पीछे हटना चाहिए। पीछे की आगे बढ़ती हुई सेना के दबाव में उनमें गड़बड़ी मच गई जिससे बाबर ने पूरा लाभ उठाया। उसकी घेरने-वाली दोनों दूरस्थ पार्श्वों की सेनाएँ घूमकर आगे बढ़ीं और शत्रुओं पर उनके पीछे से आक्रमण किया। सेना के दक्षिण और वाम पार्श्व आगे बढ़े और मध्य भाग ने गोले और गोलियाँ चलाना आरंभ किया। युद्ध बड़ा भयंकर हो गया। अफगान चारों ओर से घिर गये और उन पर तीरों और गोले-गोलियों की मार पड़ने लगी। उस्ताद अली और मुस्तफा के सिपाहियों के गोले-गोलियों की बौछार से अफगान बेतरह मरने लगे, वे न आगे बढ़ सकते थे, न पीछे हट सकते थे। वे जान हथेली पर लेकर बड़ी बहादुरी से लड़ रहे थे, लेकिन उनमें बड़ी गड़बड़ी मची हुई थी। कुछ घंटों तक उनका वध जारी रहा, अंत में निराश हो जाने पर उनमें भगदड़ मच गई। इब्राहीम की पूर्ण पराजय हुई और उसकी सेना का भयंकर संहार हुआ। बाबर के अफसरों की गणना के अनुसार १५ या १६ सहस्र सैनिक इस युद्ध में धराशायी हुए। इब्राहीम लोदी एक वीर अफगान के समान लड़ता हुआ मारा गया। उसका मृत शरीर लाशों के ढेर में पाया गया। बाबर लिखता है कि आगरा पहुँचने पर उसे हिन्दुस्तानियों से मालूम हुआ कि ४० या ४५ हजार आदमी इस लड़ाई में काम आये थे। बाबर की सफलता उसके कुशल सैन्य-संचालन और घुड़सवार सेना और तोपखाने के ठीक उपयोग के कारण हुई। बहुत से युद्ध-बन्दियों और साथ में आये हुए सामान के साथ इब्राहीम का सिर बाबर के सामने पेश किया गया। बाबर लिखता है कि ईश्वर की कृपा से दिल्ली की सेना आधे दिन में धूल में मिल गई।

पानीपत की इस लड़ाई से दिल्ली का साम्राज्य बाबर के हाथ में आ गया। लोदीवंश की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और हिन्दुस्तान का साम्राज्य चगताई तुर्कों के हाथ में चला गया जो मुगल के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस युद्ध के बाद बाबर ने फौरन ही शाहजादा हुमायूँ को आगरे पर अधिकार जमाने के लिए भेज दिया और आप भी जल्द ही वहाँ गया। हुमायूँ ने उसका स्वागत किया और उसे वह प्रसिद्ध हीरा भेंट किया जो उसने ग्वालियर के राजा से प्राप्त किया था; किन्तु बाबर ने अपनी स्वाभाविक उदारता से उसे अपने पुत्र को लौटा दिया। दिल्ली और आगरे में बहुत बड़ी संपत्ति बाबर के हाथ लगी। उसने अपने भाई-बन्धुओं और अफसरों को बहुत-सा धन दिया। लड़ाई में शरीक होनेवाले सिपाहियों और मामूली नौकरों को भी इनाम मिले। भेंटें मक्का और मदीना भेजी गईं। उसने इतनी उदारता दिखलाई कि काबुल के प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक रौप्य मुद्रा इनाम मिला।

अभी दिल्ली के सम्पूर्ण साम्राज्य पर बाबर का अधिकार नहीं हुआ था। बहुत से अफगान सरदारों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, जो उसका अधिकार नहीं मानते थे। उसके अफसर और सिपाही इस गरम मुल्क में रहना नहीं चाहते थे। वे अपने ठंढे देश को लौट जाने को उत्सुक थे। किन्तु बाबर इस देश में केवल धन के लिए नही आया था। वह यहाँ एक सुदृढ़ साम्राज्य जमाना चाहता था। उसने समझा-बुझाकर अपने सरदारों (बेगों) को रोका और उन्हें बड़ी बड़ी जागीरें देकर सन्तुष्ट किया। उसके इस देश में ठहरने के दो महत्त्वपूर्ण तात्कालिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुए; एक तो यह कि राजपूतों की आँखें खुल गई, उन्होंने उसके दुष्परिणाम को समझ लिया और दूसरे यह कि दोआब के और दूसरी जगहों के बहुत से सरदारों ने उसकी वश्यता स्वीकार कर ली। अपने सरदारों की इस सहायता से वह देश का एक बहुत बड़ा भाग अपने अधिकार में ले आया। राजपूतों के नेता राणा साँगा के शीघ्र आने के भय से बाबर ने बियाना, ग्वालियर और धौलपुर को उनके अधिकारियों को बड़ी आय के परगने देकर अपने अधिकार में कर लिया। हुमायूँ ने जाकर जौनपुर, गाजीपुर और कालपी जीते और बाबर राजपूतों से मुठभेड़ की तैयारी करने के लिए आगरा में रह गया। इन्हीं दिनों

इब्राहीम लोदी की माता ने बाबर को विष देने का असफल प्रयत्न किया था। यदि वह सफल हो गई होती तो भारतवर्ष का इतिहास ही बदल जाता।

बाबर और राजपूत—हिन्दुस्तान में बाबर का सबसे शक्तिशाली शत्रु सीसौदिया वंशीय चित्तौर का महाराणा संग्रामसिंह था जो राणा साँगा के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। वह अपने बल, बुद्धि, सद्गुण और वीरता के लिए राजस्थान में प्रसिद्ध था। वह राजपूत राजाओं में सर्वश्रेष्ठ था। वह युद्धों में दिल्ली, गुजरात और मालवा की सेनाओं को पराजित कर चुका था तथा दिल्ली और मालवा के प्रदेशों को जीत चुका था। उसने मालवा के इलाके भिलसा, सारंगपुर, चन्देरी और रणथम्भौर ले लिये थे और उन्हें अपने अधीनस्थ सामन्तों के हवाले कर दिया था। मारवाड़ और आमेर के राजा उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे और ग्वालियर, अजमेर, सिकरी रायसीन, कालपी, चन्देरी, बूँदी, गुरगाँव, रामपुरा और आबू के राव उनके अधीनस्थ सामन्त थे। उसकी सैनिक शक्ति उस समय के उत्तर भारत के और शासकों से बढ़ी-चढ़ी थी। बाबर अपनी दिनचर्या की पुस्तक में लिखता है कि राणा साँगा ने अपनी वीरता और तलवार के बल से अपने उच्च स्थान को प्राप्त किया था। उसकी शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मालवा, गुजरात और दिल्ली के शासकों में से कोई भी अकेला उसे पराजित नहीं कर सकता था। उसका राज्य १० करोड़ की वार्षिक आय का था। उसकी सेना में १००००० सवार थे और उसके साथ ७ राजा, ९ राव और १०४ छोटे सरदार चलते थे। प्रायः सभी राजपूत राजा और सरदार संगठित होकर बाबर से लड़ने के लिए राणा के झंडे के नीचे इकट्ठे हुए। राणा को उस समय के भारत का सर्वश्रेष्ठ वीर कहने में अतिश्योक्ति न होगी। युद्ध में राणा की एक आँख फूट गई थी, एक हाथ टूट गया था और वह एक पैर से लँगड़ा हो गया था और इनके अतिरिक्त उसके शरीर पर तलवार, भाले और तीर के ८० घाव थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस वीर के झंडे के नीचे खानवा के युद्धभूमि की ओर आती हुई वीर राजपूतों की सेना के सामने बाबर के सरदार व सिपाही पस्तहिम्मत हो गये और

जैसा पहले कहा जा चुका है जब बाबर काबुल में था, तभी राणा ने बाबर से सुल्तान इब्राहीम पर हमला करने के लिए कुछ शर्तें की थीं। अब दोनों पक्ष एक दूसरे को प्रतिज्ञापालन न करने का दोष देने लगे और राणा ने कालपी, धौलपुर और बियाना का दावा किया जिन पर बाबर ने अधिकार जमा लिया था। राणा बियाना की ओर बढ़ा और उसे ले लिया। बाबर लिखता है कि वहाँ से भागे हुए सैनिकों ने राजपूत सेना की वीरता और पराक्रम की बड़ी प्रशंसा की। इसी समय पश्चिमी अफगानों का प्रबल सरदार हसन खाँ मेवाती राणा से आ मिला। इस प्रबल मेवाती सरदार को अपनी ओर मिलाने की इच्छा से बाबर ने उसके पुत्र नाहर खाँ को, जो पानीपत की लड़ाई में कैद हुआ था, खिलअत देकर उसके पिता के पास भेज दिया। किन्तु उसकी आशा फलीभूत न हुई। अपने लड़के के छूटते ही हसन खाँ तुर्कों को हिन्दुस्तान से निकालने के लिए बाबर के विरुद्ध १२,००० अफगानों की सेना के साथ राणा से जा मिला। इन दोनों प्रबल शत्रुओं के मेल ने बाबर को बड़ा उद्विग्न कर दिया और वह १ फरवरी १५२७ को राणा साँगा का मुकाबला करने के लिए रवाना हुआ और सीकरी में पड़ाव डालकर वहीं मोर्चाबन्दी करने लगा। राणा भी अब नजदीक पहुँच गया था। राजपूतों ने बाबर की सेना के एक भाग को सीकरी से नजदीक ही खानुआ में बड़ी बुरी तरह पराजित किया। राजपूतों की इस विजय ने मुगल सेना को और भी निराश कर दिया, जो उसकी वीरता की प्रशंसा सुनकर पहले ही हतोत्साह हो गई थी।

बाबर लड़ाई की तैयारियाँ करने लगा, लेकिन उसके आदमी राजपूतों के बल और पराक्रम का वर्णन सुनकर भयभीत तथा हतोत्साह हो गये थे। इसी समय काबुल से एक ज्योतिषी आया। उसने अपनी अशुभ भविष्यवाणी से सेना की निराशा और भय को और भी बढ़ा दिया। उसकी भविष्यवाणी पर ध्यान न देकर बाबर सेना में उत्साह तथा आशा का संचार करने के लिए उपाय करने लगा। यह लड़ाई उसे काफिरों से लड़नी थी इसलिए उसने तथा तुर्कों ने इसे जिहाद का रूप दिया और ईश्वर की सहायता पाने के लिए उसने इसी समय प्रायश्चित्त-स्वरूप फिर शराब न पीने की प्रतिज्ञा की। बहुत शराब फिकवा दी और शराब के सोने-चाँदी के पात्र तुड़वाकर गरीबों

को बाँट दिये। उसने अपनी दाढ़ी न कटवाने की प्रतिज्ञा की और मुसलमानों के कुछ करों को मुआफ कर दिया। अन्त में अपनी सेना की निराशा दूर करने के लिए बाबर ने अपने सरदारों और सिपाहियों को बुलाकर उनके धार्मिक भावों को उत्तेजित करने के लिए कहा—

"सरदारो और सिपाहियो! हर एक आदमी जो दुनिया में आया है जरूर मरेगा। हम सब मरेंगे, सिर्फ एक खुदा बाकी रहेगा। जो लोग जीवन का रसास्वादन करते हैं, उन्हें मौत का भी स्वाद चखना पड़ेगा। जो इस संसार-रूपी सराय में आता है, उसे इस दुखमय स्थान से एक न एक दिन बिदा भी होना पड़ता है, इसलिए बदनाम होकर जीते रहने से इज्जत के साथ मर जाना लाखगुना बेहतर है। मैं चाहता हूँ कि मेरी मौत इज्जत के साथ हो, कीर्ति मेरी हो, शरीर तो नाशवान् है ही। खुदा का शुक्र है कि अगर हम लड़ाई में मरेंगे तो शहीद होंगे, और जीतेंगे तो गाजी कहलायेंगे। आओ, हम सब कुरान हाथ में लेकर कसम खायें कि बदन में जान रहते मैदान जंग से पीठ न दिखलायेंगे।"

इस भाषण के बाद अफसरों और सिपाहियों ने हाथ में कुरान लेकर कसमें खाई और इसका उन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

किन्तु अब भी बाबर को अपनी जीत का विश्वास न हुआ और उसने रायसेन के सरदार सलहदी द्वारा संधि की बात चलाई। संधि की यह बातचीत कई दिनों तक चलती रही। राय के सरदार संधि करने के लिए तैयार न हुए। इस बीच में बाबर लड़ाई की तैयारी बड़ी मुस्तैदी से करता रहा। लड़ाई आरंभ होने में यह देर राजपूतों के लिए बहुत हानिकारक हुई।

राणा के साथ युद्धभूमि में जो सेना आई, वह बाबर की सेना से संख्या में बहुत अधिक थी। राणा के नेतृत्व में राजपूताना के सब प्रसिद्ध सरदार और बाहर के भी कुछ शक्तिशाली सरदार विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध युद्ध करने के लिए इकट्ठे हुए थे। बाबर की दिनचर्या की पुस्तक के अनुसार राणा साँगा के पास अपने १,००,००० सवार थे, और भिलसा का सरदार सलहदी ३०,००० सवारों के साथ, हसन खाँ मेवाती और चन्देरी का मेदिनी राय बारह-बारह हजार, डूंगरपुर का रावल उदयसिंह और सिकन्दर लोदी का

पुत्र महमूद लोदी, जिसे राणा दिल्ली का सुल्तान मान चुका था, दस-दस हज़ार सवारों के साथ, और इनके अतिरिक्त और बहुत से राजा और सरदार ३ हज़ार से ७ हज़ार तक सवारों के साथ राणा के साथ थे। एक स्थल पर बाबर ने राणा की सम्मिलित सेना में २,०१,००० सवार बतलाये हैं, किन्तु यह संख्या निस्संदेह अतिशयोक्तिपूर्ण है। तबकात अक़बरी में राणा की सेना में १,२०,००० सवारों का होना बतलाया गया है जो ठीक हो सकता है। अर्सकिन ने इसी संख्या को ठीक माना है। बाबर ने खानवा में पड़ाव डाला था जो सीकरी से दस मील की दूरी पर है। पानीपत की लड़ाई की तरह इस बार भी उसने व्यूहरचना का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया था। उसकी सेना तीन भागों में विभक्त थी---मध्य, दक्षिण पार्श्व और वाम पार्श्व। दक्षिण पार्श्व का अध्यक्ष हुमायूँ था और वाम पार्श्व का मेहदी ख्वाजा था। इन दोनों के अधीन बहुत से अनुभवी तथा योग्य अफसर थे। मध्य भाग का संचालन बाबर स्वयं अपने विश्वस्त बेगों के साथ कर रहा था और दोनों सिरों पर घेरा डालनेवाली एक-एक सवार सेना थी जिसका काम युद्ध के जम जाने पर दोनों ओर से घुसकर शत्रु की सेनाओं को घेरकर उन पर पीछे की ओर से आक्रमण करना था। सेना के आगे जंजीरों से जकड़ी हुई गाड़ियों और तिपाइयों की आड़ में तोपची और बंदूकची रखे गये थे। मध्य भाग के आगे उस्ताद अली था जिसके अधीन भारी तोपें थीं। बाबर की सैन्य-संख्या का ठीक ठीक पता नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी सेना राणा की सेना से बहुत छोटी थी।

ता० १६ मार्च १५२७ ई० को सबेरे करीब साढ़े नौ बजे युद्ध आरंभ हुआ और सन्ध्या तक होता रहा। बाबर ने वही नीति ग्रहण की जिससे उसने पानी-पत में काम लिया था। पहले तो अपनी संख्या और वीरता के बल से राजपूत जीतते मालूम हुए, किन्तु शाम को लड़ाई का रुख पलट गया और राजपूतों की बड़ी बुरी हार हुई। उनका बड़ा भयंकर संहार हुआ और बची हुई सेना छिन्न-भिन्न हो गई। उनके पक्ष के हसन खाँ मेवाती, उदयसिंह और बहुत से दूसरे सरदार इस युद्ध में मारे गये। राणा साँगा घायल होकर मूर्छित हो गया और कुछ सरदार उसे पालकी में डालकर युद्धभूमि से बाहर

ले गये। विजयी बाबर ने अपनी विजय-चिह्न-स्वरूप राजपूतों के सिरों क
एक स्तूप (ढेर) बनवाया और गाजी की उपाधि धारण की।

इस युद्ध के फल-स्वरूप राजपूतों का प्रताप जो इस समय बहुत बढ़ गय
था, लुप्त हो गया। इस पराजय के कारण मेवाड़ की प्रतिष्ठा और शक्ति वे
प्रभाव के कारण राजपूतों का जो संघ बना था, वह टूट गया और राजनैतिक
क्षेत्र में राजपूतों का प्रभाव जाता रहा और बाबर स्थिर रूप से भारत क
सम्राट् हो गया। अब उसे दिल्ली का सिंहासन हाथ से निकलने का भय न रहा

बाबर की बादशाह होने की भावना—बाबर अपने साम्राज्य का पूण
अधिपति बनना चाहता था। उसे अभी अनेकों सरदारों को वश में लान
था। प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स कहते हैं कि बाबर को केवल एक राज्य
जीतना ही नहीं था, किन्तु उसे बादशाही को एक ईश्वरीय शक्ति के रूप मे
प्रतिष्ठित भी करना था। अफगान काल में सुल्तान की शक्ति ईश्वर की दी
हुई शक्ति नहीं, केवल एक मनुष्य की शक्ति मानी जाती थी। साम्राज्य वे
सरदार, सुल्तान के कमजोर पड़ते ही मौका पाकर स्वतन्त्र हो जाते थे। बाबर
ने सुल्तान के स्थान में बादशाह् की उपाधि धारण की जिसके पीछे सैनिक
तथा राजकीय शक्ति के साथ धर्म-द्वारा स्वीकृत ईश्वरीय शक्ति का भाव भी
वर्तमान है। धीरे-धीरे इस भाव ने लोगों के दिलों में घर कर लिया। लोग
बादशाह का झरोखा दर्शन करने लगे और उसे ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर
भक्ति-भाव प्रदर्शित करने लगे।

चन्देरी पर अधिकार—चन्देरी का प्रसिद्ध दुर्ग मेदिनीराय के अधिकार
में था। बाबर ने मेदिनीराय पर धावा किया और २० जनवरी, सन् १५२८
को वह चन्देरी पहुँचा। मेदिनीराय ने ५००० राजपूतों के साथ किले का
फाटक बंद कर लिया। बाबर ने उसके सामने जागीर लेकर किला सौंप
देने का प्रस्ताव किया, किन्तु उसने संधि करने से इनकार कर दिया। इसी
समय पूर्व से खबर मिली कि अफगानों ने शाही सेना को हरा दिया है, जो
लखनऊ छोड़कर कन्नौज लौट आने के लिए विवश हुई थी। इस उद्वेगजनक
समाचार को सुनकर बाबर घबराया नहीं और चन्देरी के घेरे को जारी रक्खा।
उसने किले पर चारों ओर से इस जोर का हमला किया कि राजपूतों ने

निराश होकर जौहर किया और वीरतापूर्वक लड़कर सबके सब वीर-गति को प्राप्त हुए और किले पर बाबर का अधिकार हो गया। इन्ही दिनों ३० जनवरी को महाराणा साँगा का देहान्त हो गया और निकट भविष्य में राजपूत शक्ति के पुनरुत्थान की आशा जाती रही। बागी अफ़गान सरदार दबा दिये गये और सन् १५२८ के अंत तक बाबर ने शान्ति का उपभोग किया।

घाघरा का युद्ध (१५२९ ई०)--परन्तु अफगानों के उपद्रवों का अभी अन्त नहीं हुआ था। इब्राहीम लोदी के भाई महमूद लोदी ने बिहार को जीत लिया था और पूर्वी प्रदेशों के एक बड़े भाग ने उसका साथ दिया था। बाबर ने इस विद्रोही के विरुद्ध एक सेना के साथ अपने पुत्र अस्करी को भेजा और पीछे स्वयं भी गया। यह सुनकर कि बाबर आ रहा है, शत्रु तितर-बितर हो गये। जब वह इलाहाबाद, चुनार और बनारस होते हुए बक्सर जा रहा था, बहुत से अफगान सरदारों ने उसकी वश्यता स्वीकार की। अपने प्रधान सहकारियों द्वारा परित्यक्त होकर महमूद ने बंगाल में शरण ली। बंगाल के शासक नुसरतशाह ने बाबर से मेल दिखाया था; लेकिन उसकी सेनाओं ने भागे हुए अफगान बागी को शरण दी। बाबर बंगाल की ओर बढ़ा और अफगानों को ६ मई १५२९ को घाघरा की प्रसिद्ध लड़ाई में पराजित किया। बाबर की इस विजय से लोदियों की बची-खुची आशा जाती रही और कई प्रधान अफगान सरदारों ने बाबर की अधीनता स्वीकार कर ली। बाबर इस चढ़ाई के फल से सन्तुष्ट होकर दिल्ली लौट आया।

बाबर के अंतिम दिन--खानवा की लड़ाई के बाद हुमायूँ काबुल भेज दिया गया था, वहाँ कुछ उपद्रव की आशंका थी। लेकिन उजबेगों के विरुद्ध उसकी असफलता से बाबर को बहुत निराशा हुई और उसने हिन्दूकुश के पार के अपने साम्राज्य को सुव्यवस्थित करने के लिए स्वयं जाने का निश्चय किया। वह लाहौर तक गया, लेकिन अपनी गिरती हुई तन्दुरुस्ती के कारण आगे बढ़ने में असमर्थ रहा। बहुत दिन राजधानी से दूर रहने के कारण हुमायूँ का जी ऊब गया था। वह बदखशाँ से चल दिया और जुलाई सन् १५२९ में आगरे पहुँच गया। बाबर को चिन्ता हुई। उसने हुमायूँ

से वापस जाने को कहा; परन्तु उसने अपनी असमर्थता प्रकट की। इसके बाद वह अपनी जागीर संभल को चला गया जहाँ कुछ दिनों बाद सन् १५३९ के गर्मी के दिनों में बुरी तरह बीमार हो गया। बाबर उसकी इस बीमारी से घबरा गया और उसकी जान बचाने के लिए अपनी जान देने को तैयार हुआ उसके अमीरों ने उससे ऐसा न करने की प्रार्थना की और कहा कि बदले में आगरे में मिले हुए बहुमूल्य हीरे को भेंट दी जा सकती थी, लेकिन वह भेंट बाबर को अपने पुत्र की जान के बदले अपर्याप्त जान पड़ी। कहा जाता है कि वह हुमायूँ के बिस्तरे के चारों ओर तीन वार घूमा और ईश्वर से उसने प्रार्थना की कि उसके पुत्र की बीमारी उस पर चली आवे, और उसी वक्त वह कहने लगा, "ले लिया, ले लिया।" मुसलमान इतिहास लेखक कहते हैं कि उसी वक्त से हुमायूँ अच्छा होने लगा और बाबर की तन्दुरुस्ती दिन पर दिन बिगड़ने लगी। कहा जाता है कि इसी समय मीर खलीफा ने जो बाबर का मंत्री था, हुमायूँ को राजगद्दी से वंचित करने के लिए षड्यन्त्र रचा, परन्तु वह असफल हुआ।

अपना अंतिम समय निकट आया जानकर बाबर ने अपने सरदारों को अपने पास बुलाया और उनसे हुमायूँ को उसका उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार करने और राज्य का प्रबन्ध करने में उसका साथ देने के लिए कहा। तब वह हुमायूँ की ओर फिरा और उससे बोला—"मैं तुम्हें, तुम्हारे भाइयों को और अपने परिजनों और सब प्रजा को खुदा को सौंपता हूँ और उसका भार तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ।"

तीन दिन बाद यह नेक बादशाह २६ दिसम्बर १५३० को इस संसार से चल बसा। पहले उसकी मृत्यु गुप्त रखी गई, किन्तु कुछ समय बाद एक हिन्दुस्तानी सरदार आरायश खाँ ने इस कार्य के अनौचित्य की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया। उसने सम्मति दी कि इस बात की घोषणा करके कि बादशाह दरवेश हो गया है और अपना राज्य उसने अपने पुत्र हुमायूँ को दिया है, हुमायूँ को सिंहासनासीन कर देना चाहिए। इस सम्मति से सब लोग सहमत हुए और इसी के अनुसार कार्य हुआ। इस प्रकार २९ दिसम्बर सन् १५३० को बाबर का ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ दिल्ली की गद्दी पर बैठा।

बाबर का मृत शरीर पहले जमुना के किनारे आगरा में रामबाग (आराम-बाग) में दफनाया गया, लेकिन बाद में जैसी उसकी इच्छा थी, काबुल ले जाकर एक ऐसी जगह दफनाया गया, जिसे उसने स्वयं इस कार्य के लिये चुना था।

शासन-प्रबंध—बाबर को अपने अधिकृत विशाल राज्य के शासन के लिए नये कानून बनाने या संस्थाएँ स्थापित करने के लिए समय नहीं मिला। उसने शासन की उसी प्रणाली को ग्रहण किया जो उसके पहले से हिन्दुस्तान में चली आती थी। उसने भी अफगान काल की दोषपूर्ण जागीरदारी प्रथा को प्रचलित रखा। अन्तर केवल इतना था कि उसके समय में जागीरदार लोग इतने स्वतंत्र नहीं थे, जितने अफगान-काल में थे। बाबर के शासन की एक बात उल्लेखनीय है जिसका दुष्परिणाम हुमायूँ के शासन-काल में पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर हुआ। वह यह कि राज्य की आर्थिक परिस्थिति बहुत ही बुरी थी जिसका कारण था देश की अव्यवस्थित दशा और बाबर की मुक्तहस्त उदारता। खानवा का युद्ध आरम्भ होने से पहले उसने मुसलमानों के लिए स्टाम्प-कर मुआफ कर दिया था।

बाबर का हिन्दुस्तान का विवरण—बाबर ने अपनी आत्मकहानी में हिन्दुस्तान की राजनैतिक अवस्था का संक्षिप्त विवरण दिया है। उसने इस देश के पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का एक विस्तृत विवरण दिया है। वह पहाड़ों, नदियों, जंगलों और विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों, फलों और भोज्य पदार्थों का नामोल्लेख करता है। उसने निवासियों के प्रति बड़े अनुदार विचार प्रकट किये हैं जो अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। उसे उनमें सर्वत्र अवगुण ही दिखलाई देते थे। वह उनके रहन-सहन तथा आदर्शों से परिचित नहीं हो सका था। उसे यह देश पसन्द नहीं था। वह कहता है "यहाँ के लोग सुन्दर नहीं हैं और न वे मिलनसार ही हैं। उनमें प्रतिभा और बुद्धि की विशालता नहीं है। उनमें कलें बनाने, दस्तकारी और स्थापत्य कला की कुशलता नहीं है।" वह यह भी कहता है कि इस देश में पर्याप्त नहरें, वाटिकाएँ और महल नहीं हैं, और यहाँ की इमारतों में शोभा तथा क्रम नहीं हैं। वह कहता है कि इस देश के खेतिहर और निम्नश्रेणी के लोग करीब करीब नंगे रहते हैं, सिर्फ एक लँगोटी पहनते हैं, वह इस देश का प्रधान गुण यहाँ सोने-चाँदी

की अधिकता बतलाता है और वर्षा-ऋतु में यहाँ के जलवायु को भी मनोरम बतलाता है। वह यहाँ की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार श्रम-विभाग या पेशे के पैतृक होने का भी उल्लेख करता है। इस पुस्तक में बाबर लिखता है कि वेहरे से बिहार तक की उसके भारतीय साम्राज्य की वार्षिक आय ५२ करोड़ रुपये थी जिसमें कुछ परगने राजाओं और रावों के अधिकार में थे जिनकी आय ८ करोड़ रुपये तक थी; ये लोग सदा दिल्ली की सल्तनत के अधीन रहते थे। सम्भव है कि ये अंक अतिशयोक्तिपूर्ण हों।

बाबर की जीवनचर्या पुस्तक—बाबर की जीवनचर्या की पुस्तक—"बाबरनामा" या "तुजुके बाबरी" जिसे उसने तुर्की भाषा में लिखा था बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें जिन व्यक्तियों के संसर्ग में बाबर आया, उनका तथा उनके व्यक्तित्व का सच्चा चित्रण मिलता है। इसमें उसके चित्ताकर्षक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व, युद्ध-प्रबन्ध में प्रदर्शित तीव्र बुद्धि तथा सैन्य-संचालन की कुशलता, उसके अपूर्व साहस और उदारता का बड़ा अच्छा परिचय मिलता है। एशिया के किसी दूसरे शासक ने अपने जीवन का ऐसा सजीव, मनोरंजक और सत्यतापूर्ण विवरण नहीं लिखा है। उसकी शैली सरल तथा प्रभावशाली है तथा उसकी भाषा स्वाभाविक ओजस्वी तथा सशक्त है। बाबर सच्चाई का बहुत ध्यान रखता था। वह लिखता है "मैंने ये बातें अपना गुणगान करने के लिए नहीं लिखी हैं, मैंने ठीक वही लिखा है जैसा हुआ है। मैंने इस इतिहास में इस सिद्धान्त का पालन किया है कि प्रत्येक विषय में सत्य प्रकाशित होना चाहिए, और प्रत्येक घटना का मैंने ठीक वैसे ही वर्णन किया है जैसे वह घटित हुई है।" इस विशेषता के कारण यह पुस्तक बड़ी मूल्यवान् हो गई है। इस पुस्तक का बाबर की लिखी प्रति से हुमायूँ ने १५५३ में अनुवाद किया और फिर अब्दुर्रहीम खानखाना ने १५९० में फारसी में अनुवाद किया। अब कई योरपीय भाषाओं में इसके अनुवाद निकल चुके हैं।

बाबर का व्यक्तित्व—बचपन की विपत्तियों और साहसी जीवन से बाबर का शरीर सुदृढ़ हो गया था और उसमें धैर्य, सहनशक्ति, उत्साह और

स्वावलम्बन के गुण आ गये थे। वह कड़े से कड़े जाड़े में घोड़े पर सवार होकर दूर दूर तक जंगली जानवरों का शिकार किया करता था। वह बरफ-जमी नदियों में नहाया करता था। और रास्ते में आनेवाली नदियों को तैरकर पार कर जाया करता था। उसके शरीर में इतना बल था कि दोनों ओर बगल में एक एक आदमी को दबाकर वह बिना किसी असुविधा के निर्भय होकर किले की दीवार पर दौड़ सकता था। उसमें अपूर्व आत्मविश्वास था। उसमें ऐसी शक्ति थी कि वह प्रबल शत्रु के सामने निराश तथा हतोत्साह सेना में आशा तथा स्फूर्ति का संचार कर देता था, जैसा उसने खानवा के युद्ध के पहले किया था। उसने मध्य एशिया के तुर्कों और मंगोलों की युद्ध की प्रथा को ग्रहण किया था, जिसे उसने कुछ परिवर्तित तथा परिष्कृत भी किया। उसने अपने तोपखाने को इतना उन्नत बना लिया था कि उसे युद्ध में हराना बड़ा कठिन था। वह बड़े प्रसन्नचित्त और उत्साह-पूर्ण स्वभाव का था। बड़ी से बड़ी विपत्ति तथा संकट में भी वह घबराता नहीं था तथा विषादयुक्त नहीं होता था। वह हताश होना तो जानता ही नहीं था।

बाबर का स्वभाव बड़ा ही उदार, दयालु तथा स्नेहमय था। वह अपने परिजनों तथा मित्रों के प्रति अपनी उदारता के लिए प्रसिद्ध था। वह अपने शत्रुओं के प्रति भी उदारता तथा दया का व्यवहार करता था। वह अपने सिपाहियों को जीते हुए प्रदेशों को उजाड़ने नहीं देता था और जो सिपाही इस आज्ञा का उल्लंघन करते थे, उन्हें बड़ा कड़ा दंड देता था। परिजनों तथा मित्रों के प्रति उसके हृदय में बड़ा स्नेह था। वह सदा अपने वचन का पालन करता था और शत्रुओं के साथ भी विश्वासघात नहीं करता था। उसे अकृतज्ञता से बड़ी घृणा थी।

बाबर शराब पीने में बहुत आनन्द लेता था और बहुत शराब पीता भी था, और आनन्दोत्सवों के लिए शराब को आवश्यक समझता था। किन्तु वह इसे कभी अपने कर्त्तव्य-पालन में बाधक नहीं बनने देता था। उसने कई बार शराब छोड़ देने का निश्चय किया; लेकिन यह निश्चय दो-तीन दिनों बाद ही टूट जाता था। उसने राजपूतों के साथ के बड़े युद्ध के पहले

सीकरी में ईश्वर को साक्षी बनाकर शराब छोड़ देने की अंतिम बार प्रतिज्ञा की और उसे हमेशा के लिए छोड़ दिया।

धार्मिक विचार की दृष्टि से बाबर एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था। वह शियों को काफिर समझता था। हिन्दुओं का उल्लेख भी उसने घृणापूर्वक शब्दों में किया है और जिहाद को एक धार्मिक कार्य बताया है। वह अपने विरोधी हिन्दुओं के प्रति दया नहीं दिखलाता था, लेकिन केवल धार्मिक आधार पर अपने राज्य में किसी को कभी दंड नहीं देता था। उसे ईश्वर में बड़ा विश्वास था और अपनी सब सफलताओं को वह उसी की कृपा के कारण मानता था। वह युद्धों में सदा अपनी विजय के लिए ईश्वर से प्रार्थना किया करता था। उसे प्रार्थना में बहुत विश्वास था, जैसा उसके हुमायूँ के बदले अपना प्राण देने के तरीके से भली भाँति प्रदर्शित होता है।

बाबर प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा प्रेमी था। झरने, सोते, झील, फूल, फल-पौधे आदि तथा अपनी जन्मभूमि के चरागाहों में उसके लिए बड़ा आकर्षण था। उसकी कवित्व-शक्ति बहुत कुछ इसी प्रकृति-प्रेम के कारण थी। उसकी बुद्धि प्रखर और कल्पना-शक्ति ऊँची थी। उसके दृश्यों के वर्णन और व्यक्तियों के चित्रण बड़े सजीव तथा सच्चे हैं। वह एक सच्चा कवि था। उसने तुर्की भाषा में एक "दीवान" भी लिखा था। उसकी कविताएँ उच्च भावपूर्ण हैं। उसकी शैली स्वाभाविक तथा आडंबरहीन थी। वह तुर्की और फारसी दोनों भाषाएँ अच्छी तरह और बड़ी सरलता से लिख सकता था। एक बार उसने हुमायूँ को असावधानी से लिखने के कारण डाँटा था और उसे सरल तथा कृत्रिम शैली का अभ्यास करने की राय दी थी। तुजुक बाबरी की भाषा बड़ी प्रौढ़ है। यह पुस्तक उसके शासन काल का सबसे अधिक प्रामाणिक इतिहास है।

बाबर निस्सन्देह अपने काल का सर्वश्रेष्ठ मुसलमान शासक था। यह सच है कि वह कभी कभी बड़ा क्रूर हो जाता था; किन्तु ऐसे अवसर बहुत कम होते थे। साधारणतः मनुष्यों का वध कराने में उसे आनन्द नहीं आता था। सभी बातों पर ध्यान रखते हुए कहा जा सकता है कि वह एक योग्य तथा महान् व्यक्ति था।

अध्याय ३

हुमायूँ और शेरशाह

प्रारम्भिक काल—हुमायूं २९ दिसम्बर १५३० को आगरा में २३ वर्ष की अवस्था में सिंहासनासीन हुआ। मरते समय बाबर ने हुमायूं को भाइयों के साथ अच्छा बर्ताव करने का आदेश दिया था। उसने अपने पिता के वचन का इस प्रकार पालन किया कि उसे बहुत दुःख उठाना पड़ा। अपने भाइयों के कारण उसे संकट का सामना करना पड़ा। पहली बात जो उसने की, यह थी कि उसने राज्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने भाइयों में बाँट दिया। कामराँ को काबुल और कंधार की जागीरें मिलीं जिन पर पहले ही से उसका अधिकार था। मिर्जा अस्करी को संभल की जागीर मिली, और मिर्जा हिन्दाल को अलवर और मेवात की जागीरें दी गई। अपने चचेरे भाई सुलेमान मिर्जा को हुमायूं ने बदखशाँ प्रदेश दिया।

गद्दी पर बैठने के कुछ ही काल बाद हुमायूँ को मालूम हो गया कि उसकी परिस्थिति संकटापन्न है। बाबर के समय राज्य सुव्यवस्थित नहीं हो सका था। उसे इस कार्य के लिए समय नहीं मिला था। देश की अधिकांश प्रजा हिंदू थी जो विजेता मुगलों को (जो वास्तव में तुर्क थे) बर्बर समझती थी। उसे उनके प्रति सहानुभूति नहीं थी। उसके भाई गद्दी पर अधिकार जमाना चाहते थे और पूर्व में अफगान सरदार अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करना चाहते थे। उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए इस समय महमूद लोदी बिहार में घूम रहा था। शेर खाँ अलग अपनी शक्ति बढ़ा रहा था और अफगानों का संगठन कर रहा था। गुजरात में बहादुरशाह ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी और अब वह राजपूताने को जीतने की तैयारी कर रहा था। उसके पास विशाल सम्पत्ति थी जिसने शेर खाँ द्वारा संगठित मुगलों के विरुद्ध अफगानों के आन्दोलन को जो बाद में सफल हुआ, बहुत सहायता पहुँचाई।

कामराँ के साथ रियायत—बाबर के देहान्त के समय कामराँ काबुल में था। वह अपने प्रदेशों को अस्करी की देख-भाल में छोड़कर एक बड़ी सेना के साथ हिन्दुस्तान की ओर बढ़ा। उसने यह घोषित किया कि वह अपने भाई को बादशाहत पाने पर बधाई देने के लिए आ रहा था। हुमायूँ ने जो उसके मन्तव्य को खूब अच्छी तरह जानता था, एक दूत आगे भेजकर उससे यह कहलाया कि वह पहले से ही उसकी काबुल की जागीर में पेशावर और लमगान बढ़ाने का निश्चय कर चुका था। लेकिन कामराँ इतने से संतुष्ट नहीं हुआ और आगे बढ़कर उसने समूचे पंजाब पर अधिकार कर लिया। हुमायूँ ने जो युद्ध के लिए तैयार नही था, उसके इस अधिकार को मान लिया और काबुल, कंधार और पंजाब उसी के पास रहने दिये। यह हुमायूँ की बड़ी भारी गलती थी, क्योंकि इससे उसके भारतीय साम्राज्य और अफगानिस्तान के पार के उन प्रदेशों के बीच में रुकावट आ गई, जहाँ से साम्राज्य के लड़नेवाले सिपाही आते थे। अब कामराँ बड़ी आसानी से उसकी फौज में लड़नेवाले अच्छे सिपाहियों की भर्ती को रोक सकता था। इसके अतिरिक्त उसे हिसार फिरोजा लेने देना एक बड़ी भारी गलती थी, क्योंकि वह कन्धार से दिल्ली आनेवाली नई फौजी सड़क का नाका था।

गुजरात का सुलतान बहादुरशाह—हिन्दुस्तान में हुमायूँ के दो प्रबल शत्रु थे, एक बिहार में अफगानों का सरदार शेर खाँ और दूसरा गुजरात का सुलतान बहादुरशाह। बहादुरशाह ने १५३१ ई० में मेवाड़ के राणा के साथ मालवा पर चढ़ाई की; क्योंकि वहाँ के सुलतान ने बहादुरशाह के विद्रोही भाई को अपने यहाँ शरण दी थी। उसने मालवा के सुलतान को कैद करके चम्पानेर के किले में भेज दिया और उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया और खानदेश, अहमदनगर और बरार के शासकों से अपनी वश्यता स्वीकार कराई। पुर्तगालवालों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। उसने एक बहुत बड़ी सेना लेकर १५३३ में चित्तौर पर चढ़ाई की, परन्तु राणा से रुपया लेकर लौट आया।

बहादुरशाह की शक्ति बढ़ती जाती थी। इब्राहीम लोदी का चचा आलम खाँ, और दूसरे अफगान सरदार जिन्होंने उसके दरबार में शरण ली थी,

चगताइयों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने में उसकी मदद चाहते थे। इसी समय एक विद्रोही सरदार मुहम्मदजमाँ भागकर बहादुरशाह के यहाँ आया। हुमायूँ ने उसे गुजरात से निकाल देने के लिए लिखा। बहादुरशाह ने इस पर ध्यान न दिया और हुमायूँ से शत्रुता ठान ली। इस पर हुमायूँ ने उस पर चढ़ाई कर दी।

इस समय बहादुरशाह ने चित्तौर पर दूसरी चढ़ाई की थी। हुमायूँ उसके विरुद्ध चित्तौर की ओर बढ़ा। इस पर बहादुरशाह ने उसको लिखा कि इस समय मैं जिहाद कर रहा हूँ, काफिरों पर मेरी विजय होने में आपको बाधा न डालनी चाहिए। इस पर हुमायूँ ग्वालियर में ही रुक गया और बहादुरशाह ने चित्तौर के किले पर अधिकार कर लिया। अब हुमायूँ बहादुरशाह पर चढ़ाई करने के लिए चला। सुल्तान भी उसका मुकाबला करने के लिए बढ़ा; परन्तु हारकर भाग गया और बहुत सा लूट का माल मुगलों के हाथ लगा। हुमायूँ ने सुल्तान का पीछा किया और वह मांडू और मांडू से चम्पानेर भागा और फिर वहाँ से ड्यू टापू में चला गया और वहाँ पुर्तगालवालों से सन्धि की बातें करने लगा। हुमायूँ ने चम्पानेर के किले का घेरा डाला और चार महीने के बाद उसे जीत लिया। इस सफलता के बाद मुगल नाच-रंग में समय व्यतीत करने लगे। बहादुरशाह ने अच्छा मौका देखकर अपने सेनापति इमादुल-मुल्क को भेजा। उसने अहमदाबाद ले लिया और एक बड़ी सेना इकट्ठी कर ली। पुर्तगालवालों ने भी बहादुरशाह को उससे अपनी बस्ती की किलेबन्दी की आज्ञा पाकर मदद देने का वचन दिया।

अब हुमायूँ की निद्रा टूटी और वह इमादुलमुल्क के विरुद्ध बढ़ा और उसे पराजित किया। उसने गुजरात को अपने भाई मिर्जा अस्करी के हवाले किया। मिर्जा ने बड़ी अयोग्यता और मूर्खता का परिचय दिया। उसने देश में सुव्यवस्था तथा शान्ति स्थापित करने के लिए कुछ भी नहीं किया और अपने अफसरों से झगड़ा कर बैठा। बहादुरशाह ने इस सुअवसर से लाभ उठाया। उसने अपनी शक्ति एकत्रित करके धीरे-धीरे सारे गुजरात प्रदेश पर अधिकार जमा लिया। परन्तु उसकी जिन्दगी के दिन खतम हो गये थे; सन् १५३७ में जब पुर्तगालवालों के गवर्नर ने उसे मन्त्रणा के लिए बुलाया

उनके साथ झगड़ा हो गया जिसमें वह समुद्र में डूब गया। हुमायूँ जो मांडू में था, आगरे लौट गया और कुछ ही समय बाद मालवा भी उसके हाथ से निकल गया।

इस प्रकार की अकर्मण्यता और आरामतलबी से उत्तर में उसकी प्रतिष्ठा जाती रही। पूर्व में अफगानों ने धीरे धीरे अपनी शक्ति बढ़ा ली और शेर खाँ के नेतृत्व में मुगलों के साथ अपनी शक्ति की परीक्षा करने की तैयारी करने लगे।

शेर खाँ का प्रारम्भिक जीवन—शेर खाँ का बचपन का नाम फरीद खाँ था। उसका बाप हसन बिहार में सहसराम का जागीरदार था। उसके जन्म का ठीक समय मालूम नहीं है, लेकिन अनुमान किया जाता है कि वह १४८६ ई० के लगभग पैदा हुआ था। फरीद का पिता उसकी सौतेली माँ के वंश में था। इसलिए उसके लड़कपन में उसने फरीद पर ध्यान नहीं दिया। घर के दुर्व्यवहार से तंग आकर वह जौनपुर चला गया और वहाँ विद्याध्ययन करने लगा। अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण थोड़े ही काल में वह अरबी और फारसी भाषाओं का अच्छा विद्वान् हो गया और उसने साहित्य तथा इतिहास का अच्छा अध्ययन किया। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर बिहार के सूबेदार जमाल खाँ ने उसके पिता को उसके साथ अच्छा बर्ताव करने का आदेश किया।

मनस्वी हसन के पिता ने उसे अपनी जागीर का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त किया। उसने जागीर का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया, किन्तु अपनी सौतेली माँ के द्वेष के कारण फिर घर छोड़कर चला गया। उसने बिहार के सूबेदार दरिया खाँ लोहानी के पुत्र बहार खाँ के यहाँ नौकरी की, जो उसकी योग्यता से बहुत प्रभावित हुआ। एक बार जब फरीद खाँ बहार खाँ के साथ शिकार खेलने के लिए गया था, उसने तलवार के एक ही वार से शेर को मार डाला। उसकी बहादुरी से प्रसन्न होकर बहार खाँ ने उसे शेर खाँ की उपाधि दी। कुछ ही दिनों बाद शेर खाँ की बहार खाँ से अनबन हो गई और वह बाबर के यहाँ आगरा चला गया। जब बाबर पूर्व के अफगानों को वश में लाने लगा तो शेर खाँ ने उसकी बहुत सहायता की जिससे प्रसन्न होकर बाबर ने उसे उसके पिता की जागीर दे दी।

बहार खाँ के मरने के बाद बाबर ने उसके पुत्र जलाल खाँ को उसके प्रदेश दे दिये, लेकिन वह अभी नाबालिग था और शेर खाँ उसके प्रदेशों का प्रबन्ध करता था। जब जलाल खाँ बालिग हुआ तो उसे शेर खाँ के हाथों की कठपुतली बने रहना पसंद नहीं आया। उसके हाथों से छुट्टी पाने के लिए उसने बंगाल के शासक की सहायता चाही। शेर खाँ ने उन दोनों की सेनाओं को हराकर आसानी से बिहार पर अधिकार जमा लिया।

शेर खाँ ने अब बंगाल की ओर अपनी नजर फेरी। उसने बंगाल पर हमला किया और वहाँ की सेनाओं को आसानी से हराते हुए १५३६ की फरवरी के अन्त तक गौड़ के किले तक पहुँच गया। बंगाल के शासक महमूद ने उसका सामना नहीं किया, बल्कि उसे घूस देकर लौटा दिया। दूसरे साल उसने फिर गौड़ पर हमला किया और उसे आसानी से जीत लिया। जब हुमायूँ ने यह खबर सुनी तो सेना लेकर वह गौड़ की तरफ बढ़ा। चालाक शेर खाँ उसके रास्ते से हटकर बिहार की तरफ लौट आया। मुगलों ने गौड़ ले लिया और उसका नाम जन्नताबाद रक्खा। शेर खाँ बिहार में और जौनपुर में शाही इलाकों को लेने की कोशिश करने लगा और उसने कन्नौज तक के देश को लूट लिया।

चौसा का युद्ध १५३९ ई०—जब हुमायूँ को शेर खाँ की इन कार्रवाइयों का हाल मालूम हुआ तो वह गौड़ से गंगा तट को पकड़कर बड़ी तेजी से चला और मुँगेर में गंगा को पार किया। अब उसे अपनी भयंकर स्थिति का ज्ञान हुआ और उसने शेर खाँ से संधि करने का उद्योग किया, लेकिन शेर खाँ इसके लिए तैयार न हुआ। अफगान चारों ओर से बहुत बड़ी संख्या में शेर खाँ के पास इकट्ठे हुए और उन्होंने बक्सर के पास चौसा नामक स्थान पर मुगलों को पराजित किया। हुमायूँ भागकर प्राण बचाने के लिए घोड़े पर चढ़ा हुआ गंगा में कूद पड़ा। निजाम खाँ नाम के भिश्ती ने उसे डूबने से बचाया। इस अहसान के बदले उसने भिश्ती को दो दिन के लिए गद्दी पर बैठने दिया और सरदारों ने उसका मुजरा कराया। चौसा के युद्ध के बाद शेर खाँ ने शेरशाह की उपाधि धारण की, अपने नाम के सिक्के ढलवाये और फतवा पढ़वाया।

कन्नौन का युद्ध : मई १५४०—हुमायूँ को अब मालूम हो गया कि शेरशाह

बड़ा शक्तिशाली है । इसलिए उसका सामना करने के लिए तैयारी करने लगा। उसने अपने भाइयों को मिलाने का उद्योग किया, किन्तु वे मदद करने के बदले उसकी तैयारी में रुकावटें डालने लगे। भाइयों की इस फूट से उत्साहित होकर शेरशाह अपने अफगानों के साथ आगे बढ़ा। हुमायूँ भी उसका मुकाबला करने के लिए बढ़ा। दोनों सेनाओं ने कन्नौज के पास गंगा के किनारे पड़ाव डाले। दोनों सेनाएँ जिनकी संख्या तारीखे रशीदी के अनुसार २,००,००० थी, एक महीने तक पड़ी रहीं। हुमायूँ ने देखा कि उसकी सेना के सिपाही धीरे धीरे चले जा रहे हैं। इसलिए उसने युद्ध प्रारंभ करना ही ठीक समझा। उसके सिपाही भी लगकर नहीं लड़े और उन्हें अफगानों ने बड़ी आसानी से हरा दिया। अफगानों ने भागती हुई मुगल सेना का नदी की ओर पीछा किया जिससे उसकी बड़ी क्षति हुई और बहुत से मुगल डूब गये। इस युद्ध के बाद हुमायूँ को गद्दी छोड़कर भागना पड़ा और दिल्ली की सल्तनत शेरशाह के अधिकार में चली गई।

शेरशाह की अन्य विजय––पंजाब में हुमायूँ का पीछा करते हुए शेरशाह का ध्यान सतलज और सिन्ध के बीच के गक्खरों (Gakkars) के पहाड़ी प्रदेश की ओर गया। इस भूखंड का अधिकार सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण था। उत्तर-पश्चिम से चढ़ाई करनेवाला शत्रु इस रास्ते से आकर पंजाब पर अधिकार जमा सकता था। शेरशाह ने इस प्रदेश को उजाड़ डाला; परन्तु इसी समय बंगाल के सूबेदार के बलवे के कारण उसे वहाँ से हटना पड़ा। लेकिन वह अपने योग्य सेनापतियों को ५०,००० सैनिकों के गक्खरों के प्रदेश को अधिकृत करने के लिए छोड़ गया।

इसके बाद मालवा, रायसेन और सिंध जीतने के पश्चात् शेरशाह ने जोधपुर के शासक, मालदेव की ओर ध्यान दिया। वह नहीं चाहता था कि दिल्ली के इतने निकट एक शक्तिशाली राज्य रहे। एक बड़ी सेना लेकर वह मारवाड़ की ओर चला, और मेड़ते तक बढ़ गया जो अजमेर से ४२ मील पश्चिम की ओर है। राजपूत भी बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे हुए। वे इतनी अच्छी तरह संगठित थे कि शेरशाह को अपनी विजय में संदेह होने लगा। इसलिए उसने धोखे का सहारा लिया। उसने मालदेव के सरदारों की ओर

से एक जाली पत्र इस आशय का लिखवाया—"बादशाह के मन में किसी प्रकार की चिन्ता या सन्देह न होने दो। युद्ध में मालदेव को पकड़कर हम लोग तुम्हारे पास लायेंगे।" और उन्हें एक खरीते में बन्द करवा कर मालदेव के खेमे के पास डलवा दिया। जब इन पत्रों की बातें मालदेव को मालूम हुई तो उसे अपने सरदारों पर विश्वासघात का सन्देह हो गया। उसने रक्षा के लिए भयभीत होकर झटपट पीछे हट जाने का निश्चय कर लिया। उसके सरदार अपने विश्वासपात्र होने का विश्वास दिलाते ही रह गये, लेकिन उसने उन पर कुछ ध्यान नहीं दिया। इससे राजपूतों के मान को बड़ी ठेस लगी और उनके कुछ सरदार इस कलंक को सहन न कर सके। वे अपने प्राणों का मोह छोड़कर शत्रु पर टूट पड़े और बड़ी वीरता से लड़ते हुए बहुत से अफगानों को काटकर वीरगति को प्राप्त हुए। राजपूतों की इस अपूर्व वीरता से शेरशाह बहुत प्रभावित हुआ और कहने लगा कि मैं एक मुट्ठी बाजरे के लिए हिन्दुस्तान की सल्तनत करीब-करीब खो चुका था।

इस विजय के बाद शेरशाह ने आबू को अधिकृत किया और वहाँ से फिर मेवाड़ की ओर बढ़ा। मालदेव जोधपुर से भागकर सिवाना के किले में चला गया। अब्बास खाँ अपनी पुस्तक "तारीख शेरशाही" में लिखता है कि अजमेर लेने के बाद शेरशाह चित्तौर की ओर बढ़ा। राणा ने उसे किला सौंप दिया जिसे वह अहमद शेरवानी के हवाले करके लौट गया। लेकिन चित्तौर पर शेरशाह का अधिकार सही नहीं जान पड़ता। शेरशाह की आखिरी चढ़ाई कालिंजर के राजा पर हुई। राजपूत किले की दीवार पर से घेरा डालनेवालों पर बड़े-बड़े पत्थर ढुलकाते थे जिससे किले को लेना बहुत मुश्किल हो गया। लेकिन अंत में जब किला फतह होने के करीब था, बारुद के भड़कने से शेरशाह अकस्मात् जल गया। किला फतह हुआ और अफगानों ने उस पर अधिकार जमा लिया। लेकिन शेरशाह की हालत खराब होती गई और वह २२ मई १५४५ को संसार से चल बसा।

शेरशाह के एकतन्त्र शासन का स्वरूप—शेरशाह का शासन एकतंत्रीय होते हुए भी बड़ी योग्यता और बुद्धिमानी से संचालित होता था। वह राज्य में शान्ति तथा सुप्रबन्ध स्थापित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने एक नई

शासन-प्रणाली का संगठन भी किया। उसने उलमा की राय न मानकर हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति ग्रहण की। वह शासन की छोटी से छोटी बातों की स्वयं देख-भाल करता था, और प्रजा की भलाई का सदा ध्यान रखता था। वह अपने अफसरों पर बड़ी कड़ी नजर रखता था और नियमोल्लंघन करने पर उन्हें कड़ा दंड देता था। अफगान उसकी योग्यता को पहचानते थे और उसे अपनी जाति का रक्षक मानते थे। इसी कारण वे उसका सम्मान करते थे और सदा उसका साथ देते थे।

मुल्की शासन—सम्पूर्ण राज्य ४७ भागों में विभक्त था जिनमें से हर एक में बहुत से परगने थे। अब्बास खाँ लिखता है कि कुल १,१३,००० परगने थे; लेकिन यह संख्या परगनों की नहीं, मौजों की जान पड़ती है। हर एक परगने में एक शिकदार, एक अमीन, एक खजांची, एक मुन्सिफ और हिसाब लिखने के लिए एक हिन्दी लेखक और एक फारसी लेखक होता था। इन सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त पटवारी, चौधरी और मुकद्दम (मुखिया) होते थे। शिकदार एक फौजी अफसर था, और अमीन एक मुल्की इन्तजाम करनेवाला अफसर था, जिसका खास काम लगान तय करना और वसूल करना था। शिकदार का काम शाही फरमानों को अमल में लाना और जरूरत पड़ने पर अमीन को फौजी मदद देना था। अमीन परगने के मुल्की शासन का प्रधान अफसर था और अपने कामों के लिए केन्द्रीय सरकार के सम्मुख उत्तरदायी था। कई परगनों की एक सरकार होती थी। हर एक परगने में एक शिकदार-शिकदारान और एक मुन्सिफ-मुन्सिफान होते थे, जो अपने हल्के के परगनों के अफसरों के काम का निरीक्षण करते थे। उनका काम आमिलों और प्रजा दोनों पर नजर रखना, परगनों के सरहदी झगड़ों का फैसला करना और प्रजा के विद्रोहात्मक कार्यों का दमन करना था। आमिलों का अक्सर एक दो बरस के बाद एक जगह से से दूसरी पर तबादला कर दिया जाता था; लेकिन उनमें से जो विश्वासपात्र और अनुभवी होते थे, उन पर खास रियायत की जाती थी।

लगान—शेरशाह के पहले खेतों की पैमाइश नहीं होती थी। शेरशाह ने राज्य की सारी जमीन की ठीक ठीक पैमाइश करवाई। उसके समय में काश्तकारों से उपज का एक तिहाई सरकारी लगान के रूप में लिया जाता

था। किसान लगान में या तो गल्ला ही देते थे या रुपया। लगान मुखियों द्वारा वसूल किया जाता था, जिन्हें उपज का एक हिस्सा मिलता था; लेकिन कहीं कहीं प्रजा सीधे खजाने में लगान जमा करती थी। शेरशाह काश्तकारों की भलाई का बहुत ध्यान रखता था। उसका हुक्म था कि कर्मचारी लगान तय करते वक्त नर्मी दिखलावें, परन्तु वसूल करते वक्त किसी तरह की रिआयत न करें। सूखा पड़ने के कारण या और किसी कारण फसल खराब होने पर उनकी सहायता करने के लिए काश्तकारों को रुपया उधार दिया जाता था।

सेना—शेरशाह अलाउद्दीन के सैनिक संगठन से बहुत प्रभावित हुआ और उसने उसके प्रधान सिद्धान्तों को ग्रहण किया। वह सेना को वस्तुतः संगठित तथा सशक्त बनाना चाहता था। उसके समय में मनसबदारी की प्रणाली नहीं थी। सेना देश के विभिन्न भागों में विभक्त रहती थी और छावनियों में रखी जाती थी जिनमें दिल्ली और रोहतास मुख्य थे। हर एक छावनी में रहने-वाली सेना फौज कहलाती थी, जो एक फौजदार के अधीन रहती थी। अफगानों में फिरकों का भेद-भाव बड़ा प्रबल था इसलिए प्रसिद्ध फिरकों के सरदारों के पास अधिक सेना रहने दी जाती थी। स्वयं बादशाह के अधीन एक बहुत बड़ी सेना थी, जिसमें १,५०,००० अश्वारोही और २५,००० पैदल सुशिक्षित सैनिक थे जो बन्दूकों और बाणों से सुसज्जित रहते थे। अश्वारोही सेना बड़ी सुशिक्षित तथा सुसंगठित थी। शेरशाह अपने सैनिकों के साथ बड़ी दयालुता का बर्ताव करता था, परन्तु सेना के नियम बड़े कड़े थे। कूच के वक्त सिपाहियों को काश्तकारों और उनकी फसल को नुकसान पहुँचाने की सख्त मुमानियत थी। यदि किसी काश्तकार की फसल नष्ट होती, तो सरकार उसकी क्षति-पूर्ति करती थी और नुकसान पहुँचानेवालों को सख्त सजा दी जाती थी। जब बादशाह फौज के साथ रहता था तो वह रास्ते के दायें-बायें देखता जाता था और यदि किसी सैनिक को फसल को नुकसान पहुँचाते देखता, तो अपने हाथ से अपराधी के कान काट लेता था और अनाज के पौधों को उसके गले में लटकाकर उसे पड़ाव में चारों ओर घुमवाता था। यदि कभी सड़क के तंग होने से फसल को नुकसान पहुँचता था, तो वह उसका मूल्य निर्धारित करने

के लिए अफसरों को भेजता था और रुपये देकर किसानों की क्षति-पूर्ति करता था।

न्याय—शेरशाह बड़ों और छोटों के साथ एक समान निष्पक्ष न्याय करता था। कोई मनुष्य अपराध करके अपने उच्च वंश या ऊँचे ओहदे के कारण दंड से नहीं बच सकता था। दारुल अदालत नाम की कचहरियाँ स्थापित थीं जिनमें काजी और मीर अदल मुकदमों का फैसला करते थे। हिन्दू सम्भवतः विरासत आदि के झगड़े पंचायतों में निपटाते थे। फौजदारी कानून बड़ा सख्त था; बड़े निर्दय तथा क्रूर दंड दिये जाते थे जिनका उद्देश्य अपराधियों का सुधार नही, बल्कि अपराधों का भयंकर दुष्परिणाम दिखलाकर लोगों को उनसे विमुख करना था। चोरियों और डकैतियों के लिए भी प्राण-दंड दिया जाता था।

शांति-रक्षा—अपराधों के निवारण के लिए शेरशाह ने स्थानीय अधिकारियों के दायित्व का नियम ग्रहण किया था। यदि किसी आमिल या शिकदार के हल्के में कोई चोरी या डकैती होती थी और अपराधी नहीं पकड़े जाते थे, तो मुखिया तलब किये जाते थे और उनसे क्षति-पूर्ति कराई जाती थी। जब कोई खून होता था और खूनी का पता नहीं लगता था तब भी मुखिया पकड़े जाते थे और उनसे खूनी को हाजिर करने को कहा जाता था। यदि वे उसे हाजिर नहीं कर पाते थे या उसका पता नहीं बतला सकते थे, तो उन्हें ही प्राण-दंड दिया जाता था। यह नियम बड़ा ही सफल सिद्ध हुआ। इससे रिआया का 'जान व माल' प्रायः पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता था। राह चलनेवाले निश्चिन्त होकर सोते थे और जमींदार लोग बादशाह के डर से उनकी व उनके धन की रक्षा करते थे। साधारण पुलिस के अतिरिक्त मुहतसिब नियुक्त थे जिनका कर्त्तव्य शराबखोरी और दुराचार आदि पापों का निवारण और धार्मिक नियमों का पालन कराना था। बादशाह ने बहुत गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे, जो उसे राज्य में होनेवाली सब बातों की खबर देते थे।

सड़कें—मध्य युग में सड़क बहुत कम थीं। शेरशाह पहला मुसलमान शासक था जिसने सबके सुभीते के लिए बड़े पैमाने पर सड़कें बनवाईं। सबसे लम्बी सड़क जो सोनार गाँव से सिन्ध नदी के किनारे तक जाती थी, १५००

कोस लम्बी थी। अन्य प्रसिद्ध सड़कों में एक आगरा से बुरहानपुर जाती थी, एक दूसरी आगरे से वियाना होती हुई मारवाड़ की सरहद तक और फिर चित्तौर के किले तक जाती थी और एक सड़क लाहौर से मुल्तान जाती थी। सड़कों के दोनों किनारों पर पेड़ लगाये गये थे और हर दो कोस के फासले पर सरायें बनी हुई थीं, जहाँ हिन्दू और मुसलमानों के ठहराने के लिए अलग-अलग जगहें थीं। हिन्दुओं के सुभीते के लिए ब्राह्मण नौकर रखे गये थे जो उन्हें पानी देते थे और उनका भोजन बनाते थे। सरायों का खर्च चलाने के लिए राज्य से गाँव मिले थे। हर एक सराय में एक कुआँ, एक मस्जिद और कुछ कर्मचारी रहते थे जिनमें अकसर एक इमाम, एक मुअज्जिन और कुछ पानी देनेवाले आदमी होते थे; इन लोगों की तनख्वाह सराय के लिए मिले हुए गाँव की आमदनी से दी जाती थी। ये सरायें डाक की चौकयों का भी काम देती थीं।

धर्म-कार्य में दान—शेरशाह बड़ी उदारता से धार्मिक तथा शिक्षा-संबंधी कार्यो के लिए जायदादों का या धन का दान देता था और इस बात का ध्यान रखता था कि उनका दुरुपयोग न हो। वह अकसर कहा करता था कि बादशाहों का यह धर्म है कि इमामों और धार्मिक पुरुषों को आर्थिक सहायता पहुँचाएँ, क्योंकि उन पर राज्य की खुशहाली और समृद्धि अवलम्बित रहती है। वह कला और विद्या को प्रोत्साहित करता था और उसका यह सिद्धान्त था कि दीन-दुखियों की सहायता करना बादशाहों का कर्त्तव्य है। उसका कहना था कि प्रत्येक योग्य मनुष्य को राज्य से दान या सहायता मिलनी चाहिए और किसी को इतनी अधिक संपत्ति नहीं मिलनी चाहिए कि उसका दुरुपयोग हो। वह मस्जिदों और मदरसों के चलाने का खर्च देता था और शिक्षकों और विद्यार्थियों को वजीफे देता था। राज्य की ओर से कई एक भोजनालय खुले थे जिनमें दीन-दुखियों के लिए मुफ्त भोजन बाँटता था। इन भोजनालयों का वार्षिक व्यय उस समय के हिसाब से जब रुपये की कीमत बहुत अधिक थी १,८०,००० अशर्फियाँ था। बादशाह अफगानों पर खासकर अपने फिरके के आदमियों पर उनकी विशेष पात्रता का विचार न करते हुए बड़ी कृपा करता था।

शेरशाह का चरित्र—शेरशाह मध्यकालीन भारत के बड़े शासकों में से एक था। वह कहा करता था कि बड़ों को सदा कार्य में संलग्न रहना ही शोभा

देता है। वह प्रजा की भलाई के लिए बड़ा कड़ा परिश्रम करता था और राज्य के विभिन्न विभागों के छोटे-बड़े सभी कार्यों का बड़ी सावधानी और परिश्रम से निरीक्षण करता था। वह प्रतिदिन सूर्योदय के पहले उठता था और नहा-धोकर नमाज पढ़ता था। फिर वह चार घंटे तक राज्य-कार्य करता था और सेना के घोड़ों के दागे जाने और उनके विवरण के चिट्ठी की देख-भाल करता था। इसके बाद वह भोजन करके कुछ देर विश्राम करता था और फिर राज-कार्य में लगा जाता था। उसने संध्या का समय कुरान के पाठ के लिए और नामज पढ़ने के लिए अलग कर दिया था। उसने शासन के प्रत्येक विभाग के मंत्री के पास सभी बातों का विवरण भेजने का हुक्म दे रखा था। उसे घूसखोरी और अन्याय से बड़ी घृणा थी, और वह खूसघोरों को बड़ा कड़ा दंड देता था। वह किसानों की भलाई का बहुत ध्यान रखता था और फसल को नुकसान पहुँचानेवालों को भी कड़ा दंड देता था। दीन-दुखियों पर वह विशेष दया करता था। भूखों के लिए उसके भोजनागार दिन-रात खुले रहते थे।

शेरशाह युद्धकला में बड़ा कुशल था। मुगलों के साथ के युद्धों में उसने अपने युद्ध-कौशल और सैन्य-संचालन की उत्कृष्टता सिद्ध कर दी। युद्धों में वह अपने सैनिकों को लूट-पाट नहीं मचाने देता था। शत्रुओं के साथ वह कभी कभी धोखे और विश्वासघात का बर्ताव करता था। उसका सिद्धान्त था कि शत्रु को किसी प्रकार जीतना चाहिए।

एक कट्टर सुन्नी होते हुए भी वह दूसरे धर्मों के माननेवालों के साथ अच्छा बर्ताव करता था। उसने जजिया तो नही उठाया, किन्तु हिन्दुओं के साथ न्याय और सहिष्णुता का पालन किया। अपनी हिन्दू प्रजा में विद्या के प्रचार के लिए वह उन्हें रुपया देता था। उसके समय में हिन्दू शासन-प्रबन्ध में काफी भाग लेते थे। इन कारणों से सभी धर्मो की प्रजा उसे चाहती थी।

शेरशाह धार्मिक सहिष्णुता की नीति और शासन-सम्बन्धी सुधारों में अकबर का पथप्रदर्शक था। उसकी आरम्भ की हुई बातों को अकबर ने विकसित तथा पूर्ण किया। अकबर के समय में टोडरमल और दूसरे अफसरों ने उसकी धरती की पैमाइश की और लगान के तरीके को ग्रहण किया और

आवश्यकतानुसार कुछ सुधार करके उन्हें पूर्ण कर लिया। उसके शासन-संबंधी सुधारों और धार्मिक सहिष्णुता की नीति से उसकी दूरदर्शिता सिद्ध होती है।

हुमायूँ का पलायन––कन्नौज के युद्ध के बाद गंगा पार करके हुमायूँ आगरा गया और वहाँ से अपना परिवार और खजाना साथ लेकर दिल्ली पहुँचा; लेकिन उसे हस्तगत करना असंभव देखकर सरहिन्द की ओर अग्रसर हुआ। उसके भाइयों से उसे कुछ मदद नही मिली, तब वह सिन्ध की ओर बढ़ा और भक्कर पर घेरा डाला, परन्तु वहाँ भी दुर्भाग्य ने उसका पीछा न छोड़ा। उन्ही दिनों उसने शेखअली अकबर की लड़की हमीदा से शादी की जो आगे चलकर अकबर की माँ हुई। अपने भाइयों के बर्ताव से निराश होकर उसने जोधपुर नरेश से मालदेव की सहायता चाही जिसने उसे २०,००० राजपूतों की सेना से मदद करने को लिखा था। मालदेव ने अपने वचन का पालन नही किया, और जब हुमायूँ उसके राज्य में पहुँचा तो उसने उसका स्वागत नही किया। उसके मन की बात जानने के लिए जो गुप्तचर भेजे गये थे, उन्होंने खबर दी कि वह विश्वासघात करना चाहता था। हुमायूँ के एक पुराने पुस्तकाध्यक्ष ने जो मालदेव के यहाँ नौकरी करता था कहला भेजा कि "आप जहाँ कही हैं वहीं से लौट जाइए, क्योंकि मालदेव आपको बंदी बनाने का इरादा रखता है। उसकी बातों पर विश्वास न कीजिए।" मालदेव के इरादे में इस परिवर्त्तन का कारण शेरशाह का भय और हुमायूँ के लिए किसी प्रकार की आशा का न होना था। इसके बाद हुमायूँ ने अपने साथियों समेत अमरकोट में शरण ली जहाँ के राणा प्रसाद ने उसका स्वागत किया और उसे भक्कर और थट्टा जीतने में सहायता देने की प्रतिज्ञा की। इसी रेगिस्तानी किले में २३ नवम्बर सन् १५४२ को अकबर का जन्म हुआ।

इस शुभ घटना के बाद जल्द ही दस हजार आदमियों के साथ हुमायूँ भक्कर की ओर बढ़ा। परन्तु एक रात को उसके मुसलमान सरदारों से झगड़ा हो जाने के कारण राणा के आदमी लौट गये। भक्कर के सरदार ने जो युद्ध से तंग आ गया था, हुमायूँ के कन्धार तक पहुँचने का सामान देकर उसके साथ सन्धि कर ली। कामराँ समूचे अफगानिस्तान का स्वतन्त्र शासक बन गया था। उसके भाई हिन्दाल और अस्करी उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके

थे और उससे बहुत डरते थे। हुमायूँ को अपने भाइयों से कुछ मदद नहीं मिली और उसने अपने एक बरस के लड़के अकबर को कन्धार में छोड़कर फारस जाने का इरादा किया जहाँ के शाह से उसे मदद पाने की आशा थी।

हुमायूँ फारस में—फारस के शाह तहमास्प ने, जो इस समय २७ वर्ष का युवक था, हुमायूँ का बड़े आदर से स्वागत किया। परन्तु वह हुमायूँ को शिया बनाना चाहता था। पहले तो वह अपने सुन्नी धर्म पर दृढ़ रहा लेकिन जब शाह उसे शिया बनाने के लिए बहुत कष्ट देने लगा तो उसके सलाहकारों ने उसे अपना शिया होना प्रकट करके शाह से सन्धि कर लेने की राय दी। एक सन्धि हुई जिसमें शाह ने हुमायूँ को बुखारा, काबुल और कन्धार जीतने में एक सेना देकर इस शर्त पर मदद देना स्वीकार किया कि सफलता होने पर कन्धार उसे समर्पित कर दिया जाय। हुमायूँ ने अपनी इच्छा के विरुद्ध शिया धर्म स्वीकार किया और शाह के नाम से खुतबा पढ़े जाने की शर्तों को स्वीकार किया। शाह से १४०० आदमियों की एक सेना की सहायता पाकर हुमायूँ ने कामराँ के राज्य पर चढ़ाई की।

काबुल और कंधार की विजय—मार्च १५४५ में हुमायूँ कंधार पहुँचा और एक घेरा डालने के बाद उसे ले लिया। कन्धार हाथ में आने पर हुमायूँ की स्थिति बहुत कुछ सुधर गई और अपनी शक्तियों का संग्रह करके उसने काबुल पर चढ़ाई कर दी। कामराँ हार गया और काबुल उसके अधिकार में आ गया। अकबर जिसे कामराँ ने एक बार किले की दीवारों पर तीरों और गोलियों की बौछार के सामने कर दिया था, अपने पिता को मिल गया। कामराँ ने अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की कोशिश की, परन्तु फिर हारकर भाग गया, और मिर्जा हिन्दाल एक रात की मुठभेड़ में मारा गया। कामराँ भागकर शेरशाह के उत्तराधिकारी सलीमशाह सूर के दरबार में गया जिसके दुर्व्यवहार के कारण उसने धक्कड़ों के यहाँ शरण ली। धक्कड़ों के सरदार ने उसे हुमायूँ को सौंप दिया। उसने उसे हानि पहुँचाने में असमर्थ बनाने के लिए उसकी आँखें निकलवा लीं। इसके बाद कामराँ मक्का चला गया। मिर्जा अस्करी भी जो अपनी चाल से बाज नहीं आता था कैद हो गया; उसे भी हुमायूँ ने

क्का जाने का हुक्म दे दिया। उत्तर-पश्चिम में अपने प्रतिद्वन्द्वियों से मुक्त ।कर हुमायूँ फिर से हिन्दुस्तान जीतने की तैयारी करने लगा।

हुमायूँ का लौटना—शेरशाह के बाद सलीमशाह सूर दिल्ली की गद्दी र बैठा। अफगान सरदार उसके वश में नहीं थे, इसलिए अपनी स्थिति ो दृढ़ करने के लिए वह उनके साथ बड़ी सख्ती करने लगा। पहले मालवा का ंबेदार शुजाअत खाँ उसकी कोपाग्नि में पड़ा। उसने अपने सूबे में बड़ी ोग्यता से सुव्यवस्था स्थापित करके बड़ा धन संचय किया था। जब उसे ादशाह के क्रोध का पता लगा तो आदरपूर्वक उसकी वश्यता स्वीकार करके ह उसके क्रोध से बच गया। लेकिन पंजाब के सूबेदार आजम हुमायूँ ने ऐसी रदर्शिता नहीं दिखलाई। जब बादशाह ने उसे बुलाया तो खुद न जाकर उसने ापना एक प्रतिनिधि भेज दिया। इस पर वह बहुत नाराज हुआ। कड़े ंड की आशंका से आजम खुल्लमखुल्ला विद्रोही हो गया, लेकिन शाही फौज ा अम्बाला में उसे परास्त कर दिया। वह फिर शक्ति संचय करके लड़ ेकिन हार गया। अन्त में वह काश्मीर भाग गया और वहाँ कुछ पहाड़ियों ने उसे गोली से मार डाला।

सलीम ने अपनी दमन-नीति जारी रखी। उसने सरदारों की शक्ति का ह्रास करने के लिए नये कायदे बनाये और एक शक्तिशाली सेना रखी। उसने उनकी शक्ति कम कर दी और राज्य में होनेवाली सब बातों की खबर जानने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त किया। न्याय के लिए उसने नये कानून बनाये जिनकी व्याख्या काजी या मुफ्ती नहीं, किन्तु मुन्सिफ करते थे और इन नियमों को अमल में लाने के लिए उसने राज्य के विभिन्न भागों में सेनाएँ रखीं। शासन को दृढ़ बनाने के लिए उसने अपनी पूरी शक्ति लगा दी।

सलीम की मृत्यु नवम्बर १५५४ में हुई। उसके बाद उसका पुत्र फीरोज खाँ गद्दी पर बैठा जिसकी हत्या थोड़े ही दिनों बाद उसके मामा मुबारिज खाँ ने कर डाली और मुहम्मदशाह अदली के नाम से गद्दी पर बैठ गया। वह बड़ा अयोग्य तथा दुराचारी था; किन्तु उसके हिन्दू मन्त्री हेमू ने बड़ी योग्यता और शक्तिमता से राज्य-प्रबन्ध किया। परन्तु राज्य में जो हलचल मच गई थी, उसे वह भी नहीं रोक सका और चारों ओर बलवे

होने लगे। मुहम्मदशाह के चचेरे भाई इब्राहीम खाँ ने दिल्ली और आगरा ले लिये, लेकिन उसके दूसरे भाई सिकन्दरशाह सूर ने उसे हराकर सिन्ध और गंगा नदियों के बीच के सारे देश को अधिकृत कर लिया।

ऐसी परिस्थिति में हुमायूँ जो अफगान साम्राज्य की दुरवस्था को बराबर बड़े ध्यान से देख रहा था, सुअवसर देखकर नवम्बर १५५४ में एक सेना लेकर हिन्दुस्तान की ओर बढ़ा और उसकी सेना फरवरी १५५५ में लाहौर पहुँच गई। सिकन्दर भी एक बड़ी सेना के साथ बढ़ा, लेकिन सरहिन्द के पास हार गया। वह हारकर भाग गया और हुमायूँ ने फिर किसी प्रकार के प्रतिरोध के बिना ही उसके राज्य पर अधिकार कर लिया।

किन्तु वह अपनी तलवार के जोर से प्राप्त किये हुए राज्य-सुख का बहुत दिनों तक उपभोग नहीं कर सका। एक दिन जब वह अपने पुस्तकालय की छत से उतर रहा था, सीढ़ियों पर अजान सुनकर नमाज पढ़ने के लिए झुका लेकिन ऐसा संयोग हुआ कि चिकने संगमरमर पर उसका डंडा फिसल गया और वह सिर के बल फर्श पर गिर गया। चिकित्सा मे कुछ लाभ नही हुआ और २४ जनवरी १५५६ को वह इस लोक से पयान कर गया। उसकी मृत्यु का समाचार कुछ समय तक गुप्त रखा गया और १७ दिन बाद उसके पुत्र जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के नाम खुतबा पढ़ा गया।

हुमायूँ का चारित्र—हुमायूँ स्वभाव से ही दयालु, नम्र और स्नेहशील था। उसके भाई जब उसका नाश करने को तुले हुए थे तब भी उसने उनके साथ उदारता का व्यवहार किया। उसके जानी दुश्मन कामराँ के अन्तिम बार पकड़े जाने पर जब उसके सरदारों ने उससे उसका बध कर डालने के लिए प्रार्थना की तो उसने कहा, 'मेरी बुद्धि तो तुम्हारी बातें मनाती है लेकिन मेरा दिल नहीं मानता', और उसने अपने भाई के खून से अपना हाथ रँगने से इनकार कर दिया। वह भीरु नहीं था, और उसने अपने पिता के समय में अपने साहस तथा वीरता का अच्छा परिचय दिया था। किन्तु उसे अपने आलस्य, आरामतलबी और अत्यधिक उदारता के कारण अपनी विजयों का फल नहीं मिला और बड़ी विपत्ति तथा संकट का सामना करना पड़ा। उसमें अपने पिता के उत्साह, साहस और इच्छा-शक्ति की दृढ़ता नहीं थी। उसने कभी अपनी विजयों

: पूरा लाभ नहीं उठाया। एक विजय प्राप्त करने पर शत्रु को पूर्ण रूप
ा वश में लाने या पूरी तौर पर उसका बल तोड़ने के पहले ही वह अपना ध्यान
्सरी ओर फेर देता था जिससे शत्रु पुनः शक्तिशाली हो जाता था। वह अफीम
ी खाने लगा था जिससे उसकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ दुर्बल पड़
ाई थीं। फिर भी उसकी बुद्धि तथा योग्यता साधारण नही थी। उसे साहित्य
ा प्रेम था और वह विद्वानों का आदर करता था। अपने पिता के समान वह भी
कविता करता था। उसे गणित और ज्योतिष से प्रेम था और वह दिल्ली में
्क वेधशाला बनवाने का इरादा कर रहा था जिसे वह अपनी मृत्यु के कारण
्रा न कर सका। चित्त की प्रसन्नता हुमायूँ का एक प्रधान गुण था। घोर
वेपत्ति में भी वह प्रसन्नचित्त रहता था।

अध्याय ४

साम्राज्य का विकास

(अकबर १५५६-१६०५)

अकबर का गद्दी पाना—हुमायूँ की मृत्यु के समय अकबर पंजाब में था जहाँ वह बैरम खाँ के साथ वहाँ के सूबेदार अबुलमाली के कुप्रबन्ध का अन्त करने गया था। वहाँ से लौटते हुए कालानौर में उसे अपने पिता की अकाल मृत्यु का समाचार मिला। सरदारों ने गम मनाने की विधियाँ पूरी करने के बाद उसके राज्याभिषेक की तैयारी की, जो १४ फरवरी १५५६ को एक साधारण बाग में पूरा हुआ। इस समय उसकी अवस्था केवल १३ वर्ष की थी, इसलिए उसके पिता का विश्वासपात्र सरदार और मित्र बैरम खाँ राज्य की देख-भाल करने लगा।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक परिस्थिति—इस समय हिन्दुस्तान सुव्यवस्थित नहीं था। दिल्ली और आगरा के आस-पास के प्रदेश में भयंकर अकाल पड़ रहा था। सारा देश बहुत से राज्यों में बँट गया। उत्तर-पश्चिम में अकबर का भाई मिर्जा हकीम काबुल का स्वतन्त्र शासक बन गया था। काश्मीर एक स्थानीय मुसलमानी वंश के अधीन एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था। उसके पड़ोस की हिमालय की पहाड़ी रियासतें भी स्वतन्त्र हो गई थी। सिन्ध और मुल्तान शेरशाह की मृत्यु के बाद से ही स्वतन्त्र राज्य हो गये थे। बंगाल में सूर वंश का राज्य था। मुहम्मद आदिल अपने संबंधी इब्राहीम खाँ द्वारा दिल्ली से निकाले जाने के बाद से पूर्व की ओर चला गया था; किन्तु उसका दुर्जेय मंत्री हेमू अकबर का विरोध करने के लिए मैदान में आ चुका था। सूर वंश का एक दूसरा दावेदार सिकन्दर १५५५ ई० में बैरम खाँ द्वारा पराजित होने के बाद से पंजाब में दिल्ली का सिंहासन लेने की घात में घूम रहा था। दिल्ली के पश्चिम में राजपूत राज्य थे जो अब स्वतन्त्र हो गयथे। इनमें मेवाड़,

जैसलमेर, बूँदी और जोधपुर के राज्य सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपनी सैनिक-शक्ति और प्रभाव-क्षेत्र बहुत बढ़ा लिये थे। मालवा और गुजरात के शासक भी स्वतन्त्र हो गये थे। वे स्वतन्त्र रूप से अन्य राज्यों के साथ संधि-विग्रह आदि करते थे। गोंडवाना एक अल्पवयस्क राजा के अधीन था जिसकी माँ रानी दुर्गावती राज्य का प्रबंध बड़ी उत्तमता से करती थी। विन्ध्याचल के दक्षिण में खानदेश, बरार, बीदर, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा के स्वतन्त्र मुसलमान राज्य थे जिनका दिल्ली-साम्राज्य से कुछ भी संबंध नहीं था। इन मुसलमानी राज्यों के दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा से कुमारी तक विजयनगर का हिन्दू राज्य था। पुर्तगालवालों ने गोआ, ड्यू आदि बंदरगाहों पर अधिकार जमाकर पश्चिमी समुद्र-तट अपनी शक्ति बढ़ा ली थी, और अरब सागर और फारस की खाड़ी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

इस समय अकबर चारों ओर कठिनाइयों से घिरा था जिनका सामना करना एक तेरह बरस के लड़के की शक्ति के बाहर जान पड़ता था। किन्तु उसके सौभाग्य से उसका संरक्षक बैरम खाँ एक कुशल सेनापति और एक सुयोग्य राज्य-प्रबन्धकर्त्ता था, जिसने इस संकटापन्न स्थिति में शक्तिशाली शत्रुओं से सिंहासन की रक्षा की और राज्य में सुव्यवस्था स्थापित की।

अकबर और सूर वंश के अफगान—अकबर को सबसे पहले सूर अफगानों का सामना करना पड़ा। मुहम्मद आदिल ने अभी शेरशाह सूर के साम्राज्य को फिर से प्राप्त करने की आशा नहीं छोड़ी थी। हेमू अभी उसकी सेवा में था। वह एक सुयोग्य सेनापति और राजनीतिज्ञ था। उसने उच्च कोटि की वीरता और संगठन शक्ति प्रदर्शित की थी। पहले वह मेवात के रेवाड़ी गाँव का एक साधारण दूकानदार था; लेकिन अपनी योग्यता के बल से उन्नति करते हुए वह आदिलशाह का प्रधान मंत्री बन गया था। धीरे धीरे अफगान दरबार में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया और वह अपने इच्छानुसार जागीरों का विवरण करने लगा। इस समय उसने राजा विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अबुल-फजल भी स्वीकार करता है कि उसने असाधारण योग्यता तथा सफलता के साथ राज्य-प्रबन्ध किया। उसने युद्धों में बड़ा यश प्राप्त किया था। वह २२ युद्धों में विजय प्राप्त कर चुका था, और अपने स्वामी के प्रतिद्वन्द्वी इब्राहीम खाँ को परा-

जित कर चुका था। हुमायूँ की आकस्मिक मृत्यु और उसके उत्तराधिकारी के अल्पवयस्कत्व से उसे हिन्दुस्तान का साम्राज्य प्राप्त करने की आशा हुई। मुहम्मद अली ने जो इस समय पूरब में था, उसे ५०० हाथियों और ५०,००० सवारों की एक सेना देकर आगरे की ओर भेजा जिसे उसने बड़ी आसानी से ले लिया। इसके बाद उसने आगरा से भागती हुई शाही सेना का पीछा करते हुए दिल्ली पर हमला किया, जहाँ पुराने तथा अनुभवी मुगल सेनापति बेग ने, जिसके सुपुर्द उस वक्त दिल्ली थी, उसका सामना किया। उसने बेग को बुरी तरह हराकर आसानी से दिल्ली पर कब्जा जमा लिया। बेग भागकर शाही पड़ाव में गया, जहाँ बैरम खाँ ने उसे मरवा डाला, और नौजवान बादशाह ने भी उसके इस कार्य का समर्थन किया। संभव है, इस अमानुषिक कार्य का फल साम्राज्य के लिए हितकर हुआ हो; किन्तु उस समय का विचार रखते हुए भी जिस रूप में यह हत्या पूरी की गई, उसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

आगरा और दिल्ली पर अधिकार जमा लेने के बाद हेमू हिन्दुस्तान की सल्तनत के लिए मुगलों से अन्तिम युद्ध करने की तैयारी करने लगा। इस समय आगरा, बियाना और दिल्ली के इलाकों में अकाल पड़ रहा था। बदाऊनी लिखता है कि एक सेर ज्वार २½ टंक को बिकती थी और कई जगह अच्छे खानदानों के बीसों आदमी घर का दरवाजा बन्द करके भूखों मर जाते थे, जिनके लिए कब्र या कफन का कुछ भी प्रबन्ध नहीं होता था। हेमू ने जो राज्य लेने की धुन में था, जनता की इस दुरवस्था पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। एक बड़ी सेना के साथ जिसमें १५०० हाथी थे, वह पानीपत के मैदान में पहुँचा। उसकी बड़ी सेना को देखकर मुगल निरुत्साह हो गये और उसके पहले धावे से शाही सेना के दक्षिण और वाम पार्श्व की सेनाएँ तितर-बितर हो गई। किन्तु जैसे ही वह शत्रु सेना के मध्य पर अपने हाथियों के साथ धावा बोलना चाहता था, उसकी आँख में एक तीर लगा, जिससे बेहोश होकर वह हौदे में गिर गया और उसे मरा हुआ समझकर उसकी सेना हताश होकर भाग गई। हेमू, जिसकी वीरता की प्रशंसा अबुलफजल ने भी की है, कैद होकर अकबर के सामने लाया गया। बैरम ने अल्पवयस्क सम्राट् से उसका सिर उड़ाकर गाजी की उपाधि प्राप्त करने के लिए कहा; लेकिन

उसने एक निहत्थे शत्रु पर तलवार उठाने से इनकार कर दिया। इस पर बैरम खाँ ने उसे अपनी तलवार से मार डाला।

विजयी अकबर ने बड़े समारोह के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। वहाँ के सब निवासियों ने बहुत प्रसन्न होकर उसका स्वागत किया। आगरा भी शीघ्र ही अधिकृत हो गया और शाही फौज के कुछ अफसर मेवात में हेमू की सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए भेज दिये गये।

हेमू की मृत्यु से सूरवंश की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। एक महीने तक राजधानी में ठहरकर बैरम खाँ अकबर के साथ सिकन्दर सूर का पीछा करने के लिए लाहौर की ओर बढ़ा। सिकन्दर सूर ने अपने आपको मानकोट के किले में बंद कर लिया और बहुत दिनों तक घिरे रहकर आत्म-समर्पण कर दिया। उसके साथ उदारता का बर्ताव हुआ। बैरम खाँ ने उसे पूरब में कुछ जिले दे दिये, जहाँ बीस वर्ष बाद उसका देहान्त हुआ।

सिकन्दर की पराजय के बाद ग्वालियर और जौनपुर जीते गये। इसके बाद बैरम खाँ ने साम्राज्य की सुव्यवस्था की ओर ध्यान दिया। परन्तु शीघ्र ही उसका अकबर से विरोध हो गया, जो अब वयस्क हो चला था और जिसे उसका नियंत्रण असह्य हो गया था। बैरम खाँ का पतन अकबर के शासन-काल के आरंभिक इतिहास में बड़ी प्रसिद्ध घटना है।

बैरम खाँ का पतन—हुमायूँ की मृत्यु के बाद मुगल साम्रज्य का प्रधान अधिकार बैरम खाँ के हाथ में चला आया और उसने बिना किसी विरोध के वकीले सल्तनत (प्रधान मंत्री) का पद ग्रहण कर लिया। वह एक बड़ा योग्य और अनुभवी मनुष्य था और अपनी योग्यता के बल से ही राज्य में उच्च पद पर पहुँचा था। उसने बड़े संकटों के समय में अपनी राज-भक्ति का परिचय दिया था और हुमायूँ की ऐसी भक्ति तथा विश्वासपात्रता के साथ सेवा की थी जिसकी शेरशाह तक ने प्रशंसा की थी। बदाऊनी जो एक कट्टर सुन्नी था, इस शिया वकीले सल्तनत की ईमानदारी, विद्या-प्रेम और धार्मिकता की प्रशंसा करता है और उसके पतन पर खेद प्रकट करता है। परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि उसने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया। जिन लोगों पर उसे अपना शत्रु होने का संदेह हो जाता था, उनके

साथ वह बड़ी कड़ी तथा क्रूर नीति का प्रयोग करता था। वह बड़ा संशयालु हो गया था। छोटी से छोटी बातों में उसे अपने विरुद्ध भयंकर षड्यन्त्र की गंध मिलती थी। इन कारणों से बहुत से लोग उसके विरुद्ध हो गये। अबुलफजल ने बैरम खाँ के अकबर तथा दूसरे सरदारों से विरोध होने के कारणों का उल्लेख किया है। बैरम खाँ ने शेख गदाई को जो एक शिया था, सदरे सदूर के पद पर नियुक्त किया और उसे सैयदों और उलमा से अधिक आदर प्रदान करने लगा, जिससे सुन्नी बहुत असन्तुष्ट हुए। वह अपने साधारण नौकरों को सुलतान और खाँ की उपाधि देता था। और बादशाह के नौकरों के उचित हक पर भी ध्यान नहीं देता था। उसने अपने कृपापात्र २५ आदमियों को पंचहजारी मनसब दिये और दूसरों के न्याय अधिकारों पर भी ध्यान न दिया। वह सम्राट् के नौकरों को साधारण से साधारण अपराध पर कठोर दंड देता था और उसके नौकर गुरुतर अपराध करके भी बिलकुल बच जाते थे। क्रोध में आकर उसने सम्राट् के हाथीवान को निरपराध ही जान से मरवा डाला था। तर्दी बेग के प्राणदंड से सरदार सशंक हो गये थे। जब तक बैरम खाँ के हाथ में शक्ति थी, वे अपने को निरापद नहीं समझते थे। बैरम के पतन का एक बड़ा कारण यह संदेह था कि वह कामराँ के पुत्र अबुल कासिम को गद्दी पर बैठाने का इरादा कर रहा था। अकबर उसके नियन्त्रण से तंग आ गया था और अब वह केवल नाम का ही नहीं, किन्तु वास्तव में बादशाह बनना चाहता था। औरों के समान वह भी बैरम खाँ के घमंड और अत्याचारों को नापसंद करता था।

बैरम खां के विरुद्ध एक षड्यन्त्र की सृष्टि हुई जिसमें राजमाता हमीदा बानू बेगम, अकबर की धाय माहम अनगा, उसके पुत्र आदम खाँ और उसके संबंधी दिल्ली के सूबेदार शिहाबुद्दीन का प्रधान भाग था। बादशाह को इस षड्यन्त्र की योजना बियाना में समझा दी गई जहाँ वह शिकार के बहाने गया था। षड्यन्त्रकारियों के प्रबन्ध के अनुसार अकबर अपनी माता को देखने के लिए दिल्ली गया। वहाँ माहम अनगा ने उसके मन में बैरम खाँ के प्रति विरोध बढ़ाने में कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा। बैरम खाँ को शीघ्र ही इस षड्यन्त्र का पता लग गया और उसने बादशाह के प्रति अपनी नम्रता तथा अधीनता

प्रकट की; किन्तु अकबर ने उसकी अप्रिय हुकूमत का अन्त कर देने का निश्चय कर लिया था। बैरम खाँ के मित्रों ने एकाएक हमला करके षड्यन्त्रकारियों को कुचल डालने और अकबर को पकड़ लेने की राय दी; किन्तु उसने ऐसा कार्य करके अपनी चिरकाल की सेवा को कलंकित करना स्वीकार नहीं किया। अकबर ने उससे कहला भेजा कि मैंने शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में लेने का निश्चय कर लिया है और मेरी इच्छा है कि आप हज करने के लिए मक्का चले जायें। उसने बैरम खाँ की परवरिश के लिए एक जागीर दी जिसकी आय उसके अपने नियुक्त किये हुए आदमियों द्वारा उसके पास भेजने का प्रबंध कर दिया।

बैरम खाँ ने इस राजाज्ञा को शान्तिपूर्वक स्वीकार किया और मक्का की यात्रा की तैयारी करने लगा। जब वह अप्रैल १५६० में बियाने की तरफ बढ़ा तो उसका विरोधी दल डरा कि वह कहीं विद्रोह न करे, और इसी दल की राय से अकबर ने पीर मुहम्मद नाम के एक अफसर को, जो पहले बैरम खां के अधीन रह चुका था, उसे जल्दी मक्का रवाना कर देने के लिए भेजा। इस अपमान से चिढ़कर बैरम ने विद्रोह करने का इरादा किया। वह पंजाब की ओर बढ़ा और तबरहिंदा के किले में अपना परिवार और संपत्ति रखकर आगे बढ़ा। अकबर ने उसके दमन के लिए अपने सेनापतियों को भेजा जिनसे जालन्धर के निकट हारकर वह शिवालिक पहाड़ी में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। अकबर स्वयं पंजाब की ओर बढ़ा और उसका पीछा किया। विवश होकर खानखाना ने अधीनता स्वीकार की और क्षमा-प्रार्थना की। अकबर ने जो उसकी सेवाओं का मूल्य भली भाँति जानता था, उसे चटपट क्षमा कर दिया और उसे खिलअत दी। खानखाना सम्मान के साथ मक्का की ओर चला गया और बादशाह दिल्ली लौट आया।

बैरम खाँ राजपूताना होता हुआ गुजरात में पाटन में पहुँचा। वहाँ के सूबेदार ने उसका अच्छी तरह स्वागत किया। वह पाटन में कुछ दिनों तक ठहरा, जहाँ से आगे बढ़ना उसके भाग्य में नहीं था। एक अफगान ने उसकी हत्या कर डाली, जिसका पिता मुगलों के साथ एक युद्ध में मारा गया था। बैरम खाँ के खेमे को डाकुओं ने लूट लिया; लेकिन उसका पुत्र अब्दुर्रहीम जो उस समय

चार बरस का बालक था, उनके हाथ से बचा लिया गया और दिल्ली दरबार में भेज दिया गया। समय आने पर उसने अपनी योग्यता से बड़ी उन्नति की और साम्राज्य की सेवाओं के उपलक्ष में खानखाना की उपाधि प्राप्त की।

माहम अनगा का प्रभाव-काल, १५६०-६४—बैरम खां के पतन के बाद अकबर की धाय माहम अनगा के दल की प्रधानता हुई। माहम अनगा ने, जिसने बैरम खां के विरुद्ध षड्यंत्र का संगठन किया था, जल्द ही राज्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। कुछ इतिहासकार कहते हैं कि सम्राट् पूर्ण रूप से उसी के कहने में था और शासन की बागडोर उसी के हाथ में थी। ये लोग कहते हैं कि वह अपने अयोग्य कृपापात्रों को ओहदे देती थी और अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और किसी बात की चिन्ता नहीं करती थी।

किन्तु यह बात पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। उस काल की घटनाओं से इस बात का समर्थन नहीं होता। बैरम खाँ के अपमान तथा प्राणदंड से माहम अनगा से बढ़कर किसी को खुशी न होती; किन्तु उसकी इच्छा का विचार न रखते हुए अकबर ने बैरम खां को क्षमा कर दिया। यदि बादशाह उसके कहने में होता और उसका उद्देश्य केवल अपने सम्बन्धियों और कृपापात्रों को बड़े ओहदे देना होता, तो उसके पुत्र आदम खाँ को कोई बड़ा पद या बड़ी जागीर मिलती जो बदाऊँनी के कथनानुसार मानकोट में राजपूतों के विरुद्ध बड़ी बहादुरी दिखा चुका था; किन्तु ऐसा नहीं हुआ। वह मालवा की चढ़ाई का नायक बनाया गया, किन्तु उसे विजय कर लेने के बाद वह उस सूबे का अधिकारी नहीं बनाया गया और जब उसकी लूट की खबर अकबर को मिली, तो वह स्वयं १३ मई १५६१ को आगरे से उसे दंड देने के लिए गया; लेकिन उसकी माँ के बीच-बचाव से उसे क्षमा मिल गई। आगे चलकर जब (१६ मई १५६२) आदम खाँ ने शम्सुद्दीन अतका खाँ की हत्या की, जिसे अकबर ने माहम की राय के विरुद्ध वकील के पद पर नियुक्त किया था, तो उसने क्रुद्ध होकर उसे किले की दीवार से दो बार फेंके जाने का हुक्म दिया जिससे उसका भेजा निकल पड़ा और वह मर गया। अकबर ने स्वयं इस बात की खबर माहम अनगा को दी और कहा जाता है कि उसने केवल यही कहा कि जहाँपनाह ने अच्छा किया। इस सदमे से ४० दिन के अंदर ही माहम मर गई।

यदि अकबर उसके कहने मे होता तो उसके पुत्र की इस प्रकार मृत्यु नहीं होती।

इस काल की कुछ घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। आदम खाँ और पीर मुहम्मद शेरवानी के सेनापतित्व में एक सेना मालवा के विरुद्ध भेजी गई (१५६० ई०)। वहाँ का शासक बाजबहादुर पराजित हुआ और बहुत सा लूट का माल मुगलों के हाथ लगा। इस विजय में आदम खाँ ने बड़े निर्दयतापूर्ण कार्य किये और वह बहुत सा लूट का माल दबा बैठा। उसे दंड देने के लिए अकबर ने स्वयं आगरे से प्रस्थान किया; किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, आदम को उसकी माँ के बीच-बचाव से क्षमा मिल गई।

कुछ काल बाद आदम खाँ बुला लिया गया और मालवा पीर मुहम्मद को सौंपा गया; किन्तु उसने देश का बड़ा बुरा प्रबंध किया, जिससे बाजबहादुर ने मौका देखकर फिर लड़ाई छेड़ दी और अपना खोया हुआ राज्य फिर प्राप्त कर लिया। किन्तु वह बहुत दिनों तक अपने राज्य की रक्षा न कर सका और उसे छोड़कर उसे भागना पड़ा। अंत में वह दरबार में भेजा गया। बादशाह ने उसे एकहजारी मनसब दिया, और कुछ दिनों बाद वह दोहजारी मनसबदार हो गया। जैसा पहले कहा जा चुका है, इन्हीं दिनों शम्सुद्दीन मुहम्मद अतका खाँ की हत्या के अपराध में, जो नवम्बर १५६१ में मंत्री (वकील) के पद पर नियुक्त हुआ था, बादशाह के हुक्म से आदम खाँ किले की दीवार पर से गिराकर मार डाला गया।

अकबर की महत्वाकांक्षा—मनस्वी अकबर भारत का सम्राट् बनना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने भारत के अन्य राज्यों की स्वतंत्रता हरण करनी आरम्भ की। उसने इस नीति का अनुसरण सन् १६०१ तक किया जब उसने असीरगढ़ का किला जीता।

गोंडवाना-विजय—उसकी इस नीति का पहला शिकार मध्यप्रदेश का गोंडवाने का छोटा राज्य हुआ। राजा अल्पवयस्क था इसलिए राज्य का सारा कार्य उसकी माँ रानी दुर्गावती करती थी। कड़ा के सूबेदार आसफ खाँ ने गोंडवाने पर चढ़ाई की। रानी ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया, किन्तु वर्तमान गढ़ा (जबलपुर) और मंडला के बीच एक युद्ध में वह विशाल

शाही सेना द्वारा पराजित हुई और युद्ध-भूमि में वीरगति को प्राप्त हुई। आक्रमणकारियों ने देश को उजाड़ डाला और उनके हाथ बहुत सा लूट का माल लगा। अल्पवयस्क राजा वीरनारायण ने शत्रु पर विजय प्राप्त करना असंभव देख जौहर की आज्ञा दी और रण-भूमि में प्राण देकर अपने कुल के गौरव की रक्षा की।

विद्रोह--इसी समय तीन राजविद्रोह हुए जिनका पूर्ण रूप से दमन हुआ। अब्दुल्ला खाँ उजबेग ने, जो पीर मुहम्मद के बाद मालवा का हाकिम हुआ था विद्रोह किया, लेकिन उसे पराजित होकर गुजरात की ओर भाग जाना पड़ा। १५३५ के आरम्भ में एक दूसरे उजबेग सरदार खाँ जमाँ ने जौनपुर में विद्रोह किया। उसका दमन करने के लिए अकबर स्वयं पूरब की ओर बढ़ा और बलवाइयों को हराकर पटने की तरफ भगा दिया। खाँ जमाँ ने सुलह कर ली, लेकिन शीघ्र ही उसे तोड़ भी दिया।

इन दोनों से अकबर के भाई मिर्जा हकीम का पंजाब पर हमला अधिक जोरदार था। उजबेगों ने उसे इस कार्य के लिए उत्साहित किया था। खां जमाँ ने उसके हिन्दुस्तान के सिंहासन के अधिकार को स्वीकार किया और उसके नाम का खुतबा पढ़वाया। अपने भाई के इस दुष्प्रयत्न से चिढ़कर अकबर स्वयं उसके विरुद्ध पंजाब की ओर बढ़ा। उसके आने की खबर सुनकर मिर्जा हकीम चटपट सिन्ध के उस पार लौट गया। अकबर मई १५६७ में आगरा लौट आया और उसने खां जमाँ को दंड देने का पक्का इरादा कर लिया। एक बड़ी सेना के साथ हाथी पर सवार होकर उसने गंगा को पार किया और उसे बुरी तरह पराजित किया। वह मारा गया और उसका भाई बहादुर पकड़ा गया और मार डाला गया। उनके साथियों को बड़ा कड़ा दंड दिया गया। बहुत से हाथियों के पैर तले कुचलवा दिये गये। बादशाह ने हर एक उजबग बलवाई के सिर के लिए एक मोहर और हर एक हिन्दुस्तानी बलवाई के सिर के लिए रुपया देकर बहुत से बलवाइयों को मरवा डाला।

अकबर और राजपूत--अकबर बड़ा बुद्धिमान् और स्वभाव से ही धार्मिक सहिष्णुता का पालन करनेवाला और उदार हृदय व्यक्ति था। राजपूत हिन्दुओं के सैनिक नेता थे। वे हिन्दुस्तान के सबसे अच्छे योद्धा थे जिनके सहयोग के

बिना हिन्दुस्तान में कोई साम्राज्य स्थायी नहीं हो सकता था। उदार हृदय विद्वानों के संसर्ग से अकबर धार्मिक विद्वेष की असारता का बिलकुल कायल हो गया और उसके हृदय से धार्मिक संकीर्णता जाती रही और हिन्दुओं के प्रति उसकी सहानुभूति और भी बढ़ गई। टोडरमल और वीरबल जैसे हिन्दुओं की सेवा से वह हिन्दुओं की प्रतिभा और योग्यता का कायल हो गया और उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक प्रस्तुत होता गया। उसने अच्छी तरह समझ लिया कि राजपूतों की सहानुभति तथा सहयोग के बिना हिन्दुस्तान में स्थायी साम्राज्य स्थापित करना असंभव है, इसलिए अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्त्ति के लिए उसने अपने सदव्यवहार से राजपूतों का सहयोग तथा सेवा प्राप्त करने का निश्चय किया। पहला राजपूत राजा जो उसकी शरण में आया, आमेर का कछवाहा राजा भारमल (विहारीमल) था। जनवरी १५६२ में जब अकबर ख्वाजा मुईनुद्दीन की दरगाह के दर्शन को अजमेर जा रहा था तो उसने सुना कि भारमल को उसके भतीजे सूजा के उभाड़ने से मेवात का सूबेदार शर्फउद्दीन हुसेन बहुत तंग कर रहा है। साँगानेर में भारमल बादशाह की अभ्यर्थना को हाजिर हुआ और बादशाह ने भी उसका आदर किया। उसने अकबर की सेवा स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की और वैवाहिक संबंध द्वारा इस मित्रता को दृढ़ करना चाहा। उसकी इच्छा स्वीकार कर ली गई और अजमेर से लौटते समय अकबर ने राजा की पुत्री को ग्रहण किया और उससे विवाह कर लिया। भारमल अपने पुत्र भगवानदास और पौत्र मानसिंह के साथ बादशाह के साथ ही आगरे आया, जहाँ उसे पंचहजारी का मनसब मिला और उसके पुत्र और पौत्र को भी शाही सेना में ओहदे मिले। यह विवाह इस देश के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे दो जातियों तथा धर्मो के बीच की शत्रुता तथा विरोध बहुत कुछ दूर हो गये और उनके बीच सहानुभूति तथा मेल की स्थापना हुई। जैसा डाक्टर बेनीप्रसाद कहते हैं "इससे भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास में एक नये युग का आविर्भाव हुआ। इससे देश को प्रसिद्ध सम्राटों की एक परंपरा प्राप्त हुई, और इसने मुगल बादशाहों की चार पीढ़ियों को मध्यकालीन भारत में जन्म लेनेवाले कुछ सबसे बड़े सेनापतियों और राज-नीतिज्ञों की सेवा प्रदान की।"

चित्तौर विजय--राजपूताना में मेवाड़ का राजवंश सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

वहाँ का राणा जो श्री रामचन्द्र का वंशज माना जाता था, राजपूत गौरव का प्रतिनिधि था। अकबर ने भली भाँति समझ लिया कि चित्तौर और रणथम्भौर के प्रसिद्ध दुर्गों पर अधिकार किये बिना उसकी भारतवर्ष का सम्राट् बनने की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकती थी। इसलिए उसने मेवाड़-विजय का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त राणा ने मालवा के भागे हुए शासक बाजबहादुर को शरण देकर और विद्रोही मिर्जाओं को सहायता देकर उससे विरोध भी ठान लिया था। इसलिए अकबर ने चित्तौर पर चढ़ाई करने का विचार किया। सितम्बर १५६७ में मालवा जाते हुए उसने धौलपुर में डेरा डाला। वहाँ राणा उदयसिंह का पुत्र शक्तिसिंह, जो अपने पिता से अप्रसन्न होकर चला आया था, उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। एक दिन अकबर ने उससे हँसी में कहा कि और सब बड़े बड़े जमींदार (राजा) मेरी अधीनता स्वीकार कर चुके हैं, केवल एक राणा उदयसिंह ने अभी तक नहीं की है, इसलिए उस पर चढ़ाई करने का मेरा विचार है। तुम क्या सहायता करोगे? शक्तिसिंह उसी रात को बिना सूचना दिये वहाँ से चलकर अपने पिता के पास पहुँचा और उसे बादशाह के इरादे का समाचार दिया। जब अकबर को उसके गायब होने का समाचार मिला तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और मालवा की चढ़ाई कुछ काल के लिए स्थगित करके चित्तौर विजय करने के लिए रवाना हुआ।

अकबर ने २० अक्टूबर १५६७ को चित्तौर के किले के पास पहुँचकर पड़ाव डाला और अपनी सेना को किले पर घेरा डालने का हुक्म दिया। राणा अपने सरदारों की सलाह के अनुसार पहले ही जयमल और पत्ता की अध्यक्षता में ८००० राजपूतों को किले की रक्षा का भार सौंपकर कुछ सरदारों के साथ परिवार सहित पहाड़ों में चला गया था।

शाही सेना ने किले पर घेरा डाला और अकबर ने साबात बनाने और सुरंग लगाने का हुक्म दिया। राजपूतों ने किले की रक्षा में बड़ी वीरता दिखलाई और कई बार अकबर स्वयं मरते-मरते बचा। गढ़ की विजय कठिन देखकर बादशाह ने विजय होने पर अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन की जियारत करने की मनौती मानी। २३ फरवरी १५६८ तक युद्ध बराबर चलता रहा। अन्त में किले की दीवार की मरम्मत कराते समय अकबर की चलाई हुई गोली से जयमल घायल हो गया। अब गढ़ में भोजन की सामग्री समाप्त हो गई थी, इसलिए

जयमल ने सब सरदारों को एकत्र किया और जौहर करके दुर्ग-द्वार खोल देने और वीरता से लड़कर वीरगति पाने का निश्चय किया। जौहर की अग्नि धधक उठी जिसमें सैकड़ों स्त्री और बच्चे जलकर मर गये।

दूसरे दिन सुबह होते ही राजपूतों ने दुर्ग-द्वार खोलकर घोर युद्ध किया। राजपूत वीरता से लड़ते हुए एक एक कर कट मरे। जयमल और पत्ता ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा में अपूर्व वीरता दिखलाते हुए जीवनोत्सर्ग किया। उनकी वीरता पर मुग्ध होकर अकबर ने आगरे लौटकर हाथियों पर चढ़ी हुई उनकी पाषाण-मूर्तियाँ बनवाकर किले के फाटक पर स्थापित करवाई। सेना के अतिरिक्त प्रजा का भी बड़ा संहार हुआ, क्योंकि उसने भी युद्ध में योग दिया था। अकबर ने कत्लेआम का हुक्म दिया था। अबुलफजल लिखता है कि ३०,००० आदमी मारे गये; किन्तु यह कथन अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ता है। अब्दुलमजीद आसफ खाँ को किले का अधिकारी नियुक्त करके अकबर अजमेर की तरफ लौट गया और गढ़ के घेरे के समय की मानी हुई मनौती के अनुसार वहाँ पहुँचकर ख्वाजा की जियारत की।

रणथम्भौर और कालिंजर की विजय—चित्तौर विजय के एक वर्ष बाद अकबर ने राणा के दूसरे सुदृढ़ दुर्ग रणथम्भौर को जो सुरजन हाड़ा के अधीन था, लेने के लिए बड़ी सेना के साथ आसफ खाँ को भेजा; परन्तु फिर उसे मालवा के विरुद्ध भेजकर दिसम्बर १५६८ को स्वयं रणथम्भौर की ओर चला और ८ फरवरी १५६९ को वहाँ पहुँचा। किले के एक ऊँची पहाड़ी पर बने होने के कारण उस पर चढ़ना असंभव था और मंजनीक (पत्थर फेंकने के यंत्र) काम नहीं दे सकते थे। किन्तु शाही सैनिक किले के पास की एक दूसरी पहाड़ी पर तोपें चढ़ाने में सफल हो गये। उन्होंने वहां से गोलाबारी शुरू की जिससे किले की दीवारें गिरने लगीं। किलेदार राव सुरजन हाड़ा ने दुर्ग की रक्षा असंभव देखकर राजा भगवानदास और मानसिंह की मध्यस्थता स्वीकार करके अपने कुँवर दूदा और भोज को बादशाह के पास भेज दिया। उसने उन्हें खिलअत देकर पिता के पास वापस भेज दिया। अकबर के इस उदार व्यवहार से प्रभावित होकर राव ने इस शर्त पर उसके पास उपस्थित होना स्वीकार किया कि उसे लेने के लिए कोई दरबारी भेजा जाये। उसकी इच्छानुसार उसे लाने के लिए हुसेन कुली खाँ भेजा गया, और उसने आकर

किले की कुंजियाँ उसे सौंप दी। उसने बादशाह की सेवा स्वीकार कर ली। इस पर वह गढ़कंटक का किलेदार बनाया गया और पीछे चुनारगढ़ तथा बनारस के सूबे का हाकिम नियुक्त हुआ।

रणथम्भौर के लिए आगरा से चलते समय अकबर ने एक बड़ी सेना के साथ मंजनू खाँ को कालिंजर के किले को जीतने के लिए भेजा था। किले के स्वामी राजा रामचन्द्र ने, जिसके पास चित्तौर और रणथम्भौर के पतन का समाचार पहुँच चुका था, अगस्त १५६९ में बादशाह के सेनापति को किला समर्पित कर दिया। राजा को इलाहाबाद के नजदीक एक जागीर दी गई। इस किले पर अधिकार होने से बादशाह की सैनिक शक्ति और भी दृढ़ हो गई।

अन्य राजपूत राजाओं का आधिपत्य स्वीकार करना—इन विजयों के पश्चात् कई और राजपूत राजाओं ने वश्यता स्वीकार की। जोधपुर के राजा मालदेव का पुत्र चन्द्रसेन नागौर में बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ। किन्तु जान पड़ता है कि उसका मित्र-भाव बहुत दिनों तक नहीं रहा। बाद में उसने बादशाह का प्रभुत्व अस्वीकार कर दिया और सिवाना के पहाड़ी किले में चला गया। बादशाह ने जोधपुर पर हमला करने का हुक्म दिया और उसे बीकानेर के राव रामसिंह को दे दिया। रामसिंह का पिता राव कल्याणमल भी अपने पुत्र के साथ बादशाह के पास नागौर आया। राजा ने कर दिया और बादशाह ने उसकी पुत्री से शादी कर ली। रामसिंह बादशाह की सेवा में दरबार में रहा और एक मनसबदार बन गया।

राजपूतों के साथ अकबर की नीति—अकबर की राजपूतों के साथ मेल करने की नीति का आरम्भ उसकी उच्च महत्त्वाकांक्षा के कारण हुआ। राजपूतों के साथ उसकी नीति अन्य मुसलमान शासकों की नीति की अपेक्षा अधिक उदार और मानवोचित थी। वह एक उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ था। उसने हिन्दू मुसलमान दोनों की सहानुभूति पर अपने राज्य की जड़ जमानी चाही। उसने हिन्दुओं को काफिर समझकर उनसे घृणा नहीं कि बल्कि उनकी सदिच्छा तथा सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की। वह उनके विरुद्ध जी-जान से लड़ता था और उन्हें दम नहीं लेने देता था; किन्तु उनके अधीनता स्वीकार कर लेने पर उनका सम्मान करता था। वह कोई ऐसा कार्य नहीं करता था जिससे उसके राजपूत शत्रुओं के दिलों को चोट

पहुँचे, उसने कभी धार्मिक विद्वेष के वशीभूत होकर हिन्दुओं को कष्ट नहीं दिया। वह राजपूत और मुसलमान सरदारों को समान रूप से अधिकार देता था जिससे राजपूत उसके विश्वासपात्र सेवक बन गये और दूर दूर के देशों को उन्होंने अपने प्राणों पर खेलकर उसके अधीन कर दिया। उसके अधीन होकर उन्हें अपनी युद्ध-कुशलता तथा वीरता दिखलाकर कीर्त्ति अर्जित करने का पूरा अवसर मिला। अकबर ने उनके मित्र-भाव को वैवाहिक संबंधों से और भी दृढ़ कर दिया। अधिकांश राजपूत सरदारों ने अकबर के मनसबदार बनकर उसकी सैनिक शक्ति को अजेय बना दिया और अनेकानेक युद्ध-क्षेत्रों में मुगल सरदारों के साथ साथ अपनी वीरता प्रदर्शित की। उनके सहयोग के कारण अकबर को हिन्दू जनता की शुभेच्छा प्राप्त हो गई और उसे इस देश में धार्मिक तथा सांस्कृतिक मेल स्थापित करने में सहायता मिली। बहुत से राजपूत सरदार कला तथा साहित्य के बड़े प्रेमी थे और उनकी उपस्थिति से मुगल दरबार प्रभावमय तथा देश-देशान्तर में विख्यात हो गया। मुगलकालीन भारतीय कला की अपूर्व उन्नति का श्रेय अधिकांश राजपूत-मुगल-सहयोग को ही है।

शाहजादा सलीम का जन्म—अब तक उत्पन्न होनेवाली अकबर की सब सन्तानें शैशव काल में ही काल-कवलित हो गई थीं। उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था जिससे वह बहुत दुखी रहता था। चिरंजीवी पुत्र की प्राप्ति की कामना से वह हर साल ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की कब्र की जियारत करता था। अपनी कामना की सिद्धि के लिए उसने कई बार सीकरी के प्रसिद्ध सलीम चिश्ती के दर्शन किये। १५६९ के आरंभ में उसे मालूम हुआ कि उसकी पहली हिन्दू स्त्री, जयपुर के राजा भारमल की पुत्री गर्भवती है। उसने उसे दास-दासियों सहित सीकरी भेज दिया जहाँ उसने ३० अगस्त १५६९ को शेख सलीम के घर में एक पुत्र प्रसव किया। इस पुत्र का नाम, जिसे सब लोग शेख सलीम की दुआ से प्राप्त हुआ मानते थे, उस शेख के नाम पर ही सलीम रखा गया।

फतहपुर का बसाया जाना—शेख सलीम चिश्ती की दुआ से अकबर उनका इतना कृतज्ञ हुआ कि उसने आगरा को छोड़कर सीकरी को ही अपनी राजधानी बना लिया। काल की प्रगति के साथ वहाँ सुन्दर भवनों से परिपूर्ण एक बड़ा नगर बस गया। यहाँ की शाही इमारतें १४ वर्षों में बनकर १५७४ में तैयार हुई। १५७२ में शेख सलीम का देहावसान हुआ जिसकी कब्र पर अकबर ने एक अति सुन्दर मकबरा बन-

वाया, जो अब भी कला के पारखियों के हृदय में प्रशंसा तथा विस्मय के भाव भर देता है। बड़ी मस्जिद जो मक्का की मस्जिद की नकल मानी जाती है १५७२ में बनी। यह मुगल स्थापत्य के श्रेष्ठतम निदर्शनों में से एक है। किन्तु भव्यता में लाल दरवाजा का स्थान सर्वप्रथम है जो गुजरात-विजय की यादगार में १५७५-७६ में बना था।

इस नगर का नाम गुजरात की विजय की यादगार में बादशाह ने फतहपुर रखा। इसकी इमारतों के बनाने में उसने मुक्तहस्त से धन व्यय किया। सन् १५६९ से १५८५ पर्यन्त १७ वर्षों तक वह अकबर की राजधानी रहा। १५८५ में फिर आगरा मुगल साम्राज्य की राजधानी हो गया। यह नगर परित्यक्त होकर अब उजाड़ हो गया है। इस ध्वस्त अवस्था में भी दूर-दूर के कला-प्रेमी इसे देखने आते हैं और इसे देखकर विस्मय-मुग्ध हो जाते हैं।

गुजरात-विजय—मालवा जीत लेने और राजपूतों की शक्ति तोड़ देने के बाद अकबर ने गुजरात पर चढ़ाई करने का इरादा किया। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, हुमायूँ ने गुजरात को ले लिया था; लेकिन उसकी सुस्ती और लापरवाही से वह उसके हाथ से निकल गया था। अकबर को इसे फिर जीतने की इच्छा हुई। इसके अतिरिक्त गुजरात बड़ा उपजाऊ तथा समृद्धिशाली देश था। इसके बन्दरगाह भड़ौच, खम्भात और सूरत पश्चिम के व्यापारिक केन्द्र थे। इस समय वहाँ का शासक मुजफ्फरशाह द्वितीय था, जो बड़ा ही निर्बल तथा अयोग्य था।

मुजफ्फरशाह नाम-मात्र के लिए सुल्तान था। सारी शक्ति चंद सरदारों के हाथ में थी। सारे देश में कुप्रबन्ध फैला हुआ था और सब शक्तिशाली सूबे स्वतन्त्र हो जाने की तैयारी में थे। मिर्जाओं ने जो अकबर के सम्बन्धी थे, देश की अशांति को और भी बढ़ा दिया था। वे प्रतिस्पर्धी सरदारों को बारी-बारी से सहायता देकर लड़ाया करते थे। इन अशांतिकारी शक्तियों का दमन करने में मुजफ्फरशाह सर्वथा असमर्थ था। ऐसे ही समय में अकबर ने उस पर आक्रमण किया जिस पर वह राजधानी से भागकर एक अनाज के खेत में छिप रहा। अकबर ने उसकी परवरिश के लिए ३० रुपये मासिक की छोटी रकम मुकर्रर कर दी। गुजरात के सरदारों ने अकबर की वश्यता स्वीकार कर ली। उसने अहमदाबाद को खान आजम अजीज कोका के सिपुर्द कर दिया। जब बादशाह गुजरात का

प्रबन्ध करने में लगा हुआ था तो उसे खबर मिली कि एक सरदार को जो उसकी सेवा में उपस्थित होना चाहता था, मिर्जाओं में से एक ने मार डाला है। वह विद्रोही मिर्जा को दंड देने के लिए चटपट चल पड़ा और सारनाल में उसे बुरी तरह पराजित किया। इसके बाद उसने सूरत को एक महीने सत्रह दिन तक घेरे रहकर ले लिया। मिर्जाओं ने फिर बखेड़ा मचाया लेकिन मालवा, चन्देरी और दूसरे प्रसिद्ध रियासतों के सरदारों की सहायता से अजीज कोका ने उन्हें पराजित कर दिया। गुजरात को अधीन करके अकबर सीकरी लौट गया।

बादशाह की पीठ फिरते ही मिर्जाओं ने फिर अशांति मचाई जिससे शाही सेना को बहुत क्षति उठानी पड़ी। इसकी खबर सुनकर अकबर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने गुजरात के झगड़े का सदा के लिए निपटारा कर देने का निश्चय किया। वह एक सुसंगठित तथा सुदक्ष सेना के साथ रवाना हुआ और ग्यारह दिन की सपरिश्रम यात्रा के बाद अहमदाबाद पहुँच गया। मिर्जाओं को यह विश्वास नहीं था कि बादशाह इतनी जल्दी पहुँच सकता है। लड़ाई में वे अपने सहायकों सहित बुरी तरह पराजित हुए। अब गुजरात में अकबर की शक्ति निर्द्वन्द्व रूप से स्थापित हो गई।

देश के पूर्ण रूप से वशीभूत हो जाने पर वहाँ शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रबन्ध किया गया। आर्थिक परिस्थिति सुधारने का कार्य राजा टोडरमल को सौंपा गया। उसने जमीन की पैमाइश कराके लगान का नया प्रबन्ध किया जिससे इस सूबे से शाही खजाने में पचास लाख रुपया सालाना आने लगा। राजा टोडरमल के बाद इस सूबे का प्रबन्ध एक दूसरे योग्य अफसर शिहाबुद्दीन अहमद खां को सौंपा गया, जो १५७७ से १५८४ तक यहाँ का हाकिम रहा।

बंग-विजय—बंगाल हमेशा दिल्ली साम्राज्य का एक बड़ा बागी सूबा रहा था। शेरशाह के समय में यह अफगान सरदारों के अधिकार में था, किन्तु १५६४ में बिहार के सरदार सुलेमान खाँ ने गौड़ पर अधिकार कर लिया और दोनों सूबों का शासक हो गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र बायजीद उसका उत्तराधिकारी हुआ; लेकिन मंत्रियों ने उसकी हत्या कर डाली और उसके छोटे पुत्र दाऊद को गद्दी पर बैठाया। उसके विषय में तबकात का लेखक लिखता है कि वह बड़ा दुराचारी था और शासन करना बिलकुल नहीं जानता था।

बादशाह ने दाऊद के विरुद्ध एक बड़े पुराने तथा अनुभवी सेनापति मुनीम खाँ को एक बड़ी सेना के साथ भेजा, जिसने विद्रोही के पिता के साथ अपनी मित्रता का विचार करके उससे सुलह कर ली। इस पर अकबर बड़ा अप्रसन्न हुआ और उसे शत्रु पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। मुनीम खाँ ने पटना पर आक्रमण किया, लेकिन उसमें असफल रहा। इस पर बादशाह स्वयं पटना की ओर बढ़ा। दाऊद भाग गया और पटना बिना विरोध के शाही सेना के अधिकार में आ गया। मुनीम खाँ बंगाल का सूबेदार बनाया गया और उसने दाऊद को सन्धि करने के लिए विवश किया। लेकिन दाऊद फिर अधिकृत शाही प्रदेश को धीरे-धीरे दबाने लगा। मुनीम खाँ, जो अस्सी बरस का हो गया था, अक्टूबर १५७५ में मर गया। दाऊद ने इस अवसर से लाभ उठाया। उसने फिर शक्ति संचय करके सारे देश पर अधिकार कर लिया।

अकबर को दाऊद की इस ढिठाई की खबर मिली तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने एक दूसरे सेनापति को भेजा, जिसने राजमहल के एक युद्ध में अफगानों को परास्त किया और दाऊद को कैद कर लिया, और उसका सिर काटकर बादशाह के पास भेज दिया। दाऊद के पतन के साथ २४०वर्षों बाद बंगाल के स्वतंत्र राज्य का अन्त हो गया और बंगाल और बिहार का सारा देश अकबर के अधीन हो गया।

मेवाड़ के साथ युद्ध—महाराणा उदयसिंह की मृत्यु के बाद सन् १५७२ में उसके पुत्र प्रतापसिंह मेवाड़ के महाराणा हुए। उन्होंने आत्म-गौरव तथा स्वतंत्रता को ही अपना सर्वस्व समझा। उनका यही व्रत था कि वे किसी के सामने सिर न झुकायेंगे। उन्हें अपने पूर्वजों, राणा साँगा और राणा कुम्भा के वीर कृत्यों का बड़ा गर्व था। वे कहते थे यदि उनके और राणा साँगा के बीच कोई मेवाड़ की गद्दी पर न रहा होता, तो मेवाड़ पर मुसलमानों का अधिकार होता। जब और सब राजपूत राजा अकबर की कुटिल नीति के शिकार होकर उसकी शक्ति दृढ़ करने में एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा दिखला रहे थे, अकेले महाराणा ने सब प्रकार के प्रलोभन पर लात मारकर अपनी स्वतंत्रता तथा राजपूत-गौरव की रक्षा की।

राजपूताने की ख्यातों में, राजप्रशस्ति, महाकाव्य में तथा कर्नल टाडकृत 'राजस्थान' में महाराणा के साथ युद्ध छिड़ने का जो कारण दिया गया है, वह

संक्षेप में यहाँ दिया जाता है। गुजरात से लौटते समय आमेर के कुँवर मानसिंह उदयपुर होते हुए दिल्ली लौटे। उदयपुर में महाराणा ने मानसिंह का आदर तथा मान किया। किन्तु उदय सागर की पाल पर उन्हें एक दावत दी गई, जिसमें उनके साथ भोजन करने के लिए कुँवर मानसिंह उपस्थित हुए; महाराणा उपस्थित न हुए। मानसिंह द्वारा महाराणा के सम्मिलित होने के आग्रह किये जाने पर कहा गया कि पेट में दर्द होने के कारण वे उपस्थित न हो सकेंगे। महाराणा के उपस्थित न होने का कारण समझकर तथा अपमानित होकर मानसिंह ने भोजन छोड़ दिया और आवेश में आकर कहा कि "इस पेट-दर्द की दवा मैं जल्द ही लेकर आऊँगा। यदि मैंने यह गर्व चूर न कर दिया तो मेरा नाम मानसिंह नहीं।" कुलाभिमानी महाराणा ने कहला दिया कि मैं आपके स्वागत के लिए बिलकुल तैयार रहूँगा, साथ में अपने फूफा (अकबर) को भी लेते आइएगा। मानसिंह के चले जाने पर सब भोजन फिकवा दिया गया और वहाँ की जमीन पर गंगाजल छिड़कवाया गया और वहाँ उपस्थित रहनेवाले सब लोगों ने अपनी अपवित्रता दूर करने के लिए स्नान किया। मानसिंह ने दिल्ली पहुँचकर अपने अपमान का सब हाल अकबर से बयान किया, जिस पर क्रुद्ध होकर उसने महाराणा का गर्व चूर्ण करने तथा उसे अधीन करने के लिए मानसिंह को ससैन्य भेजने का निश्चय किया। महाराणा ने भी युद्ध अवश्यम्भावी समझकर अपने राजपूत वीरों को मातृ-भूमि के गौरव की रक्षा के लिए सुसज्जित किया तथा कुम्भलमेर और गोगुन्दा के किलों को सुदृढ़ कर लिया।

मुगलों और राजपूतों की सम्मिलित सेना को युद्ध के सभी सामानों से सुसज्जित करके अकबर ने अजमेर से अप्रैल, १५७६ में मानसिंह और आसफ खाँ की अध्यक्षता में मेवाड़ के विरुद्ध भेजा। यह सेना मांडलगढ़ होती हुई हल्दीघाटी पहुँची, जहाँ महाराणा की सेना से एक भीषण युद्ध हुआ। अल्बदाऊनी ने जो इस युद्ध में स्वयं उपस्थित था, इसका एक विस्तृत तथा सजीव वर्णन दिया है। राणा ने दर्रे (हल्दीघाटी) के पीछे से ३००० सवारों के साथ निकलकर शत्रु पर आक्रमण किया। राणा के भीषण आक्रमण के आगे शत्रु-सेना ठहर न सकी। उसमें भगदड़ मच गई। मुगल सेना की हरावल पराजित हुई; परन्तु दक्षिण पार्श्व के राजपूत भेड़ों की तरह भाग निकले और हरावल को पार करते हुए अपनी रक्षा के लिए

दक्षिण पार्श्व की ओर भागे। इसी समय इतिहास लेखक बदाऊनी ने आसफ खाँ से पूछा कि ऐसी गड़बड़ी में हम अपने पक्ष के और शत्रुपक्ष के राजपूतों की पहचान कैसे करें? इस पर उसने उत्तर दिया कि तीर चलाये जाओ, चाहे जिस पक्ष के राजपूत मारे जायें इस्लाम को लाभ ही होगा।

अन्त में राणा को हटना पड़ा और पहाड़ियों में लौट गये, जहाँ मुगलों ने उनका पीछा नहीं किया। दूसरे दिन शाही सेना गोगुन्दा पहुँची और किले की रक्षा करनेवाले राणा के आदमी जो संख्या में बहुत थोड़े थे, वीरतापूर्वक लड़ते हुए सब के सब मारे गये।

मुगल सेना ने कई बार मेवाड़ पर आक्रमण किया, किन्तु इससे अकबर का मनोरथ पूर्ण न हुआ। वह राणा को वश में न ला सका। राणा मौका पाकर मुगल सेना को लूट लेते या उनकी रसद बंद कर देते थे। उन्होंने अपने समतल प्रदेश को उजाड़ दिया था जिससे मुगलों को वहाँ से रसद नहीं मिल सकती थी। उन्होंने फिर चित्तौर, अजमेर और मांडलगढ़ को छोड़कर शेप मेवाड़ पर अधिकार कर लिया और आमेर के इलाके पर आक्रमण करके उसके धनाढ्य नगर मालपुरा को लूट लिया।

सन् १५९७ में महाराणा का स्वर्गवास हुआ। टाडकृत राजस्थान में तथा वीरविनोद में लिखा है कि बीमारी के अन्तिम दिनों में राणा बड़े दुःखी थे। उनके प्राण शान्ति से नहीं निकल रहे थे। उनके स्वामिभक्त सरदार उपस्थित थे। उनमें से एक ने उनकी अशान्ति का कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि मैं अपने अमरसिंह का स्वभाव जानता हूँ। वह आरामतलब है। मुझे आशा नहीं है कि वह मेरे पीछे मेवाड़ की तथा मेरे वंश के गौरव की रक्षा कर सकेगा। यदि आप लोग मेरे पीछे देश तथा वंश के गौरव की रक्षा करने का प्रण करें तो मेरे प्राण शान्तिपूर्वक पयान करें। इस पर सरदारों ने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की और महाराणा ने शान्तिपूर्वक इहलीला संवरण की। इससे महाराणा के उत्कट आत्म-गौरव तथा देश-प्रेम का परिचय मिलता है।

महाराणा प्रतापसिंह के बाद उनके पुत्र अमरसिंह १५९७ में मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। अकबर ने फिर १५९९ ई० में शाहजादा सलीम को मानसिंह आदि कई सरदारों के साथ एक बड़ी सेना देकर भेजा। आक्रमणकारियों ने पहले मेवाड़

के बड़े भाग पर अधिकार जमा लिया; किन्तु फिर राणा के सरदारों ने बड़ी वीरता से लड़कर उनसे ऊंटाले का किला ले लिया। इसके बाद राणा ने मालपुरा तक का इलाका लूट लिया और बहुत से स्थानों से मुगलों की नियुक्ति की हुई सेना को भगा दिया। इस प्रकार मेवाड़ पर यह आक्रमण निष्फल हुआ। अबुलफजल लिखता है कि इसके बाद वहाँ से शाहजादा सलीम अफगानों का उपद्रव शान्त करने के लिए मानसिंह की सलाह से बंगाल लौट गया। जहाँगीर अपनी दिन-चर्या की पुस्तक में इस चढ़ाई के संबंध में लिखता है कि मेरे पिता ने कई विश्वास-पात्र सरदारों एवं बड़ी सेना के साथ मुझे राणा के विरुद्ध भेजा लेकिन यह चढ़ाई निष्फल हुई*।

अकबर के धार्मिक विचारों का राजनैतिक प्रभाव—अकबर में धार्मिक संकीर्णता का अभाव था जिसके कारण धार्मिक संकीर्णता के वातावरण में पले हुए कट्टर मुसलमानों में खलबली मच गई। सन् १५७८ और १५७९ में फतहपुर सीकरी के इबादतखाने में विभिन्न धर्मों के विद्वानों में विवाद होते थे। अकबर ने स्वयं इमामेआदिल का स्थान ग्रहण कर लिया और मिम्बर पर आरूढ़ होकर खुतबा पढ़ा। धार्मिक विषयों में इमामेआदिल की राय या उसकी मुस्लिम कानून की व्याख्या सर्वमान्य होती है, इसलिए अकबर के इमामेआदिल का स्थान ग्रहण करने से उलमा क्षुब्ध हो उठे। बादशाह की धार्मिक कट्टरता की उपेक्षा प्रकट करनेवाले कानूनों और राजाज्ञाओं से कट्टर मुसलमानों में और भी खल-बली मच गई। और उनमें से कुछ इस अधर्मी बादशाह को नष्ट करने की तदबीर करने लगे, जिसका बल पाकर कई राज-विद्रोह हुए।

बंगाल का विद्रोह—खानजहाँ जो दाऊद के दमन के बाद बंगाल का सूबेदार बनाया गया था, मई १५७९ में मर गया और उसकी जगह पर मुजफ्फर खाँ तुरबती नियुक्त हुआ। वह बड़ा उग्र स्वभाव का आदमी था। इस समय शाही दीवान शाहमन्सूर था जो अपने कार्य में बड़ा दक्ष था। उसने जमीन के पट्टों और अधिकार-पत्रों की जाँच कराई और जो लोग अपना अधिकार जायज न साबित कर सके, उनकी जमीन बंगाल में बिना किसी तरह की रियायत किये

*तूजुके जहाँगीरी का अँगरेजी अनुवाद—जिल्द १, पृ० २५१

जब्त कर ली गई। जागीरदारों में लगानबन्दी के नये तरीके से बड़ा असन्तोष फैला। इससे जागीरों का लगान बंगाल में एक चौथाई और बिहार में एक तिहाई बढ़ गया। एक और शिकायत यह थी कि अकबर ने बंगाल की आबोहवा खराब समझकर बंगाल और बिहार में नौकरी करनेवाले सिपाहियों की तनख्वाह बढ़ा दी थी, शाहमंसूर ने उसे घटाकर और सूबों के सिपाहियों की तनख्वाह के बराबर कर दिया, जिससे सिपाहियों की तनख्वाह बंगाल में ५० फी सदी और बिहार में ३० फी सदी घट गई। सयूरगाल जमीन भी दीवान की कुदृष्टि से न बची, इसे अपने धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप समझकर उलमा बड़े असन्तुष्ट हुए।

पूरब में अशान्ति फैलने का एक और कारण बादशाह की धार्मिक नीति थी। सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार (सुलह कुल) को कट्टर मुसलमान बादशाह द्वारा इस्लाम के परित्याग का चिह्न समझते थे। जौनपुर के काजी मुल्ला मुहम्मद यज्दी ने १५८० के शुरू में एक फतवा निकाला जिसमें उसने मुसलमानों का बादशाह के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करना जायज करार दिया था, क्योंकि उसके कार्यों से हिन्दुस्तान में इस्लाम की स्थिति संकटापन्न बन जाने की संभावना थी। मुसलमानों के इस धार्मिक असंतोष से पूरब में विद्रोह आरम्भ होने में सहायता मिली।

किन्तु विद्रोह आरम्भ होने का सीधा कारण मुजफ्फर खाँ की कठोर नीति हुई। उसने बहुत से अमीरों की जागीरें छीन लीं और दाग का कर लगाया जिसकी वसूली में उसने अनावश्यक कड़ाई से काम लिया। चगताइयों के शक्तिशाली फिरके का कशालों के सरदार बाबा खाँ ने दाग का कर देने में आनाकानी की। पर मुजफ्फर खाँ ने उसके प्रति अपमानजनक भाषा का प्रयोग किया जिस पर उनका समूचा फिरका क्रुद्ध हो उठा और उन लोगों ने सशस्त्र होकर गौड़ पर धावा बोल दिया; और लोग भी जो सरकार से असंतुष्ट थे, उनसे मिल गये। बादशाह ने विद्रोह की खबर सुनकर टोडरमल और कुछ दूसरे अफसरों को शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। जल्द ही मुजफ्फर खाँ मार डाला गया और बंगाल और बिहार का सारा देश विद्रोहियों के हाथ में चला गया। टोडरमल को चार महीने तक मुँगेर के किले में घिरे रहना पड़ा। उसकी सहायता के लिए बादशाह ने अजीज कोका

को भेजा और दोनों सेनापतियों ने मिलकर विद्रोहियों को परास्त किया। इसके थोड़े ही दिनों बाद जौनपुर के जागीरदार मासूम फरनखुदी ने विद्रोह किया। वह शहबाज खाँ द्वारा पराजित होकर सिवालिक पर्वत में शरण लेने को बाध्य हुआ। अजीज कोका की सिफारिश से बादशाह ने उसे क्षमा कर दिया, किन्तु इसके कुछ ही दिनों बाद एक मनुष्य ने व्यक्तिगत शत्रुता के कारण उसकी हत्या कर डाली।

काबुल की चढ़ाई और ख्वाजा मंसूर को प्राणदण्ड—पूरब के विद्रोह से काबुल के शासक तथा अकबर के भाई मुहम्मद हकीम का आक्रमण अधिक खतरनाक था। पूरब के विद्रोहियों ने मिर्जा हकीम को उसके धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले भाई के स्थान पर हिन्दुस्तान का बादशाह बनाने का इरादा जाहिर किया था। इससे उसके मन में हिन्दुस्तान का तख्त हासिल करने की आशा फिर उदय हुई। अकबर को हकीम के मनोरथ का हाल मालूम था; लेकिन उसने भाई समझकर पहले इस बात पर ध्यान न दिया। बंगाल के विद्रोहियों के अतिरिक्त दिल्ली दरबार के कुछ अफसरों ने भी मिर्जा हकीम को सहायता देने का वचन दिया था, जिनमें साम्राज्य का दीवान ख्वाजा मंसूर भी था।

मिर्जा हकीम का इरादा हिन्दुस्तान का बादशाह बनने का था जैसा निजामुद्दीन साफ साफ लिखता है। दिसम्बर १५८० के मध्य में हकीम ने अपने अफसर को पंजाब पर चढ़ाई करने को भेजा लेकिन वह भगा दिया गया। शामदान की अध्यक्षता में एक दूसरी चढ़ाई हुई जिसे राजा मानसिंह ने हराया और मार डाला। उसके पास मिर्जा हकीम की लिखी तीन चिट्ठियाँ मिली जिनमें से एक ख्वाजा मंसूर के नाम थी, जिसमें हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने के निमन्त्रण का उत्तर था। मानसिंह ने इन चिट्ठियों को बादशाह के पास भेजा दिया।

शामदान की हार के बाद मिर्जा स्वयं १५,००० सवारों के साथ लाहौर की ओर बढ़ा। स्थानीय सरदारों को अपनी ओर मिलाने के उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए, जिस पर निराश होकर और विपत्ति में पड़ने की आशंका से वह चटपट काबुल लौट गया।

मिर्जा के बढ़ने की खबर सुनकर अकबर ने अनिच्छापूर्वक उसके विरुद्ध प्रस्थान करने का निश्चय किया। उसने एक बहुत बड़ी सेना इकट्ठी की जिसमें ५०,००० सवार, ५०० हाथी और असंख्य पैदल सिपाही थे। उसने ख्वाजा मंसूर

को भी साथ ले लिया जिसमें वह षड्यन्त्र में भाग न ले सके और शाहजादा सलीम और मुराद भी साथ ही थे। जब यह सेना पानीपत पहुँची तो मिर्जा हकीम का सेवक मलिक सानी काबुली शाही पड़ाव में आया और ख्वाजा के साथ ठहरा और उसे मध्यस्थ बनाकर अपने स्वामी के विरुद्ध बातचीत करने लगा।

इससे ख्वाजा के विरुद्ध बादशाह का संदेह और दृढ़ हो गया। ख्वाजा के विरुद्ध फिर कुछ चिट्ठियाँ मिलीं जिससे उसके अपराध के विषय में बादशाह को संदेह नहीं रह गया। उसने बिना अधिक तहकीकात के ख्वाजा को एक पेड़ से लटकवाकर फाँसी दिला दी, जिससे उससे विद्वेष तथा शत्रुता रखनेवाले राज्य के और कर्मचारियों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

अकबर ससैन्य अम्बाला और सरहिन्द होता हुआ सिन्धु नदी पार करके काबुल की ओर बढ़ा। शाहजादा सलीम ने दर्रा खैबर होते हुए जलालाबाद पर आक्रमण किया और शाहजादा मुराद काबुल की ओर बढ़ा। मिर्जा हकीम ने उस पर आक्रमण किया लेकिन हार कर भाग गया। जब अकबर को मालूम हुआ कि उसका इरादा उजबेगों की शरण में जाने का है, तो उसने उसके अपराधों को क्षमा कर दिया और राजभक्ति की प्रतिज्ञा करा के उसे उसके प्रदेश लौटा दिये। काबुल की इस चढ़ाई की सफलता के बाद धर्मान्ध उपद्रवी सफलता की आशा न देख शान्त हो गये और सम्राट् धार्मिक मामलों में इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र हो गया।

ख्वाजा मंसूर के प्राणदण्ड के विषय में एक और बात कह देनी ठीक होगी। उसे दण्ड देने में बहुत जल्दी की गई। चिट्ठियों की ठीक-ठीक जाँच नहीं की गई। निजामुद्दीन कहता है कि अन्त में मिलनेवाली जिन चिट्ठियों के आधार पर ख्वाजा के भाग्य का निपटारा हुआ, निस्संदेह जाली थीं। वह कहता है कि अकबर ने ख्वाजा के प्राणदण्ड पर पीछे से पश्चात्ताप प्रकट किया। डाक्टर स्मिथ मानसिह द्वारा भेजी गई चिट्ठियों के आधार पर ख्वाजा को दोषी ठहराते हैं। किन्तु अबुलफजल, जो किसी प्रकार ख्वाजा का पक्षपाती नहीं कहा जा सकता इन पत्रों को असन्दिग्ध रूप से जाली बतलाता है। वह कहता है कि बादशाह इन चिट्ठियों को जाली समझता था और इसी वजह से उसने उन्हें ख्वाजा को नही दिखलाया। ख्वाजा की मृत्यु का कारण उसके कड़े व्यवहार के कारण

उसकी अप्रियता तथा दरबार के दूसरे अफसरों का विद्वेष था। इन्हीं लोगों ने उसके विरुद्ध जाल रचा था।

गुजरात में विद्रोह--गुजरात का बादशाह मुजफ्फर, जो नजरबन्द था, सन् १५७८ में निकल भागा और जूनागढ़ में जा पहुँचा। थोड़े समय में उसने एक बड़ी सेना इकट्ठी कर ली और उसकी सहायता से सितम्बर, १५८३ में अहमदाबाद ले लिया और अपने आपको गुजरात का बादशाह घोषित कर दिया। उसने खंभात और बड़ौदा पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने भड़ौंच को ले लिया जहाँ उसे एक बड़ा खजाना मिला। उसने पूर्ण गुजरात पर अधिकार कर लिया और उसकी सैन्य-संख्या ३०,००० हो गई।

मुजफ्फर की सफलता की खबर सुनकर अकबर क्षुब्ध हो उठा और उसने मिर्जा अब्दुर्रहीम को गुजरात का सूबेदार बनाकर उसके विरुद्ध भेजा। उसने जनवरी १५८४ में मुजफ्फर को सरखेज की लड़ाई में पराजित किया और गुजरात की राजधानी पर अधिकार कर लिया और अपने सद्व्यवहार से सबको प्रसन्न कर दिया। शाही सेना ने मुजफ्फर का पीछा किया और उसे राजपीपला में नादौट नामक स्थान पर फिर हराया। इस युद्ध के फलस्वरूप बड़ौदा के अतिरिक्त सारे प्रदेश पर मुगलों का अधिकार हो गया। सात महीने के लम्बे घेरे के बाद बड़ौदा भी उन्हें सौंप दिया गया।

इस विजय का समाचार सुनकर बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने इस विजय में भाग लेनेवाले अफसरों पर बड़ी कृपा दिखलाई। मिर्जा अब्दुर्रहीम को खानखाना की उपाधि मिली और वह पंचहजारी मन्सबदार बना दिया गया। सम्राट् ने खानखाना को अगस्त, १५८५ में गुजरात से बुला लिया। उसके चले आने के बाद मुजफ्फर ने अपनी शक्ति प्राप्त करने के लिए बड़ा जोर लगाया। लेकिन अन्त में सन् १५९२ में वह कैद हो गया और अपमान के भय से उसने एक छूरे से, जिसे अपने पास छिपा रखा था, आत्मघात कर लिया। अजीज कोका, जो खानखाना के बाद गुजरात का सूबेदार हुआ था, मक्का चला गया और गुजरात शाहजादा मुराद के सुपुर्द किया गया।

अकबर की उत्तर-पश्चिमी सीमा-सम्बन्धी नीति--भारतीय सम्राटों के लिए उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा सदा से एक महत्त्वपूर्ण समस्या रही है। तेरहवीं

और चौदहवीं शताब्दियों में जब मंगोल बार-बार हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करते थे, दिल्ली के शासकों ने सीमा की रक्षा के लिए कई फौजी छावनियाँ स्थापित की थीं जिनमें दिपालपुर की छावनी मुख्य थी। अकबर के लिए उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों पर अपना दृढ़ अधिकार स्थापित करने का निश्चय स्वाभाविक ही था।

उत्तर-पश्चिम में दो ओर से खतरा था—एक तो उजबेगों से और दूसरे सीमा पर की युद्धप्रिय अफगान जातियों से। अब्दुल्ला उजबेग अकबर का एक शक्तिशाली प्रतिस्पर्द्धी था जिसे विधर्मी प्रवृत्ति रखनेवाले अकबर के विरुद्ध कट्टर सुन्नियों की सहानुभति पाने की सम्भावना थी। अफगानों की पहाड़ी जातियाँ भी कम खतरनाक नहीं थीं। वे सन्धियों और प्रतिज्ञाओं का बन्धन नहीं मानती थीं और सीमा पर सदा अशान्ति मचाया करती थीं। पहले पहल अकबर ने ही उनका दमन किया। इस दुष्कर कार्य में उसे वीर तथा कुशल राजपूतों की सहायता से सफलता मिली।

मिर्जा हकीम जुलाई १५८५ में अति मद्यपान से मर गया और काबुल साम्राज्य में मिला लिया गया। और उसके शासन का भार राजा मानसिंह को सौंपा गया और साम्राज्य के दूसरे सेनापति काश्मीर के शासक एवं स्वात और बजौर की पहाड़ी जातियों को अधीन करने के लिए भेजे गये। रोशनिये हराये गये और उनका जोशीला सरदार, जिसने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने की तैयारी की थी, सन् १६०० के अन्त में गजनी में मारा गया। उसके बीबी-बच्चे कैद कर लिये गये और उसका भाई दूसरे सम्बन्धियों के साथ, जिनकी संख्या १४,००० थी, दरबार में भेज दिया गया।

दूसरा फिरका जिसके कारण बड़ी परेशानी उठानी पड़ी, यूसुफजाइयों का था। उनको दमन करना आवश्यक था जिसमें अब्दुल्ला उजबेग को उनके उपद्रवों से लाभ उठाने का मौका न मिले। जैन खाँ और वीरबल उनके विरुद्ध ससैन्य भेजे गये; लेकिन इन दोनों सेनापतियों में फूट पड़ गई जिससे वे उनका दमन न कर सके। अफगानों ने मौका पाकर शाही फौज पर तीरों और पत्थरों से आक्रमण किया जिससे उसके ८,००० सैनिक मारे गये। राजा वीरबल भी जिसने इस अवसर पर बड़ी वीरता दिखलाई और भागने से इनकार किया, उनके साथ

मारा गया। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर अकबर को बड़ा रंज हुआ और कहा जाता है कि उसने निम्नलिखित सोरठा कहा--

दीन देखि सब दीन एक न दीन्हो दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन कछु नहिं राख्यो बीरबल ।।

इसके बाद राजा टोडरमल और शाहजादा मुराद एक बड़ी सेना के साथ इन अफगानों के विरुद्ध भेजे गये। इस सेना ने अफगानों का बल बिलकुल तोड़ दिया। अबुलफजल लिखता है कि वे बहुत बड़ी संख्या में मारे गये और बहुत से तूरान और फारस में बेच दिये गये। अब स्वात और बजौर के प्रदेश में शान्ति स्थापित हो गई।

शाही सेना की इस सफलता का अब्दुल्ला उजबेग पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने असम्भव समझकर हिन्दुस्तान जीतने की आशा छोड़ दी और अकबर से मित्रता कर ली।

काश्मीर-विजय १५८२ ई०--अकबर ने राजा भगवानदास को, ५,००० सिपाहियों के साथ काश्मीर जीतने के लिए भेजा। अब रोशनियों और युसुफजाइयों का बल टूट गया था और अब्दुल्ला से भी कोई आशंका नहीं रह गई थी इसलिए काश्मीर-विजय का मार्ग साफ हो गया था। राजा भगवानदास और कासिम खाँ कठिनाइयों का सामना करते हुए बढ़े और काश्मीर के शासक यूसुफ ने आत्म-समर्पण कर दिया। किन्तु उसका पुत्र याकूब निकल भागा और आक्रमणकारियों के प्रतिरोध का प्रयत्न करने लगा। परन्तु उसका प्रयत्न निष्फल हुआ और वह पराजित होकर आत्म-समर्पण करने को विवश हुआ। काश्मीर साम्राज्य में मिला लिया गया और काबुल सूबे का एक भाग बना दिया गया। याकूब और उसका पिता बन्दी बनाकर मानसिंह की देख-रेख में जो बंगाल का हाकिम बनाकर भेजा जा रहा था, बिहार भेज दिये गये। सम्राट् स्वयं १५८९ की गर्मियों में काश्मीर गये और उन्होंने उसके यथोचित शासन का प्रबन्ध किया। वहाँ से काबुल होते हुए लौटते समय उन्हें राजा भगवानदास और टोडरमल की मृत्यु के समाचार मिले।

सिन्ध-विजय--उत्तरी भारत में अब केवल सिन्ध और बिलोचिस्तान साम्राज्य की सीमा के बाहर रह गये थे। भक्कर १५७४ में अधीन कर लिया गया

था; किन्तु दक्षिणी सिन्ध का एक बड़ा भाग अभी स्वतन्त्र था। सन् १५९० में सम्राट् ने मिर्जा अब्दुर्रहीम को मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया और उसे थट्टा का राज्य जीतने का हुक्म दिया। इस समय मिर्जा जानी द्वारा शासित होता था। वह दो घोर युद्धों में पराजित होकर थट्टा और सेहवान के किलों को समर्पित करने को विवश हुआ। जानी बेग दरबार में पहुँचाया गया और खानखाना की सिफारिश से उसके साथ अच्छा व्यवहार हुआ। राजकृपा के रूप में उसे थट्टा का प्रदेश लौटा दिया गया और पंचहजारी मन्सब दिया गया।

फारस के साथ सम्बन्ध--अकबर बहुत दिनों से उत्तर-पश्चिम के फाटक की कुंजी कन्धार पर अधिकार करना चाहता था। इस समय इसे जीतना मुश्किल नहीं था; क्योंकि उसका स्वामी फारस का शाह तुर्कों और उजबेगों के उपद्रव से बड़ा परेशान रहता था। इस समय अच्छा अवसर देखकर बादशाह ने कन्धार पर चढ़ाई कराई। यह आक्रमण १५९० में आरम्भ हुआ किन्तु कन्धार १५९५ के पहले नहीं लिया जा सका। कन्धार साम्राज्य में मिला लिया गया और शाह से मैत्री भी बनी रही। यह अकबर की राजनीति-पटुता का एक अच्छा उदाहरण है।

उत्तर-पश्चिम में साम्राज्य की सैनिक शक्ति के प्रदर्शन का अब्दुल्ला पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे भय हो गया कि अकबर और शाह अब्बास उसके विरुद्ध कहीं एका न कर लें। इसलिए उसने सम्राट् से मित्रता स्थापित कर ली और अब उत्तर-पश्चिम से भारत पर उजबेगों की चढ़ाई होने का कोई भय नहीं रह गया।

अहमदनगर-विजय--सारे उत्तर भारत और हिन्दूकुश के आगे तक के अफगान प्रदेश का आधिपत्य प्राप्त करके अकबर ने दक्षिण की ओर दृष्टिपात किया। अहमदनगर के राज्य में झगड़ा होने से उसे वहाँ हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। मुगलों ने अहमदनगर पर घेरा डाला परन्तु उन्हें बुरहान निजाम-शाह की विधवा बहिन सुविख्यात चाँद बीबी के नेतृत्व में एक बड़े प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। चाँद बीबी ने स्वयं हाथ में तलवार लेकर दुर्ग की रक्षा करने में अलौकिक वीरता दिखलाई और असाधारण सैन्य-संचालन और प्रबंध-पटुता का परिचय दिया। उसने मुगलों के दाँत खट्टे कर दिये किन्तु

विश्वासघातकों ने उसकी हत्या कर डाली और १६०० ई० में मुगलों ने किले पर अधिकार कर लिया। अहमदनगर साम्राज्य में मिला लिया गया। चाँद बीबी की वीरता, आत्मत्याग और देशप्रेम के कारण उसका नाम सदा आदर से लिया जायगा और भारतवर्ष के इतिहास में अमर रहेगा।

असीरगढ़ का घेरा—खानदेश का नया शासक मीरन बहादुर मुगल साम्राज्य के प्रति मित्र भाव नहीं रखता था। वह अकबर के आधिपत्य से मुक्त हो जाने के लिए उत्सुक था। बादशाह ने पहले ही बुरहानपुर को जीत लिया था किन्तु मीरन बहादुर अपनी रक्षा के लिए असीरगढ़ के किले का भरोसा रखता था जो दक्षिण में अजेय समझा जाता था और दक्षिण की खास सड़क का नाका था।

अबुलफजल और फैजी सरहिन्दी के आधार पर असीरगढ़ के घेरे का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। शाही सेना द्वारा किले का घेरा शुरू होने के कुछ काल बाद किले में बीमारी फैल गई जिससे उसमें के बहुत से सैनिक मर गये। और माली-गढ़ ले लिया गया जिससे दुर्गस्थ सेना बाहर आ-जा नहीं सकती थी। इससे वह बड़ी परेशान हो गई। बादशाह के कुछ सेनापतियों के जरिये मीरन बहादुर से एक समझौता हुआ जिसके अनुसार वह शाही दरबार में हाजिर हुआ। उसके साथ विश्वासघात किया गया; सम्राट् के हाथ में आ जाने पर वह रोक लिया गया और अपनी इच्छा के विरुद्ध किला सौंप देने के लिए अपने आदमियों के पास एक पत्र लिखने के लिए विवश किया गया। इसके अतिरिक्त बहादुर की दुर्गस्थ सेना को घूस देकर फोड़ा भी गया। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार विश्वासघात करके तथा घूस देकर किले को लेना निन्दनीय है। संभवतः साम्राज्य की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए किले का लिया जाना और उत्तर में सलीम के विद्रोह के कारण उसका घेरा जल्द समाप्त कर देना आवश्यक होने के कारण और उसे दुर्गस्थ सेना की वीरता-पूर्ण रक्षा के कारण लड़कर किले को जल्द लेना असंभव देखकर अकबर को ऐसा निन्दनीय पथ ग्रहण करना पड़ा हो।

सामाज्य का प्रसार—सिंहावलोकन—अकबर की विजयों को तीन काल-विभागों में बाँट सकते हैं, उत्तर भारत की विजय १५५८ से १५७६ तक, पश्चिमोत्तर सीमा पर की जातियों को वशीभूत करना तथा प्रदेशों को जीतना १५८० से १५९६ तक और दक्षिण में विजय १५९८ से १६०१ ई० पर्यन्त।

साम्राज्य का प्रसार अकबर के शासनकाल के आदि में (१५५८-६०) ही मध्य-भारत में ग्वालियर, राजपूताने में अजमेर और पूरब में जौनपुर की विजय के साथ आरम्भ हुआ। मालवा की विजय १५६१-६२ में पीर मुहम्मद और आदम खाँ द्वारा सम्पन्न हुई और राजपूताने में मेड़ते का किला लगभग उसी समय अधिकृत हुआ। १५६४ में रानी दुर्गावती द्वारा शासित गोंडवाने पर आक्रमण करने के लिए आसफ खाँ भेजा गया और उसकी स्वतन्त्रता नष्ट कर दी गई। अम्बर के राजा भारमल के वश्यता स्वीकार करने के बाद राजपूताना वशीभूत हो गया। १५६७ में चित्तौर का किला जीता गया और उसके बाद रणथम्भौर और कालिंजर के किले लिये गये; और जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर के राजाओं ने अधीनता स्वीकार की। १५७३ में गुजरात जीता गया और साम्राज्य में मिला लिया गया। इसके बाद १५७६ में बंगाल विजय हुई और वहाँ के स्वतन्त्र अफगान राजवंश का अन्त हो गया। उड़ीसा बहुत दिनों तक साम्राज्य के बाहर रहा। १६ वर्ष बाद राजा मानसिंह ने १५९२ में उसे जीतकर साम्राज्य में मिला लिया।

दोआब, पंजाब, राजपूताना, बंगाल, गुजरात और मध्य-भारत का स्वामी बन जाने पर अकबर ने उत्तर-पश्चिम की ओर ध्यान दिया। १५८५ में मिर्जा हकीम के मरने पर काबुल साम्राज्य में मिला लिया गया और १५८६ में यूसुफ-जाई वशीभूत किये गये। सीमा पर के उपद्रव, १५८६ में काश्मीर को जीतकर साम्राज्य में मिला लिये जाने पर शान्त हो गये। १५९१ में सिन्ध के और १५९४ में बिलोचिस्तान और मकरान के समुद्रतट के एवं १५९५ में कंधार के सूबे के साम्राज्य में मिला लिये जाने पर उत्तर-पश्चिम की विजय पूर्ण हो गई। अब अकबर को अब्दुल्ला उजबेग के आक्रमण का भय नहीं रह गया; और १५९८ में इस शक्ति-शाली उजबेग सरदार की मृत्यु से जो उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था और जिसकी सहायता से अपने धर्म के लिए पुनः राज्याश्रय प्राप्त करने के लिए उत्सुक कट्टर सुन्नी उसे उखाड़ फेंकने की आशा करते थे, बादशाह पूर्ण रूप से निर्द्वन्द्व हो गया। अब अकबर उत्तर में हिन्दूकुश तथा काश्मीर से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक और पूरब में बंगाल तथा उड़ीसा से लेकर पश्चिम में सिन्ध और बिलोचिस्तान तक के विस्तृत देश का अधिपति हो गया।

उत्तर-पश्चिम के खतरे से निश्चिन्त होकर अकबर ने दक्षिण की ओर नजर फेरी। अहमदनगर के निजामशाही राज्य पर आक्रमण किया गया, जो चाँद बीबी की मृत्यु हो जाने पर १६०० में साम्राज्य में मिला लिया गया। अन्त में १६०१ में असीरगढ़ के हस्तगत होने के साथ १५५८ में साम्राज्य का जो प्रसार आरम्भ हुआ था वह पूर्ण हुआ और यह साम्राज्य संसार में सबसे अधिक बड़ा, सबसे अधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक समृद्ध साम्राज्य हो गया।

अकबर के सुधार—अकबर स्वभाव से उदार विचारों का मनुष्य था और सामाजिक तथा धार्मिक विषयों में उसके विचार राजपूत राजकन्याओं के साथ विवाह होने और हिन्दू कार्यकर्त्ताओं, मित्रों और पंडितों एवं अबुलफजल और फैजी सरीखे उदार विचार के मुसलमानों के संसर्ग से बहुत प्रभावित हुए। उसने मुस्लिम राज्य के आदि से ही प्रचलित बहुत से कानूनों और सामाजिक कुरीतियों के दुष्परिणामों को दूर करने के लिए बहुत से कानून तथा नियम बनाये। उसने विजित शत्रुओं को गुलाम बनाने की कुप्रथा बंद कर दी और आज्ञा निकाली कि उसके सैनिक शत्रुओं की स्त्रियों या बच्चों को कष्ट न दें। आमेर की राजकुमारी के साथ विवाह करने के थोड़े ही दिनों बाद १५६३ में उसने हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा का जो कर लगाया था, उठा दिया जिससे राज्य की आमदनी में करोड़ों रुपयों की कमी आ गई। एक वर्ष बाद सन् १५६४ में सम्राट् ने जजिया कर जो गैरमुस्लिम प्रजा को देना पड़ता था और जिससे राज्य को बहुत बड़ी आमदनी होती थी, उठा दिया। इससे हिन्दू बड़े प्रसन्न हुए और राज्य से सहानुभूति रखने लगे। उसके इस कार्य का संकीर्ण विचार के कट्टर मुसलमानों ने तथा उसके कर्मचारियों ने बड़ा विरोध किया किन्तु उसने उस पर ध्यान न दिया। शासन-प्रबन्ध में बहुत सुधार हुआ, उसे उन्नत बनाने की एक योजना १५७३-७४ में तैयार की गई। टोडरमल की राय से बादशाह ने घोड़ों के दागे जाने का नियम जारी किया और जागीरदारी की हानिकारक प्रथा बंद कर दी। हाकिमों की जागीरें राज्य की सम्पत्ति हो गई और उनके बदले में उन्हें वेतन मिलने लगा। शाही टकसाल का बिलकुल नया प्रबंध हुआ जिससे सिक्के सुन्दर-शुद्ध धातु के और ठीक ठीक बराबर तौल के बनने लगे।

बादशाह ने सामाजिक सुधार की भी उपेक्षा नहीं की। वह सतीप्रथा को

बहुत बुरा समझता था और स्त्रियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जलाया जाना कानून द्वारा रोक दिया। एक बार उसने स्वयं एक राजपूत महिला के प्राण बचाये, जिसे उसके सम्बन्धी उसके मृत पति के साथ जबरदस्ती जला रहे थे। प्रत्येक नगर और जिले में निरीक्षक नियुक्त थे जिनका यह कर्त्तव्य था कि यह पता लगायें कि सती होनेवाली स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक सती होती है या बलात् सती की जाती हैं; और उनकी इच्छा न होने पर उन्हें जला दी जाने से बचायें। कोतवालों को यह हुक्म था कि वे किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध न जलाई जाने दें। वैवाहिक प्रश्न के संबंध में बादशाह के विचार बड़े उन्नत थे। वह सन्तानोत्पत्ति के योग्य अवस्था हो जाने के पहले विवाह होना ठीक नहीं मानता था। शिक्षा के सम्बन्ध में अकबर के विचार अन्य मुस्लिम शासकों की अपेक्षा अधिक अच्छे तथा उदार थे। वह संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करता था और हिन्दू विद्वानों को भी आश्रय देता था। अबुलफजल २१ प्रथम श्रेणी के विद्वानों का उल्लेख करता है जिनमें से नौ हिन्दू हैं। हिन्दू-चिकित्सकों का आइने अकबरी में उल्लेख हुआ है; और एक चन्द्रसेन जो दरबार का आश्रित था तबकाते अकबरी में एक बहुत अच्छा शल्य चिकित्सक (जर्राह) बतलाया गया है। बादशाह ने सिजदा करने की नई प्रथा विशेषकर दीनइलाही के सदस्यों में प्रचलित की, जिसे कट्टर मुसलमान आदमपरस्ती मानकर बुरा समझने लगे जिससे उसने इसे बंद कर दिया। इसके अतिरिक्त इस्लाम के धार्मिक तथा सामाजिक विधि निषेधों के संबंध में कई नियम प्रचलित किये गये जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

हिन्दुओं के साथ बर्ताव—पहला मुसलमान शासक जिसने शान्ति और प्रजा की सहानुभूति की नींव पर अपने राज्य की नींव रखी, शेरशाह था। वह हिन्दुओं और मुसलमानों में भेदभाव नहीं रखता था; परन्तु जजिया उसके समय में भी जारी था। अकबर ने जजिया भी उठा दिया और सुलहकुल का एलान कर दिया जिससे सब धर्मों के अनुयायियों को एक समान स्वतंत्रता और अधिकार मिल गये। इससे सम्राट् को गैरमुस्लिम प्रजा की सहानुभूति प्राप्त हो गई तथा उसके राज्य की जड़ मजबूत हो गई। वह अपनी हिन्दू रानियों के प्रभाव में आकर हिन्दुओं के पूजा के ढंग से विशेष सहानुभूति रखने लगा तथा प्रकट रूप से हिन्दू संतों और दार्शनिकों के उपदेश सुनने लगा।

हिन्दू राजकन्याओं के साथ विवाह से हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति विद्वेष तथा शत्रुता का भाव बहुत कम हो गया। हरम में दाखिल होनेवाली स्त्रियों में बादशाह उनकी धार्मिक भिन्नता के कारण कोई विभेद नहीं रखता था। आमेर की राजकुमारी की, जो युवराज सलीम की माता थी, बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसके पहले भी उत्तर भारत में और दक्षिण भारत में भी हिन्दुओं और मुसलमानों में विवाह हुए थे किन्तु उनका उद्देश्य दोनों जातियों में मेल उत्पन्न करना नहीं था। ये विवाह कन्याओं के संबंधियों या स्वयं उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती किये जाते थे जिसके फलस्वरूप दोनों जातियों में शत्रुता का भाव घटता नहीं था, किन्तु बढ़ जाता था। इस विषय में अकबर की नीति गयासुद्दीन तुगलक, फीरोज तुगलक, बहमनी सुल्तानों और विजयनगर के राजाओं की नीति के सर्वथा विपरीत थी। राजा भगवानदास और कुँवर मानसिंह को राज्य शासन में ऊँचे से ऊँचा पद मिला। वे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चढ़ाइयों के अध्यक्ष बनाकर भेजे जाते थे। राजा टोडरमल मुहकमे माल का सबसे बड़ा अफसर था। राजा वीरबल, राजा टोडरमल, राजा भगवानदास सम्राट् के घनिष्ठतम अन्तरंग मित्रों और सबसे अधिक विश्वासपात्र सेवकों में थे। इस उदार नीति का यह फल हुआ कि शासन-प्रबंध में बड़ी उन्नति हुई और गैरमुस्लिम प्रजा में हार्दिक राजभक्ति आ गई।

अकबर के आश्रय में हिन्दू प्रतिभा के विकसित तथा प्रकाशित होने का बहुत अच्छा अवसर मिला। केवल हिन्दू राजनीतिज्ञों और सेनापतियों ने ही साम्राज्य का गौरव बढ़ाने में योग नहीं दिया; किन्तु सम्राट् के आश्रित हिन्दू कवियों, विद्वानों, संगीतज्ञों और चित्रकारों ने भी उसके दरबार को अलंकृत किया। अकबर के शासनकाल में कला की सर्वांगीण उन्नति हुई और हिन्दी कविता अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गई। सूर और तुलसी दोनों सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवि इसी काल में हुए। स्वयं अकबर बादशाह और उसके दरबारी राजा वीरबल, राजा टोडरमल, राजा पृथ्वीराज और नरहरि बंदीजन हिन्दी भाषा के अच्छे कवि थे। अकबर हिन्दुस्तान का वास्तविक राष्ट्रीय शासक कहा जा सकता है।

शाहजादा सलीम का विद्रोह—अकबर दक्षिण की ओर जाते समय राजधानी को सलीम के सुपुर्द कर गया और उसे राजा मानसिंह और शाह कुली

खाँ के साथ मेवाड़ पर आक्रमण करने की आज्ञा दे गया। किन्तु सलीम ने अपने पिता की आज्ञा न मानी। वह सिंहासन पर अधिकार करने के लिए उतावला होकर अपने समय से पहले ही बादशाह बनने के लिए प्रयत्न करने लगा। जब उसकी इस बेजा हरकत के लिए बेगम मरियम मकानी ने डाँट बताई तो वह आगरा छोड़कर इलाहाबाद चला गया और वहाँ उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और साथियों तथा सहायकों को जागीरें तथा उपाधियाँ दीं। उसके विद्रोह की खबर पाकर अकबर दक्षिण से राजधानी में लौट आया और सलीम के नाम जो आगरे की ओर बढ़ रहा था, अपने आदमियों को अलग कर देने और खुद अपने पास उपस्थित होने या इलाहाबाद लौट जाने की आज्ञा भेजी। सलीम इलाहाबाद लौट गया और वहाँ स्वतन्त्र होकर रहने लगा। उसने पुर्तगालवालों से मंत्रणा आरम्भ की और उनसे सहायता माँगी।

बादशाह ने इस संकटापन्न स्थिति में दक्षिण से अबुलफजल को बुलाया। उसे सलीम ने वीरसिंह बुन्देला के हाथ से (सन् १६०२) मरवा डाला। इस खबर को सुनकर अकबर बड़ा शोकाकुल हुआ और व्यथित होकर उसने कहा कि 'अगर सलीम बादशाह होना चाहता था तो मेरी जान ले लेता और अबुलफजल को न मारता।'

बादशाह ने बुन्देला सरदार को दंड देने के लिए सेना भेजी, परन्तु उसने भागकर अपने प्राण बचा लिये। सुलतान सलीमा बेगम की सहायता से सलीम दंड पाने से बच गया और पिता पुत्र में मेल हो गया। अकबर ने अपनी स्वाभाविक उदारता से उसे क्षमा कर दिया और उसे फिर अपना युवराज बना लिया। किन्तु इस कृपा का सलीम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह इलाहाबाद लौटकर फिर पूर्ववत् स्वतन्त्र बनकर रहने लगा।

सलीम के विरुद्ध षड्यन्त्र—इन्हीं दिनों शाही दरबार में बादशाह के बाद सलीम को सिंहासन से वंचित करने के लिए एक षड्यन्त्र रचा गया, जिसमें राजा मानसिंह और अजीज कोका ने भाग लिया। वे व्यक्तिगत तथा राजनैतिक कारणों से सलीम के स्थान में उसके ज्येष्ठ पुत्र खुसरो को, जिसका विवाह अजीज कोका की पुत्री से हुआ था, अकबर का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। खुसरो ने जो इस षड्यंत्र में बड़ी दिलचस्पी लेता था, अपनी माता की इस प्रकार कुपथ-

गामी न बनने की राय पर ध्यान न दिया। शाहजादा दानियाल अप्रैल, १६०४ में अतिमद्यपान के प्रभाव से मर गया जिससे सलीम के मार्ग से उसका एक प्रतिद्वन्द्वी दूर हो गया। शाहजादा मुराद पहले ही मई, १५९९ में दक्षिण में मर चुका था। अन्त में अगस्त, १६०४ में अकबर स्वयं सलीम को दण्ड देकर उसे सुराह पर लाने के लिए चला, किन्तु वह अभी बहुत दूर नहीं बढ़ा था कि उसे अपनी माता के बीमार होने का समाचार मिला जिससे वह आगरे लौट गया। सलीम बादशाह को उसको स्वयं दंड देने के निश्चय और मानसिंह और अजीज कोका के षड्यन्त्र के समाचार से डरकर अपनी दादी की मत्यु पर शोक प्रकट करने के बहाने आगरे चला आया। हरम की महिलाओं के प्रयत्न से पिता पुत्र में फिर मेल हो गया। सलीम क्षमा कर दिया गया और उसे अपना पहला सम्मान प्राप्त हो गया; किन्तु सलीम और उसके पुत्र के बीच प्रतिद्वन्द्विता किसी प्रकार शान्त नहीं हुई। खुसरो कृतघ्नतापूर्वक अपने पिता का विरोध करता ही रहा। उसके अनुचित चरित्र से बादशाह को बड़ी वेदना हुई और वह बीमार होकर शय्यागत हो गया। कुछ ही दिनों में उसकी बीमारी बहुत बिगड़ गई और चिकित्सकों ने उसके अच्छे होने की निराशा प्रकट कर दी।

षडयन्त्र की असफलता—इस बीच में सलीम को राजगद्दी से वंचित करने का षड्यन्त्र बराबर चल रहा था। षड्यन्त्र के नेताओं ने उसे कैद कर लेना चाहा परन्तु वह उनके हाथ न आया। इस प्रयत्न में असफल होने पर उन्होंने साम्राज्य के सरदारों और अधिकारियों की एक बड़ी सभा की और प्रकट रूप से सलीम के बदले खुसरो को गद्दी पर बैठाने का प्रस्ताव किया। कई आदमियों ने इस प्रस्ताव को अन्यायसंगत और चगताइयों के नियम के विरुद्ध बतलाकर उसका विरोध किया। धीरे-धीरे सलीम का विरोध कम हो गया और उसके विरोधियों में से बहुत से उसके सहायक बन गये। स्वयं अजीज कोका ने उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया और राजा मानसिंह खुसरो को साथ लेकर बंगाल चला गया।

अकबर की मृत्यु—साम्राज्य के सरदारों और बड़े हाकिमों का समर्थन प्राप्त करके सलीम ने अपने शय्यागत पिता की सेवा में उपस्थित होने का साहस किया। सम्राट् की बीमारी बहुत बढ़ गई थी और यह स्पष्ट हो गया था कि

उसका अन्त-समय निकट है। वह बोल नहीं सकता था, किन्तु वह समझता था कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है। जब सलीम ने अपने अपराधों की क्षमा माँगी और भूमि पर पड़कर नम्रतापूर्वक प्रणाम किया तो बादशाह ने उसे राजसी वस्त्रों को धारण करने और अपने बिस्तर के पास पड़ी हुई हुमायूँ की तलवार को अपनी कटि में लटका लेने का संकेत किया। सलीम ने उसकी आज्ञा का पालन किया और उसकी इच्छानुसार कमरे के बाहर चला गया। इसके कुछ ही देर बाद परम प्रतापी बादशाह अकबर १७ अक्टूबर १६०५ को इस संसार से चल बसा। शव-संस्कार की बड़ी शानदार तैयारी की गई जिसमें साम्राज्य के सब उच्च अधिकारियों ने भाग लिया और स्वयं सलीम ने एक कर्त्तव्यशील पुत्र के समान कुछ दूर तक लाश को ले जाने में कंधा लगाया। बादशाह की लाश सिकन्दरे के एक मकबरे में दफनाई गई जिसे उसने अपने जीवन-काल में ही बनवाना आरंभ किया था और उसके पुत्र ने पूर्ण किया; और यह अब भी मुगल स्थापत्य के एक श्रेष्ठ निदर्शन के रूप में वर्तमान है।

अध्याय ६

पुनर्निर्माण काल--शासन-व्यवस्था

युग की विशेषताएँ--अकबर हिन्दुस्तान के मुसलमान शासकों में धार्मिक सहिष्णुता का सबसे अधिक उदार प्रतिपादक था। सोलहवीं शताब्दी धार्मिक क्षेत्र में जिज्ञासा तथा सन्देह का युग था और अकबर इसका सच्चा प्रतिनिधि था। उसके पहले कबीर आदि सुधारकों ने जात-पाँत तथा हिन्दू-मुसलमानों के भेद-भाव के विरुद्ध आवाज उठाई थी और ईश्वर की एकता पर जोर दिया था। दोनों जातियाँ कुछ सन्तों का समान रूप से आदर करती थीं; किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में उनके बीच सहानुभूति तथा एकता स्थापित करने में बहुत कम सफलता मिली थी। मुसलमान धर्म-निर्णायक अर्थात् उलमा अब भी गैरमुस्लिम प्रजा के साथ किसी प्रकार की रियायत करना अधर्म समझते थे। शासन में उलमा का मत पूर्ण रूप से मान्य था। वे मुसलमान शासकों तथा राजनीतिज्ञों के पथ-प्रदर्शक थे। अकबर ने, जो हिन्दुओं की सहानुभूति तथा मेल प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव करता था, उलमा के अधिकार से राज्य को मुक्त करने तथा हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल स्थापित करने का निश्चय किया और उसे कार्य-रूप में परिणत किया।

अकबर का धार्मिक उद्देश्य--इस राजनैतिक प्रेरणा के अतिरिक्त अकबर का हृदय धार्मिक तत्त्व को जानने के लिए व्याकुल रहता था। बदाऊनी कहता है कि वह प्राय: प्रात:काल एकान्त में एक शिलाखंड पर बैठकर जीवन की चिरन्तन समस्याओं पर मग्न होकर विचार किया करता था। उसे मनुष्य जाति के भेद-भाव से बड़ा दुःख होता था। सुन्नी, शिया, महदवी और सूफी परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को महत्त्व देते थे और झगड़ा किया करते थे। वह उनके झगड़ों का अन्त कर देने और साम्राज्य के सभी विरोधी मतों में मेल

स्थापित करने का स्वप्न देखता था। उलमा की धर्मान्धता से उसे घृणा हो गई जिससे इस्लाम में उसका विश्वास कम हो गया। उसकी धार्मिक जिज्ञासा बहुत प्रबल हो गई और वह आध्यात्मिक प्रश्नों पर अधिक विचार करने लगा तथा विभिन्न धर्मों और मतों के विद्वानों के विचार सुनने लगा और उसके फलस्वरूप उसने भारत में मुसलमानी शासन की परम्परागत नीति को बिलकुल बदल दिया।

महान् परिवर्त्तन—यहाँ यह दिखलाना ठीक होगा कि अकबर के धार्मिक विचारों का विकास किस प्रकार हुआ। पहला प्रभाव उसके माता-पिता का था। उसके पिता तथा पितामह कट्टर सुन्नी नहीं थे,और उसकी माता एक शिया महिला थी, जिसने उसके मन में लड़कपन में ही धार्मिक सहिष्णुता का मूल्य भली भाँति बैठा दिया था। फिर उसने राजपूत राजकुमारियों से विवाह करके उन्हें शाही हरम में दाखिल किया, उन्होंने भी उसके धार्मिक विचारों पर बड़ा प्रभाव डाला। फिर भी वह १५७५ तक अपने बाह्य जीवन में सुन्नी धार्मिक कृत्यों का पालन करता रहा, किन्तु शेख मुबारक और उसके विलक्षण पुत्र फैजी और अबुल फजल ने उस पर गहरा प्रभाव डाला जिससे उसका मन इस्लाम की ओर से उचट गया। ये दोनों भाई सूफी थे। वे विविध धर्मों को सत्य की खोज के प्रयत्न मानते थे और सभी धर्मों के मूल में समरूप से पाई जानेवाली बातों को महत्त्व देते थे, न कि उनकी विशिष्ट धार्मिक क्रियाओं को। वे विविध धर्मों के शाब्दिक झगड़ों के विरुद्ध थे और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विचारों की स्वतन्त्रता को आवश्यक मानते थे। सूफी मत दार्शनिक दृष्टि से अद्वैत वेदान्त से बहुत साम्य रखता है। इसके अनुसार विविध आत्माएँ परमात्मा से भिन्न जान पड़ती हैं और जीव विकारों के नष्ट हो जाने पर परमात्मा में लीन हो जाता है। अकबर का बचपन से ही उदार सूफी मत की ओर झुकाव था। शेख मुबारक और उसके पुत्रों के प्रभाव से सूफी मत के सिद्धान्तों ने उसके मन में घर कर लिया। इस कार्य में उस पर दिल्ली के शेख ताजुद्दीन का भी बहुत प्रभाव पड़ा।

फतहपुर के धार्मिक वाद-विवाद—काल की प्रगति के साथ अकबर में धार्मिक उदारता का यह भाव जोर पकड़ता गया। १५७५ में उसने फतहपुर-सीकरी में इबादतखाना नाम की एक नई इमारत के बनाये जाने की आज्ञा दी। इसमें विभिन्न धर्मों के माननेवाले धार्मिक शास्त्रार्थ के लिए इकट्ठे होने लगे। इसमें

हिन्दू, जन, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मों के विद्वान् तथा पंडित देश के सभी भागों से इकट्ठे होते थे और अपने वाद-विवादों तथा धार्मिक चर्चा से सम्राट् को उसे उलझन में डालनेवाले धार्मिक रहस्यों को सुलझाने म सहायता देते थे। जब्दुत्तवारीख का लेखक लिखता है कि बादशाह धार्मिक वाद-विवादों में भाग लेनेवाले मुल्लाओं, पंडितों आदि को सदा मानव-दुर्बलताओं से प्रभावित होकर सच्चाई को न छिपाने की चेतावनी देता था। वह उनके वाद-विवाद को बड़े ध्यान से सुनता था और उसका मन सदा सत्य के निर्णय पर लगा रहता था। इन वाद-विवादों में भाग लेनेवाले कट्टर इस्लाम के प्रतिनिधियों के पक्ष के नेता शेख मखदूमुल्मुल्क और शेख अब्दुन्नबी थे और उदार विचारों के पोषक दल के प्रतिनिधि शेख मुबारक, अबुल फजल, अबुल फैजी और राजा वीरबल थे। भिन्न-भिन्न दलों के प्रतिनिधि पारस्परिक वाद-विवाद में झगड़ा करने लगते थे, यहाँ तक कि एक दूसरे के प्रति अपशब्द उच्चारण करने लगते थे। कट्टर दल के प्रतिनिधि जब उदार दल के प्रतिनिधियों के साथ वाद-विवाद करते थे तो उनके आक्रमण अधिक उग्र हो जाते थे; वे प्रायः शिष्टता के नियमों का सर्वथा उल्लंघन कर जाते थे। इन वाद-विवादों में बादशाह बराबर उपस्थित रहता था।

गैरमुस्लिम प्रभाव—कट्टर मुस्लिम पक्ष के मुल्ला लोग अकबर के प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते थे। इसलिए उसे विश्वास हो गया कि उनके सिद्धान्त निःसार थे, और इसके फलस्वरूप वह सच्चे धर्म की खोज में अन्य धर्मों की ओर झुका। वह विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाता था जिनमें पुरुषोत्तम और देवी मुख्य थे। देवी ने बादशाह को पुनर्जन्म का सिद्धान्त समझाया जिसकी सत्यता में उसे विश्वास हो गया। हिन्दू धर्म के समान ही जैन धर्म, ईसाई धर्म और सिक्ख मत में भी बादशाह की रुचि थी और वह उनके उपदेशकों का स्वागत करता था।

जिन जैन उपदेशकों का अकबर के धार्मिक विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ना बतलाया जाता है वे हीर विजय सूरि, विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय और जिनचन्द्र थे। सन् १५७८ से एक या दो जैन उपदेशक सदा शाही दरबार में रहते थे। उक्त जैन शिक्षकों में से पहले से बादशाह ने फतहपुर में जैनमत के

सिद्धान्तों की शिक्षा ली। १५८२ में उसने हीरविजय सूरि को दरबार में निमन्त्रित किया और उनकी शिक्षा से प्रभावित होकर कैदियों और पिंजरे के पक्षियों को मुक्त कर दिया और खास-खास दिन पशुओं का वध निषिद्ध कर दिया। ग्यारह वर्ष बाद एक दूसरे जैन उपदेशक सिद्धचन्द्र ने अकबर से लाहौर में भेंट की और यथोचित रीति से सम्मानित हुआ। उसने जैन धर्मावलम्बियों के लिए कई एक रिआयतें प्राप्त कीं। शत्रुञ्जय पहाड़ी की तीर्थ-यात्रा का कर हटा दिया और जैनियों के पवित्र स्थानों पर उनका अधिकार हो गया। अकबर का मांस-भक्षण त्याग जैन उपदेशकों की शिक्षा के प्रभाव का ही फल था।

पारसी भी शाही दरबार में उपस्थित रहते थे और वाद-विवादों में भाग लेते थे। अकबर उनकी धार्मिक शिक्षा से बहुत प्रभावित हुआ और उनके नियमानुसार अबुल फजल को दरबार में बराबर पवित्र अग्नि जलाये रखने का प्रबन्ध करने का हुक्म दिया। पारसी धर्मशास्त्री दस्तूर मेहरजी ने, जो गुजरात के नवसारी नामक स्थान का निवासी था, बादशाह को पारसी धर्म की शिक्षा दी। दरबार में उसका बड़ा स्वागत हुआ और उसे बादशाह ने २०० बीघे जमीन दी। बादशाह ने सूर्य का पूजन करना आरम्भ किया और ऐसा करने में उसे अपने मित्र राजा बीरबल द्वारा बड़ा प्रोत्साहन मिला।

बादशाह ईसाई धर्म में भी बड़ी रुचि रखता था। उसने इस धर्म की शिक्षा के लिए गोआ से ईसाई पादरियों को बुलाया। ये पादरी व्यवहार-कुशल नहीं थे। उन्होंने पैगम्बर मुहम्मद और कुरान शरीफ के प्रति अपशब्दों का प्रयोग किया। इसी के फलस्वरूप पादरी रोडोल्फ के प्राण संकट में पड़ गये थे और बादशाह को उसकी रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा। ये पादरी भी फतहपुर के वाद-विवादों में भाग लेते थे। उनकी शिक्षा का भी अकबर के धार्मिक विचारों पर प्रभाव पड़ा था।

बादशाह सिक्ख गुरुओं का भी बड़ा सम्मान करता था। एक बार उसने सिक्ख गुरु के इच्छानुसार पंजाब की रियाया की भलाई के लिए एक साल का लगान मुआफ कर दिया था। वह ग्रन्थ साहेब की बड़ी प्रशंसा तथा प्रतिष्ठा करता था।

शाही खुतबा--उपर्युक्त कारणों से कट्टर इस्लाम धर्म में बादशाह का

विश्वास कम हो गया। उसने उलमा की बढ़ी हुई शक्ति को आपत्तिजनक समझा और उन्हें संदिग्ध प्रश्नों का प्रधान निर्णायक न रहने देने का निर्णय किया। उसने प्रधान राज्यशक्ति के साथ ही राज्य के प्रधान धर्माधिकारी (मुजतहिद) का पद भी स्वयं ग्रहण करने का निश्चय किया। उसने मिम्बर पर से स्वयं खुतबा पढ़ने का इरादा किया, जिसे इस अवसर के लिए फैजी ने तैयार किया था। बदाऊनी कहता है कि जब बादशाह ने खुतबा पढ़ना आरम्भ किया तो वह काँपने लगा और वह इमाम का यह कार्य शाही खातिब को देकर बैठ गया। किन्तु अबुल फजल उसके इस कथन का समर्थन नहीं करता; वह कहता है कि राजधानी की प्रधान मस्जिद में अनेकों बार बादशाह ने खुतबा पढ़ा और श्रोताओं ने उसके उपदेश को सुना। इस बात से कट्टर मुसलमानों में बड़ी सनसनी फैली; किन्तु बादशाह अपने इरादे से नहीं डिगा। कट्टर मुसलमानों ने शाही खुतबे में आये हुए 'अल्लाहो अकबर' शब्द का बादशाह द्वारा उसके निर्मूल बताये जाने पर भी 'अकबर अल्लाह है' यह अर्थ लगाया।

बादशाह का इमाम-आदिल का पद ग्रहण करना—इस शाही खुतबे से भी अधिक आपत्तिजनक बादशाह का शेख मुबारक की राय से मुजतहिद का पद ग्रहण करना था। इससे बादशाह राज्य-शासन के साथ ही धार्मिक विषयों में भी सबसे बड़ा अधिकारी हो गया। १५७९ ई० में प्रमुख उलमा बादशाह को इमाम-आदिल (मुजतहिद) घोषित करने के लिए सहमत हो गये। शेख मुबारक ने चटपट एक मजमून तैयार किया जिस पर सबने दस्तखत कर दिये। इस घोषणा-पत्र में उन्होंने स्वीकार किया कि किसी धार्मिक प्रश्न पर मुजतहिदों में मतभेद होने पर बादशाह को यह अधिकार था कि उनके विभिन्न मतों में से वे जिसे उचित समझें उसे देश के कल्याण के लिए ग्रहण कर लें, जिसका पालन करने के लिए सब लोग बाध्य हों। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि यदि बादशाह कोई नया निर्णय देना उचित समझेंगे तो सब लोग उसे भी मानने के लिए बाध्य होंगे बशर्ते कि वह कुरान की किसी आयत के अनुसार हो, और उसमे देश की वास्तविक भलाई होती हो।

इस घोषणा-पत्र से कट्टर मुसलमानों में बड़ी खलबली मची और वे बादशाह पर सब प्रकार के दोषारोपण करने लगे। डा० विन्सेण्ट स्मिथ बदाऊनी और

दरबार में आये हुए पादरियों का अनुसरण करते हुए कहता है कि इस समय से दो एक वर्ष के अन्दर अकबर ने पूर्ण रूप से इस्लाम धर्म को छोड़ दिया और धर्म के सम्बन्ध में सोच-समझकर एक पाखंड-पूर्ण नीति ग्रहण की। कट्टर मुसलमानों ने अकबर के धार्मिक भाव को नहीं समझा और उसकी धार्मिक जिज्ञासा को इस्लाम का परित्याग समझा। अबुल फजल ने अकबरनामा में अकबर की धार्मिक नीति से कट्टर मुसलमानों की असन्तुष्टि का वास्तविक कारण बतलाया है। वह कहता है कि "कुछ दुष्ट लोग बादशाह को हिन्दू धर्म का अनुयायी बतलाते हैं। उनके अनुचित विचार का आधार उदार धार्मिक विचारवाले बादशाह का हिन्दू संतों का आदर और देश की भलाई तथा सुशासन के लिए हिन्दुओं के दर्जे का बढ़ाया जाना है। इस बात के जोरदार होने में तीन बातों से सहायता मिली है। प्रथम—दरबार में विभिन्न धर्मों के धार्मिक पुरुषों का इकट्ठा होना और चूँकि प्रत्येक धर्म में कुछ अच्छी बातें हैं इसलिए हर एक का कुछ प्रशंसा प्राप्त करना; द्वितीय—सार्वजनिक धार्मिक स्वतंत्रता (सुलह-कुल) की नीति; तृतीय—नीचों का दुष्ट स्वभाव।"

असल बात यह है कि बादशाह उलमा की संकीर्णता से ऊब गया था और विभिन्न मतों के मेल से एक ऐसा मत स्थापित करना चाहता था जो सबको स्वीकृत हो सके। वह एक नबी (ईश्वर-दूत) बनना नहीं चाहता था। राजाओं के ईश्वरीय अधिकार में ईश्वरीय दूत होने का दावा समझना भूल है। १६वीं शताब्दी के सभी शासकों के समान वह भी राजाओं के शासन के अधिकार को ईश्वरप्रदत्त मानता था और उस समय के हिन्दुओं और मुसलमानों का भी ऐसा ही विश्वास था। उसका वास्तविक उद्देश्य अपने साम्राज्य की सब प्रजा में धार्मिक मेल स्थापित करना था। इसकी पूर्त्ति उसने दीनइलाही की स्थापना द्वारा करनी चाही।

दीनइलाही—यह नया धर्म सन् १५८१ में स्थापित हुआ। यह एक उदार धर्म था जिसमें सभी धर्मों की अच्छी बातें शामिल थीं। यह रहस्यवाद, अध्यात्म-विद्या और प्रकृति-पूजा का सम्मिश्रण था। इसकी प्रधान विशेषता बुद्धिग्राह्यता थी। इसमें किसी सिद्धान्त पर बिना सोचे-समझे आँख मूँदकर विश्वास करने को नहीं कहा जाता था। इस धर्म में कोई देवता या नबी न थे। और इसका

प्रधान व्याख्याता बादशाह था। इस धर्म को बदाऊनी का तौहीदे इलाही अर्थात् एकेश्वरवादी बतलाना ठीक नहीं है। इसके सब सिद्धान्तों तथा आचारों से प्रकट होता है कि यह एक ब्रह्मवादी भावना पर संगठित हुआ था। बादशाह पर सूफीमत के गहरे प्रभाव, हिन्दू धर्म में उसके प्रेम और उसकी धार्मिक तथा दार्शनिक जिज्ञासा का यह फल हुआ था कि वह सब धर्मों को एक ही लक्ष्य पर पहुँचाने के विभिन्न मार्ग मानता था।

दीनइलाही की विधियाँ—अबुल फजल ने आईने अकबरी में दीन इलाही का विवरण दिया है और वह उन विधियों का उल्लेख करता है जिनका इसके अनुयायियों को पालन करना पड़ता था। जब वे एक दूसरे से मिलते थे तो 'अल्लाहो अकबर' और 'जल्लेजल्लालहू' इन शब्दों का उच्चारण करते थे। आदमी के मरने के बाद आमतौर पर दिये जानेवाले भोज के स्थान में वे अपने जीवन-काल में ही एक भोज देते थे। उन्हें मांस-भक्षण त्याग देना पड़ता था, गो कि दूसरों के मांस-भोजन में उन्हें कोई एतराज नहीं था; अपने जन्म के महीने में वे मांस के समीप भी नहीं जा सकते थे। वे कसाइयों, धीमरों, चिड़ीमारों वगैरह के साथ भोजन नहीं कर सकते थे। हर एक अनुयायी को अपने सालगिरह के दिन एक भोज देना पड़ता था। उस दिन वह दान देता था और अपनी महायात्रा के लिए तैयारी करता था। सम्राट् के प्रति भक्ति के चार दर्जे थे। बदाऊनी जो एक विद्वेषी कट्टर मुसलमान था, उनके विषय में लिखता है कि "इन चार दर्जों में शिष्यों का बादशाह के प्रति अपने धन, जीवन, मान और धर्म का परित्याग करना था। जो इन चारों का परित्याग करता था, चारों दर्जों का अधिकारी होता था; और जो इनमें से एक का परित्याग करता था, एक का अधिकारी होता था।"

अकबर धर्मप्रचारक नहीं था—बादशाह ने इस धर्म की स्थापना नये आदमियों को भर्ती करने में तत्पर धर्मप्रचारक के रूप में नहीं की। उसका उद्देश्य एक नबी या धर्माचार्य बनने का नहीं, किन्तु परस्पर विद्वेषी विभिन्न धर्मों में मेल स्थापित करने का था। वह अपने बहुसंख्यक दरबारियों तथा अफसरों को कभी इस धर्म का अनुयायी बनने के लिए विवश नहीं करता था। इसके विपरीत वह विचार-स्वातन्त्र्य के महत्त्व पर बहुत जोर देता था और चाहता था कि सब लोग

मूढ़-विश्वास और बिना सोचे-समझे आँख मूँदकर धार्मिक सिद्धान्तों के विश्वास के पाश से मुक्त हों। यदि बदाऊनी का कथन माना जाय तो राजा भगवानदास और कुँवर मानसिंह ने इस धर्म में दाखिल होने का अनुरोध किये जाने पर साफ इनकार कर दिया। आईन अकबरी में दीनइलाही के १८ अनुयायियों के नाम दिये हुए हैं, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध अबुल फजल, फैजी, शेख मुबारक, थट्टा का मिर्जा जानी और अजीज कोका हैं। इसमें सम्मिलित होनेवाला एकमात्र हिन्दू राजा बीरबल था, जो अपने उदार विचारों के कारण बादशाह को बड़ा प्रिय हो गया था।

बादशाह के इस्लाम-विरोधी कार्य—दीनइलाही के प्रचलित होने के बाद इस्लाम के विरुद्ध कई एक कानून बने, जिनका बदाऊनी जो संकीर्ण विचारों का एक कट्टर मुसलमान था, एक विस्तृत विवरण देता है। बादशाह पर इस्लाम को नष्ट करने के कट्टर मुसलमानों के अभियोग को समझने के लिए इनमें से कुछ का दिया जाना जरूरी है :—

बादशाह को सिजदा किया जाने लगा।

१२ बरस की उम्र के पहले खतना मना कर दिया गया और उसके बाद लड़कों की राय पर छोड़ दिया गया।

गोमांस-भक्षण का निषेध हो गया, और यह 'बदजात हिन्दुओं' की संगति के कारण था। अपनी हिन्दू रानियों के प्रभाव के कारण बादशाह प्याज और लहसुन के सेवन के विरुद्ध हो गया जिससे उसने इनका भी निषेध कर दिया। दाढ़ी रखने की चाल अच्छी न समझी जाने लगी।

सोने-चाँदी के काम के कपड़े जिनका इस्तेमाल शरियत में मना है, आवश्यक कर दिया गया।

जंगली सूअर और शेर का मांस खाने का निषेध नहीं था और बादशाह ने हरम में और किले में सूअर और कुत्ते रखे जाने का हुक्म दिया था और वह रोज सबेरे उन्हें देखने जाना एक धार्मिक कार्य समझता था।

नमाज और अजान बहिष्कृत कर दिये गये और मुस्लिम नाम जैसे अहमद, मुहम्मद और मुस्तफा बादशाह को ऐसे नागवार मालूम होने लगे कि वह उसे बदलवाकर दूसरे नाम रखवा देता था। रमजान का व्रत और हज करना रोक

दिया गया। अरबी का अध्ययन गुनाह समझा जाने लगा, और कुरान और हदीस का बहिष्कार कर दिया गया। इनका स्थान गणित, ज्योतिष, काव्य, वैद्यक शास्त्र, इतिहास आदि ने ले लिया, जिनका बड़े परिश्रम से अध्ययन होने लगा।

१६ वर्ष के पहले लड़कों की और १४ वर्ष के पहले लड़कियों की शादी नहीं हो सकती थी, क्योंकि ऐसे विवाहों की सन्तान कमजोर और मरीज होती थी।

मस्जिदें और इबादतखाने गुदाम बना डाले गये।

जैसा पाठकगण समझ सकेंगे, इनमें से कुछ आज्ञाएँ सर्वथा अविश्वसनीय हैं। क्या यह बात विश्वास करने योग्य है कि अकबर के समान धार्मिक स्वतन्त्रता देनेवाला तथा विशाल हृदय बादशाह जो सब धर्म्मों का सम्मान करता था, सूअरों और कुत्तों को देखने जाना एक धार्मिक कार्य समझता हो?

बदाऊनी के आक्षेपों का अधिकांश अविश्वसनीय है। वह एक संकीर्ण हृदय का धर्मान्ध मुसलमान था जिसकी पुस्तक से हिन्दुओं के प्रति उसका दुर्भाव पग-पग पर झलकता है और जो उन्हें किसी ऊँचे पद पर नहीं देख सकता था। उसके उक्त विवरण का समर्थन केवल दरबार में आये हुए ईसाई पादरियों के विवरणों से होता है जो उसके विवरण से भी अधिक अविश्वसनीय हैं। उन्होंने बादशाह के विरुद्ध धर्मान्ध मुसलमानों से सुनी-सुनाई किंवदन्तियों पर बिना उनकी जाँच किये ही विश्वास करके उन्हें लिख दिया है। बदाऊनी के भी अधिकांश कथनों का आधार सुनी-सुनाई बातें ही है। धार्मिक मामलों में बादशाह से विद्वेष रखने के कारण उसने उसके विरुद्ध किये गये आक्षेपों पर चटपट विश्वास कर लिया है और उनकी सत्यता की जाँच करने की कोशिश नहीं की है। डाक्टर विन्सेन्ट स्मिथ ने ईसाई पादरियों और बदाऊनी के इन कथनों के आधार पर ही विश्वास करके लिखा है कि अकबर ने इस्लाम का सर्वथा परित्याग कर दिया था।

दीनइलाही का महत्त्व—यह विचारना व्यर्थ है कि अकबर ने इस्लाम का परित्याग किया या नहीं। दीनइलाही के रूप में उसने एक संस्था स्थापित की जिसमें सब मननशील स्वतन्त्र विचारवाले विद्वान् सम्मिलित हो सकें, जो मतमतान्तरों के घेरों को पार कर चुके हों तथा शताब्दियों से प्रचलित रिवाजों के पाश से मुक्त हो चुके हों या इस संस्था के विशेष नियमों आदि पर जिनमें त्रुटियाँ अवश्य होंगी, हमें ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। इतिहास

के विद्यार्थियों को तो बादशाह के महान् उद्देश्य और उसकी पूर्त्ति के लिए किये गये उद्योग पर ही ध्यान देना चाहिए। सम्प्रदाय के रूप में दीनइलाही की सफलता या विफलता बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजनैतिक दृष्टि से यह पूर्ण रूप से सफल हुआ। डा० विन्सेन्ट स्मिथ इसे अकबर की अहंमन्यता तथा मूर्खता का फल बतलाते हैं, किन्तु हम इस विचार से सहमत नहीं हो सकते। ऐसा कहना अकबर की उच्च अभिलाषा तथा महान् उद्देश्य के प्रति आँखें मूंद लेना होगा। इस सम्बन्ध में हम अकबर के विषय में लिखनेवाले प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक फान नोअर के विचार से सहमत हैं। वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक के अन्त में लिखता है, कि बदाऊनी बादशाह को दोषी ठहराने के लिए यह सिद्ध करने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता कि वह अपने आपको ईश्वर या नबी के रूप में स्वीकार कराना चाहता था। किन्तु उसे दीनइलाही से कभी घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था, उसने जनता में फैली हुई गलतफहमियों को अपने ग्रन्थ में प्रकट किया है। अकबर के जीवन की बहुसंख्यक घटनाएँ यह सिद्ध करती है कि वह सबसे अधिक नम्र मनुष्यों में से था। अपने आपको ईश्वर मनवाने की बात उसके स्वभाव के प्रतिकूल थी। दूसरे ही लोग इस मनुष्य को ईश्वर मानते थे, जो एक ऐसी संस्था का स्थापक और प्रधान था, जो एक साथ ही राजनैतिक धार्मिक और दार्शनिक थी।

अकबर का व्यक्तित्व—अकबर भारतवर्ष के ही नही किन्तु सारे संसार के इतिहास में एक परम प्रसिद्ध शासक है। उसके महान् गुण आईने अकबरी और अकबरनामा के पृष्ठों से बहुत अच्छी तरह प्रकट होते हैं। उसके विद्वेषी बदाऊनी के ग्रन्थ में भी उसकी महानता छिप नहीं सकी है। अबुल फजल के दिये हुए बादशाह के चरित्र के विवरण की अधिकांश बातों का पादरी मानसिरेट द्वारा भी समर्थन होता है जो स्वयं बादशाह से अच्छी तरह परिचित था। जहाँगीर "तुजुके जहाँगीरी" में अपने पिता के विषय में लिखता है कि वह मामूली कद से जरा सा लम्बा था। उसका रंग गेहुँआ था, उसकी आँखें और भौंहें काली थीं उसके चेहरे का रंग गोरे की अपेक्षा साँवला ही अधिक था; और उसकी छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी थीं। उसकी नाक की बाईं ओर आधे मटर के बराबर एक मसा था जो बड़ा भला लगता था। उसकी आवाज बड़ी बुलंद और गंभीर थी।

अकबर देखने में ऐसा शानदार और रोबीला था कि कोई आदमी उसे

देखते ही जान सकता था कि यह बादशाह है। उसका मुखमंडल बड़ा तेजस्वी था। उसका ललाट चौड़ा था और आँखें चमकीली थीं। उसकी नाक सीधी और छोटी थी और नथुने फैले हुए थे। वह केवल मूँछें रखता था, दाढ़ी बिलकुल मुड़वा देता था। न वह बहुत मोटा था, न बहुत पतला। उसका शरीर निरोग और सुदृढ़ था। वह बड़ा प्रसन्न-चित्त था, सब प्रकार के हास्य-विनोद में भाग लिया करता था; किन्तु साथ ही उसका क्रोध बड़ा भयानक था। वह बड़े सरदारों और साधारण मनुष्यों से एक समान आसानी से मिलता था और सबसे मीठा वचन बोलता था। वह बड़ा ही कुशाग्रबुद्धि और दूरदर्शी था। राज्य की कठिन से कठिन समस्याओं को सुगमता से समझ जाता था। किसी दार्शनिक या राजनैतिक प्रश्न के सुलझाने में उसे दिक्कत नहीं पड़ती थी। वह धार्मिक शास्त्रार्थों का, दूरवर्ती प्रदेशों में सैनिक चढ़ाइयों का तथा शासन-प्रबन्ध के किसी विभाग में सुधारों का एक समान सुगमता से प्रबन्ध कर सकता था और राज्य के बड़े से बड़े कर्मचारियों के लिए उसकी तजवीजें मूल्य-वान् होती थीं।

वस्त्राभूषणों में वह मुगल बादशाहों के तरीके का ही अनुसरण करता था। वह सुन्दर सोने का काम किये हुए रेशमी वस्त्र पहनता था। उसे जवाहि-रात का बड़ा शौक था और विशेष अवसरों पर वह बहुत से रत्न धारण करता था। वह सिर पर मोतियों और रत्नों से सजी हुई एक पगड़ी धारण करता था। वह अपने पास सदा हथियार रखता था और सदा सशस्त्र शरीर-रक्षकों से घिरा रहता था।

वह प्रतिदिन केवल एक बार भोजन करता था, और पूर्ण रूप से तृप्त होने के पहले ही भोजन करना समाप्त कर देता था। उसके भोजन का कोई समय निश्चित नहीं था। वह जब चाहता था, तभी भोजन हाजिर किया जाता था। उसने हिन्दू रानियों और मित्रों का दिल न दुखाने के लिए गोमांस, लहसुन और प्याज छोड़ दिया था। उसे मांस भोजन में रुचि नहीं थी और अंतिम वर्षों में उसने इसका सर्वथा परित्याग कर दिया था। वह मांस भोजन को नापसन्द करता था। इस विषय में वह कहता है "शुरू से ही मैं जब कभी अपने लिए गोश्त पकवाता था, मुझे उसमें स्वाद नहीं मिलता था और उसे खाने की बहुत कम

इच्छा होती थी। मैंने पशुओं की रक्षा का विचार किया और उनका *मांस खाना छोड़ दिया। कसाइयों, मछुवों आदि के--जिनकी जीविका दूसरों का प्राण* लेना ही है--रहने का स्थान अलग होना चाहिए और दूसरे मनुष्यों से उनका रब्त-जब्त अर्थ दंड द्वारा रोकना चाहिए। इसका कारण अज्ञान और निर्दयता ही है कि अन्य प्रकार के भोजनों के मिलते हुए भी लोग जानवरों को दुख देने और उन्हें मारकर खाने में तत्पर रहते हैं। लोग अहिंसा के सौन्दर्य पर ध्यान नहीं देते और अपने आपको पशुओं की कब्र बनाते हैं।" जब वह युवक था तो बहुत मदिरा पीता था, लेकिन बाद में शायद ही कभी मद्यपान करता था।

उसका स्वभाव बड़ा स्नेहमय था। वह इस बात पर दुख प्रकट करता था कि उसके पिता का इतना पहले देहान्त हो गया कि वह उसकी सेवा न कर सका। वह अपनी माता और दूसरे सम्बन्धियों का बड़ा सम्मान करता था और उनके आराम पर बहुत ध्यान देता था। उसने अपने भाई हकीम के साथ उसके विद्रोह करने पर भी बड़ी कृपा दिखलाई। अपने धर्म-भाई अजीज कोका पर भी वह बड़ी कृपा रखता था। उसने बड़े-बड़े सैनिक पद उसे दिये थे। वह छोटे बच्चों को बहुत प्यार करता था और कहा करता था कि उनका प्रेम मन को दयालु ईश्वर की ओर झुकाता है। उसे अहंकार और दंभ से घृणा थी। वह सबसे नम्रता-पूर्वक व्यवहार करता था।

बादशाह का समय बड़ी सावधानी से विभाजित था। जिससे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं होता था। वह सिर्फ चंद घंटों के लिए रात में सोता था और अपना अधिकांश समय दार्शनिक शास्त्रार्थों और इतिहासज्ञों से पूर्वकाल की घटनाओं का विवरण सुनने में बिताता था। सूर्योदय होने पर कृषक, सैनिक, दूकानदार, व्यापारी आदि सब पेशों की प्रजा राज-प्रासाद की दीवार के निकट इकट्ठी होती थी और वहाँ से बादशाह को कोर्निश (ताजीम) कर सकती थी। दिन में वह राज-काज सँभालने में व्यस्त रहता था और स्वयं शासन-प्रबन्ध की सब बातों की देख-भाल करता था और उन्हें अपनी प्रतिभा से सुव्यवस्थित तथा परिष्कृत करता था।

निरक्षर होते हुए भी बादशाह की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी बलवती थी जिससे वह सब प्रकार का उपयोगी ज्ञान अपने ज्ञान-भंडार में संग्रह करता रहता था। उसे दर्शन-शास्त्र, धर्म-शास्त्र इतिहास और

राजनीति की अच्छी जानकारी थी, और वह गंभीर से गंभीर विषय पर अपनी सम्मति दे सकता था।

इसके पहले भारतवर्ष के किसी मुसलमान शासक के दरबार में इतने विद्वान्, कवि और दार्शनिक नहीं रहते थे। उसके महल में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था जिसमें सभी विषयों की पुस्तकें संगृहीत थीं। वह इन पुस्तकों को विद्वानों से आद्योपान्त पढ़वाकर सुनता था। वह स्वयं अपनी कलम से प्रतिदिन जहाँ तक पुस्तकें पढ़ी जाती थीं, निशान बना देता था और पढ़नेवालों को पढ़े हुए पृष्ठों के हिसाब से पारिश्रमिक देता था। इस प्रकार उसने एशिया के साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसने सूफी कवियों का भी बहुत अच्छा अध्ययन किया था। उसे कलाओं में बड़ी रुचि थी, वह सुलेखन कला का शौकीन था, और उसने कुशल सुलेखकों को बहुत बड़ी संख्या में नौकर रखा था। उसे संगीत-कला से बड़ा अनुराग था, उसके दरबार में बहुत से कलावंत थे जिनका शिरमौर तानसेन था। बादशाह स्वयं बहुत अच्छा नगाड़ा बजाता था। वह वास्तुकला का बड़ा अच्छा पारखी था। उसके शासन-काल की उसकी बनवाई हुई इमारतें इस विषय में उसकी सुरुचि का परिचय देती हैं। बादशाह कुछ कल-पुर्जे का काम भी जानता था। उसने स्वयं कुछ नये ढंग की बंदूकें ईजाद कीं। यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि निरक्षर होते हुए भी अकबर ने इतना ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया था।

उसमें विस्मयकारी शारीरिक शक्ति थी। उसे शिकार का बड़ा शौक था। उसे भयंकर जंगली जानवरों के शिकार में बड़ा आनन्द आता था। भयंकर से भयंकर सिंह, चीते या हाथी के शिकार से जरा भी नहीं डरता था। और कितना ही थकने पर वह शिकार का पीछा नहीं छोड़ता था वह भय का नाम ही नहीं जानता था, और घनघोर युद्ध में भूखे शेर की तरह शत्रुओं पर आक्रमण करता था। उसे हाथियों का युद्ध देखने में बड़ा आनन्द आता था। वह कभी कभी बरसात में गंगा नदी में घोड़ा डाल देता था, और उसे पार करके दूसरे किनारे पर चला जाता था।

अकबर शासक के कर्त्तव्यों का बड़ा ऊँचा आदर्श रखता था। वह सदा ईश्वर की सेवा तथा सत्य की खोज में संलग्न रहते हुए प्रजा की भलाई में तत्पर रहता

था। वह कहता था कि बादशाह को ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता न्यायपूर्ण शासन तथा गुणियों के सम्मान द्वारा प्रकट करना चाहिए और प्रजा को उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए और उसकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। वह कहता था कि असत्यता सभी मनुष्यों के लिए अनुचित है लेकिन एक शासक के लिए और अधिक अनुचित है।

अकबर की कीर्ति का सबसे बड़ा कारण उसकी धार्मिक सहिष्णुता या समता की नीति है। अन्य धर्मों के अवलम्बियों पर जो प्रतिबन्ध थे उन्हें उसने दूर कर दिया। वह किसी के धार्मिक मतभेद के कारण उस पर अप्रसन्न नहीं होता था। वह शिया फतहउल्ला शीराजी के दरबार में अपने नियमों के अनुसार नमाज पढ़ने में कोई एतराज नहीं करता था। शिवरात्रि के दिन हिन्दू साधुओं को निमन्त्रित करता था और उनके साथ खाता-पीता था। वह गैरमुस्लिमों को पूजा आदि में पूरी स्वतन्त्रता देता था। वह किसी को जबरदस्ती मुसलमान बनाने के विरुद्ध था। यदि कोई हिन्दू बचपन में जबरदस्ती मुसलमान बना लिया गया था और बड़े होने पर फिर हिन्दू धर्म में चला जाना चाहता तो वह इसमें कोई बाधा नहीं डालता था। उसने अन्य धर्मावलम्बियों के मन्दिरों, मूर्तियों आदि का नष्ट किया जाना अथवा उनके बनाये जाने में बाधा डालना कानून द्वारा रोक दिया था। उसके विचार बड़े उदार थे। वह सभी धर्मों में विद्वानों से मिलता था और उनके धर्मों के गूढ़ तत्त्वों का भाव पूर्ण रूप से समझता था। वह हृदय से धर्मिष्ठ तथा ईश्वर में भक्ति रखनेवाला था। अबुल फजल लिखता है कि वह अपने जीवन का प्रत्येक क्षण आत्मान्वेक्षण तथा ईश्वर की उपासना में व्यतीत करता था। डाक्टर विन्सेन्ट स्मिथ अकबर के, अपनी विभिन्न वर्गों तथा मतों की प्रजाओं में ऐक्य स्थापित करने के हेतु एक धार्मिक समुदाय संगठित करने के प्रयत्न के यथार्थ महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। जिस समय योरप के देशों की प्रजा शासक द्वारा निर्धारित धर्म को मानने के लिए बाध्य की जाती थी, अकबर ने अपने मुस्लिम समाज की धार्मिक संकीर्णता की अवहेलना करके सुलहकुल अर्थात् सभी धर्मावलम्बियों के लिए पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। सभी बातों पर ध्यान रखते हुए हम कह सकते हैं कि अकबर संसार के बड़े से बड़े नरपतियों में स्थान पाने का अधिकारी है। उसके इस उच्च आसन के आधार हैं उसका चमत्कारी

बुद्धि-बल, उसका दृढ़ चरित्र-बल और उसकी सफल राजनीति-पटुता, जिनके बल से उसने एक छोटे तथा शक्तिहीन राज्य को अपने समय का संसार का सबसे बड़ा, सबसे अधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक समृद्धिशाली साम्राज्य बना दिया।

मुगल शासन का स्वरूप—मुगल शासन-प्रणाली में कोई मौलिकता नहीं थी। समूचे मुस्लिम जगत् में इराक के अब्बासिद खलीफों का या मिस्र के फातिमी खलीफों के नियमों का अनुसरण किया जाता था। किन्तु जब तुर्क हिन्दुस्तान में आये तो उनके शासन-सम्बन्धी नियमों पर भारतीय रीति-नीति का भी बहुत प्रभाव पड़ा। वे लोग लगान के मुहकमे में अधिकतर हिन्दुओं को ही भर्ती करते थे, जो अपने पुराने नियमों का ही पालन करते थे। इस प्रकार मुगल शासन-पद्धति भारतीय और विदेशी प्रणालियों के सम्मिश्रण से बनी थी। इसमें विभिन्न विभागों का बड़ा विस्तृत विवरण रखना पड़ता था जिसे शासकों को बहुत ध्यान देने की तथा सदा सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती थी। यह शासन केवल सैनिक शक्ति पर ही अवलम्बित नहीं था, इसमें आंशिक रूप से प्रजावर्ग का भी योग था। इसमें अफगान शासन की अपेक्षा प्रजा की सुख-शान्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता था और औरंगजेब के शासन-काल को छोड़कर प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता अधिक प्राप्त थी। इसमें प्रजा के सामाजिक नियमों तथा उनके परम्परागत अधिकारों की रक्षा पर काफी ध्यान दिया जाता था।

शासन का अधिपति बादशाह था। सिद्धान्त रूप से उसकी शक्ति अपरिमित थी; किन्तु व्यवहार में वह सदा अपने सलाहकारों की सम्मति तथा प्रजा की इच्छा पर ध्यान देता था। परम स्वेच्छाचारी बादशाह को भी अपने सहायक दल के सदस्यों की सम्मति लेनी पड़ती थी। अकबर एकतन्त्र शासक था; किन्तु उसकी एकतन्त्रता का अर्थ दायित्व-हीनता नहीं था। उसके नियम मुगल काल के पहले के मुसलमान सुलतानों के नियमों से भिन्न थे। बहुत थोड़ी अवस्था में ही उसने अपने राज्य का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लिया और उदार मानवोचित सिद्धान्तों के आधार पर आश्रित नीति की घोषणा कर दी। गैरमुस्लिम प्रजा मुस्लिम शासन में जिन विशेष कष्टों का शिकार बनाई गई थी, उनसे मुक्त कर दी गई और सारी प्रजा के साथ सभी बातों में एक-सा व्यवहार होने

लगा। बादशाह के कुछ योग्य मन्त्री और सबसे अधिक विश्वास-पात्र मित्र हिन्दू थे, जिनसे वह सभी महत्त्वपूर्ण बातों में सलाह लेता था। यह सत्य है कि उसने उलमा की कट्टरता को दबाने की कोशिश की; किन्तु उसने ऐसा राजनैतिक क्षेत्र में उसके बुरे प्रभाव का अन्त कर देने के उद्देश्य से किया। शासन के सुप्रबंध के एक बहुत बड़े अंश का श्रेय स्वयं सम्राट् की असाधारण प्रतिभा को था। जैसा डाक्टर स्मिथ कहते हैं, वह अधिकतर अपने मंत्रियों का सिखानेवाला न कि उनसे सीखनेवाला था। इसके पहले भारत में मुस्लिम राज्य में कभी राजकर्मचारी ऐसे सुदक्ष न थे या राज-प्रबन्ध ऐसे सुचारु रूप से नहीं होता था। इसमें मुख्य भाग खुद बादशाह का था। बादशाह के नीचे शासन का प्रबन्ध करनेवाला सबसे बड़ा राजकर्मचारी वकील था। प्रारंभिक वर्षों में इस पद पर बैरम खाँ नियुक्त था।

मुगल राज्य के प्रधान विभाग इस प्रकार थे :—आय-व्यय विभाग (दीवान के अधीन), सेना-विभाग तथा वेतन-विभाग (मीर बख्शी के अधीन), शाही परिवार का प्रबन्ध (खानसामा के अधीन), न्याय-विभाग (काजी-उल-कुजात अर्थात् प्रधान काजी के अधीन), धार्मिक संस्थाओं आदि के दान आदि का विभाग (सदरे सदूर के अधीन), प्रजा के चरित्र का निरीक्षण (मुहतसिब के अधीन)। इनके अतिरिक्त कुछ कम महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित विभाग भी थे :—तोपखाना (मीर आतिश या दारोगा-ए-तोपखाना के अधीन), खबर अथवा डाक (दारोगा-ए-डाक चौकी के अधीन), टकसाल (उस विभाग के दारोगा के अधीन)।

वजीर या दीवान—दीवान आर्थिक विषयों में बादशाह का प्रतिनिधि था। वह शाही खजाने का प्रबन्ध और उसके हिसाब की जाँच करता था। कर-विभाग उसी के अधीन था। करों की रकम और उसकी वसूली के प्रश्नों का वही निर्णय करता था। साम्राज्य के विभिन्न भागों से मालगुजारी के रुपये और कागजात उसके दफ्तर में भेजे जाते थे, और उसी की मंजूरी से सब बड़ी रकमें अदा की जाती थीं। अन्य बड़े कर्मचारियों के समान वजीर भी एक मनसबदार था। वह प्रायः राजधानी ही में रहता था, लेकिन कभी कभी सैन्य-संचालन भी करता था।

बख्शी—माल और फौज के महकमे एक दूसरे से बिलकुल अलग नहीं

थे। महकमा माल का हर एक अफसर शाही फौज का एक मनसबदार था, और मनसब के अनुसार ही उसकी तनख्वाह होती थी, तथा उसका दर्जा समझा जाता था। फौज के सब अफसरों की तनख्वाह की जाँच बख्शी करता था। वही युद्ध के पहले सेना के विविध अधिकारियों की स्थिति निश्चित करता था। आईने अकबरी के अनुसार मीर बख्शी बादशाह की खास फौज का अधिकारी था। वह सारी सेना का नियन्त्रण करता था और इस बात का ध्यान रखता था कि मनसबदार लोग अपने घोड़ों को ठीक अवस्था में रखें।

प्रधान काजी—राज्य में न्याय-विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी तो स्वयं बादशाह था, किन्तु वह साधारणत: अन्तिम अपील का फैसला करता था। काजी-उल-कुजात फौजदारी मुहकमे का सबसे बड़ा जज था। वह फौजदारी के मुकदमों का मुस्लिम विधान के अनुसार फैसला करता था।

मुहतसिब—यह पद बहुत दिनों से चला आता था; यह खिल्जियों और तुगलकों के जमाने में भी था। मुस्लिम राज्य में शासक प्रजा के जान-माल के साथ ही उसके चरित्र का भी रक्षक था। मुहतसिब का कर्त्तव्य था कि शरियत में मना किये गये कर्मों से लोगों को रोके तथा साधारणत: प्रजा में दुश्चरित्र का दमन करे।

इनके अतिरिक्त राज्य में और भी बहुत से उत्तरदायित्वपूर्ण पद धारण करनेवाले अफसर थे।

शान्तिरक्षा—शहरों में शान्तिरक्षा का उत्तरदायी कोतवाल था। आईन अकबरी में कोतवाल के कर्त्तव्य विस्तार से गिनाये गये हैं, जिनमें से निम्नलिखित सबसे महत्त्वपूर्ण हैं :—रात को शहर में पहरा देना व गश्त लगाना; घरों और आम सड़कों की सूची रखना; विभिन्न वर्गों के आय-व्यय पर नजर रखने के लिए गुप्तचर नियुक्त करना, चोरों का पता लगाना, बाँटों और मापों की जाँच करना, लावारिस और लापता आदमियों की सम्पत्ति की सूची तैयार करना और किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती न होने देना और १२ बरस से कम उम्र के लड़कों का खतना न होने देना। कोतवाल को चोरी गये माल का पता लगाना पड़ता था। पता न लगा सकने पर उसे उतना धन अपने पास से देना पड़ता था। कोतवालों के सुप्रबन्ध से नगरों में अमन-चैन रहता था और व्यापार में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं पड़ती थी।

इनसाफ और कानून—राज्य में न्याय का सबसे बड़ा अधिकारी सम्राट् था। वह कुछ किस्म के मुकदमों का और प्रान्तीय सरकारों से आई हुई अपीलों का फ़ैसला करता था। प्रजा को सम्राट् के न्याय में बड़ा विश्वास था। एक खास दिन छोटे-बड़े सब लोग उसकी कचहरी में पहुँचकर उसके सामने अपनी फरियाद पेश कर सकते थे। सम्राट् यात्रा में भी नित्य कचहरी करता था, और अपने अफसरों के भी विरुद्ध फरियादें सुनता था। मीर अर्ज को दिन-रात महल पर हाजिर रहना पड़ता था। एक समय तो काम की अधिकता के कारण सात मीर अर्ज नियुक्त किये गये थे जिनमें मिर्जा अबदुर्रहीम सर्वप्रधान था।

बादशाह के नीचे धार्मिक मामलों में माल के मुकदमों का फैसला सदर-ए-सदूर करता था। बादशाह के बाद न्याय-विभाग का सबसे बड़ा अफसर काजीउल-कुजात था। इन्साफ करने के लिए तीन अफसर रहते थे—(१) काजी, (२) मुफ्ती और (३) मीर अदल। मुफ्ती कानून की व्याख्या करता था; काजी मुकदमे के सब प्रमाणों की जाँच करता था; और मीर अदल फैसला देता था। मीर अदल की नियुक्ति राज्य के हितों पर ध्यान रखने और काजी का प्रभाव बहुत न बढ़ने देने के लिए होती थी। उस समय वकील नहीं थे जिससे वादियों और प्रतिवादियों को खुद ही अपने मुकदमे की पैरवी करनी पड़ती थी। काजी की कचहरी में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के माल और फौजदारी के मुकदमों का फैसला होता था। फौजदारी कानून सबके लिए एक समान था और दंड देने में किसी प्रकार के धार्मिक विभेद पर ध्यान नही दिया जाता था। माल के मुकदमे में फरीकैन के हिन्दू होने पर उन्हीं के रस्मों और रवाजों का ध्यान रखा जाता था। कोई एक निश्चित तथा लिखित विधान नही था जिसका अनुसरण काजी लोग कर सकते। वे साधारणतः कुरान और हदीस के प्रमाणों का अनुसरण करते थे। लगान के बारे में बादशाह के बनाये हुए नियमों का पालन होता था। स्वयं बादशाह सब नियमों से परे था और काजियों के फैसलों को अपने इच्छानुसार उलट-पलट सकता था।

दंड प्रायः कठोर होते थे। अंगच्छेदन का नियम प्रचलित था, किन्तु प्राण-दंड बादशाह की स्वीकृति के बिना नहीं दिया जा सकता था। जेलों का कोई आम बन्दोबस्त नही था। बहुत दिनों के लिए दंडित अपराधियों को किलों में कैद

किया जाता था। जघन्य पापों के करनेवालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। जुर्माने की प्रथा भी प्रचलित थी और कभी-कभी जुर्माने में बड़ी रकमें वसूल की जाती थीं।

बादशाही नौकरी—अकबर बड़ा गुणग्राही बादशाह था। सुयोग्य मनुष्य ही उसके कृपापात्र हो सकते थे। वह स्वयं सब महत्त्वपूर्ण पदों पर ढूँढ़-ढूँढ़कर योग्य मनुष्यों को नियुक्त करता था। उसकी इच्छा ही कानून थी। प्रसन्न होने पर तथा उनकी योग्यता का कायल होने पर वह साधारण स्थिति के मनुष्यों को भी दायित्वपूर्ण उच्च स्थानों पर नियुक्त कर देता था तथा अप्रसन्न होने पर उच्चाति-उच्च पदाधिकारियों को भी पदच्युत तथा नष्ट कर देता था। उसके यहाँ योग्यता-सम्पन्न मनुष्यों को ऊँचे से ऊँचे पद प्राप्त करने का अवसर मिलता था। धार्मिक विचार आदि उनके मार्ग में बाधक नहीं हो सकते थे। इस विषय में हमारे सामने राजा टोडरमल का एक बहुत अच्छा उदाहरण उपस्थित है। अकबर के समय में बहुत से विदेशी उच्च पदों पर नियुक्त थे। ऐसे लोगों की संख्या ७० फी सदी और भारतीयों की केवल ३० फी सदी थी। अकबर के दरबार में पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों के सुयोग्य मनुष्य नौकरी के लिए आते थे और अच्छी नौकरियाँ पाते थे। हिन्दुओं के लिए उच्चातिउच्च पद प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं थी। हिन्दुओं में प्रायः राजपूतों को ही उच्च पद मिलते थे। राजा टोडरमल और राजा वीरबल ही ऐसे गैरराजपूत हिन्दू थे जिन्हें उच्च पद मिले थे। राजपूत अकबर के राज्य के दृढ़ स्तम्भ थे। राज्य के बड़े अधिकारी अन्य सेवाएँ करने के साथ फौजी अफसर भी होते थे। राजा वीरबल, जो दरबार का कवि तथा विदूषक था, यूसुफजाइयों का दमन करने के लिए भेजा गया था जिसमें उसके जीवन का ही अन्त हो गया। अबुल फजल को जो एक लेखक तथा साहित्य-सेवी था, खानदेश के शासक बहादुर पर आक्रमण करने और राजा टोडरमल को बंगाल के विद्रोहियों का दमन करने के लिए भेजा गया था। साम्राज्य के उच्च पदाधिकारियों को जहाँ उच्च मान-प्रतिष्ठा तथा अधिकार प्राप्त थे, वहाँ उनके लिए एक बड़ी अप्रीतिकर बात भी थी। वे अपनी विशाल सम्पत्ति का अपने जीवन में सब प्रकार उपभोग कर सकते थे, किन्तु उनकी मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारी उसे प्राप्त नहीं कर सकते थे। उनकी मृत्यु होते ही उनकी सम्पत्ति सरकारी खजाने

में दाखिल हो जाती थी। इसका फल यह होता था कि पुश्तैनी सरदारों के ऐसे वंशों की सृष्टि नहीं होने पाती थी जो साम्राज्य के लिए भयजनक हो सकें। किन्तु इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि सरदार लोग विलासिता तथा आनन्दोपभोग में डूबे रहते थे तथा अपने पद की रक्षा के लिए दरबार के प्रभावशाली मनुष्यों को बड़ी रकमों की भेंट तथा घूस दिया करते थे।

प्रान्तीय शासन--शेरशाह के समय में दिल्ली का साम्राज्य सरकारों और परगनों में विभाजित था, जिनमें से हर एक के अलग-अलग अफसर थे। उसके समय में सूबे नहीं थे। हुमायूँ ने जब दुबारा राज्य प्राप्त किया तो उसने राज्य का एक बड़ा भाग जागीरों के रूप में अपने सरदारों में तकसीम कर दिया। वे लोग अपनी-अपनी जागीरें बढ़ाने की और स्वतन्त्र हो जाने की कोशिश करने लगे। अकबर ने जागीरदारी प्रथा बन्द कर दी और साम्राज्य को बारह सूबों में विभाजित कर दिया, जिनके नाम इस प्रकार हैं (१) आगरा, (२) इलाबास या इलाहाबाद, (३) अवध, (४) देहली, (५) लाहोर, (६) मुल्तान, (७) काबुल, (८) अजमेर, (९) बंगाल, (१०) बिहार, (११) अहमदाबाद, (१२) मालवा। बाद में दक्षिण-विजय से (१३) बरार, (१४) खानदेश और (१५) अहमदनगर--ये तीन सूबे और बढ़ गये और उनकी संख्या १५ हो गई। शासन-प्रबन्ध के लिए सूबे सरकारों और परगनों में विभाजित थे। कई परगनों का एक सरकार होता था। सूबा प्रत्येक बात में साम्राज्य का प्रतिरूप था। सूबे में सूबेदार की शक्ति असीम थी। राजधानी से दूर के सूबों के सूबेदार प्रायः एक छोटे बादशाह के समान रहते थे। सूबेदार, जो सिपहसालार कहलाता था, सूबे में बादशाह का प्रतिनिधि था। उसे बादशाह के केवल दो अधिकार प्राप्त नहीं थे, वह झरोखे में नही बैठ सकता था और बादशाह की मंजूरी के बिना संधिविग्रह नहीं कर सकता था। सिपहसालार को मुल्की और फौजी दोनों अधिकार प्राप्त थे। वह सूबे के न्याय-विभाग और युद्ध-विभाग का प्रधान था। उसकी अपनी कचहरी होती थी जिसमें वह काजियों और मीरअदलों के फैसलों की अपील सुनता था। सूबे में न्याय विभाग का प्रधान होते हुए भी सूबेदार बादशाह की स्वीकृति के बिना किसी को प्राण-दण्ड नही दे सकता था। वह धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नही कर सकता था। धार्मिक प्रश्नों का निर्णय सदर तथा अन्य अधिकारी करते थे। युद्ध-विभाग

प्रधान के रूप में वह सूबे की फौजों का सिपहसालार था और उसी पर फौज को तैयार रखने की जिम्मेदारी थी। सूबे के उच्चतम अधिकारियों को छोड़कर वह अन्य अधिकारियों को नियुक्त कर सकता था या उन्हें बर्खास्त कर सकता था।

सूबेदार के नीचे दीवान, सदर, आमिल, विटिक्ची, पोतदार या खिजानेदार, फौजदार, कोतवाल, वाकअ-नवीस, कानूनगो, पटवारी आदि अन्य अधिकारी होते थे। सूबे में सूबेदार के बाद सबसे बड़ा हाकिम दीवान था। पहले उसकी नियुक्ति सूबेदार करता था, लेकिन १५७९ ई० से उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होने लगी। सूबे का खजाना उसी के अधीन था। उसके दस्तखत के बिना कोई रकम खजाने से अदा नहीं हो सकती थी। वह मुहकमा लगान के मुकदमों का फैसला करता था। उसमें और सूबेदार में किसी विषय में मतभेद या विरोध होने पर केन्द्रीय सरकार उस विषय का निर्णय करती थी। दीवान सूबेदार के कामों पर नजर रखने और उसकी शक्ति को बहुत बढ़ने से रोकने का काम देता था। सूबे के सदर को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती थी। उसका प्रधान कार्य सयूरगालों का निरीक्षण था। उसे धार्मिक संस्थाओं को दान आदि देने का अधिकार प्राप्त था। वह दीवान की अपेक्षा सूबेदार के प्रभाव से अधिक स्वतन्त्र था। काजी और मीर अदल सदर के अधीन होते थे। आमिल के कर्त्तव्य विभिन्न प्रकार के थे। उसका प्रधान कर्त्तव्य लगान वसूल करना था। किन्तु इसके साथ ही उसे डकैत आदि अपराधियों को दंड देकर प्रजा की सुख-शान्ति की रक्षा भी करनी पड़ती थी। उसे कारकुन, मुकद्दम और पटवारी लोगों के कागजात की जाँच भी करनी पड़ती थी। विटिक्ची जो आमिल का समकक्ष था, उस पर नियन्त्रण का भी काम था। वह कानूनगो के कामों की जाँच करता था। वह हर फसल के लगान का हिसाब रखता था और सालाना लगान का विवरण दरबार में भेजता था। पोतदार या खिजानेदार लगान का रुपया खजाने में जमा रखता था। जो रकम जमा की जाती थी, उसकी वह रसीद देता था और दीवान के दस्तखत पर रकम अदा करता था। फौजदार सिपहसालार के नीचे सूबे में सबसे बड़ा फौजी अफसर होता था। एक सूबे में कई फौजदार होते थे। फौजदार का कार्य छोटे-

मोटे उपद्रव शान्त करना, लुटेरों को गिरफ्तार करना, लगान वसूल करने में आमिल को सहायता देना आदि था। फौजदारों की नियुक्ति सूबेदार करता था। कोतवाल के कर्तव्यों का विवरण ऊपर केन्द्रीय शासन के विवरण में दिया जा चुका है। वाकअ-नवीसों का कार्य प्रान्तीय शासन की सब बातों की खबर केन्द्रीय सरकार को देना था। इन्हीं लोगों के द्वारा सम्राट् सूबों की सब बातों की खबर रखता था। इन अफसरों के सिवाय और भी छोटे अफसर थे, जो सूबे के शासन का कार्य चलाते थे। कारकुन, कानूनगो और पटवारी ये महकमा लगान के कार्यकर्त्ता थे। कानूनगो परगने का अफसर था, उसकी तनख्वाह २० से २५ रुपये तक होती थी। हर एक परगने में बहुत से गाँव होते थे, और हर एक गाँव में एक पटवारी और एक मुकद्दम (मुखिया) होते थे। मुकद्दम का काम गाँव की शान्ति-रक्षा और लगान की वसूली में सहायता देना था।

प्रान्तीय शासन में सूबेदार की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए पूरा यत्न किया गया था; किन्तु अधिक दूरी और आमद-रफ्त के अच्छे साधनों के न होने के कारण तथा युद्धों की अधिकता के कारण सूबेदारों को पूर्ण रूप से वश में रखने में तथा प्रान्तीय सरकार पर यथेष्ट नियन्त्रण रखने में सफलता नहीं मिलती थी। घूसखोरी का बाजार गर्म था जिससे अत्याचारों का प्रतिकार नहीं हो पाता था और बहुधा न्याय का गला घोंटा जाता था।

लगान का बन्दोबस्त—शेरशाह पहला मुसलमान शासक था जिसने जमीन की पैमाइश कराई और लगान के बन्दोबस्त के मुख्य नियमों को निश्चित किया जिनका अकबर के समय में अनुसरण हुआ। शेरशाह की अकाल मृत्यु से इस विषय में उसका कार्य अधूरा रह गया और उसके बाद शासन के अव्यवस्थित हो जाने से उसने जो कुछ किया था, उस पर पानी फिर गया। जब हुमायूँ ने हिन्दुस्तान का राज्य फिर प्राप्त किया तो उसने राज्य का एक बड़ा भाग जागीरों के रूप में अपने सरदारों में विभाजित कर दिया। वे लोग एक निश्चित रकम सम्राट् को देते थे। खालसा जमीन में जिसका लगान सीधे सरकारी खजाने में जाता था, सैकड़ों वर्षों से प्रचलित बटाई का नियम स्वीकार किया गया था।

अकबर के राज्य के आरम्भ से ही मालगुजारी के बन्दोबस्त में सुधार का

प्रयत्न किया जाने लगा, किन्तु इसमें वास्तविक सफलता १५७३ में गुजरात विजय के बाद मिली, जब टोडरमल उस प्रान्त का बन्दोबस्त करने के लिए भेजा गया। उसने वहाँ पहले-पहल नियमित रूप से जमीन की पैमाइश कराई और जमीन के रकबे और किस्म के विचार से मालगुजारी नियत की। यही नियम अन्य प्रान्तों के लिए भी ग्रहण किया गया। १५७५ में बंगाल और बिहार के अतिरिक्त सारे साम्राज्य का लगान सीधे सरकारी खजाने में दाखिल होने लगा, जागीरें बन्द कर दी गई। उस समय तक सम्पूर्ण अधिकृत साम्राज्य १८२ परगनों में विभाजित किया गया। हर एक परगने में उतनी जमीनें रखी गई थी जितनी कि मालगुजारी एक करोड़ थी और हर एक परगने का अफसर करोड़ी कहलाता था। इन अफसरों ने अपने पद का अनुचित लाभ उठाना चाहा। वे रियाया को कष्ट देकर उनसे अधिक लगान वसूल करने लगे, जिस पर टोडरमल ने उन्हें बड़ा कड़ा दंड दिया।

१५८२ में जब टोडरमल दीवान अशरफ मुकर्रर हुआ तो उसने लगान के मुहकमे की कायापलट कर दी। अब तक हर साल उपज और गल्ले के दर के मुताबिक लगान मुकर्रर करने का नियम प्रचलित था जिससे लगान की रकम हर साल बढ़ती-घटती रहती थी। साम्राज्य के क्षेत्र-फल में वृद्धि हो जाने के कारण इस सालाना बन्दोबस्त की प्रथा में सुधार आवश्यक हो गया। टोडरमल ने इसकी असुविधाओं तथा कठिनाइयों को दूर करने के लिए पिछले दस वर्षों अर्थात् राज्य के पन्द्रहवें वर्ष (१५७० ई०) से चौबीसवें (१५८० ई०) तक के लगान की औसत के आधार पर सालाना लगान आगामी दस वर्षों के लिए मुकर्रर कर दिया। खेती की सारी जमीन की पैमाइश की गई। पहले सन की रस्सी से पैमाइश हुआ करती थी जो भीगने पर छोटी और सूखने पर बड़ी हो जाया करती थी। टोडरमल ने बाँसों में लोहे के छल्ले डालकर जरीबें तैयार कराईं। जमीन चार वर्गों में बाँटी गई, (१) **पोलज,** जिसमें हर साल दोनों फसलें बोई जाती थीं अर्थात् जो कभी परती नहीं छोड़ी जाती थी; (२) **परौती** जो कभी-कभी परती छोड़ी जाती थी; (३) **चाचर,** जो तीन बरस तक परती रहती थी; (४) **बंजर** जो पाँच या अधिक बरसों तक परती रहती थी। पहले दो वर्गों की उपज की दृष्टि से तीन श्रेणियाँ की गई थीं। तीनों की उपज का औसत उपज की कूत होती थी जो बन्दोबस्त का आधार बनाई गई थी। अन्य दो वर्गों

की जमीन के लिए दूसरा तरीका था। औसत उपज निश्चित कर लेने पर नकद लगान का दर नियत किया जाता था। नकद लगान का दर पिछले दस वर्षों के गल्ले की कीमत की औसत के मुताबिक अगले दस बरसों के लिए मुकर्रर किया जाता था। लगान उपज का एक तिहाई लिया जाता था। किसान लगान में नकद या गल्ला जो चाहे दे सकता था।

यह बन्दोबस्त का जब्ती तरीका कहलाता था। यह बिहार, इलाहाबाद, अवध, आगरा, मालवा, देहली, लाहौर और मुल्तान के सूबों में और अजमेर व गुजरात के हिस्सों में प्रचलित था। इसकी विशेषता यह थी कि हर एक खेत के लगान में उसमें बोये गये गल्ले की किस्म के मुताबिक एक खास रकम अदा करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त बन्दोबस्त के गल्लाबख्श और नसक व कुछ और तरीके भी थे। गल्लाबख्श में गल्ले की बटाई का पुराना तरीका था। यह प्रथा थट्टा में और काबुल व काश्मीर के सूबों के कुछ हिस्सों में प्रचलित थी। नसक का जमींदारी प्रथा की अपेक्षा रैयतवारी प्रथा से अधिक सादृश्य था। इसमें रियाया सीधे सरकार को लगान देती थी। इन तरीकों में से कोई जब्ती तरीके के समान जो राज्य के अधिक भागों में प्रचलित था, सुव्यवस्थित तथा सुनियमित नहीं था।

सेना—अकबर की सेना कितनी बड़ी थी, यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। फिर भी ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उसकी सेनाओं में कम से कम तीन-चार लाख सैनिक थे। हाकिन्स कहता है कि जहाँगीर की सेना में तीन-चार लाख सैनिक थे। जहाँगीर के समय में साम्राज्य की परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि अकबर के समय की फौज से बड़ी रखने की आवश्यकता पड़ी हो। आईने अकबरी में कुल मिलाकर ४४ लाख से अधिक सैनिकों का होना बतलाया गया है। अकबर बहुत बड़ी स्थायी सेना नहीं रखता था। सेना के मुख्यत: तीन रूप थे—

(१) मनसबदारों की फौजें जिनमें दाखिली सिपाही और कुमकी सिपाही अर्थात् "बरआबुर्दी" (ऊपरी) भी शामिल थे।

(२) अहदी या वे शरीफ सिपाही जिन्हें मनसब नहीं मिल सकी थी।

(३) राजपूत राजाओं की सहायक सेनाएँ। ये सेनाएँ जो लड़ाई के समय साम्राज्य की ओर से लड़ती थीं, बड़ी उपयोगी सिद्ध हुईं। बादशाह भी इनका बड़ा मान करता था।

मनसबदारी प्रथा—जब अकबर बादशाह हुआ, राज्य के सरदारों को जागीरें मिली हुई थीं और उन्हें सवारों की एक निश्चित संख्या रखनी पड़ती थी जिन्हें लेकर उन्हें आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सेवा करनी पड़ती थी। मनसब शब्द का अर्थ पद व प्रतिष्ठा है। प्रत्येक मनसबदार साम्राज्य का सेवक था और उसे आवश्यकतानुसार फौजी व अन्य प्रकार की सेवा करनी पड़ती थी। अबुल फजल ने आईने अकबरी में लिखा है कि मनसबदारों के ६६ दर्जे थे लेकिन असल में ये ३३ मे अधिक नहीं जान पड़ते। ये मनसब २० से ५००० तक के होते थे। बाद में राज्य के सबसे अधिक प्रतिष्ठित अफसरों के लिए हफ्तहजारी का दर्जा मुकर्रर हुआ। राज्य के उत्तराधिकारी के लिए दसहजारी का एक खास मनसब था। मनसबदारों के पद में जात और सवार के दर्जे का भेद भी होता था। जात की संख्या मनसबदार की श्रेणी को सूचित करती थी। इसके साथ ही सवारों की संख्या मनसबदार का विशिष्ट मान सूचित करती थी, जिसके लिए उसे कुछ अधिक वेतन मिलता था। मनसबदारों की क्रमिक पदोन्नति का कोई नियम नहीं था। बादशाह जिसे जब जो दर्जा चाहता था, देता था। मनसबदारी का दर्जा पुश्तैनी नही था। मनसब केवल फौजी अफसरों को ही नहीं मिलते थे। शासन-प्रबन्ध करनेवाले अफसरों को भी मनसब मिलते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे सैन्य-संचालन के लिए भी नियुक्त किये जाते थे।

प्रत्येक मनसबदार को अपने पद के अनुसार सैनिकों, घोड़ों, हाथियों, ऊँटों, खच्चरों और गाड़ियों की एक निश्चित संख्या रखनी पड़ती थी। लेकिन मनसबदार इस विषय में अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते थे। वे सरकार को धोखा दिया करते थे। कुछ बेईमान मनसबदार कुँजड़ों, धुनियों, जुलाहों, आवारे पठानों, तुर्कों आदि को जिन्हें युद्ध का अनुभव तथा हथियार चलाने का ज्ञान नहीं होता था, अपने साथ लड़ाई में ले जाते थे और फिर लौटकर उन्हें अलग कर देते थे। जाँच के लिए हाजिरी के वक्त भी वे घसियारों, भठियारों, कुँजड़ों, जुलाहों, धुनियों आदि के मँगनी के हथियारों और कपड़ों से सजाकर और मँगनी के ही घोड़ों को दिखला देते थे। इस प्रकार सिपाहियों के वेतन वे आप हजम कर जाते थे। इस नाशकारी आचरण का अन्त करने के विचार से बादशाह ने दाग की प्रथा और सवारों तथा घोड़ों की हुलिया दर्ज करने की प्रथा प्रचलित की।

दाग की प्रथा नई नहीं थी। अलाउद्दीन खिजली ने इसे पहले-पहल प्रचलित किया था और फिर शेरशाह ने भी इससे काम लिया था। अकबर ने एक बख्शी और उसके सहायक दारोगा के अधीन दाग का एक अलग मुहकमा खोल दिया और उसके नियम निर्धारित कर दिये। पंचहजारी व उनसे ऊँचे मनसबदार दाग की प्रथा से बरी कर दिये गये। इस प्रथा के अनुसार हर एक सवार का चेहरा (हुलिया आदि की सूची) दर्ज किया जाता था जिसमें उसका नाम, पिता का नाम, देश, अवस्था और पूरी हुलिया रहती थी और उसके घोड़े की भी पूरी हुलिया दर्ज की जाती थी। इसके साथ ही घोड़े को गरम लोहे से दाग देते थे और यह चिह्न भी सूची मे दर्ज कर लिया जाता था। हाजिरी के समय इसी सूची के अनुसार हर एक बात का मिलान किया जाता था। इस प्रथा के कारण मनसबदारों और सिपाहियों की दगाबाजी कम तो जरूर हुई किन्तु उसका अन्त नहीं हुआ।

अकबर जिस समय गद्दी पर बैठा, सरदारों को जागीरें देने की प्रथा प्रचलित थी। उसे यह प्रथा पसंद न आई। मनसबदारों की जागीरें ले ली गईं और उन्हें नकद वेतन मिलने लगा। सरदारों की जागीरो के भी खालसा जमीन के रूप में परिवर्तित हो जाने से राज्य की आमदनी बढ़ गई।

दाखिली और अहदी—आईने अकबरी के अनुसार मनसबदारों को सैनिकों की एक निश्चित संख्या दी जाती थी, जिनकी तनख्वाह सीधे सरकार से मिलती थी। ये लोग दाखिली कहलाते थे। अहदियों का एक अलग ही दल था। ये वीर, सुयोग्य तथा शरीफ सिपाही थे जिन्हें सम्राट् ने मनसब न देकर अपनी नौकरी में रख लिया था। ये लोग सब के सब सवार होते थे। इसके लिए एक अलग ही दीवान तथा बख्शी होता था, और दरबार का एक प्रसिद्ध अमीर उनका सरदार बना दिया जाता था। दाग और हाजिरी के नियम अहदियों के लिए भी लागू थे। इन लोगों को साधारण सैनिकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तनख्वाहें मिलती थीं। इनमें से किसी किसी को ५००) मासिक तक वेतन मिलता था।

शाही फौज की शाखाएँ—शाही फौज की मुख्य शाखाएँ (१) पैदल, (२) अश्वारोही दल, (३) तोपखाना और (४) जलसेना थी। पैदल सेना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं थी। इसमें सिपाहियों के सिवा दरबान, खिदमतिये, पहलवान, कहार वगैरह भी शामिल रहते थे। सिपाहियों में बन्दूकची और शमशेरबाज

होते थे। शाही फौज का मुख्य अंश अश्वारोही सेना थी। अकबर इस पर बड़ा ध्यान देता था और उसे कुशल और शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्न करता था। दाग की प्रथा जारी करने का प्रधान उद्देश्य यही था। उत्तर भारत में तोपों का प्रयोग सबसे पहले बाबर ने किया। उसी समय से **तोपखाना** भारतीय सेनाओं का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। अकबर के पहले की तोपें इतनी भारी होती थीं कि एक जगह से दूसरी जगह आसानी से नहीं ले जाई जा सकती थीं। उसने ऐसी तोपें ढलवाईं जो आसानी से इधर उधर भेजी जा सकती थीं। हिंदुस्तानी तोप चलाने में कुशल नहीं होते थे। मुगल सेना में रूमी तोपची रखे जाते थे। तोपखाने का सबसे बड़ा अफसर मीर आतिश या दारोगा-ए-तोपखाना होता था। मुगलों की **जल-सेना** उन्नत नहीं थी। लेकिन अकबर ने इस ओर भी ध्यान दिया। उसने हलकी तोपों से सजी हुई बहुत सी नावें तैयार कराईं। भारतीय सेनाओं में हाथियों का भी बहुत उपयोग होता था। अकबर को हाथियों का बड़ा शौक था। उसके पास हाथियों का एक अच्छा दल था। मनसबदारों को भी हाथियों की एक निश्चित संख्या रखनी पड़ती थी।

पड़ाव––मुगल सेना पड़ाव में बहुत रहती थी। मुगलों के पूर्वज मध्य-एशिया से आये थे, जहाँ के निवासी खानाबदोशी जिन्दगी बसर करते हैं, इसलिए वे लोग पड़ाव में रहना पसंद करते थे। मुगल पड़ाव एक जंगम (एक जगह से दूसरी जगह घूमनेवाला) नगर ही था जिसमें सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं। साथ में बादशाह का जनानखाना भी चलता था। अकबर के बाद विशेषकर शाहजहाँ और औरंगजेब के समय मुगल पड़ाव बड़े विहंगम कार्य हो गये और उनमें विलासिता की धूम हो गई। अफसरों की बीबियाँ तथा उनकी प्रेमिकाएँ भी पड़ाव के साथ ही साथ रहने लगीं। इन दोषों के कारण मुगलों की सैनिक क्षमता शिथिल पड़ गई। ऐसी सेना यदि कष्ट-सहिष्णु, कभी एक स्थान पर न रहनेवाले, मराठे सवारों का दमन नहीं कर सकी तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

———

अध्याय ६

विलासप्रिय जहाँगीर (१६०५–२७)

बादशाह की न्यायप्रियता—सब राजनैतिक षड्यन्त्र असफल हुए और २४ अक्टूबर १६०५ ई० को जहाँगीर ३६ वर्ष की अवस्था में बड़े समारोह के साथ अपने पिता के सिंहासन पर आसीन हुआ। गद्दी पर बैठने के थोड़े ही दिनों बाद उसने शाहबुर्ज से जमुना तट के एक प्रस्तर-स्तंभ तक प्रसिद्ध न्याय की जंजीर लगवाई। इसमें उसका उद्देश्य न्याय चाहनेवालों को उसके पास आवेदन करने और न्याय प्राप्त करने का अवसर देने का था। निस्सन्देह न्याय के उच्च भाव से प्रेरित होकर ही उसने इस सोने की जंजीर को लगवाया था; किन्तु जहाँ तक जान पड़ता है, उसके भय के कारण प्रजा द्वारा इसका बहुत कम उपयोग होता था। इसी समय उसने अपने सारे राज्य में सुप्रसिद्ध द्वादश नियमों (दस्तूर-उल-अमल) के पालन की आज्ञा प्रचलित की। बादशाह ने इस समय बड़ी उदारता दिखलाई। उसने पहले के सब विरोधियों को क्षमा कर दिया और उनके पद तथा अधिकार पूर्ववत् बने रहने दिये। अबुल फजल के पुत्र को दो हजारी का दर्जा (मनसब) दिया गया, और, अजीज कोका का, जिसने षड्यन्त्र में भाग लिया था, पद और उसकी जागीरें पूर्ववत् बनी रहीं। गयासबेग को जिसकी पुत्री आगे चलकर नूरजहाँ के नाम से विख्यात हुई, डेढ़ हजारी का दर्जा (मनसब) दिया गया और इतमादुद्दौला का खिताब मिला। बादशाह ने इस अवसर पर अबुल फजल के बधिक राजा वीरसिंह बुन्देला को भी तीन हजारी का मनसब प्रदान किया। निश्चित रूप से गद्दी पर बैठ जाने के बाद जहाँगीर ने मार्च १६०६ में बड़ी धूम-धाम से नौ रोज का पहला उत्सव मनाया। यह उत्सव सत्रह-अट्ठारह दिनों तक रहा और इसके अन्त मे राज्य के राजभक्त सेवकों को उदारतापूर्वक पारितोषिक दिये गये।

खुसरो का विद्रोह——जैसा पहले कहा जा चुका है, जब अकबर मृत्यु-शय्या पर पड़ा था तब राजा मानसिंह ने सलीम के स्थान पर उसके पुत्र खुसरो को गद्दी पर बैठाने के लिए षड्यन्त्र रचा था। सलीम के गद्दी पर बैठ जाने पर राजा मानसिंह और बादशाह में मेल हो गया और खुसरो दरबार में उपस्थित किया गया। बादशाह ने उसके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार किया और उसे एक लाख रुपया दिया जिससे वह अपने पद तथा प्रतिष्ठा के अनुसार रह सके। किन्तु वास्तव में पिता और पुत्र का मनोमालिन्य दूर नहीं हुआ। जहाँगीर सोचता था कि खुसरो का अपराध अक्षम्य है और खुसरो अभी सिंहासन लेने का स्वप्न देख रहा था। उसके मनोहर व्यवहार, सुन्दर रूप और उच्च स्थिति ने उसे राजनैतिक षड्यन्त्र और राजविद्रोह का उपयुक्त केन्द्र बना दिया था। उसके पास शीघ्र ही सैकड़ों मनुष्य इकट्ठे हो गये जो उसकी उद्देश्य-सिद्धि के लिए प्राण देने को प्रस्तुत थे।

एक रात को वह ३५० सवारों के साथ अपनी दादी की कब्र के दर्शन के बहाने धीरे से आगरे के किले से बाहर हो गया। जब वह मथुरा पहुँचा तो हुसेन-बेग करीब तीन हजार सवारों के साथ उससे आ मिला। राजकुमार और उसके धनपिपासु साथी आस-पास का देश लूटने और उजाड़ने लगे। इसके बाद वह आगे बढ़ा। पानीपत में उससे लाहौर का दीवान अब्दुर्रहीम आ मिला, जो बादशाह की सेवा में आगरे आ रहा था। राजकुमार ने दीवान का बड़ा स्वागत किया, उसे मलिक अनवर की उपाधि दी। आगे बढ़ते हुए जिन शाही सेनाओं से राजकुमार की मुठभेड़ हुई वे उसकी गति को न रोक सकीं। तरन-तारन में राजकुमार ने ग्रन्थ साहब का संग्रह करनेवाले गुरु अर्जुन का आशीर्वाद लिया। गुरु ने उसकी दशा पर तरस खाकर उसे कुछ आर्थिक सहायता भी दी। वहाँ से खुसरो लाहौर की ओर बढ़ा। किन्तु उस नगर की रक्षा के लिए दिलावर खाँ पहले ही से पहुँच गया था। उसने किले की दीवारों की मरम्मत करके युद्ध के लिए तोपें ठीक कर ली थीं। उसकी सहायता के लिए सईद खाँ उपस्थित था, जो इस समय चिनाब के किनारे पड़ाव डाले पड़ा था। खुसरो ने शहर का घेरा डाला और क्रुद्ध होकर एक फाटक जला दिया और अपने आदमियों से कहा कि किला ले लेने पर वह सात दिन तक लूट करायेगा और औरतों और बच्चों को कैद करेगा।

नौ दिन के घेरे के बाद राजकुमार को एक घुड़सवार सेना के साथ बादशाह के लाहौर के पास पहुँचने का समाचार मिला।

राजकुमार का राजधानी से भागना उपेक्षणीय बात नहीं थी। जहाँगीर को डर था कि वह कहीं पूरब में मानसिंह से या उत्तर-पश्चिम में उजबेगों या फारसवालों से न जा मिले। इसलिए उसने राजधानी को नसीरुलमुल्क और एतमादुद्दौला के सिपुर्द करके उसका पीछा किया और एक बड़ी सेना के साथ लाहौर पहुँचा। राजकुमार के साथ मेल की बातें शुरू हो गईं परन्तु कुछ फल नहीं निकला। वह लड़ने के लिए तुला बैठा था। भैरोंवाल के पास एक युद्ध हुआ जिसमें विद्रोही बुरी तरह पराजित हुए। उनमें से लगभग चार सौ मारे गये और शेष भयभीत होकर भाग गये। खुसरो युद्ध-भूमि से बचकर निकल गया, परन्तु उसका जवाहिरात और बहुमूल्य वस्तुओं का सन्दूक शाही सेना के हाथ लग गया। उसकी विपत्तियों का यहीं अन्त नहीं हुआ, उसके साथियों में मतभेद हो गया। अफगान और हिन्दुस्तानी पीछे लौटना चाहते थे और हुसेनबेग जो अपने परिवार को पश्चिम की ओर भेज चुका था, काबुल जाने के पक्ष में था। अन्त में उसकी राय मानी गई और जब वे लोग चिनाब नदी को पार कर रहे थे तब शाही दल द्वारा बन्दी बना लिये गये।

जहाँगीर को खुसरो के पकड़े जाने की खबर सुनकर बड़ी खुशी हुई। उसने राजकुमार के साथ अपने पारिवारिक संबंध का विचार न करके और अपना दिल कड़ा करके उसे दंड देने का निश्चय किया। उसने राजकुमार को दरबार में हाजिर किये जाने की आज्ञा दी। बेड़ियाँ पहने और रोता हुआ खुसरो दरबार में अपने पिता के सामने हाजिर किया गया। उसने उसे बड़े कड़े शब्दों में फटकारा और बन्दीगृह में डालने कीं आज्ञा दी। उसके साथियों को बड़ी निर्दयता-पूर्वक दंड दिया गया और उसका भी बड़ा अपमान किया गया।

गुरु अर्जुन जिन्होंने राजकुमार के साथ सहानुभूति दिखलाई थी, दरबार में बुलाये गये। उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उन्हें प्राणदंड दिया गया। यह गुरु का वध राजनैतिक कारणों से होते हुए भी बड़ा अविचारपूर्ण था। सिक्ख-मत के धार्मिक गुरु के साथ एक साधारण अपराधी के समान व्यवहार

करना भयंकर भूल थी। मुगल साम्राज्य के प्रति सिक्खों की शत्रुता का बीज-वपन इसी समय ही हो गया।

कन्धार का घेरा—पश्चिमोत्तर सीमा पर कन्धार की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह माध्यमिक काल में भारत और फारस के बीच का व्यापारिक फाटक था। इसके अधिकार के लिए भारत और फारस में प्रतिस्पर्द्धा रहती थी। बाबर ने कन्धार को जीता था। उसकी मृत्यु होने पर यह उसके पुत्र कामरान के अधिकार में चला गया। हुमायूँ ने इसे १५४५ में फारस की सहायता से अपने भाई से फिर ले लिया; किन्तु उसकी मृत्यु के बाद १५५८ में फारस के शाह ने इसे हस्तगत कर लिया। फिर १५९० ई० में अकबर ने कंधार पर चढ़ाई की और १५९५ ई० में उस पर अधिकार कर लिया। तभी से कंधार मुगल साम्राज्य में चला आ रहा था।

फारसवालों ने इस समय अच्छा अवसर देखकर फिर कंधार को लेना चाहा। जहाँगीर तुजुक जहाँगीरी में लिखता है कि अकबर की मृत्यु और खुसरो के विद्रोह से प्रोत्साहित होकर उन्होंने फिर कंधार लेने का निश्चय किया। इस समय फारस का शासक शाह अब्बास द्वितीय था, जो अपने समय के एशिया के प्रसिद्ध शासकों में था। फारसवालों ने कंधार पर चढ़ाई की; किन्तु शाह बेग की बहादुरी के आगे वे कुछ न कर सके। जब इस चढ़ाई की खबर जहाँगीर को मिली, तो उसने थट्टा के शासक मिर्जा जानी के पुत्र गाजी की अध्यक्षता में एक सेना भेजी। फारसवालों ने डरकर घेरा उठा लिया। शाह अब्बास ने चतुराई दिखलाई और इस चढ़ाई के प्रति अपनी अस्वीकृति प्रकट की।

इस प्रकार असफल होने पर शाह ने कूटनीति की शरण ली। उसने मुगल दरबार में कई राजदूत और बहुमूल्य उपहार भेजे। इस दिखावटी मित्रता का फल यह हुआ कि मुगल कंधार की रक्षा में असावधान हो गये। शाह ने फिर १६२२ ई० में कन्धार के किले पर घेरा डाला। जहाँगीर और नूरजहाँ इस समय काश्मीर में थे। यह खबर सुनकर वे युद्ध की तैयारी करने लगे। सब राजकुमारों और सेनापतियों को अपनी सेनाओं के साथ कन्धार की ओर बढ़ने की आज्ञा दी गई। किन्तु शाहजहाँ द्वारा इस आज्ञा के उल्लंघन के कारण राजकीय आयोजन विफल हो गया। उसे आशंका थी कि उसके कन्धार चले जाने पर

नूरजहाँ और आसफ खाँ उसके स्थान में उसके प्रतिद्वन्द्वी शहरयार को सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाने के लिए कुछ उठा नहीं रक्खेंगे। दूसरी बात यह थी कि उसका विचार था कि फारस की इस केन्द्रीभूत प्रबल शक्ति के विरुद्ध मुगल सेना के प्रधान संचालक का पद पाये बिना वह कुछ कर नहीं सकता था। उसके आज्ञा-भंग से नूरजहाँ को अच्छा अवसर मिला और उसने अपने पति को राजकुमार के विद्रोह के इरादे का विश्वास दिला दिया। उसके पास दक्षिण में जो सेना थी तथा जो प्रमुख सेनापति थे, उन्हें राजधानी को भेज देने का फरमान भेजा गया, किन्तु वह इस शाही फरमान को चटपट मान लेने को तैयार नहीं हुआ। नूरजहाँ ने इस अवसर पर आग में घी छोड़ दिया। उसने धौलपुर की जागीर, जिसके लिए शाहजहाँ बहुत दिनों से अभिलाषी था, अपने दामाद शहरयार को दिला दी और उसका पद १२,००० जात और ८,००० सवार का करा दिया। इसके अतिरिक्त उसे कन्धार की चढ़ाई का प्रधान संचालक भी बनवा दिया। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि जब शाहजहाँ ने देखा कि शान्तिमय उपायों से अपना अधिकार प्राप्त करने की आशा नहीं है, तो वह विद्रोही बन गया। जब तक नूरजहाँ का दल शाहजहाँ का नाश करने में व्यस्त था तब तक फारसवालों ने डेढ़ महीने के घेरे के बाद कन्धार ले लिया।

इसके बाद फारस के शाह ने एक राजदूत भेजकर यह कहला भेजा कि कन्धार पर उसका अधिकार न्यायसंगत था। जहाँगीर ने शाह को उसके कपटपूर्ण आचरण के लिए बड़ी फटकार बतलाई और दंड देने के लिए उस पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। किन्तु इसी समय खबर मिली कि शाहजहाँ ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया है जिससे इस सम्बन्ध में कुछ न हो सका।

सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्र—कन्धार के हाथ से निकलने के बाद जहाँगीर ने एक गर्मी का मौसम अपने स्वास्थ्य के सुधार के लिए काबुल में बिताया। अगस्त १६०७ में वह वहाँ से लाहौर के लिए चला। रास्ते में उसे एक षड्यन्त्र का पता चला जिसका संगठन उसकी हत्या के लिए हुआ था। राजकुमार खुसरो इस षड्यन्त्र का केन्द्र था। उसके मनोहर शिष्टाचार ने उसे बन्दी रखनेवालों का मन ऐसा हर लिया कि वे बादशाह की हत्या करके उसे भारतवर्ष के सिंहासन पर बैठाने के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गये। शुरू ही से इस षड्यन्त्र का भेद

बहुत से आदमियों को मालूम था जिससे सब हाल बहुत जल्द बादशाह को मालूम हो गया। इसके नेता पकड़े गये और उनमें से चार को प्राणदण्ड दिया गया और एक को गधे पर पूँछ की ओर मुंह करा के बैठाकर सारे शहर में घुमाया गया। खुसरो राजाज्ञा से महाबत खाँ द्वारा अन्धा कर दिया गया। उसकी दृष्टि पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई, और उसके पिता को फिर दया आने पर एक चतुर हकीम से उसकी दवा कराई गई, जिससे उसमें आंशिक सुधार हो गया।

नूरजहाँ के साथ विवाह—नूरजहाँ के साथ जहाँगीर का विवाह मुगल इतिहास की एक परम प्रसिद्ध घटना है। इस असाधारण रमणी के समान साहस और राजनीतिज्ञता का परिचय संसार की बहुत कम स्त्रियों ने दिया है। उसने अपने पति को वशीभूत करके कई वर्षों तक साम्राज्य का प्रबन्ध अपने हाथों में रक्खा। आधुनिक खोज के अनुसार उसके प्रारंभिक जीवन का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है: उसका पिता मिर्जा गयासबेग तेहरान का निवासी था। गरीबी के कारण गयास ने हिन्दुस्तान में आने का विचार किया और जीविका की खोज में अपनी गर्भवती स्त्री के साथ हिन्दुस्तान की ओर चला। जब वे कंधार पहुँचे तो उसकी स्त्री ने एक कन्या को जन्म दिया। इस परिवार की दुर्दशा पर तरस खाकर एक धनी व्यापारी मलिक मसऊद ने, जिसके साथ वे हिन्दुस्तान आ रहे थे, उनकी सहायता की। इस व्यापारी का मुगल दरबार में कुछ प्रभाव था। उसने अकबर बादशाह से परिचय करा के गयास को एक अच्छी नौकरी दिला दी। अपनी योग्यता से उन्नति करता हुआ वह १५९५ में तीन सौ का मनसबदार हो गया और उसे काबुल के दीवान का उत्तरदायित्व-पूर्ण पद मिल गया। नौकरी में गयास की प्रतिभा खूब चमकी। उसने राज्य के कार्यों में बड़ी कुशलता दिखलाई, और वह राज्य का एक चतुर और योग्य सेवक समझा जाने लगा; यद्यपि वह घूस लेने में भी बड़ा सिद्धहस्त था। वह एक सुलेखक और कवि भी था। उसने अपनी लड़की का नाम मेहरुन्निसा रखा। जब वह सत्रह वर्ष की हुई तो उसका विवाह अलीकुली इस्ताजलू से हो गया, जो इतिहास में शेर अफगन के नाम से प्रसिद्ध है।

अलीकुली का जन्म किसी उच्च वंश में नहीं हुआ था। वह फारस के शाह इस्माइल द्वितीय का सफरची अर्थात् दस्तरखान सजानेवाला था। फिर

भाग्य-चक्र से उसने भारत में आकर शरण ली। मुलतान पहुँचने पर खानखाना से उसका परिचय हो गया, जिसकी सहायता से उसे अकबर के समय में मुगल दरबार में एक सैनिक पद मिल गया। जब राजकुमार सलीम को मेवाड़ के राणा पर चढ़ाई करने की आज्ञा मिली तो उसके साथ अलीकुली की भी नियुक्ति हुई। उसके एक शेर मारने पर राजकुमार ने उसे शेर अफगन का खिताब दिया। जब राजकुमार ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया तो उसके अधिकांश मित्रों ने उसका साथ छोड़ दिया और शेर अफगन ने भी वैसा ही किया। किन्तु गद्दी पर बैठने पर जहाँगीर ने उसके अपराधों को क्षमा कर दिया, उसकी जागीर उसके पास बनी रहने दी और उसे बंगाल के सूबे में भेज दिया।

इस समय बंगाल में असंतोष फैला हुआ था। अफगान जिन्हे अपनी खोई हुई राजशक्ति फिर प्राप्त करने की अभी आशा थी, चारों ओर से इकट्ठे होने लगे, और सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र करने लगे। बादशाह को सूचना मिली कि शेर अफगन की प्रवृत्ति भी विद्रोह की ओर है। उसने सूबेदार कुतबुद्दीन को जो राजा मानसिंह के बाद अगस्त १६०६ मे बंगाल का सूबेदार हुआ था शेर अफगन को दरबार में भेज देने की आज्ञा भेजी। सूबेदार ने मूर्खतापूर्वक उसे कैद करने का प्रयत्न किया। इस अपमान से शेर अफगन का खून उबल पड़ा, और कुतबुद्दीन के आदमियों से घिरे होने पर भी उसने उसे अपनी तलवार से सांघातिक रूप से आहत कर दिया। इस पर सूबेदार के आदमियों ने उसे वहीं मार डाला। मेहरुन्निसा अपनी पुत्री के साथ दरबार में भेज दी गई। वहाँ वह राजमाता सुल्तान सलीमा बेगम के सुपुर्द कर दी गई। चार बरस बाद मार्च १६११ में, मीना बाजार मे जहाँगीर उसके रूप को देखकर मोहित हो गया। काल की गति के साथ उसका शोक कम हो गया था। वह जहाँगीर के साथ विवाह करने को तैयार हो गई। मई के अन्त में बादशाह के साथ नियमानुसार उसका विवाह हो गया। इसके बाद उसके पिता और भाई को ऊँचे पद मिले और खिताब और जागीरें दी गई।

यह एक बड़ा विवादास्पद प्रश्न है कि शेर अफगन की हत्या में जहाँगीर का हाथ था या नहीं। डाक्टर बेनीप्रसाद ने अपनी पुस्तक में इस हत्या की कहानी को परवर्ती इतिहास-लेखकों के मस्तिष्क की उपज बतलाया है। उनका

कहना है कि इस कहानी की पुष्टि उस समय के इतिहास-लेखक नहीं करते और न विदेशी यात्री ही इसका समर्थन करते हैं, जो राज-परिवार विषयक अप्रिय बातों को लिपिबद्ध करने के लिए सदा तैयार रहते थे। किन्तु हम परवर्ती इतिहास-लेखकों के स्पष्ट कथन की भी अवहेलना नहीं कर सकते जिनसे एक ऐसे मामले में सच्ची बात लिखने की अधिक आशा की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि सम्राट् को शेर अफगन के विद्रोही होने का केवल सन्देह था और इस बात का समर्थन सब लोग करते हैं कि कुतबुद्दीन को शेर अफगन को तभी दंड देने की आज्ञा दी गई थी जब वह विद्रोहात्मक विचार प्रकट करे। यह स्पष्ट नही होता कि सूबेदार को अफगान सरदार के विद्रोहात्मक विचारों का निश्चय कैसे हुआ। इस विषय में हमारा संदेह उसे एकाएक गिरफ्तार करने के प्रयत्न से और भी बढ़ जाता है। जहाँगीर जो अपनी जीवन-कथा कहने में इतना स्पष्टवादी है, इस घटना के विषय में तथा नूरजहाँ के साथ अपने विवाह के विषय में, जो निस्संदेह उसके जीवन में बड़ी महत्त्व-पूर्ण घटना है, बिलकुल चुप है। जहाँगीर का यह मौन इस विषय में सन्देह उत्पन्न करनेवाला है। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि मेहरुन्निसा क्यों दरबार में भेजी गई जब उसका पिता राजधानी में ही रहता था और राज्य का एक बड़ा कर्मचारी था। उसकी राजभक्ति में किसी को सन्देह नहीं था और वह अपनी संकटग्रस्त पुत्री को निस्सन्देह शरण दे सकता था। सम्राट् ने इस विधवा और उसकी पुत्री को शाही हरम में राजमाता के सुपुर्द रखने का असाधारण कार्य क्यों किया? इसका सबसे अधिक संभावित कारण यही जान पड़ता है कि जहाँगीर उससे प्रेम करता था। उसके हाथ में आ जाने पर भी चार बरस बाद विवाह करने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि पति की दयनीय मृत्यु के बाद नूरजहाँ के शोकाक्रान्त हृदय में कम से कम कुछ समय तक प्रेम और आनन्द के विचार नहीं आ सकते थे। दूसरा यह कि शायद बादशाह नूरजहाँ से जल्द ही विवाह करके शेर अफगन की मृत्यु के विषय में संदेह उत्पन्न कराना नहीं चाहता था। डच लेखक डी लेट (De Laet) लिखता है कि जब नूरजहाँ कुमारी थी तभी से जहाँगीर उससे प्रेम करता था किन्तु वह शेर अफगन की वाग्दत्ता हो चुकी थी, इसलिए उससे विवाह करने की अकबर ने आज्ञा नहीं दी। इन

सब बातों पर ध्यान देने से शेर अफगन की मृत्यु में जहाँगीर का हाथ होने का सन्देह होता है, किन्तु इस बात का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

नूरजहाँ का चरित्र—जहाँगीर के साथ विवाह होने के समय नूरजहाँ करीब ३५ बरस की थी; किन्तु इस अवस्था में भी वह अपूर्व सुन्दरी थी, जैसा उसके चित्रों से प्रकट होता है। उसकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। वह जटिल राजनैतिक समस्याओं को बिना किसी कठिनाई के समझ जाती थी। उसे कविता का बड़ा शौक था और वह स्वयं बहुत अच्छी कविता करती थी। उसमें सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम था। उसने मुगल दरबार की शोभा और भव्यता को बहुत बढ़ा दिया। वस्त्राभूषण के लिए उसकी रुचि आदर्श मानी जाती थी, उसने कई नये ढंग के आभूषण निकाले।

उसमें पर्याप्त शारीरिक बल तथा साहस था। वह जहाँगीर के साथ शिकार खेलने जाया करती थी। उसने कई बार बाघ का शिकार किया। वह विपत्ति में कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होती थी। संकटमय परिस्थिति में वह साहस तथा अपनी शक्तियों का अच्छा परिचय देती थी, जैसा महाबत खाँ द्वारा जहाँगीर के कैद किये जाने के अवसर पर अच्छी तरह प्रकट हुआ था। घमासान युद्ध में उसे हाथी पर बैठकर शत्रुओं पर तीरों की बौछार करते देखकर अनुभवी सेनापति तथा सैनिक भी चकित हो जाते थे। वह बड़ी परिश्रमी थी। राज्य-प्रबन्ध के सब कार्यों की स्वयं देख-भाल करती थी। गो कि राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए वह षड्यंत्र किया करती थी फिर भी उसमें उदारतापूर्ण क्षमाशीलता और दया की कमी नहीं थी। वह दीन-दुखियों की बहुत सहायता करती थी, अनाथ मुसलमान लड़कियों के विवाह के लिए धन दिया करती थी। अपने पिता तथा भाई पर उसका बहुत स्नेह था। उसके प्रभाव से वे राज्य के उच्चतम पदों तक पहुँच गये। वह जहाँगीर को पूर्ण हृदय से प्यार करती थी और उसके लिए अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार रहती थी। बादशाह पर उसका प्रभाव असीम था। वह उसके हाथ का खिलौना हो गया था।

किन्तु नूरजहाँ का प्रभाव साम्राज्य के लिए सब प्रकार हितकर नहीं सिद्ध हुआ। उसकी शक्ति-लिप्सा तथा सम्राट् पर उसके अत्यधिक प्रभाव के कारण साम्राज्य की शान्ति नष्ट होने के करीब हो गई थी। उसकी अहंमन्यता तथा

संशयालुता से विवश होकर ही महावत खाँ ने विद्रोह किया जिससे साम्राज्य में विशृंखलता आ गई। सम्राट् पर उसके हानिकर प्रभाव के कारण ही शाहजहाँ को विद्रोह की शरण लेनी पड़ी और १६२२ ई० में कन्धार हाथ से निकल गया। यह जानते हुए भी कि खुर्रम युवराजपद का नियमानुकूल तथा योग्यतम अधिकारी था, उसने सब भाँति अयोग्य शहरयार को वह पद दिलाने का उद्योग किया। जैसा पहले दिखलाया जा चुका है, शहरयार के प्रति उसके इस पक्षपात का बहुत बुरा परिणाम हुआ। उसके प्रभाव से जहाँगीर की विलासिता अत्यधिक बढ़ गई जिससे वह राजकार्य से बिलकुल उदासीन रहने लगा। इसका फल यह हुआ कि उसमें योग्यता होते हुए भी उसके शासन-काल में सामरिक विजयों और शासन-सम्बन्धी सुधार का अभाव ही सा पाया जाता है।

बंगाल में उसमान खाँ का विद्रोह—अकबर के शासन-काल में १५७५ ई० में दाऊद को पराजित करके बंगाल साम्राज्य में मिला लिया गया था किन्तु अफगान पूर्ण रूप से अशक्त नहीं हुए थे। उन्हें एक योग्य तथा महत्त्वाकांक्षी नायक मिल गया। वह उसमान था जो प्रत्यक्ष रूप में तो मुगलों का राजभक्त था; किन्तु मन में अफगानों की स्वतन्त्रता का स्वप्न देखा करता था। उसने एक बार पहले १५९९ ई० में विद्रोह किया था जब राजा मानसिंह ने उसका दमन किया था। बंगाल में जल्द-जल्द सूबेदारों के बदलने से उसके विद्रोहात्मक विचारों को प्रोत्साहन मिला और जब कुतबुद्दीन के बाद नियुक्त होनेवाले जहाँगीर कुली की मृत्यु पर इस्लाम खाँ बंगाल का सूबेदार नियुक्त हुआ, बंगाल के अफगान जमींदार प्रकाश्य रूप में विद्रोह करने लगे। अफगानों ने उसमान के झंडे के नीचे इकट्ठे होकर युद्ध की तैयारी की। साम्राज्य की सेना से उनका जो युद्ध हुआ, उसमें अफगानों ने बड़ी वीरता दिखलाई। दिन भर के युद्ध के बाद उसमान के सिर में सांघातिक आघात लगा, फिर भी वह और छः घंटों तक अपने दल का संचालन करता रहा। अन्त में हारकर अफगान अपनी खाइयों में लौट गये। वहाँ उसमान की मृत्यु हो गई, जिस पर उसका दल तितर-बितर हो गया।

जब (पहली अप्रैल १६१२) इस विजय का समाचार दरबार में पहुँचा तो जहाँगीर बड़ा प्रसन्न हुआ और इसमें भाग लेनेवाले सेनानायकों को उसने

यथोचित रूप से पुरस्कृत किया और इसलाम खाँ का दर्जा बढ़ा दिया। अफगानों की राजनैतिक शक्ति जाती रही, किन्तु बादशाह ने उनके साथ अच्छा बर्ताव किया। उनको साम्राज्य की सेना में भर्ती होने का अधिकार प्रसन्नतापूर्वक दे दिया। उसकी इस उदार नीति का बड़ा अच्छा फल हुआ। अफगानों के विद्रोहात्मक भाव जाते रहे और वे सिंहासन के राजभक्त सेवक बन गये।

मेवाड़ की अधीनता—सिंहासनासीन होने के थोड़े ही काल बाद जहाँगीर ने मेवाड़ की ओर दृष्टि फेरी। शाहजादा परवेज की अधीनता में अनुभवी सेनापतियों के साथ एक बड़ी सेना मेवाड़ के विरुद्ध भेजी गई। किन्तु इस आक्रमण का कोई सन्तोषजनक फल नहीं हुआ। दो वर्ष बाद बादशाह ने एक बड़ी सेना के साथ महाबत खाँ को भेजा। उसने राजपूतों को पराजित किया किन्तु इससे उनका बल न क्षीण हुआ। इसके बाद विभिन्न सेनापतियों की अधीनता में कई आक्रमण हुए जिनका राजपूत वीरतापूर्वक सामना करते रहे। अन्त में एक बड़ी सेना तथा कई सुयोग्य सहकारी सेनापतियों के साथ राजकुमार खुर्रम भेजा गया। मुगलों के लगातार आक्रमणों का सामना करते करते राणा की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, तब भी राजपूतों ने हिम्मत न हारी और वीरतापूर्वक युद्ध किया। किन्तु अब राजपूतों में मुगलों की असंख्य सेना का सामना करने की शक्ति नहीं रह गई थी। राजपूत सरदार लगातार युद्ध से तंग आ गये थे। उन्होंने संधि कर लेने के लिए राणा पर बहुत जोर डाला। अन्त में सब प्रकार से विवश होकर महाराणा अमरसिंह संधि करने तथा मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार करने को तैयार हो गये। सन्धि की शर्तों के अनुसार राणा ने अपने पुत्र को मुगल दरबार में भेजना स्वीकार किया; किन्तु दरबार में स्वयं उपस्थित होने से क्षमा चाही। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। चित्तौर राणा को लौटा दिया गया, किन्तु उन्हें किले की मरम्मत करने का अधिकार नहीं रहा। राणा से किसी प्रकार के वैवाहिक संबंध के लिए भी नहीं कहा गया। उसे केवल मुगल साम्राज्य के लिए १००० सवारों की सेना रखने की शर्त माननी पड़ी; और उसका पुत्र पंचहजारी बना दिया गया। राणा ने शाहजादा खुर्रम से भेंट की। दोनों ने एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट किया और बहुमूल्य भेंटों का आदान-प्रदान

किया। राणा का युवराज कर्णसिंह शाहजादे के पास आया और उसने उस क्षत्रिय राजकुमार को एक बहुमूल्य खिलअत बख्श दी और कई उपहार दिये। जहाँगीर ने इस सफलता को एक गौरव की बात मानी। उसने हाथी पर सवार राणा और उनके पुत्र की पूरे कद की संगमर्मर की मूर्तियाँ बनवाकर आगरे में झरोखे के नीचे स्थापित कराई। औरंगजेब ने १६६८ ई० में इन मूर्तियों को हटवा दिया। अब इनका कुछ पता नहीं है।

महामारी का प्रकोप––जहाँगीर के शासन-काल में उत्तर भारत में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ। वह इस बीमारी के बारे में कहता है कि काँख में या रान में या कनपटी के नीचे गिल्टी निकलती थी और लोग मर जाते थे। उसका समकालीन इतिहासकार मुतमादखाँ लिखता है कि यह बीमारी पंजाब में शुरू हुई, जहाँ से सरहिन्द में फैली और फिर वहाँ से दिल्ली और उसके समीपवर्ती नगरों और गाँवों में फैल गई। उसने बीमारी का जो वर्णन दिया है वह आजकल के प्लेग की बीमारी के बारे में भी पूरे तौर पर लागू होता है। वह लिखता है कि बीमारी फैलने के पहले चूहे मरते थे। बीमारी के आगमन की यह सूचना मिलते ही लोग प्राण बचाने के लिए घर छोड़कर बस्ती के बाहर चले जाते थे। ऐसा न करने पर समूचा गाँव का गाँव मौत का शिकार बन जाता था। वह लिखता है कि यह एक भयंकर संक्रामक रोग था। इसके रोगी या उसके संसर्ग में आई हुई वस्तुओं के सेवन या संसर्ग से यह बीमारी हो जाती थी। वह लिखता है कि हिन्दुस्तान की कोई जगह इस बीमारी से नहीं बची; आठ वर्ष तक देश में यह बीमारी रही। यह काश्मीर में भी फैल गई थी।

१६१८-१९ ई० में यह बीमारी आगरे में और आस-पास के गाँवों व शहरों में दुबारा फैली। आगरे में इससे प्रतिदिन १०० आदमी मरते थे। जहाँ तक जान पड़ता है, राज्य की ओर से इस बीमारी को दूर करने के लिए या इसकी रोक-थाम के लिए कुछ नहीं किया जा सका।

हाकिन्स और सर टामस रो––कैप्टन हाकिन्स इँगलैंड के बादशाह जेम्स प्रथम का पत्र लेकर अँगरेजों के लिए व्यापार-संबंधी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए १६०८ ई० में जहाँगीर के दरबार में आया। पुर्तगाली लोगों ने उसकी राह में बहुत रोड़े अटकाये लेकिन वह बादशाह के दरबार में पहुँचने में सफल हो

गया। बादशाह उससे अच्छी तरह मिला और उसके बहुमूल्य उपहार स्वीकार किये। जहाँगीर उससे बहुत प्रसन्न रहता था और उसे अपनी दावतों में निमन्त्रित करता था। उसने उसे ४०० का मनसबदार बना दिया। हाकिन्स अपने देशवासियों के लिए जो व्यापारिक सुविधाएँ चाहता था वे मंजूर कर ली गई।

*

हाकिन्स ने बादशाह की रहन-सहन, दरबार की रस्मों, शासन-प्रबन्ध तथा प्रजा के सामाजिक जीवन का विस्तृत वर्णन दिया है। वह लिखता है कि बादशाह बहुत शराब पीता था और दावतें बहुत दिया करता था। उसने यह भी लिखा है कि बादशाह के राजकोष में असीम धन था।

सर टामस रो इँगलैंड के बादशाह का राजदूत था जो अँगरेजों के लिए हिन्दुस्तान में व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए १६१५ ई० में जहाँगीर के दरबार में आया। वह एक बड़ा ही योग्य मनुष्य था। उसके यहाँ आने का प्रधान उद्देश्य मुगल-बादशाह के साथ एक व्यापारिक संधि स्थापित करना था। इस कार्य में सफलता प्राप्त करना बड़ा कठिन था। बार बार असफल होकर भी सर टामस रो बराबर प्रयत्न करता रहा। इस समय दरबार में नूरजहाँ के दल की तूती बोलती थी। उसने पहले आसफ खाँ और नूरजहाँ को भेटें देकर प्रसन्न किया और फिर आसफ खाँ की सहायता से राजकुमार खुर्रम की कृपा प्राप्त की जिसने उसे बहुत सहायता देने का वचन दिया। पुर्तगाली अँगरेजों के बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे। उनके षड्यन्त्रों के कारण सर टामस रो को बादशाह को राजी करने में बड़ी कठिनाई पड़ी। बहुत दिनों बाद वह एक फरमान प्राप्त करने में सफल हुआ जिसके अनुसार पुर्तगालियों द्वारा आक्रमण किये जाने पर अँग-रेजों को स्थानीय मुगल अधिकारी द्वारा सहायता दिये जाने का वचन दिया गया। बंदरगाहों में आनेवाले उनके माल पर का आयात-कर मुआफ कर दिया गया और उन्हें अपने उपनिवेश के स्वतन्त्र शासन का अधिकार स्वीकार किया गया। अँगरेज व्यापारियों को फैक्टरी स्थापित करने के लिए कोई भवन किराये पर लेने का अधिकार मिल गया; किन्तु इस फरमान के अनुसार उन्हें कोई इमारत बनाने या हमेशा के लिए खरीद लेने का अधिकार नहीं मिला और

अँगरेजों की एक निश्चित संख्या ही एक नगर में शस्त्र धारण कर सकती थी। सर टामस रो के बहुत प्रयत्न करने पर ये प्रतिबन्ध हटा लिये गये।

अँगरेजों से भारत के संबंध के इतिहास में यह फरमान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इससे हिन्दुस्तान में अँगरेजों की प्रतिष्ठा बढ़ गई और उन्हें यहाँ उन्नति करने के लिए एक सुदृढ़ भित्ति का सहारा मिल गया।

सर टामस रो ने मुगल दरबार की शान-शौकत तथा मुगल सम्राट् के वैभव तथा शक्ति का और मुगल सरदारों के आनन्दोत्सवों तथा विलासपूर्ण जीवन का बड़ा अच्छा चित्र दिया है। किन्तु इसके साथ ही वह कृषकों की दीन-हीन दशा, सड़कों की अरक्षित अवस्था आदि का वर्णन करना भी नहीं भूला है। वह लिखता है कि राज्य भर में सर्वत्र घूसखोरी का बाजार गरम था। देश सूबों में विभाजित था; किन्तु प्रांतीय शासकों पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण बहुत ढीला था। साम्राज्य के सरदारों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी खुद बादशाह होता था। उनके मरने पर उनकी संपत्ति शाही खजाने में चली आती थी। वह लिखता है कि बादशाह बड़ा प्रसन्नचित्त, मिलनसार और अहंकार-शून्य था। वह रात को कभी-कभी इतनी शराब पीता था कि बेहोश हो जाता था।

दक्षिण—अहमदनगर—१६०५ ई० में गद्दी पर बैठते ही जहाँगीर ने दक्षिण की ओर दृष्टि फेरी। उसने अहमदनगर के राज्य को पूर्ण रूप से वश में करना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसे एक असाधारण राजनीतिज्ञ तथा युद्ध-विशारद व्यक्ति, अहमदनगर के निजामशाही बादशाहों के मन्त्री तथा सेनापति मलिक अंबर, का सामना करना पड़ा। उसमें असाधारण बुद्धि-बल तथा चरित्र-बल था। अहमदनगर राज्य में उसे बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसने शासन-प्रबंध में कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये थे जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय राजा टोडरमल की प्रणाली के अनुसार लगान का प्रबन्ध था। उसने निजामशाही राज्य की सैनिक शक्ति बढ़ा ली और दक्षिण भारत में एक नई युद्ध-पद्धति का आविष्कार किया। उसी ने पहले पहल मराठों को गोरिल्ला युद्ध-प्रणाली की शिक्षा दी। एक ऐसे शत्रु से लड़ना आसान बात नहीं थी। मलिक अंबर ने करीब बीस वर्ष तक मुगल सैनिक शक्ति को परेशान रखा।

मलिक अंबर ने शीघ्रता से जीतना आरम्भ किया। यह देखकर जहाँगीर ने १२,००० सैनिकों के साथ खानखाना को दक्षिण की ओर भेजा। इस दल को सफलता मिलते न देखकर खानजहाँ लोदी की अध्यक्षता में बादशाह ने एक और फौज भेजी। दक्षिण पहुँचने पर इस दल को मलिक अंबर की सेना के द्वारा मुगलों के हराये जाने की खबर मिली। खानजहाँ ने बादशाह से खानखाना के बुला लिये जाने और खुद मुगल सेनाओं का प्रधान अध्यक्ष बनाये जाने की प्रार्थना की। इस प्रकार उसने सफलता का पूर्ण विश्वास दिलाया। उसकी प्रार्थना मान ली गई और १६११ ई० में मुगल सेनाओं ने खानजहाँ की अध्यक्षता में आक्रमण किया, किन्तु मलिक अंबर के मराठा सवारों ने उन्हें बुरी तरह पराजित करके गुजरात की ओर भगा दिया। यह खबर पाकर बादशाह ने खानखाना को फिर दक्षिण भेजा। उसने मलिक अंबर की सेना को एक घोर युद्ध में पराजित किया; लेकिन इससे शत्रु का बल नहीं टूटा। खानखाना की सफलता पर भी उसके विरोधियों ने उस पर शत्रु से घूस लेने का अभियोग लगाया और वह वापस बुला लिया गया।

अब दक्षिण की चढ़ाई का अध्यक्ष शाहजादा खुर्रम बनाया गया। साम्राज्य के परम प्रसिद्ध सेनापतियों और एक बड़ी सेना के साथ राजकुमार अजमेर होते हुए ६ मार्च १६१७ को बुरहानपुर पहुँचा। उसने शत्रु से सन्धि का प्रस्ताव किया जिस पर वे तत्काल सहमत हो गये। १५ लाख की भेंट के साथ आदिलशाह स्वयं राजकुमार के पास उपस्थित हुआ और उसने मलिक अंबर द्वारा जीते गये प्रदेशों को लौटा देने की प्रतिज्ञा की। बादशाह ने इस सन्धि को मान लिया और आदिल खां को फर्जन्द की उपाधि दी। वह इस सफलता से बहुत प्रसन्न हुआ और इसमें भाग लेनेवाले सब सरदारों को समुचित रूप से पुरस्कृत किया। राजकुमार खुर्रम को शाहजहां की उपाधि दी गई और उसका मनसब ३०,००० जात और २०,००० सवार का कर दिया गया और राजधानी में पहुँचने पर उसका अभूतपूर्व सम्मान हुआ। जहाँगीर लिखता है कि इस अवसर पर तीन लाख रुपये खर्च किये गये। यहाँ पर इस बात का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि मलिक अंबर का उत्साह अब भी पूर्ववत् बना हुआ था।

काँगड़ा-विजय--जहाँगीर के राज्य की सबसे बड़ी सफलता काँगड़ा-विजय

है। यह दुर्ग एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ था और प्रकृति ने इसे दुर्भेद्य बना दिया था। फीरोज तुगलक ने इस किले पर चढ़ाई की लेकिन इसे ले न सका और उसे यहाँ के राजा से अपनी अधीनता स्वीकार करा के सन्तुष्ट हो जाना पड़ा। अकबर के समय में भी इस किले पर घेरा डाला गया था, परन्तु यह लिया न जा सका। जहाँगीर ने इस किले को जीतने के लिए पंजाब के सूबेदार मुर्तजा खाँ को नियत किया। उसका देहान्त हो जाने पर यह कार्य शाहजहाँ को सौंपा गया। किले का घेरा १४ महीनों तक जारी रहा। किले की सब रसद चुक जाने पर भी सेना उबाले हुए घास पर निर्वाह करके उसकी रक्षा करती रही। किन्तु अन्त में १६ नवम्बर १६२० को उसने आत्म-समर्पण कर दिया।

खुसरो की मृत्यु—अभागे कैदी राजकुमार खुसरो की दुर्दशा पर तरस खाकर हरम की महिलाओं ने सम्राट् से उसे क्षमा कर देने की प्रार्थना की। उसे दरबार में आने की आज्ञा तो मिल गई; किन्तु उसकी प्रसन्नता फिर नहीं लौट सकी। वह सदैव दुःखी तथा संतप्त बना रहता था। इससे चिढ़कर बादशाह ने उसका दरबार में आना फिर बन्द कर दिया। अक्टूबर १६१६ में वह आसफ खाँ के सुपुर्द किया गया। उसने उसे शाहजहाँ के हवाले कर दिया। वह उसे मलिक अंबर के विरुद्ध दक्षिण जाते समय साथ लेता गया। बुरहानपुर में १६२२ के आरम्भ में ही खुसरो की मृत्यु हो गई, और जहाँगीर को खबर दी गई कि उसकी कुलंज (कालिक) की बीमारी से मृत्यु हो गई। किन्तु सच्ची बात यह जान पड़ती है कि उसकी लोकप्रियता से डरकर शाहजहाँ ने उसकी हत्या करवा डाली। बादशाह ने अपने मृत पुत्र पर दया करके उसके अवशेष को दुबारा इलाहाबाद के एक बाग में जिसे खुसरो बाग कहते हैं, दफनवाया, जहाँ उसकी कब्र अब भी मौजूद है।

शाहजहाँ का विद्रोह—जैसा पहले दिखलाया जा चुका है, नूरजहाँ के षड्यंत्रों के कारण अपने अधिकारों की रक्षा के लिए शाहजहाँ विद्रोही हो जाने के लिए विवश हो गया। दोनों दलों ने युद्ध की तैयारी की और उनमें दिल्ली के दक्षिण बिलोचपुर के पास युद्ध हुआ जिसमें विद्रोही दल पराजित हुआ। इसमें शाहजहाँ का सहायक वीर सरदार रायरायान राजा विक्रमजीत मारा गया। शाही फौज ने शाहजादे का पीछा किया। वह दक्षिण की ओर लौट गया और बिना किसी

लड़ाई के असीगरढ़ ले लिया। उसके बहुत से अनुयायियों ने उसका साथ छोड़ दिया और उसने मलिक अंबर से सहायता के लिए प्रार्थना की। उससे भी सहायता न मिलने पर शाहजादा सहायता के लिए गोलकुण्डा गया। वहाँ भी शरण न मिलने पर वह तिलंगाना पार करता हुआ उड़ीसा चला गया और बंगाल एवं बिहार के समूचे सूबे पर अधिकार जमा लिया। उसने अब अवध और इलाहाबाद को लेने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सका। वह पराजित होकर रोहतासगढ़ लौट गया और फिर वहाँ से दक्षिण की ओर चला गया।

मलिक अंबर ने जो इस समय बीजापुर से युद्ध कर रहा था और शोलापुर का किला ले चुका था, उसका स्वागत किया और बादशाह के विरुद्ध उससे एका कर लिया। शाहजहाँ ने बुरहानपुर पर घेरा डाला लेकिन परवेज और महाबत खाँ के पहुँचने पर रोहतासगढ़ लौट गया।

शाहजहाँ ने देखा कि बादशाह की प्रबल शक्ति का बहुत दिनों तक सामना करना उसके लिए असंभव था, इसलिए उसने जहाँगीर से क्षमा के लिए प्रार्थना की। नूरजहाँ ने जो इस समय महाबत खाँ की बढ़ती हुई शक्ति से और परवेज को उसकी सहायता की आशंका से डर रही थी, इस अवसर को हाथ से जाने देना उचित न समझा। उसकी सलाह से मार्च १६२६ में बादशाह ने विद्रोही राजकुमार को क्षमा कर दिया और उसे रोहतासगढ़ और असीरगढ़ समर्पित कर देने और अपनी सद्भावना को प्रकट करने के लिए अपने पुत्रों दारा और औरंजेगब को दरबार में भेज देने की आज्ञा दी। शाहजहाँ ने शाही फरमान का यथोचित पालन किया और १० लाख रुपयों के मूल्य की नजर भेंट की।

महाबत खाँ—खुसरो की मृत्यु और शाहजहाँ की तौहीन होने पर नूरजहाँ के हृदय में अपने अयोग्य दामाद शहरयार के लिए युवराज-पद प्राप्त करने की आशा फिर बलवती हुई। उसका एक प्रतिद्वन्द्वी परवेज था जिसका पृष्ठपोषक साम्राज्य का सबसे वीर सेनापति महाबत खाँ था। खुर्रम का विद्रोह शान्त हो जाने पर जब महाबत खाँ की सेवाओं की आवश्यकता नहीं रह गई तो नूरजहाँ ने उसकी शक्ति तथा प्रभाव छीन लेने की इच्छा से उसे शाही फौज का सेनापतित्व छोड़कर सूबेदार के रूप में बंगाल जाने का हुक्म दिया, जिसका उसे पालन करना पड़ा।

नूरजहाँ इतने ही से सन्तुष्ट न हुई, उसने महाबत खाँ पर बंगाल में राज्य का रुपया हजम कर जाने का अपराध लगाया और उससे जवाब तलब किया। उस पर दूसरा एक बड़ा ही अन्यायपूर्ण दोष यह लगाया कि उसने बादशाह की स्वीकृति के बिना ही ख्वाजा उमर नक्शबंदी के पुत्र के साथ अपनी पुत्री का विवाह पक्का कर लिया था। उसके भावी दामाद का बड़ा अपमान किया गया और उसे कैदखाने में डाल दिया गया। इसके बाद महाबत खाँ ने उसे जो सम्पत्ति दी थी, उसे जब्त कर लेने के लिए एक शाही अफसर फिदाई खाँ भेजा गया। अब महाबत खाँ क्षुब्ध हो उठा और उसने समझ लिया कि बिना किसी घोर समयोचित प्रतिकार के नूरजहाँ के हाथों से उसकी रक्षा असंभव है। फिर वह करीब पाँच हजार राजपूतों के साथ दरबार की ओर चल पड़ा।

जहाँगीर काश्मीर से लौटने के बाद चंद महीनों तक लाहौर ठहरकर मार्च १६२६ में काबुल के लिए रवाना हो रहा था। झेलम के किनारे पड़ाव पड़ा हुआ था। प्रायः सारी सेना नदी पार कर चुकी थी। बादशाह झेलम पार करने ही वाला था कि महाबत खाँ ने अपने वीर राजपूतों के साथ पहुँचकर शाही खेमे को घेर लिया और इस प्रकार बादशाह को बन्दी बना लिया। उसे बादशाह तक पहुँच सकने और उन्हें नूरजहाँ और आसफखाँ के विषमय प्रभाव से अलग करने के लिए ऐसा करने को विवश होना पड़ा।

नूरजहाँ ने झेलम के दूसरे किनारे पहुँचकर एक युद्ध-सभा की जिसमें निश्चय हुआ कि बादशाह को महाबत के पहरे से मुक्त करने के लिए नदी पार करके उसके दल से युद्ध किया जाय। जब जहाँगीर को उनके इस इरादे की खबर मिली तो उसने वीर सुसज्जित राजपूतों के विरुद्ध उनकी सफलता की आशा न देखकर उन्हें इस निश्चय से विरत करना चाहा, किन्तु वे अपने निश्चय से न हटे। दूसरे दिन प्रातःकाल अपने प्राणों की परवा न करके नूरजहाँ हाथी पर बैठकर शहरयार की पुत्री को गोद में लिये हुए सेना के साथ नदी पार करने के लिए आगे बढ़ी। नदी जगह जगह पर बहुत गहरी थी और दूसरे किनारे से महाबत खाँ के सैनिक तीर बरसा रहे थे। बड़ी मुश्किल से शाही सेना विश्रृंखल होकर नदी के दूसरे किनारे पहुँची। मुगल सेनापति भयभीत हो गये थे। जिसे जिधर जगह मिली वह उधर ही अपनी सेना के साथ भाग निकला। आसफ खाँ

ने भागकर ३००० सैनिकों के साथ अटक के किले में शरण ली। नूरजहाँ ने इस संकटापन्न स्थिति में बड़ा साहस दिखलाया किन्तु उसके आदमी सुसंगठित तथा वीर राजपूतों का सामना न कर सके।

नूरजहाँ को महाबत खाँ के हाथ आत्म-समर्पण करना पड़ा जिसने उसे उसके बन्दी पति के साथ रहने की आज्ञा दे दी। इस समय महाबत खाँ का विरोध करनेवाला कोई नहीं रह गया था। उसने एक छोटी सेना भेजकर आसफ खाँ को आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया। नूरजहाँ महाबत खाँ के हाथों से अपने तथा अपने पति के छुटकारे के लिए युक्ति लगा रही थी और उसे जल्द ही सफलता मिल गई। शाहजहाँ के विद्रोहात्मक प्रयत्नों को विफल करने के लिए उसे थट्टा जाने को कहा गया। वह हिन्दुस्तान की ओर मुड़ा तो शाही दल ने उसे बेबस करके बंगाल से लाया हुआ उसका सब खजाना लूट लिया।

दक्षिण के युद्ध की समाप्ति—महाबत खाँ के दक्षिण से बुला लिये जाने पर नूरजहाँ ने दक्षिण के युद्ध का भार खाँजहाँ लोदी को सौंपा। १६२६ ई० में मलिक अंबर की मृत्यु हो जाने से अहमदनगर राज्य का बल घट गया। मलिक अंबर का स्थान एक दूसरे योग्य गुलाम हामिद खाँ ने ग्रहण किया। मुगल सेनापति खाँजहाँ हामिद से घूस की एक बहुत बड़ी रकम लेकर और अहमदनगर तक का बालाघाट का सारा प्रदेश उसके लिए छोड़कर लौट आया। जहाँगीर की दक्षिण-विजय की महत्त्वाकांक्षा का ऐसी बुरी तरह अन्त हुआ।

शाहजहाँ की गति-विधि—शाहजहाँ दक्षिण में महाबत खाँ के विद्रोह का समाचार पाकर उत्तर की ओर बढ़ा और सिन्ध में थट्टा पहुँच उसने किले को लेने का प्रयत्न किया; किन्तु सफल न हो सका। हतोत्साह और अस्वस्थ होकर वह एक बार फिर दक्षिण चला गया। इस बीच में महाबत खाँ का खजाना शाही दल द्वारा लूटा जा चुका था। अपनी सम्पत्ति खोकर महाबत खाँ मेवाड़ के पहाड़ों और जंगलों मे चला गया। वहाँ से वह भी दक्षिण चला गया और वहाँ शाहजहाँ से मेल कर लिया।

जहाँगीर की मृत्यु—बादशाह का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। वह नूरजहाँ और आसफ खाँ के साथ मार्च १६२७ ई० में काश्मीर गया था। वहाँ से लौटते समय वह बैरमकला में ठहरा। वहाँ उसकी बीमारी बढ़ गई।

योग्य से योग्य चिकित्सक भी उसे अच्छा न कर सके और २८ अक्टूबर १६२७ के प्रातःकाल यहीं उसका देहान्त हो गया।

उत्तराधिकार की समस्या—परवेज १६२६ ई० के अक्टूबर महीने में ही अत्यधिक मद्यपान से मर चुका था। सिंहासन के लिए शाहजहाँ का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी शहरयार था। बादशाह का देहान्त होने पर आसफ खाँ ने चटपट शाहजहाँ के पास एक पत्रवाहक यह समाचार देने के लिए भेज दिया और उसके आने तक खुसरो के पुत्र दावरबख्श को कारावास से बाहर निकालकर बादशाह घोषित कर दिया। नूरजहाँ ने अपने भाई से मिलने की बहुत कोशिश की; परन्तु वह किसी न किसी बहाने से टालता गया। जहाँगीर का शव लाहौर के पास नूरजहाँ के दिलकुशा बाग में दफनाया गया। बाद में नूरजहाँ ने अपने प्रिय पति की कब्र पर मकबरा बनवाया परन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी जहाँगीर की कब्र के ऊपर उसकी इच्छा के अनुसार कोई मंडप नहीं बनवाया गया।

नूरजहाँ और उसकी पुत्री ने शहरयार को सिंहासन के लिए प्राण-पण से चेष्टा करने के लिए उत्तेजित किया, और राजकुमार दानियाल का एक पुत्र भी उसका सहायक बना। उधर आसफ खाँ ने शहरयार के प्रयत्नों को निष्फल करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी। वह एक बड़ी सेना के साथ लाहौर की ओर बढ़ा और किले पर घेरा डाला, शहरयार ने चटपट आत्म-समर्पण कर दिया। वह कैद कर लिया गया और उसकी आँखें फोड़ दी गईं।

जहाँगीर की मृत्यु की खबर पाकर शाहजहाँ शीघ्रता से उत्तर की ओर बढ़ा और आसफ खाँ के पास अपने सब प्रतिद्वन्द्वियों को यमधाम पठा देने के लिए एक फरमान भेज दिया जिसका उसने मुस्तैदी से पालन किया। इस प्रकार सबको कत्ल कर निष्कंटक होकर शाहजादा ने २४ जनवरी १६२८ को बड़ी धूम-धाम से राजधानी में प्रवेश किया। उसने आसफ खाँ को उसकी सेवाओं के बदले यायमीनुद्दौला की उपाधि दी और उसका पद ८००० जात और ८००० सवार का कर दिया।

यद्यपि नूरजहाँ ने शाहजहाँ के विरुद्ध षड्यन्त्र किया था तथापि शाहजहाँ ने उसके लिए दो लाख वार्षिक की पेन्शन नियुक्त कर दी। वह सब प्रकार की विलासिता छोड़कर शोक में अपनी पुत्री—शहरयार की विधवा पत्नी—के साथ

लाहौर में अपने दिन बिताने लगी। ८ दिसंबर १६४५ को उसकी मृत्यु हो गई और वह अपने पति की बगल में दफना दी गई।

जहाँगीर का व्यक्तित्व—जहाँगीर की फारसी साहित्य की अच्छी गति थी। वह फारसी अच्छी लिखता भी था। वह तुर्की भाषा बोल सकता था परन्तु लिख नहीं सकता था। उसे काव्य से बड़ा प्रेम था। और वह स्वयं भी गजलें लिखता था। काव्य तथा साहित्य के अतिरिक्त उसने इतिहास भूगोल और जीवन-चरित्रों का भी अच्छा अध्ययन किया था। अपने जहाँगीरनामे में उसने काश्मीर तथा भारत के अन्य भागों की वनस्पतियों तथा पशु-पक्षियों का बहुत अच्छा वर्णन किया है जिससे उसकी परिष्कृत निरीक्षण-शक्ति का परिचय मिलता है। वह हिन्दी कविता भी बहुत पसन्द करता था और हिन्दी कवियों को उदारतापूर्वक पुरस्कृत करता था। वह भवन-निर्माण कला और चित्रकला से बड़ा प्रेम रखता था और इन कलाओं का बड़ा अच्छा पारखी था। उसके दरबार में चित्रकारों का बड़ा सम्मान होता था।

जहाँगीर को शिकार का बड़ा शौक था, वह निशाना लगाने में बड़ा सिद्ध-हस्त था। वह एक अच्छा सैन्य-संचालक भी था। वह राजकाज में अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी मन्त्री की कोई बात सहन नहीं कर सकता था। किन्तु अवस्था बढ़ने पर उसके स्वभाव की यह प्रखरता शान्त पड़ गई। जहाँगीर न्याय के पालन में बड़ा कठोर था। वह अत्याचार का दमन बड़ी कड़ाई से करता था। उसका क्रोध बड़ा भयंकर होता था। क्रुद्ध होने पर वह कभी-कभी बड़ा निर्दयी तथा क्रूर हो जाता था। किन्तु स्वभाव से वह रक्तपिपासु नहीं था। साधारणतः वह बड़ा दयावान् और उदार था। दीन-दुखियों पर उसकी बड़ी दया रहती थी। वह साधु-फकीरों का बड़ा सम्मान करता था। और हिन्दू योगियों से बहुत सम्पर्क रखता था।

जहाँगीर का स्वभाव बड़ा स्नेहमय था। वह अपने परिजनों पर बड़ी कृपा रखता था, किन्तु उनके राजनैतिक विद्रोहाचरण का वह बड़ी कड़ाई से दमन करता था। किन्तु इसके साथ ही वह उन्हें अनुताप करने तथा अपना चरित्र सुधारने का अवसर देता था, जैसा विद्रोही खुसरो और शाहजहाँ के साथ उसके व्यवहार से प्रकट होता है। यद्यपि जहाँगीर ने अकबर के प्रति विद्रोहाचरण

किया था, उसकी पुस्तक से उसके प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा प्रकट होती है। वह कई बार उसके प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के लिए पैदल नंगे पैर सिकन्दरा में उसकी समाधि तक गया। वह नूरजहाँ को अपने प्राणों से अधिक प्यार करता था। अपने जीवन के अन्त तक वह उसे बराबर सबसे अधिक विश्वासपात्र और अपना सबसे बड़ा सलाहकार मानता रहा।

जहाँगीर में जहाँ गुण थे, वहाँ दोष भी थे। वह बड़ा मद्यपी था। उसने १५ वर्ष की अवस्था में मद्य पीना आरम्भ किया और ९ वर्षों में दिन-रात में बीस-बीस प्याले तेज शराब पीने लगा। बाद में उसने शराब की मात्रा कम कर दी किन्तु फिर भी मद्यपान के कारण अन्त में उसकी तन्दुरुस्ती बिलकुल चौपट हो गई। उसके अन्य तीनों भाई मुराद, दानियाल और परवेज अत्यधिक मद्यपान से ही मर चुके थे। जहाँगीर का दूसरा बड़ा भारी अवगुण जिसके कारण राजशक्ति में बड़ी शिथिलता आ गई तथा शासन-प्रबन्ध में बड़ी गड़बड़ी पैदा हो गई उसका दूसरों के हाथों में कठपुतली बन जाना था। विलासप्रिय बादशाह ने राज्य का सारा भार नूरजहाँ और उसके भाई आसफ खाँ के हाथों में सौंप दिया था। उसके इन अवगुणों के फलस्वरूप ही जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, कन्धार हाथ से निकल गया और महाबत खाँ और शाहजहाँ के विद्रोह हुए।

जहाँगीर पक्का सुन्नी मुसलमान था; परन्तु उसने कभी शियों अथवा हिन्दुओं को कष्ट नहीं दिया। अकबर के दरबार के धार्मिक उदारतापूर्ण वातावरण का उस पर यह प्रभाव पड़ा कि वह वेदान्त और सूफी मत की शिक्षाओं में बड़ी रुचि रखता था। हिन्दू साधु-संतों से वह समागम करता था। तुजक जहाँगीरी में जदरूप नामक संन्यासी का वर्णन है। उससे बादशाह कभी-कभी मिलने जाता था। किन्तु फिर भी वह धार्मिक संकीर्णता से सर्वथा मुक्त नहीं था। एक बार जब उसे यह मालूम हुआ कि कुछ मुसलमान एक संन्यासी के उपदेशों से प्रभावित हो गये थे, उसने उनके साथ कठोरता का व्यवहार किया और इस प्रकार उसने इस्लाम धर्म की रक्षा की। किन्तु साधारणतः उसने अपने पिता के सुलहकुल के नियम को जारी रखा।

अध्याय १८

साम्राज्य का चरमोत्कर्ष शाहजहाँ का शासन-काल

(१६२८-५८ ई०)

शाहजहाँ के प्राथमिक कार्य--शाहजहाँ ६ फरवरी सन् १६२८ को विधिवत् सिंहासनारूढ़ हुआ। इस अवसर पर खूब आनन्दोत्सव मनाया गया और सरदारों की पदोन्नति की गई तथा उन्हें पारितोषिक दिये गये। शाहजहाँ अकबर और जहाँगीर की अपेक्षा धार्मिक विचारों में अधिक कट्टर था। उसने पहला कार्य यह किया कि राजकार्य में सौर वर्ष का व्यवहार बन्द करके चन्द्र वर्ष तथा हिजरी सन् के व्यवहार की आज्ञा दी। इससे कट्टर मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए। सिजदा जो अकबर और जहाँगीर के दरबार में प्रचलित था, बन्द कर दिया गया क्योंकि धार्मिक दृष्टि से केवल ईश्वर को ही सिजदा करना उचित है। महाबत खाँ खानखाना ने निवेदन किया कि सिजदे की जगह पर जमीबोसी (जमीन चूमने) का नियम रहे तो अच्छा हो जिससे अभिवादन में स्वामी और सेवक, राजा और प्रजा का सम्बन्ध नियमबद्ध रहे। बादशाह ने यह बात मान ली और आज्ञा दी कि लोग दाहिना हाथ जमीन पर टेककर उसका पृष्ठभाग चूमा करें। शेख, सैयद और उलमा इस प्रकार अभिवादन करने के नियम से मुक्त रखे गये। कुछ समय बाद ऐसा विचार आने लगा कि जमींबोस भी सिजदे का ही एक रूप है अतएव राज्यारोहण के दसवें वर्ष यह भी बन्द कर दिया गया; और इसके बदले चहार तसलीम की प्रथा प्रचलित की गई।

बादशाह ने अपने दादा की स्मृति में आगरे के शहर का नाम अकबराबाद रख दिया। साम्राज्य के प्रान्तों के शासन-प्रबन्ध में भी कुछ परिवर्तन किये गये। साम्राज्य के सरदारों को मुक्तहस्त से पारितोषिक दिये गये, विरोधियों के प्रति भी उदारता दिखलाई गई। आसफ खाँ का मनसब ८००० जात और ८००० सवार का कर दिया गया।

शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के थोड़े ही काल बाद बुन्देलों ने विद्रोह किया। अबुलफजल के वधिक वीरसिंह के समय में बुन्देलों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। जहाँगीर के शासन-काल के अन्त में केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण ढीला पड़ जाने के कारण बुन्देले सरदार को अपने पड़ोसियों को दबाकर अपनी शक्ति तथा सम्पत्ति बढ़ाने का मौका मिल गया था। १६२७ ई० में वीरसिंह की मृत्यु हो जाने पर उसकी विशाल संपत्ति तथा राज्य का स्वामी उसका पुत्र जुझारसिंह हुआ जिसने बादशाह की आज्ञा के बिना ही राजधानी छोड़कर उसे क्रुद्ध कर दिया। वह साम्राज्य की राजधानी आगरे से अपने किले ओर्छा में पहुँचा और अपनी सेना सुदृढ़ करने लगा तथा लड़ाई के सब सामान इकट्ठे करने लगा।

बादशाह ने बिना विलम्ब उसके दमन की तैयारी की। महाबत खाँ खानखाना अन्य बड़े-बड़े सहकारी सेनापतियों के साथ उत्तर की ओर बढ़ा। खाँनजहाँ कई और सरदारों के साथ मालवा से चन्देरी होते हुए बढ़ा। उसकी सहायता के लिए कई हिन्दू सरदार नियुक्त किये गये थे। एक ओर बड़ी सेना कन्नौज के जागीरदार फिरोजजंग के अधीन पूरब से बुन्देलखंड में घुसी। समूची शाही फौज में सब मिलाकर २७,००० सवार, ६००० पैदल और १५०० बन्दूकची थे। जुझारसिंह में इतनी बड़ी सेना का सामना करने की शक्ति नहीं थी, फिर भी उसने प्राणपण से अपनी रक्षा की चेष्टा की। युद्ध में उसके दो-तीन हजार आदमी मारे गये और उसके किले पर शाही सेना का अधिकार हो गया। अन्त में उसने आत्म-समर्पण किया और बादशाह के सामने हाजिर हुआ। उसे १००० मोहरें नजर देनी पड़ीं और १५ लाख रुपये जुर्माना में देने पड़े, और इसके अलावे ४० हाथी भी देने पड़े। उसके पास इतनी जागीर रहने दी गई जितनी ४००० जात और ४००० सवार के पद के लिए उपयुक्त थी और शेष खाँनजहाँ लोदी, अब्दुल्ला खाँ, सैयद मुजफ्फर खाँ और राजा पहाड़सिंह बुन्देला के बीच बाँट कर दी गई। जुझारसिंह को दक्षिण की चढ़ाई में बादशाह की सहायता के लिए २००० सवार और २००० पैदल सैनिक तैयार रखने की आज्ञा दी गई।

खाँनजहाँ लोदी का विद्रोह—यह विद्रोह शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के दूसरे वर्ष हुआ। उसने जहाँगीर की मृत्यु होने पर सिंहासन के उत्तराधिकार की अनिश्चित परिस्थिति से लाभ उठाना चाहा था; किन्तु शाहजहाँ की द्रुतगति तथा

सफलता देखकर जब उसे अपनी सफलता की आशा न रही तो उसने क्षमा की प्रार्थना की। उसके अपराध क्षमा कर दिये गये और उसे दक्षिण की सूबेदारी दी गई। कुछ काल बाद वह दक्षिण से दरबार में बुला लिया गया, जहाँ वह सात-आठ महीने तक रहा। बादशाह ने उसके साथ अच्छा बर्ताव किया किन्तु वह सदैव उदास और दुःखी रहता था। एक मूर्ख दरबारी ने उसके पुत्रों से कह दिया कि वे और उसके पिता शीघ्र ही कैद कर लिये जायेंगे, यह बात सुनकर वह बड़ा भयभीत हो गया। आसफ खाँ की राय से उसे निर्भय करने के लिए बादशाह ने स्वयं अपने हस्ताक्षर की चिट्ठी उसके पास भेजी किन्तु उसका संदेह दूर न हुआ। भयभीत होकर वह अपनी रक्षा के लिए दरबार से भाग खड़ा हुआ।

बादशाह ने उसके विरुद्ध कई सेनापतियों को भेजा। वे धौलपुर के समीप उसके पास जा पहुँचे; किन्तु खाँनजहाँ शीघ्रता से चम्बल पार करके बुन्देलखंड और गोंडवाना होता हुआ दक्षिण पहुँच गया, जहाँ वह अपने पुराने मित्र और सहायक निजामुल्मुल्क से जा मिला। शाही सेना उसका पीछा करती हुई वहाँ आ पहुँची और एक हलकी लड़ाई हुई जिसमें वह हार गया। वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ और नर्मदा पार करके उज्जैन के आस-पास प्रजा को लूटने लगा। शाही सेनाओं ने फिर उसे बुंदेलखंड से भगा दिया जहाँ एक गहरी लड़ाई हुई जिसमें दोनों दलों की भारी क्षति हुई। खाँनजहाँ भागकर कालिंजर गया लेकिन वहाँ भी वहाँ के किलेदार द्वारा हराया गया। अन्त में वह सेहोन्दा पहुँचा, जहाँ अन्तिम मुठभेड़ हुई जिसमें उसको पूर्ण पराजय हुई। उसका सिर काटकर दरबार में भेज दिया गया। उसके लगभग सौ साथियों की भी वही गति हुई। ये सिर लोगों को विद्रोह का भयंकर फल दिखलाने के लिए किले के फाटक से लटका दिये गये। बादशाह ने विद्रोही के विरुद्ध बड़ी मुस्तैदी से लगे रहनेवाले सेनापतियों अब्दुल्ला और मुजफ्फर को अच्छी तरह पुरस्कृत किया। अब्दुल्ला का मनसब ६००० ज़ात और ६००० सवार का कर दिया गया और उसे फिरोजजंग की उपाधि दी गई; और मुजफ्फर का दर्जा ५००० जात और ५००० सवार का कर दिया गया और उसे खाँनजहाँ की उपाधि दी गई।

नौरोज का उत्सव १६३० ई०—शाहजहाँ ने रज्जब के महीने में बड़ी धूम-धाम से नौरोज का उत्सव मनाया। दौलतखाने के सहन मे शानदार शाही दरबार

लगा। इस स्थान को भव्य तथा सुन्दर बनाने में कोई कसर न रखी गई। इस अवसर पर बादशाह ने राज-परिवार के व्यक्तियों को उपहार दिये। मुमताजमहल को पचास लाख, जहाँनारा बेगम को पच्चीस लाख, रौशनआरा बेगम को पाँच लाख और सब राजकुमारों को पाँच-पाँच लाख रुपये मिले। आसफ खाँ का मनसब बढ़ाकर ९००० जात और ९००० सवार का कर दिया गया। राज्यारोहण के दिन से लेकर नौरोज तक बादशाह ने पारितोषिक आदि के रूप में सरकारी खजाने से १ करोड़ ६० लाख रुपये व्यय किये।

दक्षिण और गुजरात में दुर्भिक्ष, १६३० ई०—१६३० ई० में दक्षिण गुजरात और खानदेश के प्रदेशों में एक बड़ा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। हजारों आदमी भूखों मर गये, और मिर्जा अमीन कजवीनी, जिसने लोगों की हृदयविदारक दशा को अपनी आँखों से देखा था, लिखता है कि भूख की यन्त्रणा न सह सकने के कारण माँ बेटे का मांस भक्षण कर जाती थी। योरोपियन यात्री पीटरमंडी, जो १६३० में दक्षिण में था, और मिर्जा अमीन कजवीनी लिखते है कि मुर्दों के मारे सड़कें और गलियाँ बन्द हो गई थीं। अन्य योरोपियन लेखकों द्वारा भी इनके विवरणों का समर्थन होता है। अँगरेजों और डचों की बस्तियाँ भी इस दुर्भिक्ष के घातक प्रभाव से अछूती न बचीं। उनमें से भी कुछ काल के भेंट हो गये। इस दुर्भिक्ष के बाद भयंकर महामारी फैली जिसने गाँव के गाँव वीरान कर दिये।

बादशाह ने दुर्भिक्ष-पीड़ितों की दशा पर तरस खाकर बुरहानपुर, अहमदनगर और सूरत के प्रदेशों में लंगर खुलवाये, जहाँ गरीबों को मुफ्त भोजन दिया जाता था। बुरहानपुर में २० हफ्ते तक हर सोमवार को दुर्भिक्षग्रस्त प्रजा में ५०००) बाँटे जाते थे। इस प्रकार वहाँ एक लाख रुपये खर्च हुए। इसी प्रकार अहमदाबाद में भी ५०००० रुपये खर्च किये गये। इस खैरात के अलावा बादशाह ने खालसा जमीन की मालगुजारी में से ७० लाख रुपये माफ कर दिये जो समूचे साम्राज्य की मालगुजारी का करीब ग्यारहवाँ हिस्सा था। डाक्टर स्मिथ इलियट-कृत पादशाहनामें के अशुद्ध अनुवाद के अनुसार यह समझकर कि दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजा से उनके लगान का $\frac{10}{11}$ भाग वसूल करने की कोशिश की गई, शाहजहाँ के हृदयहीनतापूर्ण भाव की तीव्र आलोचना करते है। वास्तव में किसानो से लगान का केवल $\frac{2}{3}$ माँगा गया था $\frac{1}{3}$ भाग माफ कर दिया गया था। इसमें सन्देह नहीं,

यह लगान में एक तिहाई छूट पर्याप्त नहीं थी; किन्तु फिर भी नगण्य नहीं थी। बादशाह के इस कार्य का जमींदारों ने भी अनुकरण किया और उन्होंने लगान की रकम में इससे भी अधिक कमी कर दी ।

मुमताजमहल—अर्जुमन्द बानू बेगम जो मुमताजमहल के नाम से प्रसिद्ध हुई, नूरजहाँ के भाई आसफ खाँ की लड़की थी। उसका जन्म १५९४ ई० में हुआ, और १६०६-७ में वह राजकुमार खुर्रम की वाग्दत्ता हो गई, जब राजकुमार अभी पूरे १५ वर्ष का भी नहीं था। अर्जुमन्द बानू को उसके पिता ने खूब अच्छी तरह शिक्षा दी थी, वह अपने भावी उच्च पद के सर्वथा योग्य थी। उसकी अद्वितीय सुन्दरता की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई थी। उसका विवाह राजकुमार खुर्रम के साथ बड़ी धूमधाम से अप्रैल १६१२ ई० में हो गया। विवाह के आनन्दोत्सव में बादशाह और सम्राज्ञी ने बहुत बड़ा भाग लिया। यह विवाह नव-दम्पति के लिए बड़ा आनन्दमय सिद्ध हुआ। अर्जुमन्द बानू ने अपने अद्वितीय सौन्दर्य और हार्दिक प्रेम से अपने पति का हृदय अपने वश में कर लिया। अपने जीवन के अन्त तक वह उसे प्राणों से अधिक प्रिय रही। वह अपने पति के दुःख-सुख में बराबर उसके साथ रही। शाहजहाँ उसे अपना सबसे अच्छा सलाहकार मानता था और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में पहले उसकी सलाह ले लेता था। जब शाहजहाँ गद्दी पर बैठा तो उसे राजमहिषी का पद प्राप्त हुआ। उसे मलिका-ए-जमाँ की उपाधि दी गई और बादशाह ने उसे अपना सबसे अधिक विश्वास-पात्र समझकर शाही मुहर उसी के अधिकार में रखी जिसका अधिकारी उसने बाद में अपने पिता को बनवा दिया ।

मुमताजमहल के हृदय में बड़ी दया थी। वह दीन-दुखियों पर बहुत दया करती थी। बेवाओं और अनाथों की सदा सहायता करती थी। वह बहुत अधिक धन दान करती थी एवं निर्धन गरीब अनाथ लड़कियों के विवाह के लिए देती थी। करुणा के वश उसने कितने ही अपराधियों को क्षमा करा दिया। उसे अपने धर्म का बड़ा ध्यान रहता था, वह नमाज में तथा व्रतों में कभी नागा नहीं करती थी। उसके धार्मिक विचारों में बड़ी कट्टरता थी। ईसाइयों और हिन्दुओं के प्रति शाहजहाँ का कठोर व्यवहार संभवतः बहुत कुछ उसके प्रभाव के कारण ही था।

१६३० ई० में जब शाहजहाँ बुरहानपुर के पड़ाव से खाँनजहाँ **लोदी** के विरुद्ध युद्ध का संचालन कर रहा था, मुमताजमहल ने अपनी चौदहवीं सन्तान, एक पुत्री को जन्म दिया। उसी समय से वह बीमार रहने लगी। जब उसे अपना अंतकाल निकट आ गया जान पड़ा तो उसने अपनी पुत्री जहाँनारा से बादशाह को अपने पास बुलवा लिया और उससे आँखों में आँसू भरकर अपनी सन्तानों और माता-पिता का ध्यान रखने की प्रार्थना करके ७ जून १६३१ को इस लोक से चल बसी। उसकी मृत्यु पर बादशाह के शोक का पारावार न रहा। वह एक हफ्ते तक झरोखे में न बैठा और न राजकार्य में ही कुछ भाग लिया। उसने बहुमूल्य वस्त्रों तथा रत्नों का धारण करना और इत्र आदि का व्यवहार त्याग दिया और दो वर्ष तक सब प्रकार की विलासिता से अलग रहा। मुमताज का अवशेष ६ महीने बाद अकबराबाद लाया गया और ताज के बगीचे में दफनाया गया। फिर बाद में वर्तमान रौजे में स्थानान्तरित कर दिया गया। ताजबीबी का रौजा जो संसार की सबसे सुन्दर इमारत है, मुमताज के प्रति शाहजहाँ के प्रेम के स्मारक के रूप में संसार की आँखों को अब भी चकाचौंध कर रहा है।

पुर्तगालवालों के साथ युद्ध १६३१-३२ ई०—पुर्तगालवाले बंगाल के पूर्व-शासकों की स्वीकृति से हुगली में बसे थे। समय पाकर धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाकर उन्होंने इस स्थान की तोपों से किलाबन्दी कर ली। इसके एक ओर नदी का प्रवाह था और बाकी तीन ओर उन्होंने इसे पानी भरी गहरी खाई से सुरक्षित कर लिया था। उन लोगों ने बहुत थोड़े कर पर नदी के दोनों किनारों के गाँवों का पट्टा ले लिया था और वहाँ के निर्धन निवासियों पर बड़ा अत्याचार करते थे। इसके अतिरिक्त वे अपने ही आदमियों से इस बंदरगाह में आयात-निर्यात कर वसूल करते थे जिससे साम्राज्य की बहुत बड़ी आमदनी मारी जाती थी, और वे गुलामों का व्यापार भी करते थे जिसमें बड़ी निर्दयता तथा अत्याचार करते थे। उनके अनुचित कार्य बंगाल तक ही सीमित नहीं थे। गोआ, हुगली आदि स्थानों के धर्मान्ध पादरी वहाँ के निवासियों को बलात् ईसाई बनाने का प्रयत्न करते थे। उनकी ज्यादतियाँ दिन पर दिन बढ़ती जाती थीं। जब शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था, एक समय कुछ पुर्तगालों ने धृष्टतापूर्वक मुमताजमहल की दो दासियों को

पकड़ लिया और उन्हें छोड़ने से इनकार कर दिया। इन ज्यादतियों के कारण पुर्तगीजों पर भारत-सम्राट् के क्रोध का वज्रपात होना अवश्यम्भावी हो गया था।

शाहजहाँ उनके अत्याचारों का दंड देने के लिए उपर्युक्त अवसर की बाट देख रहा था। गद्दी पर बैठने के थोड़े ही काल बाद १६३१ ई० में उसने कासिम खाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे पुर्तगीजों को समूल नष्ट कर देने की आज्ञा दी। शाही फौजें स्थल मार्ग और जल मार्ग दोनों से हुगली की ओर बढ़ीं। जब सब सेनाएँ नदी के मुहाने पर पहुँच गई तो उन्होंने आक्रमण आरंभ किया। पहले नदी के दोनों किनारों के गाँवों में रहनेवाले पुर्तगाली मार डाले गये और सब बंगाली मल्लाह पकड़ लिये गये। हुगली का घेरा साढ़े तीन महीने तक जारी रहा। धूर्त पुर्तगालियों ने आत्म-समर्पण का भाव प्रकट किया और एक लाख रुपये और कर देने को तैयार हो गये लेकिन छिपे छिपे उन्होंने अपनी सेनाएँ ठीक कर लीं और ७००० तोपचियों द्वारा मुगलों पर गोलाबारी करने के लिए तैयार हो गये। परन्तु उनकी चालबाजी से काम नहीं चला और एक परेशानी की लड़ाई के बाद वे पूर्ण रूप से पराजित हो गये। पुर्तगालियों की बड़ी भारी क्षति हुई; उनके करीब १०००० मर्द, औरतें और बच्चे मारे गये और करीब ४४०० कैद कर लिये गये और मुगलों के पक्ष में करीब एक हजार आदमी मारे गये। पुर्तगालियों के अत्याचारों का अन्त हो गया और आस-पास के गाँवों के करीब दस हजार आदमी जिन्हें कैदियों के समान रहना पड़ता था, मुक्त हो गये।

शाहजहाँ पुर्तगालियों पर सबसे अधिक उनकी धर्मान्धता के कारण क्रुद्ध था। उसने उनसे इसका बड़ा भयंकर बदला लिया। कैदियों को इस्लाम और आजीवन कैद या गुलामी में से एक चुन लेने को कहा गया। उनमें कुछ ने तो इस्लाम ग्रहण कर लिया। किन्तु कुछ ने अपने धर्म के लिए सब प्रकार के अत्याचार सहना स्वीकार किया। इसमें सन्देह नहीं कि खुद पुर्तगालियों ने ही यह आफत अपने ऊपर बुलाई थी; फिर भी बादशाह का बेबस स्त्री-बच्चों पर यह लोमहर्षण अत्याचार निन्दनीय ही माना जायेगा। पुर्तगालियों में से जो बच रहे थे उन्हें फिर हुगली का अधिकार दे दिया गया, किन्तु यह बादशाह अपनी पूर्व समृद्धि को फिर प्राप्त न कर सका।

शाहजहाँ की धार्मिक कट्टरता—शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति पूर्ण रूप से कायम न रखी। १६३२ ई० में उसे खबर मिली कि बनारस के धनी काफ़िर एक मन्दिर को पूरा कर लेना चाहते हैं जिसका बनना उसके पिता के राज्य में आरम्भ हुआ था। उसने फरमान जारी किया कि बनारस में तथा साम्राज्य के दूसरे भागों में जिन मन्दिरों का बनना आरंभ हुआ हो, वे जमीदोज कर दिये जायँ। स्थानीय हाकिमों ने शायद इसका अक्षरशः पालन किया और थोड़े ही समय बाद इलाहाबाद से खबर आई कि बनारस के इलाके में ७६ मन्दिर बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। यह औरंगजेब के शासन-काल में आनेवाली धर्मान्धता का पूर्वाभास था। शाहजहाँ की धार्मिक कट्टरता गोलकुंडा के शासक के साथ के उसके व्यवहार से भी प्रकट होती है। एक कट्टर सुन्नी के रूप में उसने कुतुबशाह के राज्य में तबर्रा अर्थात् प्रथम तीन खलीफाओं का 'बहिष्कार' बन्द करा दिया। उसने सन्धि में इस आशय की एक शर्त रखी, कि भविष्य में गोलकुंडे के शासक के खुतबे में प्रथम तीन खलीफाओं के भी नाम रहेंगे।

शाहजहाँ की दक्षिण नीति—अपने पूर्ववर्ती बादशाहों के समान शाहजहाँ भी दक्षिण के राज्यों को जीतने का अभिलाषी था। उसके दृष्टिकोण में यह एक विशेषता आ गई कि राज्य-सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षा के अतिरिक्त कट्टर सुन्नी मतपोषक होने के विचार से भी वह दक्षिण के शिया शासकों के राज्यों का उन्मूलन अपना कर्त्तव्य मानता था। उसके पुत्र औरंगजेब के समय में धार्मिक विद्वेष का यह रंग और भी गहरा पड़ गया।

१६२९ ई० में खानजहाँ लोदी के विद्रोह के दमन हो चुकने के एक वर्ष बाद शाहजहाँ को अहमदनगर और बीजापुर के राज्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। मलिक अम्बर के पुत्र फतहखाँ ने आसफखाँ को सूचना दी कि उसने अपनी प्राणरक्षा के भय से विवश होकर निजामशाही सुल्तान को कैद कर लिया है। उससे सुल्तान को खतम कर देने को कहा गया जिसका चटपट पालन करके उसने निजामशाह के दस बरस के पुत्र हुसेन को गद्दी पर बैठा दिया। मुगल सरकार ने उसके इस कार्य का पूर्ण रूप से समर्थन किया। बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों ने अहमदनगर की इस कमजोर

परिस्थिति से लाभ उठाना चाहा। शाहजहाँ ने बीजापुर के सुल्तान को मुगल आधिपत्य स्वीकार करने को कहा और आसफखाँ को बीजापुर पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। उसने बीजापुर पर घेरा डाल दिया। दोनों दलों ने एक दूसरे पर गोली-गोलियों और तीरों की खूब वर्षा की। आसफखाँ ने बीस दिन के घेरे के बाद अपनी रसद चुक जाने पर घेरा उठा लिया और बीजापुर के राज्य में लूटमार मचाने लगा। फिर शाही फौजें मुगल प्रदेश में लौट आईं और बादशाह ने ४ अप्रैल १६३२ को उत्तर के लिए कूच किया। आसफखाँ के असफल होने के कारण उसकी जगह महाबतखाँ दक्षिण में नियुक्त किया गया।

निजामशाही राज्य का अन्त—मलिक अम्बर के पुत्र फतहखाँ ने मुगल बादशाह से अधीनता स्वीकार करने के बदले चन्द जिले पाये, जो पहले उसी के थे लेकिन बाद में शाहजी को दे दिये गये थे। शाहजी इस बात को सहन न कर सका, उसने निजामशाहियों से दौलताबाद का किला छीन लेने के लिए आदिलशाह की सहायता ली। फतहखाँ ने अपनी रक्षा के लिए चिन्तित होकर महाबतखाँ को लिखा कि मेरा इरादा बादशाह की सेना को किला सौंप देने का है। इस पर महाबतखाँ ने एक सेना के साथ अपने पुत्र को भेजा और पीछे से खुद भी आ पहुँचा। बीजापुर की सेना एक गहरी लड़ाई के बाद हरा दी गई और किले का एक बुर्ज सुरंग लगाकर उड़ा दिया गया। किले की कुछ दीवार गिर गई लेकिन बीजापुर के वीर सैनिकों ने गोलियों और तीरों की ऐसी वर्षा की कि आक्रमणकारियों को खाइयों में शरण लेनी पड़ी। फिर खानखाना की आज्ञा पाकर मुगल सैनिक भग्न प्राचीर की ओर बढ़े और किले में प्रविष्ट होकर बहुत से शत्रुओं को काट डाला।

शाही सेना ने किले की दीवार के नीचे तक एक और सुरंग तैयार कर ली और उसे उड़ा देना चाहा। जब फतहखाँ को निश्चय हो गया कि शाही सेना किला ले लेगी तो उसने अपने परिवार और राजपरिवार को सुरक्षित स्थान में ले जाने के लिए एक हफ्ते का समय चाहा और महाबतखाँ को शर्त के अनुसार अपने वचन को पूरा करने का विश्वास दिलाने के लिए अपने बड़े लड़के को उसके पास भेज दिया। उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई, और उसने साढ़े दस लाख रुपये लेकर किले की कुंजियाँ खानखाना को सौंप दीं और १८ जून

१६३३ को निर्लज्जतापूर्वक किले से बाहर हो गया। किले पर मुगल साम्राज्य का झंडा फहराने लगा और बादशाह के नाम से खुतबा पढ़ा गया। अभागा हुसेनशाह जिसे फतहखाँ ने गद्दी पर बैठाया था कैद करके अपना शेष जीवन व्यतीत करने के लिए ग्वालियर के किले में भेज दिया गया। इस प्रकार अहमद-नगर के राज्य का अन्त हो गया।

बीजापुरियों ने फिर दौलताबाद पर घेरा डाला लेकिन उन्हें असफल होकर लौट जाना पड़ा। खानखाना ने परेंदा के किले पर घेरा डाला परन्तु उसे ले न सका। सात महीने के घेरे के बाद बरसात आने पर उसे बुरहानपुर लौट जाना पड़ा। महाबतखाँ की २६ अक्टूबर १६३४ ई० को मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर अस्थायी रूप से मालवा का सूबेदार खान-ए-दौरान नियत किया गया।

जुझारसिंह का द्वितीय विद्रोह १६३५-३६ ई०—जुझारसिंह बुन्देला ने चौरागढ़ के राजा को मार डाला और उसके विशाल कोष को हस्तगत कर लिया। राजा के पुत्र ने शाहजहाँ के पास फरियाद की। बादशाह ने जुझारसिंह से लूट के धन में से हिस्सा माँगा और उसके इनकार करने पर युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। बादशाह ने प्रकट रूप से बुन्देल सिंहासन के दावेदार देवीसिंह की सहायता के लिए, किन्तु वास्तव में जुझारसिंह का मान मर्दन करने के लिए बुन्देलखंड में तीन सेनाएँ भेजीं जिनमें २३००० मनुष्य थे। जुझारसिंह और उसका पुत्र विक्रमाजीत युद्ध-भूमि मे भाग गये और गोंडों द्वारा मार डाले गये। उनके सिर नजराने के तौर पर सम्राट् के पास भेज दिये गये।

जुझारसिंह की माता रानी पार्वती, वीरसिंह की विधवा, जो अपने पुत्र के पलायन के समय मुगलों द्वारा घायल कर दी गई थी, अपने घावों से मर गई; लेकिन दूसरी स्त्रियाँ पकड़कर मुगल हरम में दाखिल कर ली गईं। जुझारसिंह के दो लड़के मुसलमान बना लिये गये, और एक तीसरा उदयभान अपना धर्म छोड़ने से इनकार करने पर निर्दयतापूर्वक वध कर डाला गया। ओर्छा का मन्दिर मस्जिद बना डाला गया, और जुझारसिंह के गुप्त खजाने पर विजेताओं का अधिकार हो गया। देवीसिंह को देशद्रोहिता के बदले ओर्छा की गद्दी मिली, किन्तु बुन्देल सरदारों ने उसका स्वामित्व स्वीकार न किया। महोबा के चम्पतराय ने उसका विरोध किया, जिसके परम सुयोग्य पुत्र छत्रसाल

ने बुन्देलखंड में स्वतन्त्रता का झंडा ऊँचा किया और अन्त में बड़ी कठिनाइयों के बाद सफलमनोरथ हुआ।

दक्षिण पुनर्वार १६३५-३६––अभी तक दक्षिण की शिया रियासतें बीजापुर और गोल्कुण्डा सर नहीं हुई थीं। शाहजहाँ के कट्टर सुन्नी हृदय को शिया मत को दक्षिण में निर्बाध रूप से फलते-फूलते देखकर चैन नहीं मिल सकता था। अहमदनगर में शाहजी ने अलग ही एक फसाद खड़ा कर रखा था। वह निजामशाही वंश के एक बालक को सुलतान घोषित करके उसके लिए अहमदाबाद के प्रदेशों को जीतने का उद्योग कर रहा था। सम्राट् ने उसको दण्ड देने के लिए अपने सेनापतियों को भेजा। जल्द थोड़े दिनों बाद खबर मिली कि बीजापुर के सुलतान ने शाहजी को उसके विद्रोहात्मक कार्य में धन और जन से सहायता दी है। इस पर सम्राट् ने अविलंब दक्षिण पर भीषण आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। उसने पहले बीजापुर और गोलकुण्डा के सुलतानों के पास वश्यता स्वीकार करने, खिराज देने और अहमद-नगर के मामलों में बिलकुल हस्तक्षेप न करने का आदेश भेजा। फिर वह स्वयं फरवरी १६३६ में दौलताबाद की ओर बढ़ा और विरोधी शक्तियों को दण्ड देने के लिए ५०,००० मनुष्यों की बृहत् सेना सुसज्जित की। गोलकुण्डा के शासक ने डरकर अधीनता स्वीकार कर ली। उसने मुगल बादशाह का आधि-पत्य स्वीकार किया और खुतबे और सिक्कों में उसी का नाम रखना स्वीकार किया। उसे खुतबे में प्रथम तीन खलीफाओं के नाम सम्मिलित करने और उसमें से फारस के शाह का नाम हटा देने की शर्त भी माननी पड़ी।

शाहजहाँ ने बीजापुर के सुलतान को वश्यता स्वीकार न करने के दुष्परिणाम का ध्यान दिलाया, लेकिन उसने कुछ उत्तर न दिया। तीन शाही सेनापतियों––खानजहाँ, खानजमाँ और खान-ए-दोरान ने तीन ओर से बीजापुर राज्य में प्रवेश किया। मुगल सेनाएँ राज्य में सब ओर लूटमार मचाने लगीं। हजारों मनुष्य पकड़-पकड़कर मार डाले गये और कई किलों पर मुगलों का अधि-कार हो गया। दोनों पक्ष जल्द ही युद्ध से ऊब गये और संधि की चर्चा आरम्भ हुई। जो संधि हुई उसके अनुसार आदिलशाह ने दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार किया और अहमदनगर के मामलों में तनिक भी हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा

की। अहमदनगर के प्रदेशों को दोनों शक्तियों ने आपस में बाँट लिया, जिसमें बीजापुर को ८० लाख रुपये वार्षिक आय के ५० परगने मिले। बीजापुर के सुलतान से बीस लाख रुपया सालाना खिराज माँगा गया और उसे गोलकुण्डा के राज्य से, जिसने सम्राट् की वश्यता स्वीकार कर ली थी, छेड़-छाड़ न करने की चेतावनी दे दी गई। इस संधि में बीजापुर और शाहजी के संबंध को स्पष्ट करने के लिए एक शर्त जोड़ दी गई, जिसके अनुसार शाहजी द्वारा, उसने जिन निजामशाही किलों पर अधिकार कर लिया था, उन्हें सौंप देने से इनकार कर दिये जाने पर बीजापुर का राज्य न तो उसे नौकर रख सकता था और न उसके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति ही दिखला सकता था। इस सन्धि ने बीजापुर के गर्वोन्मत्त मस्तक को अवनत कर दिया। बादशाह ने ११ जुलाई १६३६ को मांडू से उत्तर की ओर कूच किया। उसने अपने तृतीय पुत्र औरंगजेब को जिसकी अवस्था केवल अट्ठारह वर्ष की थी, दक्षिण भारत में अपना प्रतिनिधि बनाया।

औरंगजेब की दक्षिण की पहिली सूबेदारी, जुलाई १६३६—मई १६४४— औरंगजेब निम्नलिखित चार सूबों का शासक नियुक्त किया गया—(१) दौलताबाद सह अहमदाबाद। इसका खास मुकाम पहले अहमदाबाद था, फिर दौलताबाद हो गया। यह दकन का सूबा कहलाता था; (२) तिलंगाना; (३) खानदेश, जिसका खास मुकाम बुरहानपुर और प्रधान दुर्ग असीरगढ़ था; (४) बरार जिसका खास मुकाम एलिचपुर और प्रधान दुर्ग ग्वालीगढ़ था। इन चारों सूबों में ६४ दुर्ग थे, और इनकी कुल मालगुजारी ५ करोड़ रुपये थी।

शाहजहाँ द्वारा भेजे गये सेनापतियों ने अहमदनगर के किलों पर अधिकार कर लिया और खानजमाँ ने शाहजी को वशीभूत कर लिया। वह जिस लड़के को निजामशाही गद्दी पर बैठाना चाहता था, वह मुगलों के हवाले कर दिया गया, जिन्होंने उसे कैदखाने में डाल दिया।

बगलाना का इलाका जिसमें ३४ परगने थे, औरंगजेब द्वारा जीत लिया गया। इसके शासक भारजी ने आत्मसमर्पण कर दिया, और इस शर्त पर मुगल सरकार की नौकरी ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की कि सुलतानपुर का

परगना उसके पास रहने दिया जाय। सम्राट् ने उसे ३००० जात और २५०० सवार का मनसबदार बना दिया और सुल्तानपुर की जागीर दे दी।

औरंगजेब का पदत्याग—राजधानी में एक असाधारण दुर्घटना हो गई जिसने औरंगजेब के पदत्याग का अवसर उपस्थित कर दिया। शाहजहाँ की योग्य, दयावती प्रिय पुत्री जहाँनारा जो बेगम साहिब के नाम से प्रसिद्ध थी और जिसने मुमताजमहल की मृत्यु के बाद अन्तःपुर में उसका अधिकार प्राप्त कर लिया था, २६ मार्च १६४४ की रात को चिराग की लौ से अपने बारीक मलमल के वस्त्र में आग लग जाने से बुरी तरह जल गई। मालूम होता था कि उसका बचना कठिन है। साम्राज्य भर से वैद्य और हकीम दवा करने के लिए इकट्ठे हुए, किन्तु उनके इलाज से लाभ होता न दिखाई पड़ा। बादशाह स्वयं शाहजादी की शय्या के पास उपस्थित रहता और अपने हाथों से दवा लगाता था। उसके अच्छी हो जाने की कामना से प्रतिदिन रुपयों का एक तोड़ा उस पर न्योछावर करके गरीबों को बाँटा जाता था। सरकारी रकम हड़प कर जानेवाले अफसरों को क्षमा करके उन्हें बन्दीगृह से मुक्त कर दिया गया। चार महीने तक उसकी दशा चिन्ताजनक रही और नौ महीने में वह चंगी हुई। चिकित्सकों के यत्न से कुछ भी लाभ नहीं हुआ। अन्त में आरिफ नामक एक गुलाम के मरहम से लाभ पहुंचा और वह अच्छी हो गई। स्नेही पिता ने इस अवसर पर बड़ा उत्सव मनाया; गरीबों को बहुत सा धन बांटा और राज्य के अफसरों को उपहार दिये। आरिफ को उसके वजन भर सोने के मूल्य के बराबर रुपये, खिलअत, घोड़े और हाथी इनाम दिये गये।

औरंगजेब जहाँनारा को देखने के लिए मई में दक्षिण से आगरे आया। आगरा पहुँचने के तीन हफ्ते बाद शाहजहाँ ने उसे दक्षिण की सूबेदारी से अलग कर दिया और उसे उसके पद और जागीर से वंचित कर दिया। मुसलमान लेखक उसके इस दंड का कारण यह बतलाते हैं कि वह फकीराना जिन्दगी बिताने लगा था और बादशाह इसके नितान्त विरुद्ध था। कहा नहीं जा सकता कि वास्तविक कारण यही था या दूसरा।

अधिक युक्तिसंगत बात तो यह जान पड़ती है कि अपने विद्वेषी भाई सम्राट् के कृपापात्र दारा की विरोधी चालों से तंग आकर तथा अपमानित होकर

इस उच्चाकांक्षी तथा गर्वीले शाहजादे ने दक्षिण की सूबेदारी से इस्तीफा दे दिया, जिस पर क्रुद्ध होकर सम्राट् ने उसे उसके पद और जागीर से वंचित कर दिया।

जहाँनारा की सिफारिश से उसे फिर सम्राट् की कृपा प्राप्त हुई और वह १६ फरवरी १६४५ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया, जहाँ उसने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया। दो वर्ष बाद वह सूबेदार बनाकर बलख और बदखशाँ के सूबे में भेज दिया गया।

कन्धार पर अधिकार १६३७-३८—जहाँगीर के शासनकाल में १६२२ ई० में कंधार को ईरानियों ने ले लिया था और तभी से यह उन्हीं के हाथ में था। इस समय अलीमर्दानखाँ फारस की ओर से इसका हाकिम नियुक्त था। शाहजहाँ ने दक्षिण के झगड़ों से छुट्टी पाकर कन्धार की ओर ध्यान दिया। काबुल का सूबेदार सईदखाँ किले का और उसमें स्थित सेना की शक्ति का हाल लाने के लिए भेजा गया। अलीमर्दान को किला मुगलों के हवाले कर देने के लिए प्रलोभन भी दिया गया। किन्तु वह अपनी राजभक्ति से विचलित न हुआ और किले को दृढ़ करने लगा और उसकी रक्षा के लिए तैयारियाँ करने लगा। उसने फारस के शाह के पास सहायता के लिए सेना भेजने को लिखा; लेकिन शाह ने इसका दूसरा ही अर्थ लगाया। उसने समझा कि वह अपनी शक्ति बढ़ाकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहता है। अलीमर्दान को जमानत के तौर पर अपने लड़के को भेज देने का हुक्म दिया गया जिसका उसने अविलम्ब पालन किया। किन्तु शाह का सन्देह अब भी दूर नहीं हुआ और उसने सेना के साथ अपने एक सेनापति को प्रकट रूप से तो अलीमर्दानखाँ की सहायता करने के लिए; किन्तु वास्तव में उसे कैद करके या उसका सिर काटकर लाने को भेजा। शाह को अपनी इस मूर्खता का फल भोगना पड़ा; अलीमर्दानखाँ ने सईदखाँ के पास बादशाह को यह खबर देने के लिए सन्देश भेज दिया कि वह किला सौंप देने को राजी था। मुगलों की सेना ने कन्धार पर आक्रमण किया और आसानी से उस पर अधिकार कर लिया। ईरानी सेनापति जो कन्धार से ६ कोह की दूरी पर पड़ाव डाले पड़ा था, मुगलों द्वारा हरा दिया गया, जिनके हाथ बहुत सा लूट का माल लगा। अलीमर्दान को सईदखाँ से एक लाख रुपये मिले और वह साम्राज्य का एक सरदार बना लिया गया। ईरानियों

और उनके सहायक अफगान फिरकों के साथ छोटी-मोटी लड़ाइयों के बाद कन्धार से शासित होनेवाला प्रदेश और ६० किले मुगलों के अधिकार में आ गये।

अलीमर्दान का दरबार में अच्छा स्वागत हुआ। बाद में वह काश्मीर का हाकिम नियुक्त हुआ और वह ६००० जात और ६००० सवार का मनसबदार बना दिया गया। सम्राट् ने उसे बहुत धन दिया और स्वयं उसके घर पदार्पण करके उसे सम्मानित किया। काल की गति के साथ वह साम्राज्य की नौकरी में उन्नति करता गया। उसकी तरक्की ७००० जात और ७००० सवार के पद पर कर दी गई और वह काश्मीर के साथ ही पंजाब का भी सूबेदार बना दिया गया। रावी नदी से लाहौर तक ४९ कोह लम्बी नहर बनाने के लिए उसे अक्टूबर १६३९ ई० में सरकारी खजाने से एक लाख रुपये दिये गये।

सादुल्ला खाँ—सादुल्ला खाँ ने १६४० ई० में साम्राज्य की नौकरी ग्रहण की। पहले वह मासिक वेतन पाता था, फिर एक मनसबदार हो गया। साल भर के अर्से में वह १००० जात और २००० सवार के पद पर पहुँच गया। बाद में वह गुसलखाने का दारोगा हो गया और फिर कुछ समय तक खानसामा रहा। उसकी योग्यता और ईमानदारी ने सम्राट् का ध्यान आकर्षित किया और उसने प्रसन्न होकर उसे साम्राज्य का प्रधान वजीर बना दिया। सातवें बरस वह ७००० जात और ७००० सवार के दर्जे पर पहुँच गया और सम्राट् ने उसे पाँच लाख रुपया नकद दिया। वह सम्राट् की दृष्टि में चढ़ता ही गया और इतना प्रभावशाली हो गया कि साम्राज्य का युवराज दारा भी उसके प्रभाव को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता था। १६ वर्ष तक बड़ी निष्ठा से साम्राज्य की सेवा करने के बाद ७ अप्रैल १६५६ को वह परलोकगामी हुआ।

आसफ खाँ—आसफ खाँ इतमादुद्दौला का पुत्र, नूरजहाँ का भाई और मुमताजमहल का पिता था। जहाँगीर के राज्य में उसका बड़ा प्रभाव तथा सम्मान था; किन्तु शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने पर उसका सम्मान और भी बढ़ गया। उसे यमीनुद्दौला (राज्य का दाहिना हाथ) की उपाधि दी गई, और ५० लाख वार्षिक आय की जागीर दी गई। उन्नति करते-करते वह साम्राज्य का प्रधान वजीर हो गया और उसका मनसब, ९००० जात और ९००० सवार का कर दिया गया। वह असाधारण योग्यता का पुरुष था और उसने अपूर्व निष्ठा

तथा राजभक्ति के साथ सम्राट् की सेवा की। उसने शाहजहाँ को सिंहासन प्राप्त करने में बड़ी सहायता दी थी। अस्वस्थ होने से साम्राज्य की सेवा से अलग होकर वह १६४१ ई० में लाहौर में परलोकवासी हुआ। जब वह मृत्युशय्या पर मरणासन्न पड़ा था, सम्राट् ने उसके घर पदार्पण किया। उस समय भी उसने अपनी राजनिष्ठा का परिचय दिया। उसने स्वेच्छा से अपने सारे जीवन की अर्जित विशाल संपत्ति सम्राट् को भेंट कर दी। उसका लाहौर का भवन ही अकेले २० लाख की सम्पत्ति था। अन्य नगरों में भी उसकी शानदार इमारतें थीं। इनके अतिरिक्त उसके पास जवाहिरात और नकद मिलाकर दो करोड़ पचास लाख का धन था; उसने सम्राट् से इसे जब्त कर लेने की प्रार्थना की। इस विशाल सम्पत्ति में से सम्राट् ने उसकी सन्तानों को केवल २० लाख रुपये दिये और शेष सब सरकारी खजाने में ले लिया।

शाहजहाँ की मध्य एशिया की नीति—वर्तमान अफगानिस्तान के उत्तर आक्सस नदी और हिन्दूकुश पर्वत श्रेणी के बीच बलख और बदखशाँ के प्रान्त अवस्थित थे। मध्ययुग में ये प्रान्त न तो बहुत सभ्य ही थे, न समृद्ध ही। मंगोलों, उजबेगों और तुर्कमानों के दलों ने इन्हें उजाड़ दिया था। अपने पूर्ववर्ती मुगल सम्राटों के समान शाहजहाँ की भी अपने पूर्वजों के इस प्रदेश को अपने अधिकार में लाने की हार्दिक इच्छा थी। ये प्रान्त जिस बुखारा राज्य के अंग थे, उसके राजपरिवार में फूट पड़ गई थी। ऐसी परिस्थिति में इन प्रान्तों को जीतना आसान समझकर शाहजहाँ ने उन पर अधिकार करने का उद्योग किया। किन्तु सम्राट् का यह कार्य अदूरदर्शितापूर्ण था। हिन्दूकुश के पहाड़ी रास्ते से हिन्दुस्तान से फौज कनार इस बीहड़ प्रदेश को विजय करना और विजय करके अधिकार में रख सकना कुछ आसान नहीं था। इस आयोजन की सफलता की आशा करनी मूर्खता थी।

शाहजहाँ मुराद ५०,००० सवार और १०,००० पैदल सेना और साम्राज्य के कई परम प्रसिद्ध सेनापतियों के साथ बलख के प्रान्त में दाखिल हुआ। मुगल सेना बिना किसी बाधा के २ जुलाई १६४६ को बलख शहर में दाखिल हुई। बुखारा राज्य का शासक नजर मुहम्मद फारस भाग गया था, लेकिन वहाँ सहायता पाना कठिन देखकर वह फिर लौट आया। वह अपनी सत्तर लाख की

विशाल सम्पत्ति मुगल सेनाओं द्वारा लूटे जाने को छोड़ गया था। लेकिन उसके भागने के बाद जो गड़बड़ी मची, उसमें मुगल केवल १२ लाख रुपये, २५०० घोड़े और ३०० ऊँट ही हस्तगत कर सके। मुराद का मन जिसमें दृढ़ इच्छा-शक्ति की कमी थी, वहाँ उदास हो गया। वह हिन्दुस्तान के मैदानों के आनन्द के लिए तरसने लगा और वहाँ से लौट आने के लिए उसने बादशाह की आज्ञा माँगी। उसके अफसर भी पहाड़ी देश में ठहरना नहीं चाहते थे। सम्राट् के बार-बार रोकने पर भी शाहजादा हिन्दुस्तान के लिए चल पड़ा। सादुल्ला खाँ को फौरन बलख जाने की आज्ञा मिली। उसने शाही अफसरों को महत्त्वपूर्ण केन्द्रों में अवस्थित किया और २२ दिनों में समूचे प्रदेश का बन्दोबस्त करके काबुल लौट आया। मुराद का पद छीन लिया गया और उसका दरबार में आना रोक दिया गया।

इस बीच में सम्राट् ने एक शक्तिशाली आक्रमण की तैयारी की। शुजा और औरंगजेब सैन्य-संचालन के लिए अपने प्रान्तों से बुलाये गये। इस मुहिम के लिए दिल खोलकर धन खर्च किया गया, और सम्राट् स्वयं युद्ध का संचालन करने के लिए काबुल आ पहुँचे।

मुगल सेनाओं का प्रधान अध्यक्ष औरंगजेब नियुक्त हुआ। उसकी स्थिति वैसी दृढ़ नहीं थी जैसी शत्रु की। उजबेग सैन्य की संख्या १,००,००० थी और मुगल सेना में सिर्फ २५,००० सिपाही थे। उजबेगों की युद्ध-पद्धति से मुगलों की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गई थीं उजबेग लोग खुले युद्ध में सामना करने का साहस नहीं करते थे, उनकी कज्जाकी युद्ध-पद्धति के आगे मुगलों का कोई बस नहीं चलता था। किन्तु औरंगजेब हिम्मत हारनेवाला मनुष्य नहीं था। पहले युद्ध में मुगलों और राजपूतों की गोलियों की वर्षा के आगे उजबेगों ने पीठ दिखा दी। उन्होंने मुगलों पर फिर आक्रमण किया, लेकिन उन्हें बुरी तरह हार खानी पड़ी। औरंगजेब ने शान के साथ बलख में प्रवेश किया और उस नगर को राजपूत सरदार मधुसिंह हाड़ा के अधिकार मे छोड़कर वहाँ से उजबेगों का दमन करने के लिए 'अवचा' की ओर बढ़ा। मुगल सेना सब प्रकार की कठिनाइयों और उजबेगों के आक्रमणों का मुकाबला करती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। इतने में खबर मिली कि उस नगर के उद्धार के

लिए एक बहुत बड़ी सेना बुखारा से आ रही थी, औरंगजेब चटपट सेना के साथ लौट पड़ा। बुखारा के योग्यतम सेनापतियों द्वारा संचालित उजबेग सेना से मुठभेड़ हुई जिसमें मुगलों के भीषण आक्रमण के आगे शत्रु सेना ठहर न सकी। शत्रु की शक्तिमत्ता से कायल होकर बुखारा के बादशाह ने सन्धि की चर्चा चलाई और औरंगजेब सकुशल बलख पहुँच गया। इस सफलता का श्रेय औरंगजेब की प्रशंसनीय कष्टसहिष्णुता तथा वीरता को है। उसे घमासान युद्ध में खून से रंगीन जमीन पर दरी बिछाकर रणकोलाहल में शान्तिपूर्वक नमाज पढ़ते देखकर बुखारा का शासक भी उसके अविचलित साहस पर दंग रह गया था।

युद्ध समाप्त हो गया; किन्तु स्थायी सन्धि की शर्तें ठीक होती नजर नहीं आती थीं। शाहजहाँ नजर मुहम्मद को उसका देश लौटा देने को तैयार था लेकिन उससे अधीनता स्वीकार करने की शर्त पर अड़ा हुआ था जिसके लिए वह तैयार नहीं था। अन्त में तीन महीने बाद उसने अपने पोतों को शाहजादे की सेवा में उपस्थित होने के लिए भेजा और अपने लिए बीमारी के कारण क्षमा चाही। औरंगजेब लौट जाने की जल्दी में था, उसने नजर मुहम्मद के पोतों को बलख का शहर और किला सौप दिया और हिन्दुस्तान की यात्रा की तैयारी कर दी। मुगल सेना काबुल की ओर चली। राह में हजारा नाम के पहाड़ी फिरके ने इस पर आक्रमण किया। शाहजादा और उसके साथी तो बर्फीले रास्ते को पार करके काबुल पहुँच गये; लेकिन राजपूतों को जो पीछे रह गये थे, अकथनीय कष्ट झेलने पड़े। उस बर्फीले रास्ते में हजारों आदमी और जानवर मर-खप गये।

मुगल-सम्राट् की महत्त्वाकांक्षा द्वारा प्रेरित इस विजय यात्रा का परिणाम घोर विफलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ। जैसा सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, इसके लिए दो वर्षों में दो करोड़ रुपये व्यय हुए और अधिकृत प्रदेश से केवल २२½ लाख वसूल हुए। इससे साम्राज्य की सीमा में एक इंच भी धरती नहीं बढ़ी और न बलख के राजवंश में ही कोई परिवर्त्तन हो सका। बलख के किले में संचित ५ लाख का अन्न तथा दूसरे किलों में की रसद एवं बुखारावालों की भेंट हुई, इसके अतिरिक्त ५०००० रुपये नजर मुहम्मद को और २,२५,००० रुपये उसके पोतों को उपहार में दिये गये। पाँच सौ सैनिक युद्ध

में मारे गये और दसगुने शीत और बर्फीले पहाड़ी रास्ते में भेंट चढ़े। यह सब अपरिणामदर्शी सम्राट् की एक शौक की भेंट चढ़ गया।

फीरोजशाही नहर—सुल्तान फीरोज तुगलक ने खिज्राबाद के नजदीक जमुना नदी से अपने शिकारगाह सफीदून तक एक नहर बनवाई थी। उसके मरने पर देख-भाल न होने से यह बेकाम हो गई थी। फिर अकबर के शासन काल में दिल्ली के हाकिम शहाबुद्दीन अलीखाँ ने इसकी मरम्मत करवा दी और यह नहरें शहाब (शहाब की नहर) कहलाने लगी। यह फिर देख-भाल न होने से बेकाम हो गई थी। शाहजहाँ के हुक्म से यह दुरुस्त कर दी गई और सफीदून से शाही महल तक तीस कोस लम्बी एक नई नहर तैयार की गई, जिसका नाम नहरे बहिश्त रखा गया।

कन्धार का हाथ से निकल जाना—जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, १६३८ ई० में ईरानी हाकिम अली मर्दानखाँ ने कन्धार को मुगलों के हाथों में सौंप दिया था। लेकिन ईरानी इसे फिर प्राप्त करने की आशा त्यागने के लिए तैयार नहीं थे। शाह अब्बास ने जो फारस की गद्दी पर १६४२ में बैठा, कंधार को फिर प्राप्त करने का बृहत् आयोजन किया। जब जाड़ा आने लगा तो उसने स्वयं कन्धार की ओर बढ़ने का इरादा किया, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि जाड़ों में बर्फ के गिरने से कन्धार की सहायता के लिए हिन्दुस्तान से मदद नहीं मिल सकेगी। जब शाहजहाँ को फारस के शाह की तैयारियों की खबर मिली तो उसने अपने सरदारों से इस विषय में राय ली। उन विलासिताप्रिय सरदारों ने जाड़े भर के लिए सेना की यात्रा रोक देने की राय दी। बादशाह ने भी उनकी सलाह मान ली, और इसका फल यह हुआ कि फारस की सेनाओं ने जाड़े के कष्टों की परवाह न करके किले पर अधिकार जमा लिया। दुर्गस्थ मुगल सैनिकों ने ५७ दिन तक बड़ी वीरता से युद्ध किया, लेकिन जब उन्होंने हिन्दुस्तान से सहायता आते न देखा, तो ११ फरवरी १६४९ को आत्मसमर्पण कर दिया।

यदि दुर्गस्थ सेना का अध्यक्ष दौलत खाँ कुछ दिन और डट जाता तो ईरानियों को रसद की कमी से घेरा उठा लेना पड़ता। लेकिन उसमें सेनानायक के उच्च गुण नहीं थे। वह अपने आदमियों में अनुशासन स्थापित न कर सका। किन्तु

कन्धार के पतन का वास्तविक उत्तरदायित्व शाहजहाँ और उसके आराम-तलब दरबारियों को है जिन्हें साम्राज्य की सेवा की अपेक्षा अपने आराम की अधिक चिन्ता थी।

कन्धार का पहला घेरा, १६४९ ई०—शाहजहाँ ने कन्धार लेने के लिए औरंगजेब के अधीन एक बहुत बड़ी सेना भेजी जिसमें ६०,००० सवार और १०,००० पैदल सिपाही थे। सेना के साथ सादुल्ला खाँ भी था। सम्राट् ने सिपाहियों और सरदारों को उत्साहित करने के लिए उन्हें खूब रुपये दिये। जिन मनसबदारों को जागीरें मिली थीं, उन्हें फी सवार सौ रुपये दिये गये, और जिन्हें मासिक वेतन मिलता था, उन्हें तीन महीने की तनख्वाह पहले दे दी गई। औरंगजेब मुल्तान से और सादुल्ला खाँ लाहौर से काबुल पहुँचा। वहाँ से गजनी होते हुए ये कन्धार की ओर बढ़े। सम्राट् भी युद्ध का संचालन करने के लिए काबुल आ गये। फारसवालों ने किले की रक्षा करने की पूरी तैयारी कर ली थी। उनके पास तोपों की एक बहुत बड़ी संख्या थी और मुगलों के पास बहुत कम तोपें थीं। ईरानियों ने मुगलों पर खूब गोलाबारी की जिसके सामने उनसे कुछ करते न बन पड़ा। फिर भी रुस्तम खाँ ने ईरानी सेना के मध्य भाग पर आक्रमण करके बहुत से सैनिकों को मार डाला। तीन महीने बीस दिन के असफल घेरे के बाद सम्राट् ने औरंगजेब को कन्धार से लौट आने की आज्ञा दी। जाड़े के आ पहुँचने से और दुर्गस्थ सेना की सहायता के लिए ईरानियों की एक २०,००० की सेना के आने की खबर सुनकर शाहजादे ने किले का घेरा उठा लेने में देर नहीं लगाई।

कन्धार का दूसरा घेरा, १६५२ ई०—पहले घेरे की असफलता से औरंगजेब के दिल पर बड़ी चोट लगी थी। इससे साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बहुत धक्का लगा था। शाहजादे ने दूसरी चढ़ाई में अपनी असफलता के कलंक को धोकर अपना सम्मान पूर्ववत् स्थापित करने का निश्चय किया। शाहजहाँ ने भी पहली असफलता से सबक सीखा था। उसने दूसरी चढ़ाई के लिए नई तोपें ढलवाईं। इस बार सेना के साथ ३० बड़ी और २० छोटी तोपें भेजी गईं। फिर शाहजादा औरंगजेब के संचालन में एक बड़ी सेना कन्धार पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई, जिसमें ५० हजार सवार और १० हजार पैदल सिपाही

थे। शाहजादे के साथ सादुल्ला खाँ और रुस्तम खाँ जैसे सेनापति भी भेजे गये थे। इस सेना के साथ तोपों के सिवाय जंगी हाथी, ऊँट और दुर्ग-विजय में उपयोगी और सामान भी थे। इस मुहिम के खर्चे के लिए सम्राट् ने दो करोड़ रुपये मंजूर किये थे, और आक्रमणकारी सेना की सहायता के लिए ५० हजार आदमियों के साथ वह स्वयं काबुल में जा डटा।

किले का घेरा दूसरी मई १६५२ ई० को आरम्भ हुआ। ईरानियों के पास एक बहुत अच्छा तोपखाना था और उनके तोपची भी होशियार थे। मुगलों के तोपची कुशल नहीं थे, वे किले की दीवारों को तोड़ने में सफल न हो सके। राजा राजरूप ने अपने सैनिकों के साथ परकोटे पर चढ़ने का उद्योग किया लेकिन शत्रु की गोलाबारी ने उस वीर के प्रयत्न निष्फल कर दिये। ईरानियों की लगातार गोलेबारी से मुगलों के बहुत से सिपाही मारे गये। पौरुष द्वारा अकृतकार्य होने पर मुगलदल ने दुर्गाध्यक्ष को धन का प्रलोभन दिया। उसने उत्तर दिया---उनके द्वारा किसी प्रकार दुर्ग की परिस्थिति कमजोर कर दिये जाने पर उसके लिए विश्वासघात का विचार करने का समय आवेगा। मुगलों ने लाख कोशिश की लेकिन वे किले की दीवार कहीं पर तोड़ न सके। घेरा आरम्भ किये दो महीने आठ दिन बीत गये, लेकिन उन्हें सफलता की कोई सूरत नजर नहीं आई।

सफलता की आशा न रहने और सामान समाप्त हो चलने के कारण शाहजहाँ ने घेरा उठा लेने की आज्ञा दी। सादुल्ला खाँ ने घेरे के जारी रखने में मुगल सेना की संभावित भावी दुर्गति की ओर सम्राट् का ध्यान दिलाया था। औरंगजेब ने किला लेने के लिए और उद्योग करने की आज्ञा माँगी। वह अपना कलंक धो देना और अपने पर फब्तियाँ छोड़नेवाले दरबार के अपने विरोधी दल का मुँह बंद कर देना चाहता था। सम्राट् ने उसकी नियुक्ति दक्षिण की सूबेदारी के लिए कर दी, वह कन्धार लेने के प्रयत्न में अपने उस पद से हाथ धोने के लिए भी तैयार था। किन्तु सम्राट् को कन्धार ले सकने की उसकी योग्यता में विश्वास नहीं रह गया था। उसे घेरा जारी रखने की आज्ञा नहीं मिली। उसे सन् १६५२ के अगस्त महीने में दक्षिण की सूबेदारी का कार्य सँभालने के लिए वहाँ से चला जाना पड़ा।

कन्धार का तीसरा घेरा, १६५३ ई०---दारा अपने प्रतिद्वन्द्वी भाई की असफलता पर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसे और नीचा दिखलाने के लिए *खुद कन्धार पर चढ़ाई करने के लिए सम्राट् की आज्ञा माँगी। उसकी प्रार्थना स्वीकृत हो गई और सामरिक ख्याति प्राप्त करने के लिए वह खूब मन लगा*-कर कन्धार की चढ़ाई की तैयारी करने लगा। वह डींग मारने लगा कि वह एक हफ्ते में कन्धार ले लेगा जिसमें औरंगजेब दो-दो बार असफल हो चुका था।

इस चढ़ाई के लिए जो सेना तैयार की गई उसमें ७० हजार मनसबदारों के सवार, ५ हजार पैदल, ३ हजार अहदी, और १० हजार तोपची, ६ हजार सुरंग खोदनेवाले और ५०० संगतराश थे। हथियार और गोला-बारूद खूब इकट्ठा किया गया। तोपखाने पर विशेष ध्यान दिया गया। बड़ी और छोटी सब मिलाकर ६० तोपें तैयार की गई। मीर आतिश ने ५० हजार तोप के गोले बनवाये और ५००० मन बारूद, २५०० मन सीसा और १४००० राकेट संग्रह कर लिये। इस बार लड़ाई का सामान जुटाने में कोई कसर न रखी गई। साठ जंगी हाथी भी ले लिये गये। सम्राट् ने इस मुहिम के लिए एक करोड़ रुपये मंजूर किये। सब प्रकार से सुसज्जित होकर दारा, जिसे शाह बुलंद इकबाल की उपाधि मिली थी, २२ नवम्बर १६५२ को काबुल के लिए रवाना हुआ। रुस्तम खाँ, बहादुर नजाबत खाँ और कासिम खाँ ३००० सवारों की हरावल सेना के साथ पहुँचते ही घेरा शुरू कर देने की आज्ञा के साथ पहले ही रवाना हो चुके थे। मुगल सेना ने बड़ी वीरता तथा पराक्रम के साथ किले पर आक्रमण किया, किन्तु शत्रु ने हर बार मुँहतोड़ जवाब देकर उन्हें पीछे हटा दिया। मुगलों ने एक बार फिर पाँचवीं दफे नये उत्साह के साथ जोर लगाया। दोनों ओर से खूब गोलाबारी हुई, जिसमें मुगलों के बहुत से आदमी मारे गये।

दरबार में चापलूस मुसाहिबों से घिरा रहनेवाला दारा आसानी से किला फतह कर लेने का स्वप्न देखा करता था। अब मैदान में आ जाने पर उसका स्वप्न टूट गया और उसने देख लिया कि किला जीतना और औरंगजेब को नीचा दिखाना सरल नहीं था। घेरा आरम्भ किये सात महीने बीत गये

थे, मुगल सफलता से सब प्रकार से निराश हो गये थे, उनका सामान भी अब समाप्त हो चला था। अन्त में हार मानकर इस बार भी उन्हें घेरा उठा लेना पड़ा।

कन्धार के इन तीन घेरों के लिए सरकारी खजाने से करीब १२ करोड़ रुपये खर्च हुए तथा मनुष्यों और पशुओं का भयंकर संहार हुआ। इनसे साम्राज्य की सीमा में एक इंच भी जमीन नहीं बढ़ी और मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा, उसकी सामरिक शक्ति की धाक उठ गई। फारसवालों के हृदय में मुगल साम्राज्य के विरुद्ध सफलता की आशाएँ उठने लगीं, और भारत पर उत्तर-पश्चिम मार्ग से फारस के आक्रमण का भय आरंभ हो गया।

औरंगजेब की दक्षिण की सूबेदारी—औरंगजेब ने सम्राट् के आज्ञानुसार नवम्बर १६५३ ई० में दक्षिण की सूबेदारी का भार लिया। मई १६४४ में उसके पदत्याग के समय से नौ वर्षों में दक्षिण के सूबों की अवस्था बहुत बिगड़ गई थी। थोड़े-थोड़े समय के बाद ही जो सूबेदार नियुक्त हुए थे उन्होंने रिआया से निर्दयतापूर्वक धन चूस लिया था; लेकिन कृषि की उन्नति के लिए कुछ नहीं किया था। खेती चौपट हो गई थी जिससे राज्य की आय बहुत घट गई थी। दक्षिण के चारों प्रान्तों की आमदनी उनके खर्चे के लिए भी पूरी नहीं पड़ती थी। लेखे के अनुसार इन सूबों की आय तीन करोड़ ६२ लाख रुपये थी; लेकिन व्यवहार में एक करोड़ से शायद ही कभी अधिक होता था। सूबेदार और उनके लड़के जिन्हें जागीरें मिली हुई थीं, बहुत बड़ी रकमें हजम कर जाते थे, जिसका फल यह होता था कि शासन-प्रबन्ध का खर्च दूसरे सूबों की आमदनी से पूरा करना पड़ता था।

जब औरंगजेब ने दक्षिण की सूबेदारी का भार ग्रहण किया तो उसने अपने को एक बड़े कठिन आर्थिक संकट में पाया। उसने देखा कि जागीरों की आमदनी जागीरदारों के रुतबे और उनके सिपाहियों के खर्चे के लिए काफी नहीं थी, इसलिए उनकी जागीरें बढ़ानी पड़ीं। सरकारी लगान का सिर्फ दसवाँ हिस्सा वसूल हो पाता था। ऐसी परिस्थिति में औरंगजेब को शासन का प्रबन्ध चलाने के लिए दौलताबाद के किले में संचित खजाने में हाथ लगाना

पड़ा। दो वर्षों में उसने इसमें से ४० हजार रुपये खर्च किये। उसने सम्राट् से प्रार्थना की कि उपजाऊ जागीरें जो अयोग्य अफसरों के अधिकार में थीं उसे दी जायँ। सम्राट् ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, इस पर जागीरदारों ने शाहजादे पर स्वार्थपरता का दोष लगाया; लेकिन शाहजादे ने फिर सम्राट् को यह विश्वास दिला दिया कि उसकी प्रार्थना का वास्तविक उद्देश्य उसके सूबे की सुव्यवस्था थी, न कि उसकी व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि। इसके बाद जिन जागीरदारों की जागीरें ले ली गई थीं, उन्होंने सम्राट् से यह शिकायत की कि शाहजादे ने उनके साथ ज्यादती की थी और अनुचित रूप से अपने प्राप्य से अधिक आय की जागीरें प्राप्त कर ली थीं। इस दोषारोपण पर विश्वास करके शाहजहाँ ने औरंगजेब को डाँट बताई और उसे असीर के परगने में पचास हजार रुपये आमदनी की कम उपजाऊ जमीन लेने का और उतनी ही नकद आमदनी घटाने का हुक्म दिया। शाहजादा इस आज्ञापत्र से भयभीत नहीं हुआ और इसके विरोध में उसने एक आत्मसम्मानपूर्ण अर्जी लिखकर भेज दी।

आर्थिक स्थिति के सुधरते ही औरंगजेब ने कृषकों की दशा सुधारने और कृषि का विस्तार बढ़ाने की ओर ध्यान दिया। शाहजहाँ ने जो इस कार्य की कठिनाइयों को नहीं समझता था, उसे सुस्त ठहराया और उसको आय कम करने की धमकी दी। किन्तु शाहजादा अपने प्रयत्न में लगा रहा। इस कार्य में उसे मुर्शिदकुली खाँ से, जो एक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न मनुष्य था, बहुत सहायता मिली।

मुर्शिदकुली खाँ का बन्दोबस्त लगान—दक्षिण का सूबा मालगुजारी के इन्तजाम के लिए दो हिस्से में बँटा हुआ था—एक पेनघाट और दूसरा बालाघाट। पहले में समूचा खानदेश और बरार का आधा हिस्सा शामिल था और दूसरे में शेष प्रदेश सम्मिलित थे। इन दोनों भागों में से हर एक का अलग दीवान था, जो उसका लगान वसूल करता था और उसके आय-व्यय की देखभाल करता था। मुर्शिदकुली खाँ जो बालाघाट का दीवान था, एक प्रतिभासम्पन्न परम सुयोग्य तथा उत्साही प्रबंधकर्त्ता था। उसने टोडरमल के लगान के बन्दोबस्त के तरीके को दक्षिण में प्रचलित किया। जमीन की पैमाइश के

लिए और बोई जानेवाली जमीन का क्षेत्रफल निश्चित करने के लिए अमीरों और आमिलों को नियुक्त किया। गाँवों में मुकद्दम नियुक्त किये गये जो लगान की वसूली में सहायता पहुँचाते थे और गाँव के निवासियों के हितों की देख-रेख करते थे। गरीब किसान को बीज और बैल खरीदने के लिए रुपये उधार दिये गये जिन्हें वे किस्तों में लौटा सकते थे। पहले प्रचलित बन्दोबस्त लगान के अव्यवस्थित तरीके से सरकार को बड़ा नुकसान होता था। मुर्शिदकुली खाँ ने लगान के बन्दोबस्त के लिए तीन विधियाँ प्रयुक्त कीं। पहली, फी हल राज्य का भाग निश्चित करने की पुरानी विधि कुछ पिछड़े हुए प्रदेशों में जारी रक्खी गई। अधिक उपजाऊ जमीन का फी हल अधिक लगान लिया जाता था और कम उपजाऊ जमीन का कम। यह विधि कामचलाऊ थी। इससे लगान का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सकता था। दूसरी विधि बटाई की थी जिसमें उपज का एक निश्चित भाग लगान में लिया जाता था। जहाँ उपज बिल्कुल वर्षा पर निर्भर थी, वहाँ उसका आधा भाग लगान में लिया जाता था, और जहाँ कुएँ से सिंचाई होती थी, खरीफ और रबी फसलों का एक तिहाई लगान लिया जाता था। लेकिन अंगूर, ईख और दूसरी महँगी फसलों में सिंचाई की सुविधाओं या कठिनाइयों और फसल तैयार होने में लगनेवाले समय के विचार से उपज के दसवें से नवें हिस्से तक लगान लिया जाता था। और जो जमीन नहरों, तालाबों और नदियों से सींची जाती थी, उसका लगान कहीं कुओं से सींची जानेवाली जमीन से अधिक और कहीं कम लिया जाता था। तीसरी विधि जरीब की थी जो उत्तर भारत में प्रचलित थी। जमीन की पैमाइश की गई और बोई हुई फसल की किस्म के अनुसार फी बीघा लगान नियुक्त किया गया। बन्दोबस्त लगान के इस सुव्यवस्थित तरीके का अभीष्ट फल हुआ। खेती की दशा बहुत सुधर गई। किसान सुखी तथा सन्तुष्ट हो गये। राज्य के कार्यकर्त्ताओं की ज्यादतियाँ दूर हो गई और दक्षिण का सूबा बहुत समृद्ध हो गया।

गोलकुण्डा के साथ युद्ध—दक्षिण के गोलकुंडा और बीजापुर के राज्यों पर मुगल सम्राट् की नजर लगी हुई थी। उनकी अगाध सम्पत्ति देखकर सम्राट् के मुँह में पानी भर आया था; वह उनकी स्वतंत्रता को देख नहीं सकता

की अच्छी सेना थी जिसमें ५,००० सुशिक्षित अश्वारोही और २०,००० पैदल सैनिक थे। इसके अतिरिक्त उसके पास एक अच्छा तोपखाना और कुछ जंगी हाथी भी थे। उसकी बढ़ी हुई शक्ति देखकर सुलतान उसके प्रति सशंक हो गया। मीरजुमला के विरोधी दरबारियों ने उसके प्रति सुलतान के चित्त को और भी शंकाकुल कर दिया। उसके उद्दण्ड व्यवहारों से उसके प्रति सुलतान की आशंका बद्धमूल हो गई; और उसने अपने कुछ दरबारियों की सहायता से मीरजुमला को कैद करके अंधा कर देने का षड्यन्त्र रचा। मीरजुमला को सुलतान के इस इरादे की खबर लग गई और उसने सुलतान के पास उपस्थित होना अस्वीकार कर दिया। उसने इस संकट में बीजापुर के सुलतान और फारस के शाह से सहायता की प्रार्थना की, किन्तु इसका कुछ फल नहीं हुआ। किन्तु औरंगजेब ने देखा कि इस असन्तुष्ट सरदार को सहायता देने के बहाने गोलकुंडा से युद्ध छेड़ देने का यह एक बहुत अच्छा अवसर हाथ लगा है। गोलकुंडे में मामला और बढ़ गया। मीरजुमला के पुत्र मुहम्मद अमीन की अक्षम्य उद्दंडता से क्रुद्ध होकर सुलतान ने २१ नवम्बर १६५५ ई० को उसे परिवारसहित कैद कर लिये जाने और उसकी संपत्ति जब्त कर लिये जाने की आज्ञा दे दी। इससे गोलकुंडे में किसी प्रकार का आश्चर्य व क्षोभ प्रकट नहीं हुआ, किन्तु औरंगजेब ने इस सुयोग को हाथ से नहीं जाने दिया। उसने शाहजहाँ को इन बातों की खबर दी और गोलकुंडे के मामले में हस्तक्षेप करने के लिए उसकी आज्ञा माँगी। बादशाह ने कुतुबशाह के पास मीरजुमला के परिवार को मुक्त कर देने की आज्ञा भेजी और उसके द्वारा इसका पालन न होने पर औरंगजेब को सुलतान पर चढ़ाई करने का अधिकार दे दिया। मनस्वी एवं धर्मान्ध शाहजादे ने कुतुबशाह के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही युद्ध की घोषणा कर दी।

गोलकुण्डा पर चढ़ाई—औरंगजेब ने गोलकुंडा पर चढ़ाई करने के लिए एक बड़ी सेना के साथ १० जनवरी १६५६ ई० को अपने पुत्र को भेजा और पीछे से शीघ्र ही स्वयं भी उससे जा मिला। अब अब्दुल्ला कुतुबशाह बड़ा भयभीत हुआ और उसने मीरजुमला के पुत्र को सपरिवार मुक्त कर दिया। अपनी अधीनता सूचित करने के लिए उसने सम्राट् के पास एक पत्र

उसकी कुछ सहायता की। उसने १० सहस्र सैनिक भी एकत्र कर लिये और पुनः युद्ध करने का इरादा किया। इसी समय उसे राजा जसवन्तसिंह ने अजमेर बुलाया और सहायता का वचन दिया। देवराय की घाटी में फिर युद्ध हुआ जिसमें दारा की हार हुई।

पराजित होकर वह फिर अहमदाबाद पहुँचा। अबकी बार सूबेदार ने उसे नगर में प्रवेश न करने दिया। इधर उधर भटकने के बाद उसने दादर (सिन्ध) के बलूची सरदार, मलिक जीवन के यहाँ शरण ली। इस निर्दयी ने उसे औरंगजेब के हवाले कर दिया। दारा और उसका बेटा दोनों एक मैले-कुचैले हाथी पर बिठाकर दिल्ली के बाजार में फिराये गये। और उनका घोर अपमान किया गया। बर्नियर लिखता है कि मैंने नगर-निवासियों को दारा की दशा पर खेद प्रगट करते और आँखों से आँसू बहाते देखा था। दारा पर विधर्मी होने का अपराध लगाया गया और यह निश्चय हुआ कि कुफ्र का यथोचित दण्ड फाँसी ही है। नजर नामक एक गुलाम ने दारा की हत्या की और उसका सिर काट-कर धड़ से अलग कर दिया गया। जब उसका सिर औरंगजेब के सामने लाया गया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। सुलैमान शिकोह भी कैद करके ग्वालियर के किले में भेज दिया गया। वहाँ उसे धीरे-धीरे पोस्त देकर मार डाला गया।

शुजा—शुजा पटना की ओर भाग गया था। दिल्ली में सिंहासनारूढ़ होने के बाद औरंगजेब ने उसे एक पत्र लिखा जिसमें उसने बड़ा स्नेह प्रगट किया परन्तु शुजा ने विश्वास न किया और युद्ध की तैयारी की। फतहपुर जिले में खजवा नामक स्थान पर जनवरी सन् १६५९ में घमासान युद्ध हुआ जिसमें शुजा पूर्णतः पराजित हुआ। इसके बाद वह बंगाल चला गया और वहाँ से अराकान की ओर भाग गया।

औरंगजेब की सफलता के कारण—उत्तराधिकार-युद्ध में औरंगजेब अपने प्रतिद्वंद्वियों से बाजी कैसे मार ले गया? मुसलमान इतिहासकारों ने उसके 'इकबाल' पर बहुत जोर दिया है, परन्तु आधुनिक इतिहासकार को उसकी सफलता की व्याख्या भिन्न प्रकार से करनी पड़ेगी। औरंगजेब के द्रुत उत्थान का श्रेय इतना अन्य किसी बात को नहीं प्राप्त होता जितना कि शाहजहाँ

भेंटें भेजी और बकाया खिराज का एक हिस्सा अदा करने के लिए रुपये भी भेजे। शाहजहाँ ने जो दारा और जहाँनारा की सिफारिशों से बहुत प्रभावित हुआ, युद्ध-व्यय के रूप में एक बहुत बड़ी रकम के अदा होने की शर्त पर युद्ध बन्द कर देने की आज्ञा दे दी।

अब्दुल्ला ने अपने अपराधों को क्षमा कराने और शाहजादा मुहम्मद के साथ अपनी पुत्री के विवाह के विषय में औरंगजेब की राय लेने के लिए अपनी माता को भेजने की इजाजत माँगी। वह सम्मानपूर्वक शायस्ता खाँ के शिविर में लाई गई और औरंगजेब से उसकी मुलाकात का प्रबंध कर दिया गया। औरंगजेब इस शर्त पर अब्दुल्ला का राज्य लौटा देने को राजी हुआ कि वह हरजाने और खिराज के बकाये के रूप में एक करोड़ रुपये दे और मुहम्मद के साथ अपनी पुत्री का विवाह मंजूर करे। इस बीच में अब्दुल्ला के मुख्तार को अपने स्वामी के प्रति दारा और जहाँआरा की सहानुभूति प्राप्त करने में सफलता मिल गई। उन लोगों ने सम्राट् से औरंगजेब की धोखेबाजी और निर्दयता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया जिसका उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने चटपट औरंगजेब को अविलम्ब गोलकुंडे का घेरा उठा लेने और सुलतान के राज्य से हट जाने का हुक्म भेज दिया।

गोलकुण्डा के साथ संधि—औरंगजेब ने सम्राट् की आज्ञा का पालन किया और गोलकुंडा के सुलतान के साथ संधि कर ली। और एक सप्ताह बाद कुतुबशाह की पुत्री से शाहजादा मुहम्मद शाह का विवाह हो गया जिसमें वह खुद शरीक नहीं हुआ, उसका दीवान और शाही बख्शी उसकी वधू को उसके खेमे में ले आये। वधू के पिता ने दहेज में १० लाख जवाहिरात तथा दूसरी वस्तुएँ दीं। सुलतान ने कुरान लेकर भविष्य में कभी सम्राट् की आज्ञा का उल्लंघन न करने की प्रतिज्ञा की, और कृतज्ञतापूर्वक क्षमा-दान के शाही फरमान और सम्राट् द्वारा भेजे हुए बेशकीमत खिलअत को ग्रहण किया। औरंगजेब ने प्रसन्न होकर सुलतान ने जो हरजाने के २५ लाख रुपये देने की प्रतिज्ञा की थी, उसमें से १० लाख माफ कर दिया। थोड़े दिनों के बाद इसमें से कुछ और छूट हो गई और कुछ जिले भी दिये गये। गोलकुंडे

का पूर्ण रूप से मानमर्दन हो गया, अब वह मुगल साम्राज्य का करद राज्य मात्र रह गया।

मुगल दरबार में मीरजुमला का स्वागत—मीरजुमला सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ, और उसका दरबार में अच्छा स्वागत हुआ। उसने सम्राट् को जो भेंट पेश की, उसका मूल्य १५ लाख था और उसमें एक बहुमूल्य हीरा भी था। उसे मुअज्जमखाँ का खिताब और ६००० जात और ६००० सवार का मनसब दिया गया और वह सदाउल्लाखाँ की जगह पर वजीर आजम नियुक्त किया गया। उसके ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद अमीन का भी सम्मान किया और उसे खाँ का खिताब दिया गया।

बीजापुर के विरुद्ध युद्ध—औरंगजेब ने अब बीजापुर की ओर अपनी क्रूर दृष्टि फेरी। १६३६ ई० की मुहिम बीच में ही एकाएक खतम हो गई थी और बीजापुर एक स्वतंत्र राज्य बना रह गया। मुहम्मद आदिलशाह जो अपने न्याय और दानवीरता के लिए सुविख्यात था, दिल्ली के सम्राट् से मित्रता का संबंध बनाये रहा। किन्तु उसके स्वतंत्र शासक का पद ग्रहण करने पर शाहजहाँ बड़ा अप्रसन्न हुआ और उसके इस दुस्साहस के लिए एक पत्र में उसे खूब फटकारा और मुगलों के सम्राट्-पद की नकल न करने की चेतावनी दी। जब बीजापुर के सैनिक को इस पत्र की अपमानजनक बातों की खबर लगी तो उन्होंने सुलतान से अपनी उपाधियों और अपने दरबार के रसूम को न त्यागने की प्रार्थना की और मुगल सम्राट् द्वारा इस पर एतराज किये जाने पर उससे लोहा लेने का अपना निश्चय प्रकट किया। किन्तु दूरदर्शी आदिलशाह ने, जो मुगल आक्रमण के दुष्परिणाम को भली भाँति समझता था, यह उत्तेजनापूर्ण निश्चय त्याग दिया। उसने अपने गलतियों के लिए सम्राट् से क्षमा माँगी और उसकी वश्यता स्वीकार की। मुहम्मद आदिलशाह योग्यतापूर्वक ३० वर्ष तक शासन करके ४ नवम्बर १६५६ ई० को मृत्यु को प्राप्त हुआ, और उसके बाद उसका पुत्र अली आदिलशाह द्वितीय १८ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा।

ज्यों ही औरंगजेब को यह खबर मिली कि बीजापुर के सिंहासन पर एक लड़का बैठा है, उसने सम्राट् को यह बतलाकर कि नया सुलतान मृत आदिलशाह का पुत्र नहीं है, बल्कि एक अज्ञात कुल-शील बालक है जिसे कुछ षड्यन्त्र करने-

वालों ने गद्दी पर बैठा दिया है, बीजापुर पर चढ़ाई करने की आज्ञा माँगी। मृत सुलतान की मृत्यु के पीछे उत्पन्न हुई राज्य की दुर्व्यवस्था से औरंगजेब युद्ध आरम्भ करने के लिए और भी प्रोत्साहित हुआ। शाहजहाँ ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसे बीजापुर के मामले का निश्चय अपने इच्छानुसार निपटारा कर लेने का अधिकार दे दिया। यह निश्चय हुआ कि दक्षिण की मुगल सेना की शक्ति बढ़ाने के लिए एक सुदक्ष सेनापति के अधीन २०,००० सैनिकों की नई सेना भेजी जाय और मीर जुमला को इस युद्ध में शाहजादे का सहायक बनाया गया। शाहजहाँ की इच्छा बीजापुर को केवल विजय करने की थी, अपने राज्य में मिला लेने की नहीं। यह प्रस्ताव कि यदि आदिलशाह हर्जाने के तौर पर डेढ़ करोड़ रुपये दे और नियमानुसार मुगल आधिपत्य स्वीकार करे तो बीजापुर के साथ नर्मी का व्यवहार किया जाय, शाहजादे को नहीं जँची और उसने युद्ध की तैयारी कर ली। उसने मीर जुमला को अविलम्ब पहुँच जाने के लिए कहला भेजा। यह युद्ध किसी प्रकार न्याय नहीं माना जा सकता। बीजापुर करद राज्य नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र राज्य था और मुगल सम्राट् को बीजापुर के सिंहासन के उत्तराधिकार में हस्तक्षेप करने का न्यायोचित अधिकार नहीं था। युद्ध का वास्तविक कारण बीजापुर की दुरवस्था के कारण प्राप्त उसे हड़प लेने का सुअवसर ही था।

मीर जुमला और औरंगजेब अपनी सम्मिलित सेनाओं के साथ बीजापुर की ओर बढ़े, और बीदर पहुँचकर उन्होंने उस पर घेरा डाल दिया। बीदर का शहर एक सुदृढ़ दुर्ग से सुरक्षित था जिसकी परिधि ४५०० गज और उँचाई १२ गज थी। इसके चारों ओर चट्टान काटकर बनाई हुई चौड़ी और २५ गज गहरी खाइयाँ थीं। इसमें कई सुलतानों के बनवाये हुए बहुत से महल, स्नानागार और रम्य उद्यान थे। इस किले में जो मध्ययुग में दुर्भेद्य समझा जाता था, लड़ाई का सामान अच्छी तरह संग्रहीत था। दुर्ग का किलेदार बीजापुर का एक वृद्ध सेनापति सीदी मर्जन था जिसके अधीन १००० सवार और ५००० पैदल थे जिनमें बन्दूकची और तोपची भी थे। दुर्गस्थ सेना ने शत्रु-सेना पर गोलियाँ बरसाना आरम्भ किया; किन्तु मुगल सेना गोलियों की घनी बौछार की परवा न करते हुए आगे बढ़ी और खाई के पास पहुँचकर उसे भरने लगी। दुर्गस्थ सेना ने कई बार दुर्ग से बाहर निकलकर शत्रुओं पर आक्रमण किया, जिसमें कभी बीजा-

पुरियों की अधिक क्षति होती थी और कभी मुगलों की। किन्तु अन्त में संख्या के बल से मुगलों ने विजय पाई। भाग्य ने भी उन लोगों का साथ दिया।

किले के बारूदखाने में आग लग गई जिसके विस्फोट से बहुत से बीजापुरी सैनिक नष्ट हो गये। सीदी मर्जन और उसके दो पुत्र बुरी तरह घायल हो गये। इस सुअवसर से लाभ उठाकर मुगल किले में घुस पड़े और जिन लोगों ने उनका विरोध किया, उन्हें मार डाला या कैद कर लिया, और किले पर अपना झंडा फहरा दिया। वीर सीदी मर्जन के सामने, जो सांघातिक रूप से आहत हो गया था, अब आत्मसमर्पण के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं था। उसने दुर्ग की कुंजियों के साथ अपने पुत्रों को औरंगजेब के पास भेज दिया जिसने उनका सम्मान-पूर्वक स्वागत किया। इस प्रकार बीदर का किला २७ दिन के मुहासिरे के बाद औरंगजेब के अधिकार में चला आया। बहुत सा लूट का माल मुगलों के हाथ लगा जिसमें १२ लाख रुपये नकद थे, ८ लाख रुपयों का गोला-बारूद था और २५० तोपें थीं। औरंगजेब बड़े समारोह के साथ नगर में दाखिल हुआ और उसने दिल्ली के सम्राट् के नाम का खुतबा पढ़वाया। वीर सीदी मर्जन अपने घावों के कारण जल्द मर गया।

बीजापुरी जो इस पराजय के कलंक को धो डालने के लिए उत्सुक थे, गुलबर्गे में फौजें इकट्ठी करने लगे। औरंगजेब ने उनके विरुद्ध १५ हजार अश्वारोहियों के साथ महाबत खाँ को भेजा। २०,००० बीजापुरियों का एक दल मुगल शिविर से छः मील से भी कम दूरी तक बढ़ आया और मुगल सेना के बनजारों के बैलों को छीन लिया। महाबत खाँ के सैनिकों ने तेजी से उनका पीछा करके बैलों को छुड़ा लिया। खाँ मुहम्मद, अफजल खाँ और दूसरे प्रसिद्ध सेनापतियों के संचालन में २०,००० बीजापुरियों ने मुगल सेना पर आक्रमण किया। किन्तु मुगलों ने उन्हें मारकर भगा दिया और पीछा करके उनके बहुत से सैनिकों को काट डाला।

इस विजय के थोड़े ही दिनों बाद औरंगजेब चालुक्यों की प्राचीन राजधानी कल्याणी पहुँचा, जो बीदर से ४० मील पश्चिम स्थित थी। उस नगर पर घेरा डाला गया, और दुर्गस्थ सेना दुर्ग के परकोटे से दिन-रात अग्नि-वर्षा करने लगी। महाबत खाँ ने अपने वीर सैनिकों की सहायता से शत्रु की शृंखला को तोड़ दिया और इखलास खाँ ने उसका भयंकर संहार करके उसे पीछे हटा दिया। युद्ध

अभी जारी रहा और दोनों सेनाएँ एक दूसरे से गुथ गईं। युद्ध छः घंटे तक हुआ जिसमें दक्खिनियों ने मुगलों को बड़ा परेशान किया, किन्तु अन्त में हिन्दुस्तानी सवारों ने उन्हें पराभूत कर दिया। बीजापुर की सेना की बड़ी क्षति हुई और औरंगजेब ने अपने सेनापतियों की सफलता पर बड़ा आनन्द मनाया। घेरा बड़ी तत्परता से जारी रखा गया। दुर्ग का किलेदार बड़ी वीरता से किले की रक्षा कर रहा था। उसके आदमी शत्रु पर अहर्निश अग्नि-वर्षा कर रहे थे। अन्त में जब दिलावर खाँ ने देखा कि दुर्ग की रक्षा नहीं हो सकती तो वह इस शर्त पर किला सौंप देने को तैयार हो गया कि किलेदार और दुर्ग के सैनिक अपने परिवार के लोगों के साथ दुर्ग छोड़कर निर्भयतापूर्वक चले जाने दिये जायँ। दुर्ग की कुंजियाँ २१ जुलाई १६५८ ई० को मुगलों को सौंप दी गई और फिर एक बार शाहजादे ने सम्राट् के नाम का खुतबा पढ़वाया।

मुगलों ने बीदर और कल्याणी को लिया था और वे बीजापुर पर आक्रमण करने को तैयार थे, इतने ही में बादशाह की आज्ञा आ पहुँची कि आक्रमण रोक दिया जाय। मुगल दरबार में सुलतान के आदमियों ने शाहजहाँ को राजी कर लिया था। अपने योग्य भाई के प्रति दाराशिकोह का द्वेष भी उनके इष्ट-साधन में सहायक सिद्ध हुआ था। शाहजहाँ ने औरंगजेब की सफलताओं का महत्त्व नहीं समझा। और उसने इस अन्यायपूर्ण युद्ध को बन्द कर देने की आज्ञा दे दी। सुलतान के साथ संधि हो गई। उसने हरजाने के तौर पर डेढ़ करोड़ रुपये देना और बीदर, कल्याणी और परेंदा के किले समर्पित करना स्वीकार किया। शाहजहाँ ने उदारतापूर्वक हरजाने की रकम में से आध करोड़ रुपये माफ कर दिया और संधि को मान लिया।

तख्त ताऊस—शाहजहाँ बड़ा शानदार बादशाह था। अपने शासन-काल में उसने कई प्रसिद्ध इमारतें बनवाईं जो आज तक दर्शकों की दृष्टि में चकाचौंध पैदा कर देती हैं। किन्तु मयूर सिंहासन भी किसी प्रकार कम प्रसिद्ध नहीं था जिसके बनवाने में सम्राट् के दो उद्देश्य थे, एक तो पुश्त दर पुश्त से राजकोष में संग्रहीत बहुमूल्य रत्नों का प्रदर्शन और दूसरा मुगल दरबार की शान शौकत की अभिवृद्धि। राजकोष में संगृहीत २ करोड़ के रत्नों में से ८४ लाख रुपयों के उत्कृष्ट रत्न चुने गये और उन्हें एक लाख तोले सोने के साथ जिसका मूल्य १४

लाख रुपये था, सुनारों के दारोगा बेबदल खाँ के हवाले किया गया और उसे एक ३½ गज लम्बा, २½ गज चौड़ा और ५ गज ऊँचा सिंहासन तैयार कराने की आज्ञा दी गई। इसके चँदोवे के बाहरी हिस्से में माणिक लगे हुए थे और उसके भीतरी भाग में मीनाकारी की हुई थी जिसमें रत्न लगे थे। यह चँदोवा १२ खंभों पर स्थित था, जिनमें ऊपर से नीचे तक पन्ने जड़े हुए थे। हर एक खम्भे पर दो रत्न-जटित मयूर बने हुए थे, और हर दो मोर के बीच में लाल, हीरा, पन्ना और मोती से जड़ा हुआ एक वृक्ष बना हुआ था। समूचा सिंहासन रत्नों से जगमगाता रहता था। इसमें जड़े हुए रत्नों में एक लाख के मूल्य का लाल था जिसे शाह अब्बास ने जहाँगीर के पास भेजा था और जो दक्षिण की सामरिक सफलताओं के उपलक्ष में जहाँगीर से शाहजहाँ को मिला था। यह सिंहासन सात वर्षों में बनकर तैयार हुआ और इसमें एक करोड़ से अधिक रुपये व्यय हुए। यह १६३४ ई० में बनकर तैयार हुआ।

जब नादिरशाह ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया तो वह तख्त-ताऊस को अपने साथ फारस लेता गया। किन्तु अब यह सिंहासन फारस में नहीं है। लार्ड कर्जन के पूछ-ताछ से पता चला कि फारस का वर्त्तमान तख्त-ताऊस भारतीय सिंहासन बिलकुल ही नहीं है। यह बनवाया गया था इस्फहान के सरदार मुहम्मद हुसेन खाँ द्वारा फतह अलीशाह के लिए जब उसने एक इस्फहानी युवती से जो ताऊस खानम के नाम से मशहूर थी, विवाह किया था।

शाहजहाँ की दिनचर्या—शाहजहाँ प्रातःकाल सूर्योदय से दो घड़ी पहले उठता था, और नमाज अदा करके काम में लग जाता था। पहले वह झरोखे पर जाकर दर्शनार्थ इकट्ठी हुई प्रजा को दर्शन देता था। वहाँ से वह दरबार में जाता था, जहाँ प्रमुख राजपुरुष उसके सामने उपस्थित किये जाते थे और खिलअत तथा उपहार पाते थे। बादशाह के सामने सूबों के मनसबदारों की अर्जियाँ पेश की जाती थीं जिन पर वह अकसर अपने हाथ से हुक्म लिखता था। दरबार में कार्य समाप्त करके वह दौलतखाना-ए-खास में जाता था, जो अकबर के समय गुसल-खाना कहलाता था। वहाँ वह अपने अफसरों के हुक्मों की जाँच करता था और रत्नों और उसकी स्वीकृति के लिए उपस्थित किये गये इमारतों के नकशों की परीक्षा करता था। इसके बाद वह शाहबुर्ज में जाता था जहाँ गोपनीय

राजकार्य किया जाता था, और जहाँ चुने हुए विश्वसनीय राजपुरुष ही जा सकते थे।

दोपहर के करीब सम्राट् हरम में चले जाते थे, किन्तु वहाँ भी उन्हें कार्य से अवकाश नहीं मिलता था। मुमताजमहल अनाथों, विधवाओं तथा अन्य दुखियों की अर्जियाँ सम्राट् के सामने पेश करती थी, जिन पर वे उदारतापूर्वक धन देते थे। मध्याह्नोत्तर काल में सम्राट् फिर दरबार में और शाहबुर्ज में राजकार्य देखते थे।

दिन भर परिश्रम करने के बाद सम्राट् महलों में लौट जाते थे और वहाँ गायिकाओं के संगीत से दो घंटे मन बहलाते थे। इसके बाद सोने का समय हो जाता था। इतिहास और यात्रा की पुस्तकें और नबियों की जीवनियाँ एक पर्दे की आड़ मे पढ़कर सुनाई जाती थीं, जब तक बादशाह को नींद नहीं आ जाती थी। वह जफरनामा और वाक्यात बाबरी को बहुत पसंद करता था और उन्हें रोज पढ़वा-कर सुनता था।

शाहजहाँ की इमारतें—शाहजहाँ को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था। इमारतों के बनवाने में उसने असीम धन व्यय किया। उसकी इमारतों का विस्तृत विवरण अंतिम अध्याय में मुगल-काल में कला के विकास के विषय में लिखते समय दिया जायगा। यहाँ उसके बनवाये हुए विभिन्न भवनों का उल्लेख-मात्र पर्याप्त होगा। उसकी इमारतों में सबसे अधिक सुन्दर तथा सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रिय-तमा मुमताजमहल की कब्र के ऊपर बनवाया हुआ संसार-प्रसिद्ध रौजा है, जो ताज-महल के नाम से विख्यात है। मुमताज बेगम की मृत्यु १६३० ई० में हुई और उसके दूसरे वर्ष रौजे का निर्माण आरम्भ हुआ। इसके बनने का काम वर्षों तक चलता रहा और इसके सिंहद्वार के लेख से जो १६६७ ई० का है, ज्ञात होता है कि प्रधान गुंबज उसी वर्ष तैयार हुआ। समकालीन लेखक अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है कि यह १२ वर्षों में बनकर तैयार हुआ और इसमें ५० लाख रुपये व्यय हुए। उसका तात्पर्य निस्सन्देह भीतरी चबूतरे पर के संगमरमर की इमारतों से है, सम्पूर्ण भवन के बनने में निस्सन्देह अधिक समय लगा होगा। टैवर्नियर जो १६५३ में भारतवर्ष में उपस्थित था, लिखता है कि ताजमहल २२ वर्षों में बनकर तैयार हुआ और इसमें ३ करोड़ रुपये व्यय हुए।

शाहजहाँ ने आगरे के किले में कई और इमारतें बनवाई जिनमें मुसम्मन बुर्ज और मोती मसजिद विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। मुसम्मन बुर्ज संगमरमर की एक सुन्दर इमारत है जो बहुमूल्य पत्थरों से अलंकृत है। वृद्ध सम्राट् ने अपने पुत्र-द्वारा बन्दी होकर यहीं अपनी प्रियतमा के प्रेम के स्मारक ताजमहल की ओर देखते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त की। मोती मसजिद दीवान आम के उत्तर में स्थित है और १८७ फुट चौड़ी और २३४ फुट लम्बी है। इसका बनना १६४८ ई० में आरम्भ हुआ और १६५२ में समाप्त हुआ। इसमें कुल ३,००,००० रुपये व्यय हुए। इन इमारतों के अतिरिक्त शाहजहाँ ने किले में झरोखा-ए-खास-ओ-आम और दौलतखाना-ए-खास बनवाये, जो पहले विपुल धन व्यय करके कपड़े और लकड़ी के बनवाये गये थे। आगरे के किले के सामने कोई इमारत नहीं थी, इसलिए शाहजहाँ ने एक बड़ा चौक बनवाया जिसमें बेगम साहिब ने ५ लाख रुपये व्यय करके एक सुन्दर मसजिद बनवा दी, जो पाँच वर्ष में १६४८ ई० में बनकर तैयार हुई।

आगरा एक अनुपम नगर था लेकिन वह भी शाहजहाँ को अपनी राजधानी के लिए उपयुक्त नहीं जँचा। उसने दिल्ली की भूमि पर जो कई साम्राज्यों की राजधानी रह चुकी थी, अपनी राजधानी बनवाने का निश्चय किया। स्थापत्यकला विशारदों और ज्योतिषियों ने स्थान चुना और १२ मई १६३९ को आगरे की शान को मात कर देनेवाली नई राजधानी शाहजहाँनाबाद की नींव डाली गई। दस वर्षों में यह नगर बनकर तैयार हुआ और १६४८ ई० में बड़ी धूमधाम से साम्राज्य की राजधानी बनवाया गया। इस नगर में शाहबुर्ज, रंगमहल, मुमताजमहल, दीवाने आम और दीवाने खास और कुछ और इमारतें अपार धन व्यय करके बनवाई गई। दीवाने खास शाहजहाँ की इमारतों में सबसे अधिक अलंकृत है। इसकी दीवारों पर ये शब्द अब भी अंकित हैं—

अगर फिरदौस बररूए जमीनस्त, हमीनस्त हमीनस्त हमीनस्त। अर्थात् यदि इस पृथ्वी पर स्वर्ग है, तो यही है, यही है। इस दीवान में संगमर्मर की बनी हुई जल की नालियाँ हैं जिससे इमारतों को शोभा और भी बढ़ गई है; इन नालियों में जमुना का जल बहता था। जिस संगमर्मर की पटिया पर दीवाने खास में तख्त ताऊस रखा जाता था, वह इसमें अब भी देखा जा सकता है। एक और इमारत

जिससे शाहजहाँ ने इस नये नगर को अलंकृत किया जामा मसजिद है, जो भारतवर्ष की बड़ी से बड़ी मसजिदों में से एक है। १६५० ई० के अक्टूबर मास में इसकी नींव डाली गई, और यह सादुल्ला खाँ के निरीक्षण में दस लाख रुपये व्यय करके ६ वर्षों में बनवाई गई। यह मसजिद लाल पत्थर की बनी है।

इन विशाल तथा सुन्दर इमारतों के अतिरिक्त अपने धर्म-प्रेम तथा उदारता से अनुप्रेरित होकर शाहजहाँ ने विभिन्न स्थानों में कई इमारतें बनवाई। निजामुद्दीन औलिया का सुन्दर मकबरा संसार की भीड़-भाड़ से दूर एक शांत स्थान में विशुद्ध संगमर्मर का बनवाया गया। अजमेर में शाहजहाँ ने कई इमारतें बनवाईं। वहाँ के हिन्दू राजा अनाजी द्वारा बनवाये गये अनासागर झील की पाल पर शाहजहाँ ने १६३७ ई० में १२४० फुट लम्बा संगमर्मर का घाट, विशुद्ध संगमर्मर की पाँच बारहदरियाँ और एक हम्माम बनवाया। इनके अतिरिक्त १६३८ ई० में एक सुन्दर मकबरा और उसके पश्चिम एक सुन्दर तथा अलंकृत जामा मसजिद बनवाकर सम्राट् ने ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति प्रकट की।

शाहजहाँ का शासन-प्रबन्ध—अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार शाहजहाँ का राज्य-विस्तार पूर्व-पश्चिम आसाम में सिलहट से सिन्ध में लाहरी बन्दरगाह तक २००० क्रोह था और उत्तर-दक्षिण अफगानिस्तान में बिस्त के किले से दक्षिण में आसा तक १५०० क्रोह था। इसमें २२ सूबे थे जिनसे ८८० करोड़ दाम अर्थात् २२ करोड़ रुपये की वार्षिक आमदनी थी। सूबों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) दिल्ली, (२) अकबराबाद, (३) लाहौर, (४) अजमेर, (५) दौलताबाद, (६) इलाहाबाद, (७) बरार, (८) मालवा, (९) खानदेश, (१०) अहमदाबाद, (११) अवध, (१२) बिहार, (१३) मुलतान, (१४) तिलंगाना, (१५) उड़ीसा, (१६) बंगाल, (१७) थट्टा, (१८) काबुल, (१९) बलख, (२०) कंधार, (२१) बदखशाँ, (२२) काश्मीर। शासन-प्रणाली वही थी जो अकबर के समय में थी गो कि उसमें सुभीते के लिए कुछ परिवर्तन कर लिये गये थे। शाहजहाँ अपनी प्रजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करता था। टैवर्नियर प्रजा पर उसके शासन को ऐसा कोमल तथा सदय बतलाता है जैसा बहुत कम शासकों में पाया जाता है। वह अपने सरदारों को कर्त्तव्य का पालन न करने पर दंड देता था और प्रजा के सुख-चैन के लिए सब बातों का प्रबन्ध करता था, जिसके कारण प्रजा के हृदय में

उसके लिए बड़ा प्रेम तथा स्नेह था। साम्राज्य में जागीरदारी और मनसब की प्रथा प्रचलित थी। बादशाही नौकरी में सभी राष्ट्रों के मनुष्य थे जिन्हें मुगल सम्राट् प्रसन्न होने पर ऊँचे दर्जे पर चढ़ा देता था और अप्रसन्न होने पर नीचे गिरा देता था या मटियामेट कर देता था। इन अफसरों को वेतन और जागीर दोनों मिलती थीं; किन्तु फिर भी वे ऋण-ग्रस्त रहते थे। इसका कारण यह था कि उन्हें सम्राट् को बड़ी-बड़ी नजरें देनी पड़ती थीं और उनमें फजूलखर्ची बहुत थी। मनसबदारों की मृत्यु पर उनकी संपत्ति जब्त हो जाने का जो नियम था, उसके कारण वे लोग अपनी सन्तानों के भविष्य के लिए सदा चिंतित रहते थे और उनमें विलासिता और अपव्ययता बढ़ गई थी।

राज्य की आमदनी का सबसे बड़ा साधन जमीन की मालगुजारी थी। सम्राट् की आज्ञा थी कि राजकर्मचारी सदा प्रजा के हितों की रक्षा करें, किन्तु इस आदेश का पूर्ण रूप से पालन नहीं होता था। यहाँ एक घटना बयान की जाती है जिससे यह बात भली भाँति प्रकट होती है कि शाहजहाँ प्रजा की भलाई तथा उसके प्रति न्याय और दया का कितना ध्यान रखता था। एक दिन मुहकमा लगान के कागजात की जाँच करते हुए सम्राट् ने देखा कि एक मौजे की मालगुजारी में कई हजार की बढ़ती हो गई थी। उन्होंने तत्काल अपने दीवा सादुल्ला खाँ को बुलाकर इस बढ़ती का कारण पूछा। दीवान ने जवाब दिया कि नदी के पथ में परिवर्त्तन हो जाने से गाँव में कुछ जमीन आ मिली थी जिससे गाँव की उपज बढ़ गई थी। सम्राट् ने पूछा कि यह जमीन खालसा थी या ऐमा (माफी)। दीवान ने बतलाया कि माफी थी। यह सुनकर सम्राट् बहुत बिगड़ा और ज्यादती करनेवाले फौजदार को पदच्युत कर दिया और जो अधिक वसूली हुई थी उसे लौटा दिये जाने की आज्ञा दे दी। दीवान सादुल्ला खाँ भी बड़ा कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति था। वह कहा करता था कि जो दीवान प्रजा के साथ अन्याय करता है, वह शैतान है। जमीन के लगान के अतिरिक्त राज्य और भी कई अवाब वसूल करता था जिन्हें आगे चल औरंगजेब ने हटा दिया। हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा आदि के धार्मिक कर भी लगते थे। जो तीर्थ-यात्री प्रयाग जाते थे, उनसे सरकार सवा छः रुपये वसूल करती थी। मृत हिन्दुओं की हड्डियों को गंगा में डालने के लिए भी कर देना पड़ता था।

न्याय काजी और मीरअदल करते थे, किन्तु इस विषय में बादशाह अपने

कर्त्तव्य से उदासीन नहीं था। वह साम्राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधिकारी था; उसके पास महत्त्वपूर्ण अभियोगों की अपील की जाती थी। वह बुधवार को झरोखा-ए-आम-ओ खास पर नहीं जाता था। वह दिन न्याय के लिए अलग कर दिया गया था। उस दिन निश्चित समय पर बादशाह झरोखा-ए-दर्शन से सीधे दरबार आम में आता था जो साधारणतः गुसलखाने के नाम से प्रसिद्ध था, और दारोगा द्वारा पेश किये गये मुकदमों का फैसला करता था। वह उलमा की सलाह लेता था जो शरियत के अनुसार राय देते थे। जिन मुकदमों में स्थानीय अनुसन्धान की आवश्यकता होती थी, उन्हें प्रान्तीय सूबेदार के पास सत्य बातों का पता लगाने के लिए भेज दिया जाता था और उन्हें सब बातों की रिपोर्ट देनी पड़ती थी। लुब्बुत्तवारीख का हिन्दू लेखक जो शाहजहाँ के शासन से भली भाँति परिचित था, न्यायप्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा करता है। वह कई ऐसे उदाहरण पेश करता है जिनमें न्याय की रक्षा के लिए उसने हस्तक्षेप किया। राज्य के उच्चतम अधिकारियों को भी उनकी ज्यादतियों का पता चलने पर दंड दिया जाता था। कहा जाता है कि एक बार कुछ खेल करनेवालों ने आज्ञा लेकर सम्राट् के सामने एक नाटक का अभिनय किया जिसमें गुजरात के सूबेदार के अन्याय तथा दुष्टता पर प्रकाश डाला गया था। बादशाह अचम्भित होकर चिल्ला उठा---'क्या संसार में ऐसे अत्याचार करनेवाले मनुष्य भी हो सकते हैं? और मामले की जाँच करने की आज्ञा दे दी और सूबेदार पर सब अपराध सिद्ध हो जाने पर उसे रोहतासगढ़ में आजन्म कैद रखे जाने का दंड दिया गया और उसकी संपत्ति जब्त कर ली गई। बर्नियर लिखता है कि स्थानीय अधिकारियों का रिआया पर ऐसा प्रबल एकाधिकार था कि उनके द्वारा सताई हुई प्रजा कहीं प्रार्थना नहीं कर सकती थी। साम्राज्य के राजधानी से दूरवर्ती भागों में ऐसा होना संभव है; किन्तु जहाँ कहीं सम्राट् की नजर पहुँच जाती थी, अत्याचारों का प्रतिकार किया जाता था और उत्पीड़ितों के प्रति न्याय किया जाता था। मुकदमों का फैसला जल्द हो जाता था। उस समय मुकमेबाजी का रोग नहीं फैला था। अपराधियों को बड़े कड़े दंड दिये जाते थे। हल्के जुर्मों के लिए अंगच्छेदन का दंड दिया जाता था और गुरुतर अपराधों के लिए प्राणदंड या आजीवन कारावास का दंड दिया जाता था।

थीं। युद्ध-विभाग में लड़ाई के सब सामानों का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था, जैसा कन्धार की चढ़ाइयों के सामान के विवरणों से अच्छी तरह प्रकट होता है। किन्तु गोकि शाह की सेना बहुत बड़ी थी, सेना का प्रबन्ध बहुत अच्छा नहीं था, जैसा कन्धार की चढ़ाइयों की असफलता जाहिर करती है।

सब बातों का विचार रखते हुए यह कहा जा सकता है कि शाहजहाँ अपने राज्याधिकार के उपयोग में प्रजा की भलाई का बड़ा ध्यान रखता था। टैवर्नियर लिखता है कि शान्तिरक्षा का प्रबन्ध बड़ा कड़ा था जिसके कारण यात्रियों को लूटे जाने या माल की चोरी जाने का भय बिलकुल नहीं था और किसी को चोरी के लिए दंड देना ही नहीं पड़ता था[१]। मुसलमान और हिन्दू इतिहास लेखक दोनों कहते हैं कि देश समृद्ध था। सम्राट् के पास विपुल संपत्ति थी जिससे उसने अपनी राजधानियों में बड़े ही सुन्दर भवन बनवाये, जो आज भी कला-प्रेमियों के विस्मय तथा प्रशंसा के विषय हैं। अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है कि राज्यारोहण के समय शाहजहाँ के पास दस करोड़ के रत्न थे। सम्राट् की विशाल संपत्ति से साधारण जन-समाज को कम लाभ नहीं होता था। शाहजहाँ के ऐश्वर्य तथा शान-शौकत के प्रेम से कारीगरों को बहुत काम मिलता था। लाहौर, आगरा, फतहपुर, अहमदाबाद, बुरहानपुर और काश्मीर के राजकीय कारखानों में राजपरिवार तथा राजपुरुषों के लिए बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषण, चित्र आदि तैयार किये जाते थे। फिर भी बाजारों में कारीगरों और मजदूरों से बेगार ली जाती थी। बर्नियर कहता है कि अमीर कारीगरों को पूरी मजदूरी नहीं देते थे और कभी-कभी तो उचित मजदूरी के बदले कोड़े ही मिलते थे। साम्राज्य की आर्थिक स्थिति क्षीण हो रही थी। बादशाह की इमारतों और युद्धों में बहुत-सा रुपया व्यय हो गया। अमीर और जागीरदार अशक्त होने लगे। अपव्ययता ने उन्हें भी दुर्बल कर दिया था। अब मुगल मनसबदारों की प्रतिभा पहले की सी न थी। न उनके पास अधिक रुपया ही था। सरकारी कर्मचारी किसानों से कठोरता के साथ रुपया वसूल करते थे। केन्द्रीय शासन का निरीक्षण भी कम हो रहा था। इस आर्थिक स्थिति का साम्राज्य के भविष्य पर बुरा प्रभाव पड़ा।

---

१ टैवर्नियर का यह साक्ष्य पीटरमंडी के साक्ष्य के सर्वथा विरुद्ध है।

शाहजहां का रोग-ग्रस्त होना—१६ सितम्बर सन् १६५७ ई० को शाहजहाँ को मूत्रकृच्छ्र एवं मलावरोध से पीड़ित होकर शय्या की शरण लेनी पड़ी। दरबार में उसकी अनुपस्थिति से चारों ओर उसके मरने की अफवाह फैल गई। इससे जनता में जो अशान्ति फैली, उसको दूर करने के लिए उसको एक सप्ताह पश्चात् जनता को झरोखे से दर्शन देने पड़े। परन्तु कमजोरी बनी ही रही और चिकित्सकों को उसके आराम होने की आशा न रह गई। अन्तिम समय आया जानकर बादशाह ने उत्तराधिकार-पत्र तैयार करवाया और अपने ज्येष्ठ पुत्र दारा को अपने अमीरों तथा सरदारों के सामने लाकर उसने उनको अब दारा को अपना स्वामी समझने के लिए कहा। युवराज को उसने ऐसा आचरण अपनाने का उपदेश दिया जिससे भगवान् प्रसन्न हो, प्रजा की अभिवृद्धि हो और किसानों तथा सेना की भलाई हो। दारा बादशाह के नाम पर शासन करने लगा, परन्तु चारों ओर का वातावरण शंकापूर्ण हो उठा और विद्युत्गति से यह प्रवाद देश के कोने-कोने में फैल गया कि बादशाह ने सदा के लिए आँखें मूँद ली हैं और दारा अपने राज्यापहरण के तथ्य पर पर्दा डाले हुए है। चिकित्सकों के परामर्श से शाहजहाँ जलवायु परिवर्तन के लिए १८ अक्टूबर के दिन आगरा चला गया और वहाँ किले में रहने लगा, जहाँ उसको शेष जीवन अपने अधिकार-लिप्सु पुत्र का बंदी बनकर बिताना था।

शाहजहाँ का परिवार—राजकुमारों का चरित्र—शाहजहाँ के दारा, शुजा, औरंगजेब और मुराद यह चार पुत्र तथा जहानारा एवं रोशनारा नामक दो कन्याएँ थीं। जहानारा दारा की प्रबल समर्थक थी और रोशनारा अपने तीसरे भाई का पक्ष लेती थी और उसको महल की गति-विधियों से परिचित रखती थी।

उत्तराधिकार के लिए यूद्ध का प्रारम्भ—शाहजहाँ की मृत्यु की अफवाह साम्राज्य के कोने-कोने में फैल गई और मुगलों में उत्तराधिकार निर्णय के निश्चित नियम न होने के कारण प्रतिद्वंद्वी उत्तराधिकारियों ने तलवार के बल पर उत्तराधिकार-निर्णय करने की तैयारियाँ कर दीं। बादशाह की बीमारी के समय दारा उसके पास रहा और उसके नाम पर राजकाज चलाता रहा। खफी खाँ लिखता है कि "निजी स्वार्थों की सुरक्षा के लिए उसने

मंत्रियों से वचन ले लिया कि वह मंत्रि-परिषद् में होनेवाले निर्णयों को प्रकाशित न करें और संदेशवाहकों एवं यात्रियों के लिए उसने बंगाल, अहमदाबाद तथा दक्षिण के मार्ग बन्द कर दिये। अमीरों, जमींदारों तथा रैयतों को दारा का यह नीति-विरुद्ध कार्य बहुत खला और संघर्ष की संभावना से देश के प्रत्येक भाग में उद्दण्ड लोग सिर उठाने लगे।"[१]

जब शाहजहाँ के मरने की अफवाह प्रान्तों में पहुँची तो मुराद और शुजा ने क्रमशः गुजरात एवं बंगाल में शाही उपाधियाँ धारण कर लीं और अपने नाम का 'खुतबा' पढ़वा दिया तथा सिक्के ढलवा लिये। दारा को सबसे अधिक भय औरंगजेब से था और उसने बादशाह पर जोर डाला था कि वह बीजापुर के घेरे में औरंगजेब की सहायता के लिए भेजे गये अमीरों तथा सेना-नायकों को वापस बुला ले। मुराद ने एक विशाल सेना एकत्र कर ली और सूरत के बन्दरगाह को, जो जहानारा बेगम की जागीर में था, लूटने के लिए उसने ६००० अश्वारोहियों का दल भेजा तथा उसके दीवान मीर अली नकी को अपने हाथों से मार दिया।

औरंगजेब ने प्रतीक्षा की चाल खेली। मुराद को उसने जल्दबाजी के लिए झिड़का और उसको समझाया कि शाहजहाँ की मृत्यु के समाचार की पुष्टि हो जाने तक वह रुका रहे। परन्तु मुराद ने इस बात पर जोर दिया कि विलम्ब करना घातक होगा। इन दोनों ने साम्राज्य को आपस में बाँटने की सुलह कर ली। निश्चय हुआ कि मुराद को उत्तरी प्रान्त, पंजाब, अफगानिस्तान, कश्मीर तथा सिंध मिलेंगे और शेष औरंगजेब के अधिकार में रहेंगे। दारा को 'काफिर' ठहराया गया और औरंगजेब ने इसके बुरे प्रभाव से देश को मुक्त करने का अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया। बँटवारे की शर्तें गंभीरतापूर्वक स्वीकार की गईं और खुदा तथा पैगम्बर को इस संधि का साक्षी बनाया गया। मुराद ने गुजरात से प्रयाण किया और वह उज्जैन के समीप दीपालपुर में औरंगजेब से जा मिला। तब दोनों की सम्मिलित सेनाएँ उज्जैन की ओर बढ़ीं और शत्रु से युद्ध करने के लिए धरमत नामक गाँव में व्यूह-बद्ध हो गईं।

---

१ इलियट—७, पृ०, २१४।

शुजा की प्रगति—शुजा ने राजमहल में अपना राज्याभिषेक किया और तब वह एक विशाल सेना लेकर, जिसमें नावों का एक बेड़ा भी सम्मिलित था, दिल्ली की ओर बढ़ा। बिहार को रौंदते हुए वह २४ जनवरी १६५८ ई० में बनारस पहुँचा। दारा ने शुजा से निपटने के लिए अपने पुत्र सुलेमान शिकोह तथा राजा जयसिंह कछवाहा को भेजा। शाही सेना ने बनारस से ५ मील उत्तर-पूर्व की ओर बहादुरपुर नामक स्थान पर शुजा का सामना किया। शुजा पराजित हुआ और युद्ध-भूमि से भाग गया। जहाज में चढ़कर वह बंगाल चला गया।

धरमत का युद्ध—१५ अप्रैल १६५८—दारा ने मुराद एवं औरंगजेब की सम्मिलित सेनाओं का सामना करने के लिए महाराज जसवंतसिंह तथा कासिम खाँ को भेज दिया था। युद्ध रोकने के लिए दोनों पक्षों से प्रयत्न किया गया, परन्तु यह प्रयत्न व्यर्थ रहे। धरमत में दोनों सेनाएँ जीवन-मरण के संघर्ष में जुट गई, परन्तु राजपूत हार गये और जसवन्तसिंह मारवाड़ की ओर पलायन कर गया। परन्तु उसकी अभिमानिनी रानी ने उसके लिए महल के द्वार बन्द करा दिये थे क्योंकि वह अपनी जान बचाने के लिए रण-भूमि से भाग आया था, जैसा कि राजपूती-शान के विरुद्ध था। दारा ने बिहार से सुलेमान शिकोह को बुलाया, परन्तु वह बहुत विलम्ब से पहुँचा।

धरमत की विजय से औरंगजेब की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और उसको बहुत सम्पत्ति एवं युद्ध-सामग्री भी मिल गई। विजयी राजपुत्र ने ग्वालियर की ओर प्रयाण किया और चम्बल को पार कर सामूगढ़ के मैदान के समीप डेरा डाला[1]।

---

१ प्रो० यदुनाथ सरकार ने सामूगढ़ को आगरा के किले से ८ मील पूर्व की ओर समोगर नामक एक छोटे से गाँव के रूप में पहचाना है।

बर्नियर के लेखानुसार सामूगढ़ वर्तमान फतेहाबाद जान पड़ता है, जो आगरा से २१ मील दक्षिण-पूर्व की ओर है; यहाँ बर्नियर ने एक सराय तथा 'मुबारक मंजिल' नाम की एक मस्जिद देखी थी।

सामूगढ़ की लड़ाई—२९ मई, १६५८ ई०—जसवन्तसिंह की सेना की पूर्ण पराजय का समाचार पाकर दारा हताश हो गया। परन्तु उसकी सेना जिसमें लगभग ५०,००० सैनिक थे मई के अन्त तक सामूगढ़ के मैदान में पहुँच गई और युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गई। सेना के अग्र-भाग में राजपूत थे और वाम तथा दक्षिण पार्श्व का नायकत्व क्रमशः दारा का छोटा पुत्र सिपिर शिकोह तथा खलीलुल्ला खाँ कर रहे थे तथा मध्य-भाग में स्वयं दारा एक फौलाद से ढँके हुए हाथी पर सवार होकर डटा हुआ था।

बन्दूकों तथा गोलों की मार से युद्ध आरम्भ हुआ और दोनों पक्षों से खूब बाण-वर्षा हुई। सिपिर शिकोह तथा रुस्तम खाँ १० या १२ सहस्र अश्वारोहियों सहित बड़े वेग से शत्रु-पक्ष में घुस पड़े। शत्रु-सेना में गड़बड़ मच गई। परन्तु रुस्तम के हाथी को एक गोली लगी, जिससे वह जमीन पर गिर पड़ा और पुनः आक्रमण की शंका से रुस्तम पीछे हट गया। परन्तु इसी समय दोनों पक्षों की सहायता के लिए और सेना आ गई, जिससे लड़ाई में फिर गर्मी आ गई। रुस्तम खाँ परास्त हुआ और सिपिर शिकोह को पीछे ढकेल दिया गया।

रुस्तम की पराजय से विचलित होकर दारा सेना के मध्य भाग को लेकर, जिसमें २०,००० अश्वारोही थे, शत्रु-सेना के विजयी दल पर टूट पड़ा, परन्तु वह पीछे हटा दिया गया।

औरंगजेब और मुराद, दोनों ने अद्वितीय शौर्य प्रदर्शित किया और दारा के दल को बहुत क्षति पहुँचाई। घोर निराशा में दारा हाथी से उतर कर घोड़े पर सवार हुआ, परन्तु उसका हौदा खाली देखकर सेना में भय की लहर दौड़ गई और वह रणभूमि से भाग चला। औरंगजेब की स्पष्ट विजय हुई और उसको चारों ओर से बधाइयाँ मिलने लगीं। इस अकस्मात् पराजय से अवाक् दारा और सिपिर शिकोह ने आगरा का रास्ता लिया, जहाँ वह बहुत रात में पहुँचे।

'खुलासत' के लेखक ने, जो समसामयिक है, लिखा है कि आगरा युद्ध-भूमि से १० कोस (२० मील) की दूरी पर था। लोकवार्ताओं से इस बात की पुष्टि होती है कि सामूगढ़ आगरा जिले में वर्तमान फतहाबाद नामक स्थान है।

औरंगजेब ने दारा की छावनी में प्रवेश किया और उसकी युद्ध-सामग्री तथा तोपखाने पर अधिकार कर लिया। उसने मुराद को शासन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए बधाई दी और उसके घावों के उपचार के लिए योग्य चिकित्सक नियुक्त किये।

दारा का आगरा की ओर पलायन—इस समय दारा की जो दुर्गति हुई उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। उसके अधिकांश अनुयायी भूख और प्यास से तड़पते हुए इस संसार से कूच कर गये। इस पराजय से दारा इतना लज्जित हुआ कि वह शाहजहाँ से मिलने न गया। शाहजहाँ को भी अपने प्रिय पुत्र के इस दुर्भाग्य पर बहुत दुख हुआ। उसने दिल्ली के प्रांताध्यक्ष को तत्काल आदेश भेजा कि वह दुर्ग की समस्त सम्पत्ति दारा के हवाले कर दे। परन्तु भाग्य के विपरीत होने के कारण कुछ भी न हो सका।

सामूगढ़ की विजय के बाद औरंगजेब आगरे की ओर बढ़ा और नगर के बाहर डेरा डाल दिया। किला घेर लिया गया और शाहजहाँ बादशाह उसी में कैद हो गया। जीवन के अन्त समय तक वह यहीं अपनी प्रिय पुत्री जहानारा के साथ रहा और औरंगजेब द्वारा किये गये अपमान को सहन करता रहा।

औरंगजेब ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। मथुरा पहुँचने पर एक जलसा किया गया जिसमें मुराद को खूब शराब पिलाकर बेहोश कर दिया गया। वह कैद हो गया और उसके पैरों में सोने की जंजीरें डाल दी गई। अन्त में वह ग्वालियर भेज दिया गया। वहाँ दीवान अली नकी के कत्ल का अपराध उस पर लगाया गया और फाँसी का दण्ड दिया गया (१६६१)।

दिल्ली पहुँचकर २१ जून सन् १६५८ ई० को औरंगजेब ने बादशाह का पद ग्रहण किया और आलमगीर की उपाधि धारण की। राज्याभिषेक का उत्सव कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया।

दारा का अन्त—दारा दिल्ली में अधिक समय तक न ठहरा। वहाँ से पंजाब की ओर भागा परन्तु औरंगजेब की सेना उसका बराबर पीछा कर रही थी। अतः वह गुजरात की ओर चल दिया। अहमदाबाद के सूबेदार ने

उसकी कुछ सहायता की। उसने १० सहस्र सैनिक भी एकत्र कर लिये और पुनः युद्ध करने का इरादा किया। इसी समय उसे राजा जसवन्तसिंह ने अजमेर बुलाया और सहायता का वचन दिया। देवराय की घाटी में फिर युद्ध हुआ जिसमें दारा की हार हुई।

पराजित होकर वह फिर अहमदाबाद पहुँचा। अबकी बार सूबेदार ने उसे नगर में प्रवेश न करने दिया। इधर उधर भटकने के बाद उसने दादर (सिन्ध) के बलूची सरदार, मलिक जीवन के यहाँ शरण ली। इस निर्दयी ने उसे औरंगजेब के हवाले कर दिया। दारा और उसका बेटा दोनों एक मैले-कुचैले हाथी पर बिठाकर दिल्ली के बाजार में फिराये गये। और उनका घोर अपमान किया गया। बर्नियर लिखता है कि मैंने नगर-निवासियों को दारा की दशा पर खेद प्रगट करते और आँखों से आँसू बहाते देखा था। दारा पर विधर्मी होने का अपराध लगाया गया और यह निश्चय हुआ कि कुफ्र का यथोचित दण्ड फाँसी ही है। नजर नामक एक गुलाम ने दारा की हत्या की और उसका सिर काट-कर धड़ से अलग कर दिया गया। जब उसका सिर औरंगजेब के सामने लाया गया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। सुलैमान शिकोह भी कैद करके ग्वालियर के किले में भेज दिया गया। वहाँ उसे धीरे-धीरे पोस्त देकर मार डाला गया।

शुजा—शुजा पटना की ओर भाग गया था। दिल्ली में सिंहासनारूढ़ होने के बाद औरंगजेब ने उसे एक पत्र लिखा जिसमें उसने बड़ा स्नेह प्रगट किया परन्तु शुजा ने विश्वास न किया और युद्ध की तैयारी की। फतहपुर जिले में खजवा नामक स्थान पर जनवरी सन् १६५९ में घमासान युद्ध हुआ जिसमें शुजा पूर्णतः पराजित हुआ। इसके बाद वह बंगाल चला गया और वहाँ से अराकान की ओर भाग गया।

औरंगजेब की सफलता के कारण—उत्तराधिकार-युद्ध में औरंगजेब अपने प्रतिद्वंद्वियों से बाजी कैसे मार ले गया? मुसलमान इतिहासकारों ने उसके 'इकबाल' पर बहुत जोर दिया है, परन्तु आधुनिक इतिहासकार को उसकी सफलता की व्याख्या भिन्न प्रकार से करनी पड़ेगी। औरंगजेब के द्रुत उत्थान का श्रेय इतना अन्य किसी बात को नहीं प्राप्त होता जितना कि शाहजहाँ

की निर्बलता एवं अयोग्यता को। शाहजहाँ की बीमारी के कारण ही उसकी मृत्यु की अफवाह फैली और दारा के राजनीति-विरुद्ध कार्यों ने इसकी पुष्टि की। दारा ने यातायात के सब मार्ग बन्द कर दिये और अन्य राजपुत्रों के दिल्ली में स्थित अपने-अपने अमीरों एवं समर्थकों को भेजे गये पत्रों को बीच में ही पकड़ने के लिए अपने आदमी नियुक्त कर दिये। हम शाहजहाँ को इस बात के लिए दोषी नहीं ठहरा सकते कि उसने ऐसी अवस्था में जब चिकित्सकों को उसके स्वस्थ होने की कोई आशा न रह गई थी, दारा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था, क्योंकि मुगलों में भी पहले से ही उत्तराधिकारी नियुक्त कर देने का सिंहासन के उत्तराधिकार-निर्णय पर जाने-अनजाने असर पड़ता ही था। उस समय साम्राज्य के विभाजन का कोई प्रश्न ही न था और शाहजहाँ केवल यही कर सकता था कि अपनी मृत्यु की सम्भावना के समय दारा के उत्तराधिकार को निश्शंक बना दे। परन्तु जब वह दस सप्ताह पश्चात् स्वस्थ हो गया था, उसको चाहिए था कि वह शासन अपने हाथ में ले लेता और राजपुत्रों के अधिकार छीनने के प्रयत्नों का दमन कर देता।

खुलासत-उत-तवारीख के लेखक का कहना है कि बादशाह ने दारा को लड़ाई छेड़ने से मना किया और समझाया कि औरंगजेब आदि के राजधानी में आने से कोई भी क्षति न होगी; परन्तु इससे अधिक उसने कुछ भी न किया। सम्भव है, दारा ने उसको उसकी मृत्यु के झूठे समाचार से उत्पन्न निराशा से अवगत नहीं कराया। धरमत के युद्ध के पश्चात् भी, जब कि उसको स्थिति की गंभीरता का ज्ञान हो जाना चाहिए था, वह औरंगजेब से मिलने के लिए, जो आगरा से थोड़ी ही दूर चम्बल के किनारे टिका हुआ था, हिला-डुला तक नहीं। यदि वह रुग्णता से उत्पन्न निर्बलता के कारण कहीं नहीं जा सकता था, तब भी उसको इस स्थिति का सामना करने के लिए युद्ध-समिति का आह्वान करना और उन सरदारों तथा अमीरों को, जिनकी निष्ठा अभी तक अविचलित था, अपनी ओर खींच लेना उचित था। परन्तु दुर्भाग्यवश वह वस्तु-स्थिति की वास्तविकता न समझ सका और दारा का समर्थन करता रहा जिससे दूसरे राजपुत्र उसके प्रति सशंक हो गये और

उसके न्याय में श्रद्धा खो बैठे। अभी तक वह लोकप्रिय था और यदि वास्तव में सिंहासन को अपने ही अधिकार में रखना चाहता और राजपुत्रों की महत्त्वाकांक्षा को दबाने का निश्चय प्रकट करता, तो उसको सिंहासनच्युत करना राजपुत्रों के लिए अत्यन्त कठिन होता।

दारा स्वयं योग्य सेनानी न था। पिता के लाड़-प्यार में पलने के कारण तथा चाटुकारिता के प्रेम एवं आत्म-श्लाघा को बढ़ानेवाली परिस्थितियों से घिरे होने के कारण वह उन गुणों का विकास न कर पाया था जो प्रतिद्वंद्वितामय युद्ध में विजय दिलाते हैं। सामूगढ़ की पराजय के पश्चात् उसकी असहायावस्था उसकी सामरिक तथा कूटनीतिक अयोग्यता की परिचायक है। राजा जसवन्त-सिंह पहले तो औरंगजेब के संधि के प्रस्तावों का तिरस्कार करता रहा और युद्ध करने पर तुला रहा। अपनी इस मूर्खता को वह समय रहते न समझ पाया और उसके इस तिरस्कार ने औरंगजेब को अपनी पूरी शक्ति लगा देने के लिए उत्तेजित कर दिया। दारा की सेना भी सुसंगठित न थी। उसके सैनिक-दलों में पारस्परिक भेद-भाव और मनमुटाव था। यद्यपि राजपूतों में शौर्य की कमी न थी, परन्तु प्रमुखता एवं प्रतिष्ठा की उनकी विचित्र भावनाओं ने उनके वीरतापूर्ण प्रयत्नों पर पानी फेर दिया था। दारा के पक्ष के मुसलमान विश्वासघाती एवं भ्रष्टाचारी थे और धन एवं सम्मान का प्रलोभन पाकर शत्रु-पक्ष में मिल जाते थे। औरंगजेब का कोई भी प्रतिद्वंद्वी कूटनीति, शासन की योग्यता और सैन्य-संचालन में उसकी बराबरी न कर सकते थे। उत्तरा-धिकार युद्ध में उसकी विजय-विलासिता पर कर्मण्यता की, निष्क्रियता पर साहसिकता की तथा अव्यवस्था एवं विश्रृंखलता पर संघटन एवं अनुशासन की विजय थी।

औरंगजेब की सेना युद्ध-सामग्री से सुसज्जित थी और वह निरन्तर विपक्ष से लोगों को अपने पक्ष में खींचता रहा। उसका व्यक्तिगत शौर्य उसके खूब काम लगा और उसकी कूटनीतिक चालें चलने की क्षमता तथा सेना की व्यूह-रचना करने की दक्षता ने उसकी शक्ति को अत्यधिक बढ़ा दिया। उसकी निर्भीकता एवं साहस ने उसके सैनिकों में भी वीरता जगा दी और उन्होंने बहुत कष्ट-सहिष्णुता एवं दृढ़ता प्रकट की। इसके अतिरिक्त कट्टर

सुन्नी सम्प्रदाय का समर्थक होना भी उसका बल बढ़ाने का कारण हुआ। दारा के धर्म-विरुद्ध आचरणों एवं हिन्दुओं से घनिष्ठ सम्पर्क का ढिंढोरा पीटकर उसने कट्टरपंथियों के हृदय जीत लिये थे। स्वयं शाहजहाँ की नीति ने प्रतिक्रिया को बल दिया था और कोई आश्चर्य नहीं यदि दारा के शाही सम्मान ग्रहण करने के लाभ-हानियों पर विचार कर साम्राज्य के अमीर और सरदार मुसलमान हितों के प्रति चिन्तित हो उठे हों। वास्तव में, शाहजहाँ का पतन उस धर्मोन्माद के कारण हुआ जिसको उसने अकबर तथा जहाँगीर की नीति का त्याग कर उभाड़ दिया था। उसको सदा दारा का समर्थन करते देखकर सुन्नी लोग चिन्तित हो उठे थे और उसका विरोध करना उचित समझने लगे थे।

शाहजहाँ की प्रजा में दारा की लोक-प्रियता किसी काम न आई। यह वह समय था जब नेता ही सब कुछ थे और जनता की कोई पूछ न थी। जनता ने दारा के लिए आँसू बहाये, मलिक जीवन के प्रति घृणा प्रकट करने के लिए एक छोटा-मोटा उपद्रव भी हुआ, परन्तु इस दुर्भाग्य-ग्रस्त राजपुत्र की रक्षा के लिए वह इससे अधिक कुछ न कर सकी। सरदारों तथा पदाधिकारियों की निष्ठा किसी सिद्धान्त पर अवस्थित न थी। वह विजयी तथा कर्मण्य व्यक्ति के प्रति भक्तिभाव प्रकट करने में देर न लगाते थे। इन लोगों को अपने पक्ष में बनाकर, औरंगजेब को जनता की सम्मति की उपेक्षा करने और सगोत्रता के स्वाभाविक अधिकारों को ठुकराने में कोई कठिनाई न हुई।

शाहजहाँ के अन्तिम दिन—आगरा के किले में शाहजहाँ पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी और यहाँ उसको अपनी पुत्री जहानारा के साथ आठ वर्ष बन्दी बनकर काटने पड़े। उसने मुक्त होने के व्यर्थ प्रयत्न किये; इनसे उसके शत्रु और भी सतर्क हो गये जिससे उसका दुख और यातनाएँ और अधिक बढ़ गई। साधारण सुविधाएँ तक उसको अप्राप्य हो गई। कोई भी आदमी औरंगजेब के दूतों की अनुपस्थिति में उससे न मिल पाता था और उसके सब पत्र उसके पास पहुँचने से पहले ही खोल लिये जाते थे। बाद में उसको अपने हाथ से चिट्ठियाँ लिखने की मनाही कर दी गई और

अब एक बाँदी से उसको अपने पत्र लिखाने पड़ते। एक बार जब उसको एक जोड़ी जूते की आवश्यकता हुई तब उसको "ऐसे जूते दिये गये जो न आठ रुपये के थे, न चार के और न दो ही के, वरन् चमड़े के साधारण जूते थे"।[1] आगरा-किले में रखे हुए जवाहरातों के विषय में औरंगजेब ने उसके साथ बहुत कटु पत्र-व्यवहार किया। इन जवाहरातों को औरंगजेब के आदमियों ने ताले में बन्द कर मोहरबन्द कर दिया था, यद्यपि बूढ़े बादशाह को अपने इस बहुमूल्य संग्रह पर कभी-कभी नजर डालने दी जाती थी। परन्तु 'हरम' में रखे हुए व्यक्तिगत कोष पर शाहजहाँ का पूर्ण अधिकार था। ट्रेवनियर लिखता है कि जब अपने राज्याभिषेक के समय औरंगजेब ने शाहजहाँ से उसके कुछ आभूषण इस उत्सव की शोभा बढ़ाने के लिए माँगे, तो शाहजहाँ ने अपना घोर अपमान समझा और वह इतना क्रुद्ध हुआ कि बहुत दिनों तक पागलों जैसा व्यवहार करता रहा और जान पड़ता था जैसे उसकी जान निकल गई हो। एक बार उसने अपने रत्नों को पीस डालने के लिए सिल-बट्टा मँगवाया, परन्तु जहानारा ने उसको ऐसा करने से रोक दिया। औरंगजेब ने उस पर दारा का पक्ष लेने और कुशासन का आरोप किया और भ्रातृ-युद्ध का सारा दोष उसी पर डाला। वह इस बात पर जोर देता रहा कि उसको अपनी तथा इस्लाम की रक्षा के लिए इस युद्ध में बाध्य होकर भाग लेना पड़ा था। अधिकार-च्युत बादशाह को इन दोषारोपों से मर्मवेदना होती थी। वह अपने इस पुत्र को सिंहासन का अपहरण करनेवाला डाकू कहा करता था—जिस सिंहासन पर उसका वैध अथवा नैतिक कोई भी अधिकार न था—और उस पर कपटी होने का दोष लगाता था। परन्तु जैसे उसकी प्रार्थनाएँ व्यर्थ थीं वैसे ही यह निन्दाएँ भी औरंगजेब पर कोई प्रभाव न डाल सकीं।

सन् १६६६ में वह फिर बीमार पड़ा। जहानारा ने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की परन्तु कोई लाभ न हुआ। अन्त में २२ जनवरी सन् १६६६ को उसका आगरे के किले में देहान्त हो गया। जहानारा धूमधाम से उसका जनाजा निकालना चाहती

---

१ स्तोरिया दो मोगोर, २, पृ० ७७।

थी परन्तु औरंगजेब ने आज्ञा न दी। शाहजहाँ की मृत्यु से आगरा निवासियों को बड़ा क्षोभ हुआ। वे बादशाह का गुणगान करने लगे और उसके महान् कार्यों का स्मरण करने लगे। सर्वत्र शोक मनाया गया और एक मुसलमान इतिहासकार लिखता है कि बाजारों तथा गली-कूचों के मकानों से रोने की आवाज सुनाई देती थी। जहाँनारा की इस समय क्या दशा होगी—इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। इसके बाद वह दिल्ली चली गई और वहाँ सन् १६८१ में उसकी मृत्यु हो गई।

शाहजहाँ का चरित्र—शाहजहाँ एक दयालु शासक था। मुसलमान इतिहासकारों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियर लिखता है कि उसका शासन वैसा ही था जैसा पिता का अपनी सन्तान पर होता है। बाल्यावस्था में वह अपने पितामह अकबर का स्नेहभाजन था। उसे शिक्षा उत्तम मिली थी। वह फारसी में खूब बातचीत करता था और हिन्दी भी बोल सकता था। उसकी लिखावट बहुत सुन्दर थी। कविता तथा संगीत में उसकी विशेष रुचि थी। वह स्वयं भी कई प्रकार के बाजे बजाना जानता था। वह कला, सौन्दर्य तथा वैभव का प्रेमी था। इसका प्रमाण उसकी इमारतों में मिलता है। स्वच्छता उसे इतनी प्रिय थी कि वह जवाहिरात को छूकर भी हाथ धोता था।

उसका पारिवारिक जीवन स्नेहमय था। वह अपनी सन्तानों तथा पत्नी से प्रेम करता था। उसके कई स्त्रियाँ थीं परन्तु मुमताज महल का स्थान विशिष्ट था। उसका स्मारक आज भी उसके प्रेम का अद्भुत प्रतीक है।

अकबर की तरह उसकी धार्मिक नीति उदार नहीं थी। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और पक्षपात करता था। हिन्दू धर्म का तो वह विरोधी था ही, शियाओं से भी घृणा करता था। ईसाइयों के प्रति भी उसकी विशेष सहानुभूति नहीं थी और वह उन्हें दबाकर रखना चाहता था। वह दान देता था और प्रतिवर्ष मक्का मदीना को भेट भेजता था। रमजान के दिनों में रोजा रखता था और गरीबों को भोजन बटवाता था।

वृद्धावस्था आने पर उसकी शूरवीरता, साहस, धैर्य, उत्साह, रोबदाब सभी क्षीण हो गये और अपने बेटों का ही बन्दी हो गया। दरबार में भ्रष्टाचार

आरम्भ हो गया था। बड़े बड़े अमीर उसके विरुद्ध षड्यंत्र करते थे और शासकीय कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते थे। भ्रातृ-युद्ध के समय उसके दौर्बल्य के कारण स्थिति शोचनीय हो गई और शासन अस्त-व्यस्त हो गया।

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि शाहजहाँ की गणना मुगल वंश के प्रतिभाशाली सम्राटों में है। वह प्रजा से प्रेम करता था, अन्यायियों को दण्ड देता था और राज-कर्मचारियों की क्रूरता की भर्त्सना करता था। उसके राज्य में शान्ति रही। कोष में बहुत सा द्रव्य इकट्ठा हो गया जिसे उसने भव्य इमारतें बनाने में व्यय किया। आपत्तिकाल में भी उसने अपनी शान का परित्याग नहीं किया और औरंगजेब को बराबर डाँटता फटकारता रहा। इसमें सन्देह नहीं कि उसने मुगल साम्राज्य के ऐश्वर्य को चरम सीमा तक पहुँचाया और उसकी ख्याति का विश्व में प्रसार किया।

अध्याय ८

साम्राज्य की अवनति

औरंगजेब

(१६५८--१७०७)

औरंगजेब का राज्याभिषेक---अपने सब प्रतिद्वन्द्वियों को पथ से हटाकर २१ जुलाई सन् १६५८ को औरंगजेब ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली; परन्तु सिंहासनासीन होने का उत्सव ५ जून सन् १६५९ को मनाया गया। एक शुभ मुहूर्त में बादशाह गद्दी पर बैठा। इस अवसर पर उसकी उदारता की सीमा न थी। धनी और दरिद्र सभी को मुँहमाँगा पारितोषिक मिला। तमाशे और खेल इत्यादि की धूम हो गई। इस प्रकार प्रजा को प्रसन्न कर इस कट्टर सुन्नी बादशाह ने राज्यकार्य आरम्भ किया।

गृहयुद्ध के कारण शासन-प्रबन्ध बिगड़ गया था और प्रजा बहुत कष्ट उठा रही थी। करों की बहुसंख्या से व्यवसाय में बाधा पड़ती था। बड़ी-बड़ी सेनाओं के आने-जाने से साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में कृषि को बड़ी हानि पहुँची थी। अनावृष्टि के कारण कुछ प्रान्तों में खाद्य-पदार्थों की कीमत बढ़ गई थी। प्रजा के कष्टों के निवारण के लिए सम्राट् ने प्रायः ८० कर उठा लिये। इनमें मुख्य राहदरी और पन्दरी थे। प्रथम कर सीमा की सड़कों और घाटों पर लिया जाता था, और दूसरा एक प्रकार का गृहकर था जो सौदागर कुँजड़े, कुम्हार और लेनदेन करनेवाले देते थे। इनके सिवा वे कर थे जो पीरों की कब्रों पर होनेवाले मेलों में, मन्दिरों पर तथा जुआघर और वेश्याओं के कोठों पर लगाये जाते थे। खाफी खाँ इन करों में से केवल १४ का नाम देता है और लिखता है कि सम्राट् के नियम के बावजूद भी दूर प्रान्तों में जमींदार लोग इन करों को वसूल करते थे।

गृहयुद्ध में औरंगजेब सुन्नी मुसलमानों की सहायता से ही सफल हुआ था। उनको प्रसन्न करने के लिए उसने कुछ ऐसे कानून बनाये जिनका उद्देश्य जनता के जीवन को इस्लामी ढाँचे में ढालना था। सिक्कों पर कलमा का खुदाया जाना बन्द कर दिया गया, क्योंकि काफिरों के सम्पर्क से वह अपवित्र हो जाता। नौरोज का उत्सव मनाने की भी बादशाह ने मुमानियत कर दी।

इस्लामी राज्य धार्मिक राज्य होता है। बादशाह का यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वह प्रजा के चरित्र और व्यवहार की देखभाल रक्खे। इस उद्देश्य से औरंगजेब ने मुहतसिबों की नियुक्ति की। उनका काम कुरान में वर्जित चीजों को रोकना था।

जर्जर मसजिद और खानकाहों की मरम्मत हुई। इमाम और मुअज्जिनों को समय पर वेतन मिलने लगा। दारा के सूफी मित्रों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की गई। सरमद पर मुकदमा चला और अन्ततः उसे फाँसी दे दी गई।

मीरजुमला की आसाम पर चढ़ाई—मीरजुमला ने गृहयुद्ध में औरंगजेब का बड़ी सहायता की थी। पारितोषिकस्वरूप वह बंगाल का सूबेदार नियुक्त हुआ। इस नियुक्ति में भी बादशाह की एक चाल थी। वह ऐसे योग्य और महत्त्वाकांक्षी सेनापति को राजधानी से दूर रखना चाहता था। बंगाल पहुँचते ही उसके पास कूचबिहार और आसाम के राजाओं को जिन्होंने कुछ सरकारी इलाकों पर अधिकार जमा लिया था, दंड देने का शाही पर्वाना पहुँचा। सन् १६६१ के नवम्बर महीने में मीरजुमला के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना और नौकाओं का एक बेड़ा आसाम को रवाना हुआ। पहाड़, जंगल तथा शत्रु के छुट-पुट हमलों ने मुगलों के कार्य को बड़ा दुष्कर बना दिया। परन्तु शाही फौज बढ़ती ही गई और कूचबिहार तथा आसाम दोनों पर विजय प्राप्त कर ली। वर्षा-ऋतु के बाद मीरजुमला ने राजधानी का घेरा आरंभ किया। दुर्भाग्यवश सेनापति स्वयं बीमार पड़ गया, परन्तु युद्ध में किसी प्रकार की शिथिलता न आने पाई। आसामवासियों ने जब रक्षा का कोई उपाय न देखा तो आत्मसमर्पण कर दिया। दोनों दलों में सुलह हो गई, और शाही

सेना बंगाल को लौटी। परन्तु आसाम के जलवायु ने मीरजुमला के स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव डाला। मार्ग ही में ३१ मार्च सन् १६६३ को उसकी मृत्यु हो गई।

मीरजुमला की मृत्यु के बाद औरंगजेब का मामा शाइस्ताखाँ बंगाल का सेनापति नियुक्त हुआ। उसने चटगाँव को जीता, पुर्तगाली डाकुओं को ब्रह्मपुत्र नदी के डेल्टा से मार भगाया और अराकान के राजा को बड़ी गहरी क्षति पहुँचाई।

मराठों का उत्कर्ष—मराठे औरंगजेब के सबसे भयंकर शत्रु थे। उनके विरुद्ध वह २५ वर्ष तक लड़ता रहा; परन्तु अन्त में उसे निराश होना पड़ा। मराठों के नेता शिवाजी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से एक राज्य की स्थापना की। परन्तु शिवाजी की सफलता का कारण केवल उसका व्यक्तित्व ही नहीं था। दक्षिण की भौगोलिक स्थिति तथा पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी का धार्मिक आन्दोलन, जिसने जनता में नवीन आकांक्षाएँ और आशाएँ उत्पन्न कर दी थीं, इसके कारण थे। मराठों के उत्कर्ष के समझने के लिए इन शक्तियों की विवेचना आवश्यक है।

महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति—महाराष्ट्र के उत्तर और पूर्व में विन्ध्याचल और सतपुड़ा की श्रेणियाँ फैली हुई हैं। पश्चिम में पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ हैं। इन्होंने देश को केवल सुरक्षित ही नहीं बनाया, वरन् यहाँ के निवासियों को एक विशेष प्रकार का चरित्र भी दिया। पहाड़ों पर स्थित किलों की सहायता ही से मराठों ने उत्तर से आये हुए आक्रमणकारियों का सामना किया। यहाँ की ऊँची पथरीली भूमि पर मराठे गुरीला युद्ध कर सकते थे; परन्तु मुगल तो खुले मैदानों में लड़ने के अभ्यस्त थे, और यहाँ उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं। वर्षा की न्यूनता और उपज की कमी के कारण मराठे अधिकतर गरीब थे। उनका जीवन सरल और सादा होता था और उनमें कठिनाइयों के सहने की शक्ति थी। मुगलों ने जीवन भोग-विलास में व्यतीत किया था। इसलिए मराठों का सामना करने में वे अपने को असमर्थ पाते थे। छोटे-छोटे टट्टुओं पर सवार, कच्चे अथवा भुने हुए बाजरे को खाकर मराठे लम्बी लम्बी यात्राएँ करते थे और अपने शौर्य से मुगलों का कलेजा दहला

देते थे। बहुत क्षति उठाकर मुगल इस परिणाम पर पहुँचे कि इन सिपाहियों पर विजय प्राप्त करना असंभव है और इस युद्ध में परेशानी के अतिरिक्त और कुछ हाथ न आयेगा।

धार्मिक आन्दोलन—महाराष्ट्र में पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में एक नवीन धार्मिक आन्दोलन का जन्म हुआ। उत्तर की तरह दक्षिणी भारत में भी कुछ ऐसे धार्मिक नेता हुए जिन्होंने सभी धर्मों के सारभूत सिद्धान्तों पर जोर दिया, अन्धविश्वास और कर्मकांड के विरुद्ध आवाज उठाई और जाति-पाँति तोड़ने का उपदेश किया। तुकाराम, रामदास, वामन पंडित और एकनाथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नेताओं ने धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का आन्दोलन प्रारंभ किया तथा भगवान् की भक्ति की शिक्षा दी। इनका कहना था कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं और शूद्र भी ब्राह्मणों ही के समान भगवान् की एकनिष्ठ भक्ति से उनकी कृपा का पात्र हो सकता है। इन सिद्धान्तों में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था और ईश्वर भक्ति ही अनुयायियों को एकता के सूत्र में बाँधती थी। इन महापुरुषों में रामदास समर्थ ने, जिनको शिवाजी अपना गुरु मानते थे, उस समय की विचारधारा पर बड़ा प्रभाव डाला। स्वामीजी केवल धार्मिक नेता ही नहीं वरन् राष्ट्रनिर्माता भी थे। मराठों में एकता स्थापित करने के लिए उन्होंने एक योजना बनाई और अपने अनुयायियों को इसी के अनुसार कार्य करने की आज्ञा दी। इसी बीच में उनकी भेंट शिवाजी से हुई। शिवाजी ने उनके विचारों का प्रयोग राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में किया और उनके स्वप्न को यथार्थ कर दिया।

इसके अतिरिक्त उस काल के साहित्य ने भी राष्ट्रनिर्माण के कार्य को आगे बढ़ाया। तुकाराम के भजन जिनमें परमात्मा की भक्ति का सन्देह भरा था, सभी वर्ग के लोग गाते थे और इससे उनमें एकता की भावना पैदा हुई। इस एकता और सांस्कृतिक विकास के बिना शिवाजी के लिए एक राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं था।

शिवाजी को अपने लक्ष्य की पूर्ति में उन मराठों से भी बड़ी सहायता मिली जिन्होंने दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में पद ग्रहण कर शासन-प्रबन्ध और युद्ध-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त किया था। गोलकुंडा और बीजापुर राज्यों में

मराठे अधिकतर मालगुजारी और सेना-विभाग में नौकरी करते थे। इनमें से कुछ तो मन्त्री हो गये थे और इनका शासन पर बड़ा प्रभाव था। दक्षिणी ब्राह्मण बहुधा राजदूत होकर दूसरे देशों को भी भेजे जाते थे। अपने इन पदों पर कार्य करते हुए इन लोगों ने जो योग्यता प्राप्त की थी, मुसलमानों से युद्ध करने में वह उनके लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई।

शिवाजी का जन्म—शिवाजी का पिता शाहजी भोंसला बीजापुर राज्य का एक अफसर था। उसकी पत्नी जीजाबाई के गर्भ से १० अप्रैल १६२७ को शिवाजी का जन्म शिवनेर के पहाड़ी किले में हुआ। पुत्र-जन्म के कुछ ही दिन बाद शाहजी ने जीजाबाई की अवहेलना करके दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। पति की ओर से निराश हो जीजाबाई ने अपनी सारी शक्ति पुत्र को योग्य बनाने में लगा दी। वे घंटों बैठी पुत्र को पुराणों की वीरता-पूर्ण कहानियाँ सुनाया करती थीं। बालक इन गाथाओं को सुन आवेश से भर जाता, और उसके शिशु-हृदय में ऐसे ही शौर्यपूर्ण कार्य करने की इच्छा बलवती होती जाती थी।

बड़े होने पर शाहजी ने सुयोग्य दादाजी कोणदेव को पुत्र का शिक्षक नियुक्त किया। शिवाजी ने लिखना-पढ़ना तो नहीं सीखा; परन्तु रामायण, महाभारत तथा शासन-प्रबन्ध और युद्धकला का बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। घुड़सवारी, हथियार चलाना तथा और दूसरी कलाएँ जो सामन्त-पुत्र के लिए आवश्यक समझी जाती थीं, उसने सीख लीं। बीजापुर दरबार के संपर्क में रहने से उसे उस राज्य की दुर्बलताओं का भी ज्ञान हो गया और भविष्य में यह उसके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। इसी समय उसकी भेंट रामदास से हुई। उस महापुरुष ने उसके हृदय में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा पैदा कर दी और सुझा दिया कि उनका कर्तव्य ब्राह्मण और गौ की रक्षा करना है। कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि रामदास ही ने स्वतन्त्र हिन्दू राज्य स्थापन का आदर्श शिवाजी के सामने रक्खा; परन्तु इस विचार के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। सच्ची बात तो यह है कि हिन्दू धर्म की रक्षा और राज्यस्थापना दोनों एक दूसरे के बिना असम्भव थीं। परम्परा, वातावरण, शिक्षा तथा स्वभाव, सभी ने उसके हृदय में मुगल विरोधी भावना को जाग्रत किया।

शिवाजी के सैनिक जीवन का प्रारम्भ--सैनिक जीवन प्रारम्भ करने के पहले शिवाजी ने मालवा में रहनेवालों को अपना मित्र बना लिया। वे खेती-बारी छोड़ शिवाजी की सेना में भर्ती हो गये, और प्रारम्भिक हमलों में पूरी मदद दी। दादाजी जो सीमित विचारों का आदमी था, सर्वदा अपने शिष्य को यही शिक्षा दिया करता था कि उसे बीजापुर के अधीनस्थ उच्चपद पाकर ही संतुष्ट हो जाना चाहिए। परन्तु शिवाजी का जन्म तो एक महान् कार्य करने के लिए हुआ था। बीजापुर ऐसे निर्बल राज्य में तो पदग्रहण करना उसके लिए अपमान-सूचक था। भला, वह अपने गुरु की सीख का कैसे उल्लंघन कर सकता था ?

सन् १६४६ में बीजापुर का सुलतान बीमार हुआ। शिवाजी तो ऐसे सुअवसर की ताक ही में था। तोरन, रायगढ़, सिंहगढ़, पुरंधर, कोंकण आदि किलों पर उसने क्रमशः अधिकार जमा लिया। १६४७ में दादाजी की मृत्यु हो गई और शिवाजी अपने पिता की पश्चिमी जागीर का शासक हो गया।

जब शिवाजी ने कल्याण पर अधिकार जमा लिया तो बीजापुर के सुलतान की नींद खुली। उसने स्थिति की गंभीरता को समझा और विचार किया कि अब इस युवक की शक्ति को और बढ़ने देना उचित नहीं है। इसी समय बीजा-पुर के सेनापति मुस्तफा ने जो जिंजी का घेरा डाले था, शाहजी को अशिष्ट व्यवहार करने के कारण बन्दी बना लिया और उसकी जागीर छीन ली। पिता की गिरफ्तारी के समाचार से शिवाजी घबड़ा उठा, और हमले बन्द कर दिये। इसके अतिरिक्त उसने दक्षिण के मुगल वाइसराय शाहजादा मुराद से पत्र-व्यवहार शुरू किया और मुगलों की नौकरी करने की इच्छा प्रकट की। शिवाजी की इस कूटनीति से सुलतान डर गये और उसने शाहजी के छोड़ देने का हुक्म दिया। बीजापुर के कुछ मुसलमान सामन्त भी शाहजी के छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्त में पुत्र को बीजापुर के विरुद्ध युद्ध करने से रोकने का वचन देने पर शाहजी मुक्त किया गया। शिवाजी ने इस अवसर पर शान्त रहना ही उचित समझा, और भविष्य में शत्रुओं के विरुद्ध एक बृहत् युद्ध के लिए अपनी शक्ति का संचय करना प्रारम्भ किया।

नवम्बर सन् १६५६ में आदिलशाह की मृत्यु हो गई। औरंगजेब ने इसे अच्छा अवसर समझ बीजापुर पर हमला कर दिया। शिवाजी ने अपने दोनों

शत्रुओं के संघर्ष से लाभ उठाने की ठानी। प्रथम तो उसने औरंगजेब से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया; परन्तु एक दूसरे पर अविश्वास के कारण प्रयत्न सफल न हुआ। इस ओर से निराश हो जाने पर मराठा नेता ने मुगल इलाके पर हमला किया। इसी समय बीजापुर और औरंगजेब से सुलह हो गई जिसके फलस्वरूप शिवाजी को भी युद्ध रोक देना पड़ा। उसने भी शाहजादे से सन्धि की बात-चीत शुरू की, परन्तु शर्तो पर हस्ताक्षर होने के पूर्व ही, शाहजहाँ की बीमारी का समाचार पाकर औरंगजेब उत्तरी भारत को वापस लौट आया।

मुगलों ने छुट्टी पाकर बीजापुर के नवीन सुलतान ने शिवाजी का अन्त करने का निश्चय किया। शाहजी से कहा गया कि अपने पुत्र के कार्यों को रोके, परन्तु उसने अपनी असमर्थता प्रकट की। अब तो बीजापुर सरकार ने बलप्रयोग की ठानी। अफजल खाँ के सेनापतित्व में एक बृहत् सेना भेजी गई और उसे आज्ञा मिली की शिवाजी को जीवित अथवा मुर्दा पकड़कर लाये।

अफजल खाँ बड़ा शेखीबाज आदमी था। उसने दरबार में अभिमान भरे शब्दों में कहा था कि मैं इस मराठा डाकू को बिना एक गोली का वार किये ही बन्दी बना लूँगा। परन्तु शिवाजी के पहाड़ी निवासस्थान पर पहुँचने पर उसे अपनी मूर्खतापूर्ण जल्दबाजी का ज्ञान हुआ। उसने कृष्णजी भास्कर को एक पत्र लेकर शिवाजी के पास भेजा, जिसमें अफजल खाँ ने वचन दिया था कि यदि शिवाजी युद्ध का विचार छोड़ दें तो वह उसे जीते हुए किलों और जिलों को ही न दिलवा देगा, बल्कि नवीन उपाधियों से भी अलंकृत करायेगा। इस पत्र को पाकर शिवाजी ने अपने को बड़े संकट में पाया। यदि वह अफजल खाँ की बातों को मान लेता तो उसकी स्वतंत्र राज्यस्थापना की इच्छा स्वप्नमात्र ही रह जाती। यदि वह अस्वीकार करता तो उसे सुल्तान और दिल्ली के सम्राट् दोनों का कोप-भाजन बनना पड़ता। उसके मंत्रियों ने संधि की सलाह दी, परन्तु उसने दूसरा पथ ही चुना और रक्षार्थ युद्ध की तैयारी करने लगा।

कृष्णजी भास्कर से शिवाजी बड़े प्रेम से मिले और उससे मीठी मीठी बातें कर तथा धन का लालच दिला सारे भेद को जान लिया। दूत ने उन्हें सूचित कर दिया कि अफजल खाँ का उद्देश्य उन्हें छल करके बन्दी बना लेना था। शिवाजी ने अफजल की चाल को असफल करने की पूर्ण तैयारी की। तय हुआ कि दोनों

इस हार और अपमान से शाइस्ताखाँ को हार्दिक कष्ट पहुँचा और वह औरंगाबाद लौट गया। इसी समय दिल्ली से शाही पर्वाना पहुँचा और उसकी बदली बंगाल को कर दी गई। शाहजादा मोअज्जम उसके स्थान पर दक्षिण का वाइसराय नियुक्त हुआ।

सूरत की लूट—सूरत की लूट शिवाजी के जीवन की एक बहुत साहसपूर्ण घटना है। जनवरी, सन् १६६४ में वे ४००० चुने हुए सिपाहियों को लेकर नगर के निकट पहुँचे तथा सूबेदार और धनी मुसलमान सौदागरों को सूचना भेजी कि यदि वे उन्हें संतुष्ट न कर सकें तो उनकी संपत्ति को लूट नगर में आग लगा देंगे। जब कोई उत्तर न मिला तो शिवाजी ने सिपाहियों को लूट की आज्ञा दे दी। लू के मध्य में मराठों ने अँगरेजी कोठी के निकट एक मुसलमान सौदागर के घर पर हमला किया। अँगरेजों ने उसकी सहायता करना प्रारम्भ किया। कुपित होकर शिवाजी ने आज्ञा निकाली की या तो विदेशी इस लड़ाई से अलग रहें या तीन लाख रुपये हर्जाने के रूप में दें। यदि दोनों में मे एक भी माँग वे पूरी नहीं करते तो उनके कारखाने को धराशायी कर उन्हें मृत्यु के घाट उतारा जायगा। परन्तु कोठी के प्रेसीडेण्ट आक्सेनडेन साहब ने शिवाजी की माँगों को अस्वीकार कर दिया और युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। इस समय तक शिवाजी को लूट में प्रचुर मात्रा में सामान मिल गया था और एक करोड़ रुपये का सोना, चाँदा, मोता, हीरा आदि लेकर सूरत से चले गये।

शिवाजी के विरुद्ध मोअज्जम और जयसिंह—सन् १६६५ में बादशाह ने मिर्जा राजा जयसिंह और दिलेर खाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना शिवाजी को परास्त करने को भेजी। मिर्जा जयसिह जयपुर के कछवाहा राजा थे। वे असाधारण बुद्धिवाले, तुर्की, फारसी, संस्कृत और उर्दू के प्रकांड विद्वान्, वार्तालाप में पारंगत तथा ख्याति-प्राप्त राजनीतिज्ञ थे। दरबार में बहुत दिनों से रहने के कारण मुसलमानों के चरित्र का भी उन्हें बड़ा अच्छा ज्ञान था, और वे संयुक्त सेना का सुचारु रूप से संचालन कर सकते थे। मुगल सेना बड़ी सरलता से महाराष्ट्र देश में प्रवेश कर गई और पुरन्दर के किले का घेरा डाला। सेनापति मुरार बाजी देशपांडे ने वीरता से मुकाबिला किया परन्तु पर्याप्त सेना न होने के कारण वह हार गया तथा युद्ध ही में मारा गया। शिवाजी की शक्ति का केन्द्र रायगढ़ भी खतरे

के क्षेत्र में आ गया। प्रतिवाद की निष्फलता को समझ शिवाजी ने मुगल सेनापति से सुलह की प्रार्थना की। जून, सन् १६६५ में पुरन्दर के सन्धिपत्र पर दोनों पक्षों ने हस्ताक्षर किये। शिवाजी ने अपने तेईस किले जिनकी वार्षिक आय ४ लाख हून थी, बादशाह को दे दिये। उन्होंने वचन दिया कि बीजापुर-युद्ध में वे शाही सेना को सहायता देंगे। इसके बदले में शिवाजी के पुत्र शंभूजी को पंचहज़ारी मनसबदार का पद और एक जागीर मिली। बादशाह ने उसको राजद्रोहात्मक कार्यों के लिए क्षमा प्रदान की। सुलह की एक शर्त यह भी थी कि यदि शाही फर्मान से शिवाजी को कोंकण और बालाघाट के कुछ स्थान मिल जाते हैं तो वे बादशाह को ४० लाख हून १३ साल में देंगे।

यह सन्धि जयसिंह की महान् राजनीतिक विजय थी। एक भयंकर शत्रु मित्र हो गया और उसने बीजापुर-युद्ध में शाही सेना को सहायता देने का वचन दिया। शिवाजी ने अपने वचन को पूरा किया। उन्होंने शाही पारितोषिक और भेंट स्वीकार की और जयसिंह ने आदिलशाह के राज्य के विरुद्ध युद्ध प्रारंभ किया तो सेना से उनकी सहायता भी की। परन्तु सबसे बड़ी सफलता तो जयसिंह को तब मिली जब उन्होंने दिल्ली जाने के लिए शिवाजी को राजी कर लिया।

शिवाजी का शाही दरबार में आगमन—मई १२, १६६६—शिवाजी के दिल्ली जाने का क्या कारण था? श्री सरदेसाई का कथन है कि उनका उद्देश्य मुगल-दरबार का परिवेक्षण करना था और यह पता लगाना था कि मुगल शक्ति के स्रोत का उद्गम स्थान कहाँ है। शिवाजी सम्पूर्ण भारतवर्ष पर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की आयोजना बना रहे थे, और इस उद्देश्य के लिए यह निरीक्षण आवश्यक था। परन्तु इस मत पर विश्वास करना कठिन मालूम होता है। यदि शिवाजी का यही उद्देश्य था तो उन्होंने मिर्जा राजा के प्रस्ताव को इतनी अनिच्छा से क्यों स्वीकार किया? जयसिंह को उनकी अनिच्छा को दूर करने के लिए सैकड़ों उपायों का प्रयोग करना पड़ा। उन्हें बड़े-बड़े पारितोषिकों का लालच दिलाया गया और यह भी आशा दी गई कि दक्षिण को सूबेदारी भी उनको मिल जाना असंभव नहीं है। इसके सिवा शिवाजी जन्जीरा टापू को जो मुगलों के अधिकार में था, अपनाना चाहते थे और इसके लिए दिल्ली जाना अत्यावश्यक था। राजा जयसिंह और उनके पुत्र रामसिंह ने जब शिवाजी की रक्षा का उत्तरदायित्व

अपने ऊपर ले लिया तब मराठों को उनको दिल्ली भेजने में कोई आपत्ति न रही।

९ मई को शिवाजी अपने पुत्र शंभूजी के साथ दिल्ली पहुँचे और तीन दिन पश्चात् बादशाह से दीवानआम में मिले। कुँवर रामसिंह ने उनकी तरफ १५०० मोहर नजर और ६०० रु० निसार बादशाह को दिया। परन्तु बादशाह का व्यवहार शिवाजी के प्रति बड़ा अशिष्ट था। उसने 'आओ राजा शिवाजी' कहकर उनका स्वागत किया, और जब शिवाजी ने कोर्निश की तो उन्हें तृतीय श्रेणी के मनसबदारों में स्थान दिया गया।

जब शिवाजी ने देखा कि मुझे पंचहजारियों में स्थान मिला है, तो उनके क्रोध का ठिकाना न रहा। उन्होंने कुँवर रामसिंह से इसके विरोध में प्रतिवाद किया और चिल्ला उठे कि इस अपमान से तो मृत्यु ही अच्छी है। इसके पश्चात् वे बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। औरंगजेब की आज्ञा से शिवाजी के मुख पर गुलाबजल छिड़का गया और रामसिंह उन्हें लिवाकर उनके डेरे पर चले गये। राजकुमार का अथक प्रयत्न शिवाजी के क्रोध को न शान्त कर सका और उन्होंने औरंगजेब पर अविश्वास का दोषारोपण किया। राजदरबार के जासूसों ने सारा समाचार बादशाह के कानों तक पहुँचाया। उसकी आज्ञा से शिवाजी के वास-स्थान पर पहरा बिठा दिया गया।

इस प्रकार कैद हो जाने पर शिवाजी भागने का उपाय सोचने लगे। उन्होंने बीमारी का बहाना किया और शैय्या पर पड़ गये। कुछ दिनों के उपरांत यह समाचार फैला कि वे अच्छे हो रहे हैं और इसी प्रसन्नता में झापों में ब्राह्मण तथा भिखमंगों में बाँटे जाने के लिए मिठाई भिजवाने लगे। कुछ दिनों तक तो पहरे-दार टोकरों की जाँच करते थे, परन्तु फिर वे ढीले पड़ गये। एक दिन शिवाजी तथा उनके पुत्र इन्हीं में से दो टोकरों में बैठकर निकल गये। दिल्ली से ६ मील की दूरी पर उनके लिए घोड़ों का प्रबन्ध था। उसी पर बैठ पिता-पुत्र मथुरा पहुँचे। वहाँ शिवाजी ने पुत्र को तो एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के हाथ सौंपा, और स्वयं अपने शरीर में राख मल साधु वेष में इलाहाबाद, बनारस, गया, गोंडवाना, गोलकुंडा, बीजापुर होते हुए अपने राज्य में पहुँच गये।

युद्ध--शिवाजी के पहुँचते ही युद्ध फिर आरम्भ हो गया। जयसिंह अभी

तक दक्षिण भारत ही में थे। यह सुनकर घबड़ा गय। उन्हें मुगलों की स्थिति के लिए बड़ी चिन्ता हो गई। उनके पुत्र रामसिंह पर शिवाजी के भागने में सहायता देने का सन्देह किया जाता था और राजा को यह भी डर था कि उनका मनसब छिन जायगा। मई १६६७ में राजा के लिए दिल्ली से बुलावा आ गया। उनके स्थान पर शाहजादा मोअज्जम तथा उसके अधीनस्थ राजा जसवन्तसिंह की नियुक्ति हुई। वृद्ध मिर्जा राजा उत्तरी भारत को रवाना हुए; परन्तु बुरहानपुर में २२ जुलाई को उनकी मृत्यु हो गई।

शिवाजी इस समय युद्ध के विरुद्ध थे। शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए शान्ति की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने मुगलों से सन्धि क़र ली। शाहजादा मोअज्जम और राजा जसवन्तसिंह के कहने से औरंगजेब ने उन्हें राजा की उपाधि दी तथा शंभूजी को फिर पंचहजारी मनसब और बरार की जागीर मिली।

परन्तु यह सुलह अधिक दिन तक न रही और १६७० में फिर युद्ध आरम्भ हो गया। शाही सेनापतियों के आपसी कलह के कारण मुगल अशक्त हो गये थे। इसका लाभ उठाकर शिवाजी ने कई किले जीत लिये और कोंकण से मुगल फौजदार को निकाल बाहर किया। अक्टूबर, सन् १६७० में मराठों ने फिर सूरत को लूटा और ६६ लाख का माल लिया। १६७४ में दिलेर खाँ को भी मराठों ने हराया। इसी वर्ष उत्तर में अफगानों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया तथा मुगल सेनापति को दिल्ली लौट जाने के लिए शाही पर्वाना मिला।

शिवाजी का राज्याभिषेक—जून, १६७४—शिवाजी का उद्देश्य सफल हुआ। मराठा राज्य की स्थापना हो गई। जून सन् १६७४ में शिवाजी का रायगढ़ में राज्याभिषेक हुआ। बहुत सा रुपया खर्च हो जाने के कारण फिर लूट-मार आरम्भ हुई। इसके बाद ही छत्रपति को मुगल, बीजापुर के सुलतान तथा जंजीरा के निवासियों के साथ युद्ध करना पड़ा। सन् १६७७-७८ में कर्नाटक की लूट हुई। जिंजी, बेलोर तथा अन्य कई किले उनकी सेना ने जीते। अन्तिम हमला उन्होंने मुगलसराय पर किया और बहुत से कस्बों तथा ग्रामों को लूटा।

शिवाजी का शासन-प्रबन्ध—यूरोपीय इतिहासकारों ने शिवाजी के शासन की बड़ी तीव्र आलोचना की है। उनका कथन है कि मराठा राज्य लूट पर निर्भर था। परन्तु ऐसा कहना सत्य नहीं है। शिवाजी एक महान् सेनापति तथा राज-

नीतिज्ञ भी थे। समय की आवश्यकता को वे अच्छी तरह समझते थे। उनका शासन किसी किसी अंश में तो मुगल शासन से भी अच्छा था।

राजा स्वेच्छाचारी शासक था। परन्तु उसे परामर्श देने के लिए आठ मन्त्रियों की कौंसिल अथवा परिषद् थी जिसे अष्टप्रधान कहते थे। अष्ट-प्रधान के मन्त्रियों के नाम इस प्रकार हैं :—

१—पेशवा (प्रधान मन्त्री) जिसका काम राज्य के सभी विभागों की देख-रेख करना था।

२—अमात्य जो राज्य की आय तथा व्यय का निरीक्षण करता था।

३—मन्त्री जो राजकार्यों और दरबार की घटनाओं को लिपिबद्ध करता था।

४—सुमन्त अथवा परराष्ट्रमन्त्री।

५—सचिव अथवा गृहमन्त्री जिसके अधीन राज्य-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार था।

६—पंडितराव और दानाध्यक्ष अथवा धार्मिक विभाग का मन्त्री जिसका कर्त्तव्य विद्वानों को दान देना, धार्मिक झगड़ों का निपटारा करना और रीति-रिवाज का निर्णय करना था।

७—सेनापति।

८—न्यायाधीश।

शासन के १८ विभाग थे और प्रत्येक भाग किसी न किसी मन्त्री के अधीन था। स्वराज्य जिस पर शिवाजी का सीधा शासन था, तीन प्रान्तों में विभाजित था और प्रत्येक का आला अफसर प्रान्तपति कहलाता था। जागीर-प्रथा नहीं थी। कर्मचारियों को वेतन दिया जाता था। अष्टप्रधान के सभी सदस्य पंडितराव तथा न्यायाधीश को छोड़कर सेनापति भी थे। यह मराठा-शासन का दोष था; क्योंकि अवसर मिलने पर अपने अधीनस्थ सेना की सहायता से ये मन्त्री स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की चेष्टा करते थे। शिवाजी को इस त्रुटि का ज्ञान था। इसीलिए यह नियम बना दिया गया था कि मंत्रिपद पैतृक सम्पत्ति न होगा।

किसानों से लगान सीधा लिया जाता था। देहातों के पटैल और कुलकर्णी और जिलों के देशपांडे और देशमुख के स्थान पर कलक्टर नियुक्त किये गये जिनका कार्य मालगुजारी वसूल करना था। जमीन की माप की जाती

थी। पहले किसानों से कबूलियत लिखाई जाती थी। पहले किसानों से ३० फी सदी लगान के रूप में लिया जाता था। पीछे से यह ४० फी सदी कर दिया गया। हिसाब कायदे से रखा जाता था। कोई राजकर्मचारी किसी से अधिक नहीं ले सकता था। दुर्भिक्ष के समय कृषि को प्रोत्साहन मिलता था और किसानों को अनाज बाँटा जाता था। किसानों की भलाई का शिवाजी को सदैव ध्यान रहता था। महाराष्ट्र देश में आज भी ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनसे प्रकट होता है कि शिवाजी के राज्य का लक्ष्य प्रजा का हित ही था।

चौथ और सरदेशमुखी भी आय के साधन थे। रानाडे का कथन है कि चौथ केवल सैनिक कर नहीं था। जिस देश में यह कर लिया जाता था, वहाँ मराठे बाहरी शत्रुओं से उसकी रक्षा भी करते थे। डाक्टर सेन का मत इससे भिन्न है। वे चौथ को सैनिक कर के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते। सर यदुनाथ सरकार का कहना है कि चौथ केवल लोगों से लूटकर धन लेना था। यह ऐसा कर नहीं था जिसके बदले में उस देश की रक्षा करना कर्त्तव्य समझा जाता। चौथ का वास्तविक अर्थ कुछ भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि चौथ एक सैनिक कर ही था। इसको अदा करके विजित देश मराठों से फिर आक्रमण न करने का वादा करा लेता था।

न्यायालयों की व्यवस्था प्राचीन पद्धति के अनुसार थी। अग्नि-परीक्षा प्रचलित थी। देहातों में वृद्धजन पंचायतों में झगड़े का निपटारा करते थे। फौजदारी के मुकदमों का निर्णय पटेल करता था। दीवानी फौजदारी दोनों की अपील ब्राह्मण न्यायाधीश सुनता था और स्मृतियों के आधार पर निर्णय करता था। अपील की अन्तिम अदालत हाजिर मजालिस थी जिसका शिवाजी की मृत्यु के बाद लोप हो गया।

शिवाजी दक्ष सैनिक थे। रण-भूमि में उनका जौहर देखने में आता था। जो उन्हें युद्ध करते देखते, वे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। किलों का प्रबन्ध अच्छा था; क्योंकि यही आक्रमण के समय प्रजा की रक्षा कर सकते थे। प्रत्येक किला एक हवलदार को दिया गया था। हवलदार के नीचे एक ब्राह्मण सूबेदार और एक कायस्थ कर्मचारी दो होते थे। राजधानी में

स्थायी सेना रहती थी जिसमें शिवाजी की मृत्यु के समय (१६८० ई०) तीस अथवा चालीस हजार अश्वारोही, एक लाख पैदल सिपाही थे।

सेना में भी कर्मचारियों का श्रेणियाँ थीं। अश्वारोही दो प्रकार के थे। एक तो वे जिन्हें हथियार इत्यादि राज्य से मिलता था, दूसरे वे जो अपना प्रबन्ध आप करते थे। २५ अश्वारोहियों की इकाई होती थी जिसका नायक हवलदार होता था। उसे एक भिश्ती और एक नालबन्द भी राज्य की ओर से मिलता था। पाँच हवलदार के ऊपर एक जुमला, दस जुमलों के ऊपर एक हजारी और हजारी के ऊपर पंचहजारी होता था। पंचहजारी को २००० हून वेतन मिलता था।

पैदल सेना का भी विभाजन इसी प्रकार था। ९ सिपाहियों की एक इकाई बनती थी; इनका अध्यक्ष नायक होता था। पाँच नायकों के ऊपर एक हवलदार होता था और दो या तीन हवलदार एक जुमलादार की अध्यक्षता में काम करते थे। दस जुमलादारों का नायक हजारी होता था और सात हजारियों के ऊपर एक सरनौबत होता था।

सेना में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। उनके साथ बर्त्ताव एक सा होता था। वेतन नकद मिलता था। युद्ध में जो सिपाही मारे जाते थे, उनकी स्त्रियों और बच्चों का पालन-पोषण राज्य की ओर से होता था। सेना में किसी को गुलाम, लौंडी अथवा वेश्या ले जाने की आज्ञा नहीं थी। शत्रु की स्त्रियों और बच्चों की रक्षा की जाती थी। जब किसी विजित देश से धन लिया जाता था तो ब्राह्मण मुक्त कर दिये जाते थे। लूट के माल में मिली हुई बहुमूल्य वस्तुएँ तो राजकोष में जमा हो जाती थीं, बाकी सामान सिपाहियों को दे दिया जाता था।

शिवाजी का चरित्र—४ अप्रैल सन् १६८० को शिवाजी का स्वर्गवास हुआ। शिवाजी बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। अपनी प्रतिभा के कारण ही वे राजपद पर पहुँचे थे। उन्होंने मराठों को एक सूत्र में बाँधकर स्वाधीन मराठा राष्ट्र का निर्माण किया। इससे मराठों की ख्याति बढ़ी और दक्षिण में मुसलमानी राज्य सशंकित रहने लगे। शिवाजी का शासन कुछ बातों में मुगलों से अच्छा था। वे प्रजा की भलाई का सर्वदा ध्यान रखते थे। इसीलिए

महाराष्ट्र में वे ईश्वर का अवतार समझे जाते थे। जब उनके उत्तराधिकारियों ने उनकी नीति का परित्याग कर दिया, तो मराठा राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

शिवाजी का चरित्र उच्च कोटि का था। वे धोखे का व्यवहार नहीं करते थे। वे पढ़े-लिखे तो न थे, परन्तु अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा कठिन से कठिन समस्या को सुलझा लेते थे। हिन्दुओं के वे रक्षक थे। विद्या-प्रेमी भी थे। राज्य की ओर से संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन मिलता था और विद्वान् ब्राह्मणों को पेंशन दी जाती थी। मुसलमान पीरों का भी आदर होता था। मसजिदों को भी रुपया और जमीन दी जाती थी। मुसलमान शत्रुओं की स्त्रियों और बच्चों के साथ उनका बर्ताव सदा अच्छा होता था। उनकी आज्ञा थी कि युद्ध के समय किसी मसजिद को हानि न पहुँचाई जाय और यदि कोई कुरान की प्रति सैनिकों के हाथ पड़ती तो वह मुसलमानों को लौटा दी जाती थी। इसी प्रकार मुसलमान स्त्रियाँ भी अपने संरक्षकों के पास भेज दी जाती थी।

शिवाजी ने जिस राज्य की स्थापना की थी, वह उनकी मृत्यु के बाद अधिक समय तक न चला। इसके कई कारण थे। मराठा राज्य एक फौजी राज्य था। उसका स्थायी रहना सेना की शक्ति पर निर्भर था। शिवाजी के बाद सेना का रूप-रंग और उसकी युद्ध-शैली भी बदल गई। जिससे बड़ी क्षति पहुँची। मराठा जागीरदार शक्तिशाली हो गये। राष्ट्र-हित की अवहेलना करने लगे। मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने से भी मराठों को हानि पहुँची, परन्तु कोई दूसरा उपाय न था। मुसलमान कब चुप बैठनेवाले थे? मराठों के लिए उनके अत्याचारों को रोकना आवश्यक हो गया।

शिवाजी का नाम इतिहास में अमर रहेगा। वे एक अद्भुत व्यक्ति थे। अपने पौरुष से उन्होंने मुगलों और दक्षिण-नरेशों का विरोध होते हुए भी इतना बड़ा राज्य बनाया, यह उनकी वीरता एवं राजनीतिक कौशल का द्योतक है। समर्थ रामदास का उनके जीवन पर प्रभाव पड़ा था। उनकी आज्ञा के बिना वे कुछ भी न करते थे। शिवाजी को हिन्दू जाति गो-ब्राह्मण का संरक्षक समझती थी। इसीलिए हिन्दू जगत् में उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

औरंगजेब के इस्लामी कानून—सिंहासनारूढ़ होने पर औरंगजेब ने जो नियम जारी किये थे उनका उल्लेख किया जा चुका है। इसके बाद जो कानून बने उससे धार्मिक कट्टरपन का पता चलता है। अपने शासन के ११वें वर्ष में उसने संगीत की मनाही कर दी और गाने-बजानेवालों को निकाल दिया। जन्म-दिवस के दिन तुलादान की प्रथा बन्द कर दी गई। बादशाह ने यह नियम निकाला कि दरबार के हिन्दू नमस्कार को छोड़कर आपस में सलामआलेकुम किया करें। ज्योतिषियों की अवहेलना की गई और शाही आज्ञा निकाली कि वे पंचांग न बनावें। परन्तु ज्योतिष शास्त्र में जनता का विश्वास इतना दृढ़ था कि यह आईन इस प्रथा को बन्द नहीं कर सका। दर्शन की प्रथा बन्द कर दी गई। शराबखोरी के विरुद्ध बड़े बड़े कानून पास हुए और कोतवाल को आज्ञा दी गई कि जो शराब बेचे उसका एक हाथ और एक पाँव काट लिया जाय। भंग पीना भी बन्द कर दिया गया। फीरोज तुगलक ही के समान औरंगजेब ने स्त्रियों का पीरों के मकबरे में दर्शन करने के उद्देश्य से जाना वर्जित कर दिया।

इन इस्लामी कानूनों के अतिरिक्त बादशाह ने अपनी प्रजा के चरित्र को सुधारने के लिए कुछ नियम बनाये। वेश्याओं को आज्ञा दी गई कि या तो वे विवाह करें, नहीं देश छोड़कर चली जायँ। फैशन को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया और जो पुरुष स्त्रियों के समान वस्त्र पहनते, उनका उपहास किया जाता था। जुआघर नाजायज करार दिया गया। होली के अवसर पर गंदे गीत गाने पर रोक लगा दी गई और होलिका के लिए जो लकड़ियाँ चुराकर ले जाते थे, उन्हें दंड मिलता था। मुहर्रम का जलूस भी रोक दिया गया। सती प्रथा वर्जित कर दी गई, परन्तु शाही नियमों का पालन नहीं होता था।

प्रतिक्रियावादी नियम—शाहजहाँ के शासन-काल में धार्मिक सहिष्णुता के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरंभ हुई थी वह और बढ़ गई। जब औरंगजेब गुजरात का वाइसराय था, तभी उसकी आज्ञा से चिन्तामणि के मन्दिर में गोहत्या करके उसे अपवित्र कर दिया गया था, और उसे मसजिद में परिवर्तित कर दिया गया था। बादशाह हो जाने पर अपने कट्टरपन का पूर्ण रूप से उपयोग करने का उसे अवसर प्राप्त हुआ। ९ अप्रैल, १६६९ में उसने एक

व्यापक आज्ञा निकाली कि विधर्मियों की पाठशालाएं और मन्दिर तोड़ दिये जायं और उनकी धार्मिक शिक्षा और रीति-रिवाज को बन्द कर दिया जाय। कई बड़े प्रसिद्ध मन्दिर, जैसे गुजरात में सोमनाथ का मन्दिर, बनारस में विश्वनाथ और मथुरा में केशवराय के मन्दिर धराशायी कर दिये गये।

विक्रय की चीजों पर मुसलमानों से ढाई फी सदी और हिन्दुओं से पाँच फी सदी कर लिया जाने लगा। मई १६६७ में मुसलमानों पर से यह कर बिलकुल उठा दिया गया और इस प्रकार राज्य को बहुत बड़ी आमदनी से हाथ धोना पड़ा। धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन देने के लिए बादशाह ने यह नियम बना दिया कि जो इस्लाम स्वीकार कर ले, उसे पारितोषिक और नौकरी मिले। इस प्रकार राज्य एक धर्म-प्रचारक संस्था हो गई।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, हिन्दुओं के विरुद्ध प्रतिबन्धों की संख्या बढ़ती ही गई। १६६८ में उनके मेलों पर रोक लगा दी गई और नगरों में दिवाली का उत्सव मनाना भी वर्जित कर दिया गया। सन् १६७१ में हुक्म हुआ कि खालसा में लगान वसूल करनेवाले सभी मुसलमान हों तथा वाइसराय और तालुकेदार अपने हिन्दू पेशकार और दीवानों को निकाल दें। परन्तु प्रान्तीय शासन बिना हिन्दू पेशकारों के चल नहीं सकता था। और फिर नवीन आज्ञा हुई कि केवल आधे स्थान ही हिन्दुओं को मिलें। मार्च सन् १६९५ में एक नियम बना कि राजपूतों के अतिरिक्त और दूसरे हिन्दुओं को पालकी, हाथी अथवा घोड़े पर सवारी करना और शस्त्र धारण करने की आज्ञा नहीं है।

हिन्दुओं ने इन प्रतिबन्धों का विरोध किया और कई भयानक विद्रोह भी हुए। पहला विद्रोह गोकुल जाट व मथुरा के फौजदार अब्दुलनबी की नीति के विरुद्ध हुआ। अब्दुलनबी औरंगजेब का बड़ा स्वामिभक्त नौकर था। पदग्रहण करने के पश्चात् उसने नगर में एक हिन्दू मन्दिर के भग्नावशेष से एक मसजिद बनवाई थी और सन् १६६६ में खुदे हुए पत्थर की उस छड़ को जिसको दाराशिकोह ने केशवराय के मन्दिर को प्रदान किया था, निकलवा लिया था। इससे उस जिले के जाट किसान और उनके नेता गोकुल बड़े क्रुद्ध हुए। फौजदार को मौत के घाट उतारा और सादाबाद के परगने को लूट लिया।

जब अराजकता आस-पास के जिलों में भी फैल गई, तो बादशाह ने विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी। तिलपत से बीस मील की दूरी पर एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें गोकुल और उसका कुटुम्ब बन्दी बना लिया गया। गोकुल को आगरे में कठोर यन्त्रणा देकर मारा गया, और उसके कुटुम्बवालों की मृत्यु से विद्रोह का अन्त नहीं हुआ। उसका स्थान दूसरे नेताओं ने ले लिया, और लड़ाई अनियमित रूप से चलती ही रही। सन् १६८६ में राजाराम के नेतृत्व में विद्रोह फिर जोरों से भड़क उठा। शाही सेना ने राजाराम पर विजय पाई और वह युद्ध में मारा गया। उसके बाद उसके भतीजे चूरामन ने सेनापतित्व ग्रहण किया। वह बादशाह के शासनकाल के अन्तिम दिनों तक लड़ता रहा।

सतनामी विद्रोह १६७२, ई०—दूसरा प्रबल विद्रोह सतनामियों ने नारनौल और मेवात में किया। सतनामी शब्द का अर्थ है ईश्वर के सत् नाम में विश्वास करनेवाला। सतनामी एक प्रतिष्ठित और शक्तिशाली जाति थी। यदि कोई शक्ति का प्रयोग करके उसे हानि पहुँचाना या दबाना चाहता तो वह इसे नहीं सहन कर सकती थी। सतनामी बादशाह की धार्मिक नीति से पहले ही से असन्तुष्ट थे। युद्ध विस्फोट एक मामूली झगड़े से हो गया। एक शाही सिपाही किसी खेत पर पहरा दे रहा था। वहीं उससे एक सतनामी किसान से झगड़ा हो गया। सिपाही ने सतनामी का सिर तोड़ दिया जिससे सारी सतनामी जाति बिगड़ गई। उन्होंने सिपाही को मृतप्राय करके छोड़ दिया। जब स्थानीय शिकदार ने दोषी को कैद करना चाहा तो सतनामी इकट्ठा हुए और उन्होंने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। नारनौल का फौजदार अपनी सेना लेकर उनसे लड़ने चला, परन्तु उसकी हार हुई और युद्ध के मैदान से भागकर उसने अपनी रक्षा की। जब बादशाह को इस विद्रोह की सूचना मिली, उसने एक के बाद एक करके कई सेनाएँ इसे दबाने को भेजीं। परन्तु इन सेनाओं की बराबर पराजय ही होती रही। मुगलों के ऊपर सतनामियों का ऐसा रोब जम गया कि वे समझने लगे कि सतनामी जादू जानते हैं और उन्होंने शैतान को अपने वश में कर लिया है। बादशाह के पास जब यह समाचार पहुँचा तो उसने शत्रु को हराने के लिए एक उपाय सोच निकाला। उसने अपने हाथ से कुछ कुरान की आयतें लिखकर शाही झंडे में सिलवा दीं और यह घोषणा करवा दी कि अब शैतान मुगलों का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अब की

बार भयंकर लड़ाई के पश्चात् शाही सेना विजयी हुई। प्राय: २००० सतनामी मारे गये और बाकी भाग खड़े हुए। विद्रोह बड़ी क्रूरता से दबा दिया गया।

सिक्खों का विद्रोह—सिक्खों ने भी औरंगजेब के अत्याचार का विरोध किया। सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानक एक महान् पुरुष थे। उनका कथन था कि मुक्ति का मार्ग ईश्वर की पूजा और अच्छे कर्मों में निहित है। वे धर्म के बाह्य आडंबरों में विश्वास नहीं करते थे।

नानक के बाद तीन गुरु उन्हीं के पथ पर चले और उनका कार्य धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। चौथे गुरु रामदास अकबर से मिले थे। उनसे वार्तालाप कर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें पंजाब में कुछ जमीन दान के रूप में दे दी, जिस पर उन्होंने अमृतसर अथवा अमृत के तालाब का निर्माण करवाया। पाँचवें गुरु अर्जुन सन् १५८१ में गद्दी पर बैठे। उन्होने ग्रन्थ साहेब का सम्पादन किया, और सिक्खों को निश्चित आदर्शवाली एक जाति के रूप में परिणत कर दिया। खुसरो का पक्ष लेने के कारण जहाँगीर उनसे अप्रसन्न हो गया। वे बन्दीगृह में डाल दिये, जहाँ घोर यंत्रणा देकर सन् १६०६ में उनके जीवन का अन्त कर दिया गया।

इस हत्या से सिक्ख बड़े कुपित हुए। अपने नवीन गुरु हरगोविन्द (१६०६-४५) के नेतृत्व में उन्होंने अपने को एक सैनिक संघ के रूप में परिवर्तित कर दिया। उनके बाद के दो गुरुओं ने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। नवें गुरु तेगबहादुर की हत्या करके औरंगजेब ने मानों युद्ध की घोषणा कर दी।

इस हत्या के कारण यह था कि तेगबहादुर ने औरंगजेब की हिन्दू धर्म पर आघात और मन्दिरों के अपवित्र करनेवाली नीति का विरोध किया था। बादशाह ने राजद्रोह फैलाने के अपराध में गुरु को दिल्ली बुलवाया और कारागार में डाल दिया। उनसे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया, किन्तु जब वे इसके लिए तैयार नहीं हुए, तो उनका सिर काट दिया गया। सिक्खों में अब तक कहावत है कि गुरु ने सिर दिया सार न दिया।

इस समाचार ने सम्पूर्ण पंजाब में खलबली मचा दी, और सारा देश प्रतिरोध के लिए व्याकुल हो उठा। तेगबहादुर के पुत्र और उत्तराधिकारी गुरु गोविन्द-सिंह ने बदला लेने की प्रतिज्ञा की। परन्तु एक शक्तिशाली साम्राज्य के

विरुद्ध कैसे सफलता प्राप्त हो सकती थी ? गोविन्दसिंह ने समझ लिया कि सफलता के लिए सिक्खों को एक सैनिक संघ में बदलना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक नवीन भ्रातृसंघ खालसा की नींव डाली। इसके सदस्य कंघी, कच, केश, कृपाण तथा कड़ा धारण करते थे। उनमें जाति-भेद नहीं था। उन्होंने अपना जीवन सिक्ख धर्म के लिए समर्पित कर दिया और शत्रु से बदला लेने की प्रतिज्ञा की।

गुरु ने भी अपने जीवन का रंग बदल दिया। धार्मिक गुरु से वे राजा बन बैठे। उन्होंने सैनिक संचालन किया, पहाड़ियों पर किले बनवाये और पहाड़ी सरदारों को युद्ध में हरा अपनी शक्ति बढ़ाई। अब औरंगजेब की आँखें खुलीं और उनको हराने के लिए मुगल सेना भेजी गई। युद्ध में गोविन्दसिंह पराजित हुए। उनके दो पुत्र बन्दी बना लिये गये और बड़ी निर्दयता से उनकी हत्या की गई। गुरु स्वयं बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। शाही सेना ने उनका पीछा किया; परन्तु मुक्तेश्वर में सिक्खों ने उसे पराजित किया। गुरु साहब ने उसी स्थान पर एक बावली बनवाई जिसका महत्त्व आज भी सिक्खों की दृष्टि में तीर्थ-स्थान के समान है।

औरंगजेब का अंतिम समय निकट आ रहा था। वे समझ गये कि युद्ध से सिक्खों का दबाना असंभव है। उन्होंने आनन्दपुर में जहाँ गुरु साहब रहते थे, दरबार में उन्हें आने को बुलवा भेजा। गोविन्दसिंह ने उत्तर भेजा कि मैं बादशाह से मिलने के लिए तैयार हूँ। पत्र में उन्होंने अपनी क्षति का भी विवरण दिया जो उन्हें युद्ध में उठानी पड़ी थी। बादशाह ने वचन दिया कि उनका बड़ा सम्मान-पूर्वक स्वागत होगा तथा गुरु दक्षिण भारत को उनसे मिलने के लिए चल पड़े। रास्ते ही में उन्हें सम्राट् की मृत्यु का समाचार मिला। नवीन सम्राट् बहादुर-शाह उन्हें दक्षिण भारत को लिवा ले गया। परन्तु वहाँ एक अफगान ने उन्हें सन् १७०८ में मार डाला।

गोविन्दसिंह बड़े दूरदर्शी थे। वे जानते थे कि गद्दी के लिए सिक्खों में अवश्य संघर्ष होगा। अपनी मृत्यु के पश्चात् सेना के नेतृत्व के लिए तो उन्होंने बन्दा को चुना परन्तु गुरु की गद्दी तोड़ दी।

जजिया—२ अप्रैल सन् १६७९ में हिन्दुओं पर फिर से जजिया लगाया

गया। हिन्दुओं ने इस कर के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया। जब बादशाह नमाज पढ़ने को मसिजद में जा रहा था, तब उन्होंने सड़क पर इकट्ठा होकर विरोध किया। शाही आज्ञा से उन पर हाथी चलवा दिया गया। कितने लोग हाथियों के पैरों से दब कर मर गये। अन्त में हारकर हिन्दुओं को जजिया देना ही पड़ा।

राजपूतों से युद्ध १६७९––राजा जसवन्तसिंह जो जमरूद के फौजदार नियुक्त हुए थे १० दिसम्बर सन् १६७८ को स्वर्गवासी हुए। इस घटना से औरंगजेब की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मारवाड़ का मुगल साम्राज्य में मिलाने का वह बड़ा सुन्दर अवसर था। राज्य कर्मचारियों को मारवाड़ भेज औरंगजेब ने शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। मन्दिरों का विध्वंस करने और जजिया वसूल करने की आज्ञा दी गई। जसवन्तसिंह के भतीजे के लड़के इन्द्रसिंह को ३६ लाख रुपया देने पर जोधपुर का शासक नियुक्त किया गया।

फरवरी सन् १६७९ में जसवन्तसिंह की दो रानियाँ लाहौर आईं। वहीं उनके दो बालक उत्पन्न हुए जिनमें से एक अजीतसिंह जीवित रहा। औरंगजेब अजीतसिंह को हरम में रखकर मुगल शाहजादों के समान उसका पालन-पोषण करना चाहता था। राठौर राजपूत बादशाह के इस प्रस्ताव से घबरा उठे। उन्होंने प्रार्थना की कि अजीतसिंह को उत्तराधिकार मान लिया जाय परन्तु बादशाह ऐसा करने के लिए तैयार नहीं था। अब राजपूतों ने अन्त तक अपने बालक राजा के लिए लड़ने की ठानी और दुर्गादास से सहायता माँगी। दुर्गादास का नाम राजपूत इतिहास में सदा अमर रहेगा। ये बड़े निर्मल चरित्र के पुरुष थे जिन्होंने अपने वचन को कभी नहीं तोड़ा और शत्रु तक को धोखा नहीं दिया। परन्तु इसी के साथ साथ इनकी राजनीतिज्ञता और शौर्य भी उच्च कोटि के थे। रानी की रक्षा के लिए उन्होंने एक उपाय सोच ही निकाला और उसे तथा अजीतसिंह को साथ ले, जुलाई १६७९ में जोधपुर पहुँच गये।

औरंगजेब ने एक ग्वाले के पुत्र को मँगा उसे अजीतसिंह का नाम दे हरम में रक्खा और एलान कर दिया कि दुर्गादास जिसके लिए लड़ रहे हैं वह जसवन्तसिंह का बेटा नहीं है। शाही सेना मारवाड़ को रवाना हुई और युद्ध-संचालन के लिए सम्राट् स्वयं जोधपुर पहुँचा। शाहजादा अकबर और तहव्वुर खाँ सेनापति

नियुक्त हुए। राजपूत युद्ध में हार गये। मारवाड़ मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया और उसे जिलों में विभाजित करके प्रत्येक को एक फौजदार के अधीन रक्खा गया।

रानी ने जो मेवाड़ की राजकुमारी थी, वहाँ के राणा राजसिंह से सहायता की प्रार्थना की। राणा ने अनाथ राजकुमार को अपनी शरण में ले लिया। मारवाड़ के साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने से मेवाड़ भी खतरे में पड़ गया था। बादशाह ने राणा से भी जजिया की माँग की थी। मेवाड़ तथा मारवाड़ दोनों की रक्षा के लिए बादशाह से युद्ध आवश्यक हो गया।

औरंगजेब स्वयं उदयपुर को चला और मुगल सेना ने राणा के राज्य में प्रवेश किया। राणा पहाड़ों को भाग गये और औरंगजेब ने उनके राजकोष पर अधिकार कर लिया। बादशाह की आज्ञा से १२३ मन्दिर उदयपुर के प्रदेश में और ६३ चित्तौड़ में धराशायी कर दिये गये। यद्यपि आमेर का राजा बादशाह का मित्र था; परन्तु वहाँ के भी ६६ मन्दिर विध्वंस कर दिये गये। चित्तौड़ शाहजादा अकबर के अधिकार में छोड़ बादशाह अजमेर लौट आया।

राजपूतों ने युद्ध जारी रक्खा। अकबर को उनके विरुद्ध सफलता नहीं मिली। क्रुद्ध होकर बादशाह ने आजम को मेवाड़ भेजा और अकबर को हटाकर मारवाड़ भेज दिया। मारवाड़ में आकर अकबर ने राजपूतो के सहयोग से षड्यंत्र रचा और बादशाह को सिंहसनच्युत करने और स्वयं गद्दी पर बैठने के अपने निश्चय का एलान कर दिया। मारवाड़ ही में अकबर सिंहासनासीन हुआ और बहादुर खाँ को उसने अपना प्रधान मंत्री बनाया। राजपूतों ने उसको आशाओं को और बढ़ा दिया। अकबर के विद्रोह का समाचार सुनकर औरंगजेब सन्न रह गया। सचमुच शाहजादे के लिए यह बड़ा उपयुक्त अवसर था। यदि वे तुरन्त अजमेर पर धावा बोल देते तो पिता को हरा अपने को बड़ा शक्तिशाली बना लेते।

परन्तु अकबर तो आरामतलबी में अपना समय बिता रहा था। इस बीच में औरंगजेब ने अजमेर की रक्षा की पूर्ण तैयारी कर ली। शाहजादा मोअज्जम भी सेना लेकर उससे आ मिला। अकबर हमले के लिए रवाना ही होनेवाला था कि औरंगजेब की कूटनीति ने संपूर्ण षड्यंत्र को छिन्न-भिन्न कर डाला। उसने शाजादे के नाम एक पत्र लिखा और ऐसा प्रबन्ध किया कि वह दुर्गादास के हाथ पड़ जाय। पत्र में बादशाह की आज्ञानुसार राजपूतों को बेवकूफ बनाने में सफलता

प्राप्त करने के लिए बधाई दी गई थी और लिखा था कि राजपूती सेना को ऐसी स्थिति में रखना चाहिए जहाँ वह शाहजादा और बादशाह दोनों की सेनाओं की गोलियों का शिकार बने। राजपूत बादशाह के धोखे में आ गये और उन्होंने अकबर का साथ छोड़ दिया। अकबर की सेना तितर-बितर हो गई और वह स्वयं लड़ाई के मैदान से भाग गया; परन्तु दुर्गादास और जयसिंह ने अपने वचन को पूरा किया और हारने पर भी उसे शरण दी। अकबर दक्षिण को गया और वहाँ से फारस चला गया। वहाँ सन् १७०४ में उसकी मृत्यु हो गई।

मेवाड़ के साथ युद्ध चलता रहा। दोनों पक्षवालों को बड़ी हानि उठानी पड़ी। अन्त में १६८१ में सुलह हो गई। जयसिंह ने जजिया के बदले में बादशाह को अपने कुछ जिले दे दिये। बादशाह ने उसे पंचहजारी मनसबदार बनाया और राणा की उपाधि को स्वीकार कर लिया। मारवाड़ बराबर युद्ध करता रहा।

दुर्गादास के नेतृत्व में यह स्वतन्त्रता-युद्ध ३० वर्ष तक जारी रहा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने अजीतसिंह को मारवाड़ की गद्दी का अधिकारी स्वीकार कर लिया।

राजपूत-युद्ध में औरंगजेब को धन और जन दोनों की बड़ी क्षति उठानी पड़ी। उसकी प्रतिष्ठा को भी बड़ा धक्का पहुँचा। इस युद्ध के पूर्व राजा जयसिंह और जसवन्तसिंह के समान बहुत से राजपूतों ने साम्राज्य की सेवा में अपना रक्त बहाया था, परन्तु भविष्य में राजपूतों ने सहायता से हाथ खींच लिया। बादशाह की अनुदारता के कारण मित्र शत्रु हो गये तथा अराजकता और षड्यन्त्र के चिह्न चारों तरफ दृष्टिगोचर होने लगे।

औरंगजेब और दक्षिण के शिया राज्य—अपने शासन के पूर्वार्द्ध में औरंगजेब ने दक्षिण जीतने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। जब १६८१ में राणा जयसिंह से सुलह हो गई तो बादशाह ने उधर अपना ध्यान दिया। इसका कारण शाहजादा अकबर का मराठों के पास जाना था।

दूसरा कारण यह था कि बादशाह शिया राज्यों को नष्ट करना चाहता था। उसकी दृष्टि में शिया वैसे ही विधर्मी थे जैसे हिन्दू। इसलिए अपने जीवन के अन्तिम २६ वर्ष शिया और मराठों की शक्ति को नष्ट करने के प्रयत्न में व्यतीत किये।

बीजापुर-विजय १६८६—प्रथम औरंगजेब ने अपना ध्यान बीजापुर की

ओर दिया। नवम्बर १६७२ में अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो गई थी। सरदारों ने उसके चार वर्ष के पुत्र सिकन्दर को गद्दी पर बिठाया तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए आपस में लड़ने लगे। शासन निरंकुश था ही, इस पारस्परिक युद्ध ने राज्य को और निर्बल बना दिया।

औरंगजेब ने दिलेर खाँ को सेनापति बनाकर दक्षिण भेजा। सन् १६७९ में बीजापुर का घेरा प्रारंभ हुआ; परन्तु सेनापति को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। वह फरवरी सन् १६८० में वापस बुला लिया गया। अगले तीन वर्ष मुगल मराठों से युद्ध करते रहे और बीजापुर की तरफ अधिक ध्यान नहीं दिया। १३ नवम्बर सन् १६८३ को बादशाह स्वयं अहमदनगर पहुँचा। उसकी आज्ञा से शाहजादा आजम ने शोलापुर पर अधिकार कर लिया; परन्तु बीजापुर पर हमला करने का उसका प्रयत्न असफल रहा। अब बादशाह स्वयं शोलापुर पहुँचा और उसकी संरक्षता में अप्रैल १६८५ में बीजापुर का घेरा प्रारम्भ हुआ।

जैसे जैसे समय बीतता गया, मुगलों की दशा खराब ही होती गई। कुतुबशाह और शम्भूजी ने सिकन्दर को सहायता का वचन दिया। मुगल सेना में अकाल पड़ जाने के कारण औरंगजेब की निराशा और बढ़ गई। बादशाह ने आजम को घेरा उठा लेने के लिए लिखा; परन्तु शाहजादा दृढ़ रहा और अपने स्थान से न हटा। औरंगजेब ने सहायतार्थ और सेना भेजी और घेरा जारी रहा। साल भर बाद घेरे का निरीक्षण करने बादशाह स्वयं बीजापुर पहुँचा। शाही सेना की दृढ़ता और खाद्य-पदार्थों की कमी के कारण बीजापुरी घबरा उठे, और उन्होंने १२ सितम्बर सन् १६८६ को आत्मसमर्पण कर दिया।

सिकन्दरशाह छावनी में लाया गया और दीवान आम में बादशाह से मिला। बादशाह ने शाही उमरावों में उसका नाम लिखा दिया और उसकी एक लाख पेंशन निश्चित कर दी। बीजापुर मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। शहर बरबाद हो गया। बादशाह ने आदिलशाही महल में दीवार के चित्रों को तोड़ने का हुक्म दे दिया। स्वतंत्रता के अपहरण के कारण बीजापुर की संस्कृति का भी विनाश हो गया। जिस सूबेदार को औरंगजेब ने नियुक्त किया था, उसका तो काम केवल प्रजा से धन वसूल करके शाही कोष में जमा करना था।

सिकन्दर ने अपने जीवन के कई वर्ष दौलताबाद के किले में नजरबन्द रहकर

काटे। बाद में वह शाही छावनी के साथ घूमता रहा। अप्रैल १७०० में ३२ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

गोलकुण्डा की विजय, १६८७—सन् १६७२ में गोलकुण्डा के शासक अब्दुल्ला की मृत्यु हो गई। उसके बाद, पुत्रहीन होने के कारण, उसका सम्बन्धी अबुलहसन गद्दी पर बैठा। अबुलहसन अपना समय भोगविलास में व्यतीत करता था और शासन का प्रबन्ध उसने अपने ब्राह्मण मंत्री मदन्ना और सेनापति अकन्ना के हाथों में छोड़ दिया था। जब औरंगजेब को यह समाचार मिला, उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। विधर्मियों को इतना उच्च पद देने के कारण अबुलहसन बादशाह की आँखों का काँटा हो गया। इसके सिवा बीजापुर में प्राकृतिक सम्पत्ति का बाहुल्य था। हीरे और लोहे की खानें इत्यादि थीं। कुतुबशाह ने सन्धि की शर्तों को भी पूरा नहीं किया था। युद्ध का व्यय अभी तक अदा नहीं हुआ था और दो लाख सालाना भेंट भी पूर्णतः नहीं जमा की गई थी। सुलतान ने मीरजुमला को कर्नाटकवाली जागीर को भी, जिस पर मुगलों का अधिकार होना चाहिए था, हड़प कर लिया था।

जब बीजापुर का घेरा जारी था, शाहजादा मुअज्जम के सेनापतित्व में एक सेना गोलकुण्डा भेजी गई थी। परन्तु मुगल सेनापतियों के आपसी झगड़े और शाहआलम के आलस्य के कारण शाही फौज अधिक प्रगति न कर सकी। इस शिथिलता के लिए शाहजादे को औरंगजेब की फटकार सुननी पड़ी और युद्ध नवीन जोश से आरम्भ हुआ। मदन्ना चाहता था कि अबुलहसन वारंगल चला जाय, परन्तु वह गोलकुण्डा भाग गया था। शाहजादा बढ़ता ही गया और ८ अक्टूबर सन् १६८५ में उसने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। गोलकुण्डा में जब यह समाचार पहुँचा तो वहाँ अराजकता फैल गई। अमीरों और कर्मचारियों ने मदन्ना को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया और उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचे जाने लगे। मार्च सन् १६८६ में एक रात को एक षड्यंत्रकारी ने गोलकुण्डा की एक सड़क पर उसे मार डाला। उसके भाई की भी इसी प्रकार हत्या कर दी गई।

बीजापुर पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद औरंगजेब ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति को गोलकुण्डा के विरुद्ध केन्द्रित किया। जनवरी सन् १६८७ में बादशाह

स्वयं गोलकुण्डा पहुँचा और नगर के घेरे के लिए आज्ञा दी। घेरा कई महीने तक जारी रहा। अकाल के कारण सिपाहियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। इसी समय शाही खेमे में बीमारी फैल गई जिसके फलस्वरूप बहुत से सिपाहियों और पशुओं को जान से हाथ धोना पड़ा। परन्तु औरंगजेब का भाग्य अच्छा था। अबुलहसन नामक एक बीजापुरी कर्मचारी ने धन के लालच में किले का फाटक खोल दिया। २१ सितम्बर को शाही सेना ने किले में प्रवेश किया। गोल-कुण्डा मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। अबुलहसन कैद कर लिया गया। उसके लिए ५०००० सालाना पेन्शन नियत कर दी गई, और उसे दौलताबाद के किले में नजरबन्द रक्खा गया।

मराठों से फिर युद्ध—गोलकुण्डा और बीजापुर पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद औरंगजेब ने मराठों से युद्ध छेड़ा। शम्भूजी विलासप्रिय मनुष्य था। उसका अधिक समय भोगविलास ही में बीतता था। उसमें वह चरित्र और वह शक्ति नहीं थी जिसके आधार पर शिवाजी ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। इसका परिणाम उसे जल्द ही भोगना पड़ा। एक दिन उसके निवास-स्थान संगमेश्वर पर शाही सेनापति मुकर्रब खाँ टूट पड़ा और उसे बन्दी बना लिया। शम्भूजी जंजीरों में बाँधकर शाही खेमे में लाया गया।

औरंगजेब ने एक कर्मचारी को शम्भूजी से यह पूछने के लिए भेजा कि मराठा राजकोष कहाँ है और कौन-कौन से मुगल अफसर उनसे मिले हुए थे। शम्भूजी ने औरंगजेब और पैगम्बर को गालियाँ दीं और कहा कि यदि बादशाह मेरी मित्रता चाहता है तो अपनी लड़की का विवाह मुझसे कर दे। इस समाचार को सुन औरंगजेब आगबबूला हो गया। शम्भूजी को कठोर यातना देकर मार डाला गया और उसके मांस को कुत्तों को खिला दिया गया।

मराठों से युद्ध चलता रहा और मुगलों ने कई और गढ़ जीत लिए। शाही सेना ने शम्भूजी की राजधानी रायगढ़ पर घेरा डाला। मराठों ने आत्म-समर्पण कर दिया। शम्भूजी के भाई राजाराम भिखमंगे के वेष में भाग निकले; परन्तु शम्भूजी का कुटुम्ब जिसमें उसके पुत्र शाहू भी थे, बन्दी बना लिया गया। स्त्रियों के प्रति बादशाह का व्यवहार प्रतिष्ठापूर्ण था। शाहू को बादशाह ने मनसबदार नियुक्त किया और उसकी शिक्षा के लिए योग्य शिक्षक रक्खे। सन

१६८९ के अन्त तक बादशाह की शक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी। दक्षिणी अथवा उत्तरी भारत में कोई भी उसके विरुद्ध खड़ा होने का साहस नहीं कर सकता था। परन्तु तलवार के बल पर स्थापित साम्राज्य अधिक दिनों तक न ठहर सका और बहुत जल्दी ही विरोध आरम्भ हो गया।

मराठों से अन्तिम युद्ध (१६९१-१७०७)—शम्भूजी की हत्या और शाहू के बन्दी बनाये जाने पर भी मराठों ने हिम्मत नहीं हारी। शाहू की अनुपस्थिति में शासन का प्रबन्ध राजाराम के हाथों में रहा। रायगढ़ से भागने के बाद वह जिंजी चला गया था और वहीं उसने अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारम्भ किया था। देश के कोने-कोने से मराठा सेनापति, जिन्होंने महाराष्ट्र को मुगलों से स्वतन्त्र करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी, जिंजी में इकट्ठा होने लगे। पूर्ण रूप से तैयारी करके राजाराम ने युद्ध प्रारम्भ किया। मराठी सेना ने मुगल प्रान्तों पर हमला किया तथा चौथ की माँग की। यह समाचार सुन औरंगजेब का क्रोध भड़क उठा। उसने समझ लिया कि मराठा शक्ति को उखाड़ फेंकने के लिए फिर से युद्ध की आवश्यकता है। वजीर आसद खाँ का पुत्र जुल्फिकार खाँ जिंजी पर घेरा डालने के लिए भेजा गया। मराठों ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया। पड़ोस के जमींदारों ने भी मराठों से सहयोग किया और शाही सेना को चारों दिशाओं से घेर रसद का आना-जाना बन्द कर दिया। परन्तु जुल्फिकार खाँ ने हिम्मत न हारी। अन्त में मराठों ने जनवरी सन् १६९८ में आत्मसमर्पण कर दिया। राजाराम सतारा भाग गया; परन्तु उसके कुटुम्बी बन्दी बना लिए गए।

राजाराम ने सतारा में भी मुगलों से युद्ध करने के लिए सैन्य-संचालन करना प्रारम्भ किया। मराठी सेना ने खानदेश, बरार और बगलाना पर हमला किया तथा चौथ वसूल की। अब बादशाह मराठों के विरुद्ध युद्ध का निरीक्षण करने स्वयं इस्लामपुर पहुँचा। उसने सेनापति का पद स्वयं ग्रहण किया और सतारा पर हमला शुरू हुआ। मराठों ने बड़ी वीरता से सामना किया और शाही सेना को बार-बार मुँह की खानी पड़ी। परन्तु मार्च सन् १७०० में राजाराम की मृत्यु हो जाने से मराठे हतोत्साह हो गए और उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया।

अब युद्ध का भार राजाराम की स्त्री ताराबाई पर पड़ा। इस वीर नारी ने मराठों में एक नई स्फूर्ति का संचार कर दिया। राजाराम के द्वितीय पुत्र शिवाजी को सिंहासन पर बैठा, उसने युद्ध का संचालन स्वयं करना आरम्भ किया। मुगलों ने कई किलों को जीत लिया; परन्तु मराठों ने हिम्मत न हारी।

बादशाह की मृत्यु—बादशाह अब बहुत वृद्ध हो गया था। उसे ज्वर आ गया और बेहोशी होने लगी। दिन-प्रतिदिन दशा खराब होती गई। कुछ स्वस्थ होने पर वह चल दिया और २० जून को अहमदनगर पहुँच गया। वहाँ फिर बीमार पड़ गया। उसने अपने किसी कुटुम्बी को पास तक न आने दिया। अच्छे होने की कोई आशा न रही। २० फरवरी सन् १७०७ ई० को उसका देहान्त हो गया।

पश्चिमोत्तर सीमा-नीति—भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर रहनेवाली जातियाँ सदा अशान्त और विद्रोही रही हैं। मुगलों को भी इनके कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। पठान लोग बोलन और खैबर के दर्रों में होकर निकलनेवाले व्यापारियों को लूट लेते और बहुधा मुगल प्रदेशों पर आक्रमण भी करते थे। सबसे पहले बादशाह अकबर ने सीमा पर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया था। मुगलों को बड़ी क्षति उठानी पड़ी तथा सेना की ही सहायता से पठान काबू में रक्खे जा सके। जहाँगीर और शाहजहाँ के राजत्व-काल में कन्धार, बल्ख और बदख्शाँ पर मुगल हमलों ने पठानों पर शाही शक्ति का रोब जमा दिया था और वे शान्त रहे। परन्तु औरंगजब के सिहासनासीन होते ही फिर संघर्ष आरम्भ हुआ।

सन् १६६७ में यूसुफजाइयों के एक नेता भागू ने कई पठान जातियों को अपने नेतृत्व में इकट्ठा किया और मुहम्मदशाह नामक एक बालक का राज्याभिषेक कर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। विद्रोह कुछ ही दिनों में बहुत बढ़ गया। पठानों ने सिन्धु नदी को पारकर हजारा किले में भी लूटमार शुरू कर दी। मुगल थानों पर भी हमले हुए और वहाँ के सेनापतियों ने बादशाह के पास सहायता के लिए प्रार्थना भेजी। बादशाह ने तीन सेनाएँ भेजीं। भयंकर संघर्ष के बाद यूसुफजाइयों में से बहुत मारे गए और बहुत नदी पार कर भागे। मुगल सेनापति कामिल खाँ, शमशेर खाँ तथा मुहम्मद अमीन खाँ ने पठानों के ग्रामों

को लूटा। पठान शान्त हो गये तथा उनके चरित्र पर निगहबानी रखने के लिए राजा जसवन्तसिंह जमरूद थाने के थानेदार नियुक्त किये गये।

१६७२ में अफरीदियों ने अकमल खाँ के नेतृत्व में विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उसने राजा की पदवी ग्रहण की और मुगलों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। शाही सेनापति अमीन खाँ जसवन्तसिंह की सलाह की अवहेलना करके पठानों से लड़ने के लिए पेशावर से आगे बढ़ा। अकमल खाँ ने उस पर हमला किया। मुगलों की पूर्णतः हार हुई। पठानों ने दस हजार सिपाहियों को बन्दी बना, मध्य एशिया में बेचे जाने के लिए भेज दिया। अमीन खाँ ने बड़ी कठिनता से पेशावर भागकर अपनी जान बचाई। उनका कुटुम्ब पकड़ा गया। उन्हें छुड़ाने के लिए अमीन खाँ को पठानों को बहुत धन देना पड़ा। इस विजय से अकमल खाँ की ख्याति चारों तरफ फैल गई और बहुत से अफगान नौजवान लूट के लालच से उसकी सेना में भर्ती हो गये।

खटकों के नेता खुशहाल खाँ ने भी साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया। इसका कारण यह था कि पेशावर के एक दरबार में बादशाह की आज्ञा से वह धोखा देकर बन्दी बना लिया गया था। सन् १६६६ तक खुशहाल खाँ दिल्ली और रणथंभोर में बन्दी के रूप में रक्खा गया। उसी वर्ष बादशाह ने उसे और उसके पुत्र को अकमल खाँ के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा। परन्तु खुशहाल अकमल खाँ से मिल गया और साम्राज्य के विरुद्ध उसने युद्ध की घोषणा कर दी।

बादशाह ने विद्रोह का दमन करने के लिए फिदाई खाँ को पेशावर और महावत खाँ को काबुल भेजा। जब महावत खाँ ने सम्राट् की आज्ञा के विरुद्ध पठानों से पत्र-व्यवहार करना शुरू कर दिया, तो वह पदच्युत कर दिया गया और उसके स्थान पर शुजाअत खाँ नियुक्त हुआ। जब सन् १६७४ में शुजाअत खाँ अपनी सेना के साथ वहाँ पहुँचा तो अफगानों ने उस पर हमला किया और शाही सेना को सम्पूर्णतः नष्ट कर दिया।

औरंगजेब अब स्वयं युद्धभूमि की ओर गया। जून सन् १६७४ में उसने हसन अब्दाल को अपनी छावनी बनाया। कई सेनापति उसके साथ थे। कूटनीति और बल दोनों का प्रयोग किया गया। कई पठान जातियों को बादशाह ने पेंशन और जागीर देकर अपने पक्ष में कर लिया। साथ ही साथ युद्ध भी चलता

रहा। दोनों पक्षवालों को बड़ी हानि उठानी पड़ी। परन्तु सन् १६७५ के अन्त तक शत्रु की शक्ति बहुत घट गई थी। बादशाह दिल्ली लौट आया और *अमीर खाँ काबुल का गवर्नर नियुक्त हुआ।*

बादशाह और अँगरेज--औरंगजेब के गद्दी पर बैठने के समय अँगरेजों ने अपना व्यवसाय भारत में अच्छी तरह जमा लिया था। उन्होंने मसुलीपट्टम मद्रास, हुगली, सूरत आदि स्थानों में अपनी कोठियाँ स्थापित कर ली थीं। सन् १६६७ में चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई और सालसट के द्वीप भी, जो उसे कैथराइन से विवाह में दहेज के रूप में मिले थे, कम्पनी को दे दिये। चार्ल्स ने एक नवीन सनद भी कम्पनी को दी जिससे उसके वैधानिक अधिकार और बढ़ा दिये गए।

कम्पनी अब अपने अधिकृत स्थानों में अपनी शक्ति की वृद्धि करने लगी। सन् १६८५ में शाइस्ता खाँ ने उन पर कुछ स्थानीय कर लगाये, परन्तु उन्होंने इनका यह कहकर विरोध किया कि यह शाहजहाँ के फरमान के विरुद्ध है। कम्पनी के गवर्नर सर जोशुआ चाइल्ड ने एक नवीन नीति ग्रहण की जिसका उद्देश्य भारत में अँगरेजी राज्य स्थापित करना था। सूरत के प्रेसीडेण्ट सर जान चाइल्ड ने पश्चिमी किनारे पर मुगल जहाजों पर हमला किया। बादशाह ने आज्ञा निकाली कि मुगल साम्राज्य में स्थित अँगरेजी कोठियों को अधिकार में कर लिया जाय और अँगरेज बन्दी कर लिये जायँ। हुगली और मसुलीपट्टम की कोठियों पर मुगलों का कब्जा हो गया और अँगरेजों से व्यावसायिक सम्बन्ध टूट गया। परन्तु कुछ ही दिनों में दोनों दलों ने युद्ध की हानि को समझ लिया और सन्धि हो गई। औरंगजेब ने १,५०,००० रुपया मिलने पर अँगरेजों को उनके पुराने अधिकार लौटा दिए।

शासन-प्रबन्ध---अकबर की मृत्यु के बाद जिस प्रतिक्रियावादी नीति का सूत्रपात हुआ था, औरंगजेब के शासन-काल में वह पराकाष्ठा पर पहुँच गई। बादशाह ने राज्य-प्रबन्ध में शरियत के नियमों को लागू करने का प्रयत्न किया।

बादशाह का आदर्श बड़ा उत्कृष्ट था। उसी के अनुसार कार्य करने का वह प्रयत्न करता था। उसका सारा समय शासन के कामों में ही बीतता था। शासन की छोटी छोटी बातों पर भी उसका ध्यान रहता और विदेशी शासकों

तथा सेनापतियों को जो पत्र भेजे जाते, उन्हें वह स्वयं लिखवाता था। परन्तु इससे साम्राज्य को हानि ही पहुँची। बादशाह का काम तो नीति को निर्दिष्ट करना और उसी के अनुसार कार्य करवाना है। यदि वह छोटी छोटी बातों में दखल देने लगे, तो राज्य-कर्मचारी सुचारु रूप से अपना काम नहीं कर सकते।

न्याय-विभाग प्रचलित तरीके से ही कार्य करता रहा। मालगुजारी के मुकदमे फौजदार करते थे। बाकी मुकदमों का निपटारा काजी के हाथ में था। अन्तिम अदालत में बादशाह स्वयं न्यायाधीश के आसन पर बैठता था और काजी, मुफ्ती तथा धर्मशास्त्रज्ञों की सहायता से फैसले सुनाता था।

माल की संस्थाएँ भी पहले ही के समान थीं। शासनारूढ़ होने पर औरंगजेब ने बहुत से कर हटा लिये थे, परन्तु कुछ ही समय में उनके स्थान पर नवीन कर चालू कर दिये गए थे।

साम्राज्य २१ सूबों में विभाजित था। प्रान्तों के शासन-प्रबन्ध में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। परन्तु जासूसों का काम पहले से बहुत अधिक बढ़ गया। सूबों में स्थित वाकअनवीस और खुफियानवीस प्रत्येक घटना का पूर्ण ब्योरा राजधानी को भेजते थे।

दक्षिण जीतने की महत्त्वाकांक्षा को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए औरंगजेब ने बहुत बड़ी सेना का संचालन किया। सेना में अनुशासन स्थापित करने के लिए नवीन नियम बनाये, परन्तु सफलता न हुई। सेनापति और सिपाही भोग-विलास में लिप्त थे। समय की गति के साथ अव्यवस्था बढ़ती ही गई और औरंगजेब की मृत्यु के समय तक मुगल सेना बड़ी निर्बल हो गई।

जैसे जैसे समय बीता, शासन-प्रबन्ध बिगड़ता ही गया। इसके अनेकों कारण थे। नौकरियों में योग्यता का ध्यान नहीं रक्खा जाता था। मुसलमान अथवा उनके पक्ष के हिन्दुओं की नियुक्ति चाहे वे अयोग्य ही हों, कर दी जाती थी। धर्म बदलने पर तो कोई मनुष्य कितना ही मूर्ख हो, सरकारी पदाधिकारी हो जाता था। इसका शासन-प्रबन्ध पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। अयोग्य कर्मचारियों के कारण सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था ही बिगड़ गई। घूस बहुत प्रचलित थी। छोटे छोटे कर्मचारी हकतहरीर लेते थे। यहाँ तक कि बादशाह स्वयं उपाधि बेचता था। जब्ती का नियम प्रचलित था। अमीरों की मृत्यु के

बाद उनका अधिकांश धन राजकोष में चला जाता था। इसी कारण वे खूब खर्च करते थे। इनमें से अधिकतर तो ऋण के बोझ से दबे रहते थे। आर्थिक दशा खराब होने के कारण उन्होंने अपनी सेना घटा दी थी। परिणाम यह हुआ कि चारों तरफ अराजकता फैल गई और मालगुजारी की वसूली भी कम हो गई।

औरंगजेब का चरित्र—औरंगजेब मुगल-वंश का एक महान् सम्राट् था। उसकी शारीरिक शक्ति उच्च कोटि की थी। सेनापतित्व के गुणों में युवावस्था ही में उसने बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उसके रण-कौशल को देख बड़े-बड़े सेनापति दाँतों तले अँगुली दबाते थे और उसके युद्ध-आयोजन की शक्ति को देख प्रशंसा किये बिना न रहते। इसके सिवा वह बहुत बड़ा विद्वान् भी था। इस्लाम की धार्मिक पुस्तकें, नीति शास्त्र, अरबी आईन और फारसी साहित्य का उसे अच्छा ज्ञान था। उसे कुरान जबानी याद था, और स्वयं नकल करके उसकी प्रतिलिपि वह मक्का भेजा करता था। उसका जीवन सादा था। वह बहुत कम भोजन करता, केवल तीन घंटे सोता और मदिरा पान बिलकुल नहीं करता था। रंगीन वस्त्र, हीरा-जवाहिरात वह बहुत कम प्रयोग करता था। उसका चरित्र बड़ा निर्मल था। उसका बादशाही का आदर्श बड़ा उच्च था। उसका कहना था, "सम्राटों को आराम और सुस्ती वर्जित है, क्योंकि इसी कारण साम्राज्य नष्ट हो जाते हैं।"

औरंगजेब में कौटुम्बिक प्रेम बहुत कम था। पिता का बन्दी बनाया जाना तथा भाई और भतीजों की हत्या सदा उसके नाम को कलंकित किये रहेगी। वह अपने पुत्रों को भी सन्देह की दृष्टि से देखता था, और जब तक वे निकट रहते, उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। उसका ज्येष्ठ पुत्र सुल्तान मृत्यु पर्यंत बन्दीगृह में रहा, और मुअज्जम को भी आठ वर्ष कैदखाने की हवा खानी पड़ी। उसकी पुत्री जेबुन्निसा जो कवयित्री थी, अकबर से सहानुभूति रखने के कारण अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक (१७०२) सलीमगढ़ के किले में नजरबन्द रही।

औरंगजेब अपने धर्म का पाबन्द था। वह नामज, रोजा, हज्ज, जकात आदि के बारे में जो कुरानशरीफ में नियम हैं, उनका अक्षरशः पालन करता था। रमजान के महीने में वह रोजा रखता था और अन्तिम दस दिन ईश्वर

की आराधना में व्यतीत करता था। उसकी हज्ज करने की बड़ी प्रबल इच्छा थी; परन्तु राज-कार्यों के कारण पूरी न हो सकी।

औरंगजेब मुगल-वंश का अन्तिम प्रतिभाशाली बादशाह था। उसमें अनेक गुण थे; परन्तु धार्मिक पक्षपात, कट्टरता एवं हृदयहीनता के कारण वे सब निष्फल हुए। उदारता तथा क्षमता तो वह जानता ही न था। राज्य की सारी शक्ति को उसने अपने हाथ में ले लिया था। विश्वास उसे अपने बेटों तक का नहीं था। इस सबका परिणाम यह हुआ कि राज्य की शासन-व्यवस्था बिगड़ गई।

धार्मिक कट्टरता तथा अत्याचार ने हिन्दू और शिया मुसलमानों को राज्य का शत्रु बना दिया। नीति-परिवर्तन के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। बुद्धिमान् पुरुषों को इस बात का आभास हो गया कि अब साम्राज्य के अन्तिम दिवस निकट आ रहे हैं।

अध्याय ९

साम्राज्य का पतन

सिंहासन के लिए युद्ध—औरंगजेब के तीन पुत्र थे—मुअज्जम, आजम और कामबख्श। वृद्ध बादशाह ने वसीयत की थी कि मेरी मृत्यु के बाद साम्राज्य तीन भागों में विभाजित किया जाय। आगरे के अधिकारी को मालवा, गुजरात, अजमेर तथा दक्षिण के चार सूबे मिलें। दूसरे भाग में दिल्ली और पुराने ग्यारह सूबे सम्मिलित किये जायँ। कामबख्श को बीजापुर और हैदराबाद का शासक बनाया जाय। परन्तु मुगलों में तो सिंहासन के लिए युद्ध की परम्परा चली आती थी। तीनों शाहजादों ने अपने सम्राट् होने की घोषणा कर दी। कामबख्श ने जो बीजापुर में था, दीनपनाह की पदवी ग्रहण की। मुअज्जम सिंहासन पर अधिकार करने के लिए आगरे की तरफ बढ़ा और आजम ने भी भाई से संघर्ष की तैयारी कर ली। २० जून सन् १७०७ में आगरे के पास जाजऊ नामक स्थान पर दोनों दलों में युद्ध हुआ। आजम की हार हुई और वह युद्ध में मारा गया। इस पराजय के कई कारण थे। आजम ठीक समय पर आगरे पहुँचकर राजकोष पर अधिकार नहीं कर सका। इसके सिवा शाहजादे ने युद्ध का अधिक सामान दक्षिण ही में छोड़ दिया था तथा उसके सेनापति जुल्फकार खां और राजा जयसिंह ने उसे पूर्णरूप से सहायता नहीं दी। मुअज्जम सिंहासन पर बैठा और बहादुरशाह की उपाधि ग्रहण की। इसके बाद कामबख्श से युद्ध करने वह दक्षिण को चल दिया। यहाँ भी उसकी विजय हुई। हैदराबाद के निकट युद्ध में कामबख्श पराजित हुआ। उसके घाव इतने सांघातिक थे कि उन्हीं से उसकी मृत्यु हो गई।

बहादुरशाह और राजपूत—जब सिंहासन के लिए युद्ध चल रहा था तभी बहादुरशाह को राजपूताना जाना पड़ा। इस समय वहाँ तीन मुख्य राज्य थे,

मेवाड़, मारवाड़ और अजमेर। औरंगजेब ने मारवाड़ पर अधिकार कर लि
था, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अजीतसिंह ने मुगलों को मार भगाया। अजमे
में दो भाइयों के मध्य सिंहासन के लिए झगड़ा चल रहा था। जिसने बहादुर
शाह को सम्राट् मान लिया, वही राजा बनाया गया। मारवाड़ के राजपूतो
ने भी युद्ध नहीं किया और अजीतसिंह बादशाह से मिलने गया।

तीनों राजाओं ने मुगलों से युद्ध करने के लिए एक संघ की स्थापना की। बहादुरशाह की विजय हुई और राजपूतों के साथ संधि हो गई।

सिक्ख--गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के बाद सिक्खों ने बंदा को अपना सेनापति बनाया था। उसके नेतृत्व में ४० हजार सिक्ख जमा हुए और उन्होंने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उनका पहला हमला सरहिन्द के सूबेदार वजीरखां पर हुआ। वृद्ध सूबेदार मारा गया और सिक्खों ने सरहिन्द को खूब लूटा। बन्दा ने सभी दिशाओं में विजय के लिए सिपाहियों को भेजा। लाहौर पर भी अधिकार करने का प्रयत्न किया गया; परन्तु सफलता नहीं मिली। बादशाह स्वयं विद्रोहियों को दंड देने चला। सिक्खों ने लोहारगढ़ के किले में शरण ली और अपनी रक्षा के लिए तैयारी करना आरम्भ किया। सिक्ख युद्ध में पराजित हुए, परन्तु बन्दा भाग गया। मुगलों को लूट में बहुत सामान मिला। परन्तु सिक्ख हतोत्साहित नहीं हुए और युद्ध करते रहे। सन् १७१२ में बहादुरशाह की मृत्यु हो गई।

मराठे--मुगल सेना के दक्षिण छोड़ते ही मराठों ने फिर युद्ध प्रारंभ कर दिया। उन्होंने कई किलों पर अधिकार कर लिया तथा मुगल सूबों पर भी हमले करने लगे। बादशाह ने शाहू को बन्दीगृह से छोड़ दक्षिण जाने दिया। राजाराम की विधवा ताराबाई ने शाहू के उत्तराधिकार को नहीं स्वीकार किया। मराठे आपस ही में लड़ने लगे और मुगलों को कुछ समय के लिए शान्ति मिली।

जहांदारशाह--१७१२-१३ बहादुरशाह की मृत्यु के बाद जहाँदारशाह गद्दी पर बैठा। आजम के पुत्र फर्रुखसियर ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उसने पटने में अपने बादशाह होने की घोषणा कर दी और अपने नाम का सिक्का चलाया। उसको सैयद भाई अब्दुल्ला खाँ तथा सैयद हुसेन अली खाँ की सहायता प्राप्त हुई। खजवा के युद्ध में जहाँदारशाह की सेना पराजित हुई।

इस समाचार ने बादशाह को डरा दिया और आगरे की रक्षा करने के लिए वह स्वयं दिल्ली से चल पड़ा। फिर युद्ध हुआ, परन्तु इसमें भी विजय फर्रुखसियर ही को प्राप्त हुई। निराश जहाँदारशाह दिल्ली की ओर भागा। वहाँ वह अब्दुल्ला के हाथों में पड़ गया। गला घोंटकर उसके जीवन का अन्त कर दिया गया।

फर्रुखसियर : १७१३-१९—फर्रुखसियर अब सिंहासन पर बैठा। उसने सैयद-भाइयों को इनाम-इकराम से प्रसन्न कर दिया और चीनकिलीच खां निजामुलमुल्क को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। इसी समय राजपूत, सिक्ख तथा जाटों के विद्रोह होने लगे। बादशाह ने हुसेनअली को अजीतसिंह के विरुद्ध भेजा। राजा को सन्धि करनी पड़ी। उसने अपनी पुत्री का विवाह बादशाह से कर दिया तथा बुलाये जाने पर राज-दरबार में जाने का वादा किया।

बन्दा के नेतृत्व में सिक्खों ने लूटमार फिर प्रारंभ की। जब शाही सेना वहाँ पहुँची तो उन्होंने गुरदासपुर के किले में शरण ली। १७ दिसम्बर सन् १७१५ को किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। बंदा बन्दी बनाकर लोहे के पिजड़े में रक्खा गया और उसके अनुगामियों को कठिन सजा दी गई। सन् १७१६ में बन्दा तथा उसके सैकड़ों साथी कत्ल कर दिये गए।

जाटों के नेता चूरामन ने भी विद्रोह कर दिया। उसका मुख्य गढ़ सनसनी में था। बादशाह ने राजा जयसिंह को किले पर घेरा डालने के लिए भेजा। सन् १७१८ में चूरामन से सन्धि हो गई। उसने ५० लाख रुपया युद्ध के खर्चे का दिया।

दरबार मे दलबन्दी—राज-दरबार के उमरा दो दलों में विभाजित थे, विदेशी और हिन्दुस्तानी। विदेशियों में पठान, मुगल, अफगान, अरबी, रूमी सभी थे; परन्तु इनमें बाहुल्य ईरानी तथा तूरानियों का ही था। हिन्दुस्तानी उमरा भारत के उत्पन्न मुसलमान, राजपूत, जाट तथा हिन्दू कर्मचारी थे।

सैयद भाइयों का उत्कर्ष—फर्रुखसियर सैयद भाइयों की ही सहायता से गद्दी पर बैठा था, इसलिए वे चाहते थे कि शासन-प्रबंध पर पूर्णतः उनका अधिकार रहे। जब बादशाह ने अब्दुल्ला को वजीर बनाने से इनकार कर दिया तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। आपसी युद्ध खूब जोरों से चल पड़ा। बादशाह ने सैयद भाइयों के अन्त कर देने के लिए षड्यन्त्र रचा। यह समाचार

सुन हुसेनअली दक्षिण भारत से उत्तर को रवाना हुआ। चौथ तथा सरदेशमुखी देने का वादा कर उसने मराटों की भी सहायता प्राप्त कर ली। हुसेनअली के दिल्ली पहुँचने का समाचार सुन फर्रुखसियर डर गया। उसने सैयद भाइयों को प्रसन्न करने का भी प्रयत्न किया और छिपे छिपे उनकी हत्या का भी प्रयत्न करने लगा। परन्तु सैयद भाई उसकी चालों में नहीं आनेवाले थे। उन्होंने किले पर अधिकार कर लिया और बादशाह का सिर कटवा दिया।

फर्रुखसियर की मृत्यु के बाद दो शाहजादों ने कुछ महीनों के लिए राज्य किया। वे सैयद भाइयों के हाथ के खिलौने थे। सितम्बर सन् १७१९ में बहादुरशाह का एक पोता मुहम्मदशाह सिंहासनासीन हुआ, परन्तु सारी शक्ति सैयद भाइयों के ही हाथ में रही।

सैयद भाइयों का विनाश—सैयदों के व्यवहार से अमीर बिगड़ गए। फर्रुखसियर के मित्र तथा इलाहाबाद के सूबेदार छबीलेराम नागर तथा उसके भतीजे गिरधर बहादुर ने विद्रोह कर दिया। सैयद भाइयों ने गिरधर को अवध की सूबेदारी देकर प्रसन्न कर लिया। छबीलेराम को लकवा मार गया और वह काल का ग्रास हुआ। परन्तु इसी समय दक्षिण से विद्रोह का समाचार आया। निजामुलमुल्क ने असीरगढ़ का किला जीत लिया और बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। हुसेनअली का कुटुम्ब दक्षिण भारत में था। इस समाचार ने उसे बहुत चिन्तित कर दिया। बादशाह को साथ ले वह निजामुलमुल्क से युद्ध करने के लिए रवाना हुआ। परन्तु रास्ते ही में उसके शत्रुओं ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र किया और उसे मार डाला (१७२०)।

भाई की मृत्यु के समाचार से अब्दुल्ला बहुत दुखी हुआ। उसने षड्यन्त्रकारियों को दंड देने की बादशाह से प्रार्थना की तथा उनसे ऐसा करने का वचन भी ले लिया। परन्तु उसके शत्रु बड़े शक्तिशाली थे और उन्हें उसके सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा। अब्दुल्ला खां बन्दी बना लिया गया और १७२२ में जहर देकर मार डाला गया।

सैयद भाइयों के चरित्र और नीति से साम्राज्य को बड़ी हानि पहुँची। ८ वर्ष तक शासन-सत्ता उनके हाथ में रही तथा बादशाह उनके हाथ के खिलौने बने रहे। उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और उमरा के साथ बुरा बर्ताव

किया। हुसेनअली तो इतना अभिमानी था कि वह कहा करता था कि जिसके सिर पर मेरे जूते का साया पड़ जायगा, वह दिल्ली का बादशाह हो जायगा। सैयद भाई महत्त्वाकांक्षी तथा अशिष्ट तो थे; परन्तु गरीबों के साथ उनका व्यवहार बड़ा अच्छा था। अब्दुल्ला हिन्दुओं का मित्र था। उनके त्योहारों में भाग लेता था। वसन्त मनाता था। परन्तु साम्राज्य पर शासन करने के लिए तो दोनों ही अयोग्य थे। अपनी नीति से उन्होंने अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ा दी।

मुहम्मदशाह की नीति—सैयदों की हत्या से मुहम्मदशाह बहुत प्रसन्न हुआ। निजामुलमुल्क साम्राज्य का नया वजीर नियुक्त हुआ। वजीर ने शासन-प्रबंध में सुधार करना चाहा, परन्तु बादशाह तथा उसके मित्रों के कारण वह असफल रहा। मुहम्मदशाह अनुभवहीन था। अपने मित्रों के सामने वह वजीर का मजाक उड़ाया करता था। इसके सिवा दरबार में खूब दलबंदी और आपसी युद्ध एक साधारण घटना हो गई थी। निजामुलमुल्क इतना निराश हुआ कि दिल्ली छोड़कर दक्षिण को चला गया। सन् १७२५ में उसने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया और स्वतंत्र शासक हो गया।

साम्राज्य में अराजकता—साम्राज्य की दशा इस समय बड़ी खराब थी। एक के बाद दूसरे सूबे बादशाह के हाथों से निकले जा रहे थे। रुहेला अफगानों ने कटहर में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। चूरामन के लड़के ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था, परन्तु राजा जयसिंह ने उसे पराजित किया। दक्षिणी भारत में मराठे बड़े बलवान् हो गये थे तथा गुजरात, मालवा, बुन्देलखंड और बंगाल पर बराबर हमले कर रहे थे। राज्यकोष खाली था। दरबारी चील-कौवों की तरह आपस में लड़ रहे थे। इसी समय नादिरशाह ने हिन्दुस्तान पर हमला किया।

नादिरशाह का आक्रमण १७३९—नादिरशाह का बाप बड़ा गरीब था। भेड़ के चमड़े के कोट और टोपी बनाकर अपनी जीविका चलाता था। प्रथम नादिरशाह ने डाका डालना शुरू किया, और धीरे धीरे एक सेना जमाकर फारस का बादशाह बन बैठा। १७३७ में उसने कंधार पर हमला कर उसे जीत लिया। उसका दूसरा लक्ष्य हिन्दुस्तान था। सौभाग्य से इस देश पर हमला करने का उसे एक बहाना भी मिल गया। उसने अपने दूत को मुगल बादशाह से कहने

के लिए भेजा कि कंधार के भागे हुए अफगानियों को साम्राज्य में न प्रवेश करने दें। जब मुहम्मदशाह ने कोई उचित उत्तर नहीं भेजा, तो नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया।

नादिर ने अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया। ईरानियों ने बड़ी सुगमता से पंजाब में प्रवेश किया और पेशावर और लाहौर पर अधिकार कर लिया। लाहौर से नादिरशाह करनाल पहुँचा, जहाँ मुहम्मदशाह की सेना लड़ने के लिए प्रस्तुत थी। हिन्दुस्तान का बादशाह पराजित हुआ। इसके कई कारण थे। शाही सेनापति एक दूसरे से विद्वेष रखते थे जिससे युद्ध का सुचारु रूप से संचालन असंभव था। हिन्दुस्तानी सिपाही तलवार से लड़ते थे, और ईरानी बन्दूकों का मुकाबिला वे नहीं कर सके। इसके विना उनका तोपखाना भारी और पुराना था। भारतीय हाथी ईरानी बन्दूकों के सामने बेकार साबित हुए।

विजयी नादिरशाह ने दिल्ली में प्रवेश किया और दीवानखास के निकट महल में ठहरा। ईरानी सिपाही बनियों से सस्ते दाम में अनाज खरीदना चाहते थे। इससे जनता बिगड़ गई और उन पर हमला किया। इसी समय नगर में यह किवदन्ती फैल गई कि नादिरशाह मारा गया। नादिरशाह ने जब यह समाचार सुना तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने नागरिकों के कत्ल की आज्ञा निकाल दी। ९ बजे सबेरे ईरानी सिपाहियों ने अपना क्रूरतापूर्ण कार्य प्रारम्भ किया। मुहम्मदशाह के बहुत प्रार्थना करने पर दो बजे दिन को नादिरशाह की आज्ञा से यह कत्ल रुका। इसके पश्चात् शहर की लूट शुरू हुई। मुहम्मदशाह से ७० करोड़ रुपया वसूल कर और उसे फिर से दिल्ली के सिंहासन पर बैठाकर नादिरशाह फारस लौट गया।

साम्राज्य की दशा—नादिरशाह के हमले से शासन-प्रबन्ध बिलकुल बिगड़ गया। दिल्ली सरकार की शक्ति का अन्त हो गया। जाटों और सिक्खों ने सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। मराठों का राज्य सम्पूर्ण दक्षिणी और पश्चिमी सूबों में फैला था। वे बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर भी हमले करने लगे थे। गंगा के दोआब में अलीमुहम्मद खां रुहेला ने कुमायूं की पहाड़ियों तक अपना अधिकार कर लिया था। अवध के सूबेदार सआदतअली खां, बंगाल

के अलीवर्दी खाँ तथा दक्षिण के निजामुलमुल्क ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। इस स्थिति में सन् १७४८ में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई।

पेशवाओं का अभ्युदय

बालाजी विश्वनाथ—१७१३-२०—शाहू सतारा में गद्दी पर बैठा। मुगल दरबार में रहने के कारण वह बड़ा विलासप्रिय हो गया था और उसने शासन-प्रबन्ध पेशवा के हाथ में छोड़ दिया था। इस समय का पेशवा बालाजी भट्ट क्रमशः शक्तिशाली हो गया और राज्य की सारी शक्ति धीरे-धीरे उसी के हाथों में आ गई। उसने कृषि को बड़ा प्रोत्साहन दिया और ठेकेदारी की प्रथा बन्द कर दी। सन् १७१७ में उसने सैयद भाई हुसेनअली से सन्धि की जिसके अनुसार दक्षिण में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार उसे मिल गया।

बालाजी ने सम्पूर्ण मराठा राज्य को छोटे-छोटे जिलों में विभाजित कर दिया और प्रत्येक की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार एक-एक कर्मचारी को मिल गया। उसमें से वह एक निश्चित भाग अपने पास रखकर बाकी राज्य को दे देता था। चौथ और सरदेशमुखी की दर का आधार मालगुजारी पर कर दिया गया। शाहू की अयोग्यता के कारण पेशवा की शक्ति बढ़ती गई और धीरे-धीरे एक प्रकार से वही राजा हो गया।

बाजीराव प्रथम—१७२०-४०—बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा हुआ। वह बड़ा योग्य और प्रतिभाशाली पुरुष था। युवा अवस्था से ही उसने नवीन विजय की आयोजनाएँ बना ली थीं। सन् १७२४ में उसने मालवा पर हमला किया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। चार वर्ष पश्चात् निजाम से चौथ वसूल की। इसके बाद गुजरात, मालवा, बुन्देलखंड तथा बरार की बारी आई। सन् १७३७ में बाजीराव अपनी सेना के साथ दिल्ली पहुँचा। बादशाह ने निजामुलमुल्क को अपनी सहायता के लिए बुलाया; परन्तु भोपाल के निकट युद्ध में वह पराजित हुआ। दोनों दलों में सन्धि हो गई जिसके अनुसार मालवा तथा नर्मदा और चम्बल के बीच की भूमि पर मराठों के अधिकार को बादशाह ने मान लिया। इसके अतिरिक्त

बादशाह ने पेशवा को ५० लाख रुपया युद्ध-व्यय के रूप में दिया। १७३९ में बाजीराव ने पुर्तगालियों को हराया तथा बेसिन के किले पर अधिकार कर लिया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में पेशवा ने मुगल सूबों को मराठा सरदारों के प्रभाव-क्षेत्र में विभाजित कर दिया। भूमि का जो हिस्सा जिस सरदार के हाथ में था, वहाँ से वह चौथ और सर-देशमुखी, बिना पेशवा के हस्तक्षेप के वसूल कर सकता था। इस समय के मुख्य मराठा सरदार गायकवाड़, सिंधिया, भोंसले तथा होल्कर थे, जिन्होंने बाद में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की।

बाजीराव मुख्यतः सिपाही था। शासन के कार्य में उसे अधिक रुचि नहीं थी। परन्तु उसकी योग्यता में कोई सन्देह नहीं। उसमें धर्मान्धता नही थी। उसने निजाम की शक्ति को धक्का पहुँचाया और मराठों को आगे बढ़ाया।

बालाजी बाजीराव––१७४०-६१—बाजीराव की मृत्यु के बाद बालाजी बाजीराव पेशवा हुआ। राघौजी भोंसले तथा भास्कर पंडित के सेनापतित्व में मराठों ने उड़ीसा को लूटा और बंगाल के सूबेदार अलीवर्दी खां को पराजित किया। उन्होंने हुगली और सम्पूर्ण पश्चिमी बंगाल पर अधिकार कर लिया। अन्त में अलीवर्दी खां से सन्धि हो गई जिसके अनुसार उसने राघौजी को १२ लाख वार्षिक चौथ के रूप में दिये। इसके बदले में राघौजी ने वचन दिया कि वह बंगाल पर फिर कभी चढ़ाई न करेगा।

सन् १७४८ में शाहू की मृत्यु हो गई। पेशवा ने उससे एक लिखित आज्ञा ले ली थी जिससे उनको राजा के नाम पर शासन-प्रबन्ध कराने का अधिकार मिल गया। इसी साल मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई। सभी दलों के नेता दिल्ली में अपनी शक्ति स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। सफदरजंग ने सिंधिया और होल्कर से रुहेलों के विरुद्ध लड़ने के लिए सहायता माँगी। जब सफदरजंग वजीर के स्थान से हटा दिया गया, तो मराठों ने उसके प्रतिद्वन्द्वी को सहायता पहुँचाकर दिल्ली में अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

सन् १७४८ में निजाम की मृत्यु से कर्नाटक में अराजकता फैल गई। गद्दी के लिए दो उम्मीदवारों में से एक को अँगरेजों की और दूसरे को फ्रांसीसियों की सहायता मिली। इसमें फ्रांसीसियों की विजय हुई। पेशवा ने भी षड्यंत्र में भाग लिया तथा बुसी की शक्ति को घटाने का प्रयत्न किया। मराठों और

निजाम में लड़ाई छिड़ गई। सन् १७५९ में उदगिर में निजाम पराजित हुआ। दोनों दलों में सुलह हो गई जिसके अनुसार मराठों को असीरगढ़, दौलताबाद, बीजापुर, अहमदनगर तथा बुरहानपुर के किले और कुछ और जमीन मिली। सन् १७६० तक मराठों की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर थी। उन्होंने प्राय: सम्पूर्ण भारत से चौथ वसूल की थी और उनका अधिकार चम्बल से गोदावरी नदी तक तथा समुद्र से बंगाल की खाड़ी के मध्य की भूमि तक था ।

पानीपत की तीसरी लड़ाई—१७६१भारत से लौटने के बाद नादिरशाह का चरित्र बहुत बिगड़ गया था। वह अपनी प्रजा पर बहुत अत्याचार करने लगा। सेना के सिपाही उससे बिगड़ गए। उन्होंने उसकी हत्या कर दी, और सेनापति अहमदशाह अब्दाली को अपना राजा चुना। अब्दाली ने अफगानिस्तान पर अधिकार कर हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। पंजाब का सूबेदार युद्ध में हार गया और दिल्ली के सम्राट् ने वह सूबा अहमदशाह को सौंप दिया। उसका शासन-प्रबन्ध एक कर्मचारी को सौंप अब्दाली अपने देश को लौट गया। सन् १७५८ में मराठों ने उसके कर्मचारी को निकाल लाहौर पर अधिकार कर लिया। इस समाचार को सुन अब्दाली क्रोध से आगबबूला हो गया, और एक बड़ी सेना को साथ ले मराठों को दंड देने अपने राज्य से चल पड़ा। मराठों ने भी सदाशिवराव की अध्यक्षता में एक शक्तिशाली सेना को उसका सामना करने के लिए भेजा। तोपखाने का नेता इब्राहीम गर्दी था। होल्कर, सिंधिया और गायकवाड़ भी अपनी-अपनी सेना लेकर आ गये थे। राजपूतों और जाटों ने भी सहायता भेजी ।

पानीपत के मैदान में दोनों फौजें जमा हुई। बड़ी भयंकर लड़ाई हुई। सदाशिव मारा गया तथा इब्राहीम घायल हुआ। होल्कर भरतपुर की ओर भाग गया। सिन्धिया के पैर में चोट लगी और वह युद्ध के मैदान से पलायन कर गया। इस समाचार से पेशवा के हृदय को ऐसा आघात पहुँचा कि वे जान से हाथ धो बैठे।

बालाजी अपने पिता के समान युद्ध-कला में कुशल नहीं था; परन्तु राजनीतिज्ञ वह उससे बढ़कर था। वह योग्य शासक था। राज्य-कर्मचारियों को योग्य बनाने के लिए उसने उनकी शिक्षा के लिए स्कूल खोला। उसने सेना

का भी सुधार किया और सिपाहियों को पहले से अच्छे हथियार दिये। परन्तु सिपाहियों को अपने साथ अपनी स्त्रियों को रखने का अधिकार देकर उसने बड़ी भूल की।

१७४८ के बाद साम्राज्य का पतन—मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद अहमदशाह सिंहासन पर बैठा। वह शासन के कार्य के लिए पूर्णतः अयोग्य था, और अपना सारा समय भोग-विलास में व्यतीत करता था। जमींदारों ने मालगुजारी देना बन्द कर दिया। राज्यकोष खाली हो गया। वेतन न मिलने के कारण सेना ने काम करने से इनकार कर दिया। ईरानी और तूरानी दलों के संघर्ष से दशा और बिगड़ गई। ईरानियों का नेता सफदरजंग था और तूरानियों का इन्तिजामुद्दौला। सफदरजंग को बादशाह ने पदच्युत कर दिया और उसके स्थान पर इन्तिजामुद्दौला को वजीर बनाया। सफदरजंग ने एक हिजड़े को, कामबख्श का पोता कहकर, बादशाह घोषित कर दिया। परन्तु मराठों की मदद से बादशाह ने उस पर विजय पाई। सफदरजंग अवध को चला गया और वहाँ उसने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। साम्राज्य अब दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश और उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों तक ही सीमित था।

कुछ समय के बाद मीर बख्शी इमाद और बादशाह में झगड़ा हो गया। मराठों की सहायता से वह वजीर बन बैठा। १७५४ में उसने बादशाह को गद्दी से उतार उसकी आँखें फुड़वा दीं। जहाँदारशाह का पुत्र मुहम्मद अजीमुद्दौला, आलमगीर द्वितीय के नाम से, सिंहासनारूढ़ हुआ।

इस बादशाह के शासन-काल में साम्राज्य की दशा और भी बिगड़ गई। अब्दाली ने कई बार भारत पर आक्रमण किये। मराठों की सहायता से वजीर ने बादशाह की हत्या करवा दी और दूसरे मुगल शाहजादे को गद्दी पर बिठाया। पानीपत के युद्ध के बाद अहमदशाह ने शाहआलम को गद्दी पर बिठाया और शुजाउद्दौला को उसका वजीर नियुक्त किया।

शाहआलम अधिकतर पूर्व ही में रहता था। अँगरेजों ने उसे और बंगाल के नवाब को बकसर में हराया। १७७१ तक अँगरेजों के संरक्षण में रहकर वह मराठों के बुलाने से दिल्ली चला गया। परन्तु बादशाह की शक्ति नाममात्र को

थी। शुजाउद्दौला और नज्फखाँ की मृत्यु के बाद उसका कोई सहायक नहीं रह गया। उसने महादजी सिंधिया को अपनी सहायता के लिए बुलाया। यह समाचार सुन, पठानों का सरदार गुलाम कादिर बड़ा अप्रसन्न हुआ। उसने १७८८ में दिल्ली पर अधिकार कर शाहआलम की आँखें निकलवा लीं। महादजी सिंधिया की मदद मे शाहआलम फिर सिंहासन पर बैठा। कुछ वर्षों के पश्चात् वह अँगरेजों का पेंशनर हो गया। उसके उत्तराधिकारी अकबरशाह द्वितीय (१८०६-३७) और बहादुरशाह (१८३७-५८) भी सम्राट् कहे जाते थे, परन्तु बिलकुल शक्तिहीन थे। सन् १८५७ के युद्ध में बहादुरशाह ने विद्रोहियों का साथ दिया। इससे वह सिंहासन से उतार दिया गया और राजबन्दी बनाकर रंगून भेज दिया गया। इस प्रकार मुगल वंश का, जिसकी किसी समय संसार में धाक जमी हुई थी, नाश हुआ।

मुगल साम्राज्य के विनाश के कारण—मुगल साम्राज्य के विनाश के विविध कारण थे। शासन स्वेच्छाचारी था। शासक केवल शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करता था। जनता की भलाई का उसे अधिक ख्याल नहीं था। प्रजा तो उसे विदेशी ही समझती थी। उसके हृदय में बादशाहके लिए राजभक्ति का भाव नहीं था। मुगल उमरा, जिनके बाहुबल पर साम्राज्य निर्भर था, दुर्बल पड़ गये थे। आसफ खाँ, महावत खाँ, सादुल्ला खाँ के पुत्र-पौत्र भोग-विलास में पले थे और कठिन परिस्थिति में उनके हाथ-पाँव फूल जाते थे। बिना मुहूर्त देखे वे कोई काम नहीं करते थे। युद्धकला से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। दो मुख्य कारणों से सेना की शक्ति भी बहुत घट गई थी—औरंगजेब की लम्बी लड़ाइयाँ और बहादुर सिपाहियों की कमी। मुगल सेना के सबसे अच्छे सिपाही मध्य एशिया से आते थे, परन्तु औरंगजेब के शासन-काल के बाद इन देशों से सम्बन्ध पूर्णतः टूट गया था। औरंगजेब के धार्मिक अन्धविश्वास ने दशा और भी बिगाड़ दी। हिन्दू साम्राज्य के शत्रु हो गये। नादिरशाह और अहमदशाह के हमले ने साम्राज्य को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। इसके सिवा मुगलों की आर्थिक संस्थाएँ अच्छी न होने के कारण साम्राज्य का अन्त अवश्यम्भावी हो गया। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक साम्राज्य का दिवाला निकल गया था और कोई भी कह सकता था कि अन्तकाल निकट है।

बर्नियर लिखता है कि राज्य की आर्थिक दशा खराब थी। सरकारी कोष खाली हो गया था। व्यापार तथा खेती अवनत दशा में थे। अशान्ति से व्यापार को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा था। कारीगरों की दुर्दशा करुणाजनक थी। उनका रोजगार बिलकुल चौपट हो गया था। मालगुजारी वसूल नहीं होती थी। राज्य का लाखों रुपया बकाया में पड़ा हुआ था। शाही कोष में द्रव्य की भी कमी थी। दरबार में दलबन्दी के कारण एकता का अभाव था। मुगल अमीर आपस में ही द्वन्द्व-युद्ध करते थे। बादशाह ऐसे योग्य न थे कि साम्राज्य की बिखरी हुई शक्ति को समेटते। यह सब उनकी सामर्थ्य के बाहर था। हिन्दुओं का पुनरुत्थान हो रहा था। वे अपने राज्य स्थापित कर रहे थे। ऐसी स्थिति में मुगल राज्य का जीवित रहना असम्भव सा ही था।

अध्याय १०

मुगलकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति

सामाजिक इतिहास का अभाव—मुगलकालीन इतिहास वास्तव में बादशाहों, उनके युद्धों और विजयों का ही इतिहास है। उसमें जन-साधारण के जीवन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसका एक विशेष कारण है। मुगल काल में व्यक्तित्व की भावना इतनी जागृत तथा प्रबल न थी जितनी आजकल है। उस समय तो व्यक्ति समाज की एक अभिन्न इकाई-मात्र समझा जाता था। उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व न था। समाज की गौरव-गरिमा का अंकन व्यक्ति के आधार पर नहीं, वरन् उसके शासक के आधार पर किया जाता था। यही कारण है कि अबुल फजल के अतिरिक्त किसी भी मध्यकालीन इतिहासकार ने मौलिक विषयों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। उनकी लेखनी राजनैतिक विषयों तक ही सीमित रही। अतः सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के भारत का सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का ज्ञान हमें विशेषतया योरपीय यात्रियों के लेखों से ही होता है।

समाज का आधार सामन्तवाद—मुगलकालीन समाज का आधार सामन्त-वाद था। सम्पूर्ण देश में मनसबदारों अथवा सामन्तों का जाल-सा बिछा हुआ था। एक मनसबदार के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा, इसी प्रकार समस्त राजकीय पद सामन्तों में वितरित हो गए थे। राज्य का सर्वप्रधान बादशाह समझा जाता था। उसके नीचे सामन्त वर्ग था, जो उसके इच्छानुकूल शासन की मशीन चलाता था। प्रत्येक योग्य व्यक्ति किसी न किसी राजकीय पद (Imperial Service) पर पहुँचना चाहता था। शाही नौकरी के अतिरिक्त अन्य नौकरियाँ निम्न स्तर की समझी जाती थीं। शाही दरबार सुख-समृद्धि एवं शिष्टता और सभ्यता का केन्द्र था। उसके बाहर दूरस्थ प्रदेशों में हमें सुख-दुख, आह्लाद-विषाद तथा योग्यता और अयोग्यता से मिश्रित जीवन दिखाई देता है।

मुगल-पदाधिकारी––मुगल-पदाधिकारी साधारणतया अपने अभिभावकों का अनुकरण करते थे तथा उन्हीं के समान आमोद-प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत करते थे। परिणाम यह होता था कि उनका सारा धन भोग-विलास में ही स्वाहा हो जाता था। फिर उन्हें बादशाह सलामत को भी समय समय पर बहुमूल्य उपहार देने पड़ते थे। भोग-विलास के लिए विदेशी सामग्री का भी प्रचुर प्रयोग होता था। इससे विदेशी व्यापार की वृद्धि हुई। उच्च वर्ग के लोग प्रायः शराब के आदी होते थे। औरंगजेब को छोड़कर लगभग सब मुगल बादशाह स्वयं मद्यप थे। बादशाहों के बड़े-बड़े अन्तःपुर होते थे जिनमें सहस्त्रों स्त्रियाँ रहती थीं। स्वयं अकबर के अन्तःपुर में ५००० स्त्रियाँ रहती थीं। बादशाह का अनुकरण करनेवाले राज्य के उच्च पदाधिकारा भी सहस्त्रों की संख्या में स्त्रियाँ एवं नर्तकियाँ रखते थे। इनके ऊपर उनके हजारों रुपये खर्च होते थे। आये-दिन दावतें दी जाती थीं जिनके अपव्यय का उल्लेख योरपीय यात्रियों ने भी किया है। ऐसे ही एक बृहत् भोज में आसफ खां ने सर टामसरो को निमंत्रित किया था। मांस भोजन का एक प्रमुख अंग था। परन्तु गो-मांस प्रायः प्रयुक्त न होता था। अपनी उपयोगिता के कारण गाय आदरणीय एवं रक्षणीय समझी जाती थी। खाद्य पदार्थों में फलों की भी प्रधानता थी। बहुधा यह बुखारा और समरकन्द से मँगाये जाते थे। बर्फ का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में होता था। बादशाह तथा उसके दरबारी बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनते थे। अबुल फजल लिखता है कि प्रतिवर्ष बादशाह सलामत के लिए १००० सूट बनते थे। इनमें से अधिकतर दरबार में आनेवाले व्यक्तियों में वितरित कर दिये जाते थे। यही प्रथा उच्च सामन्तों में भी प्रचलित थी। बादशाह, उसके दरबारी तथा अन्य पदाधिकारी अपने अवकाश का समय विविध मनोविनोदों एवं खेल-कूदों में व्यतीत करते थे। जुआ खेलने की भी प्रथा खूब प्रचलित थी।

मध्य वर्ग––मध्य वर्ग में अधिकतर राज्य-कर्मचारी और व्यापारी सम्मिलित थे। छोटे राज्य कर्मचारियों की आर्थिक अवस्था विशेष अच्छी न थी। परन्तु उच्च राज्य-कर्मचारी एवं व्यापारी अपेक्षाकृत सुखी और सम्पन्न थे। व्यापारी वर्ग प्रायः अपना धन छिपाकर रखता था जिससे वह उसे फौजदार के चंगुलों से बचा सके। पश्चिमी घाट पर बसे हुए व्यापारियों का व्यवसाय बड़ी उन्नत अवस्था में था और उन्हें अन्य व्यापारियों की भांति धनापहरण का भी भय न था।

निम्न वर्ग—निम्न वर्ग के अन्तर्गत नगर के कारीगर, मजदूर तथा गाँव के किसान आदि आते थे। साधारणतया इनका जीवन सन्तोषजनक न था। इनका जीवन बड़े परिश्रम से बीतता था, परन्तु फिर भी इन्हें विशेष सुविधाएँ उपलब्ध न होती थीं। इनके पास वस्त्र का अभाव रहता था। आर्थिक विपन्नता के कारण ऊनी कपड़े और जूते का प्रयोग बहुत कम लोग करते थे। परन्तु इनके पास अन्न का कभी अभाव न रहता था। राज्य किसानों का विशेष ध्यान रखता था। उनसे उपज का एक निश्चित भाग ही लिया जाता था। राज्य-कर्मचारियों को आदेश था कि वे उनके साथ नम्रता का व्यवहार करें। हिन्दुओं में सती और बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। आभूषणों का प्रयोग हिन्दू-मुसलमान दोनों करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जन-साधारण में शराब, अफीम इत्यादि नशीले पदार्थों का निषेध कभी भी दृढ़तापूर्वक न हो सका।

शिक्षा—मुगलकालीन भारत में राज्य की ओर से शिक्षा की कोई व्यवस्थित प्रणाली न थी। शिक्षा का भार विशेषतया जनता के ऊपर ही था। हिन्दू अपनी पाठशालाओं तथा मुसलमान अपने मकतबों में पढ़ते थे। पाठशालाओं में ब्राह्मण पण्डित अपने शिष्यों को साहित्य, व्याकरण ज्योतिष-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र इत्यादि की शिक्षा देते थे। मकतबों और मदरसों का प्रबन्ध मुल्लाओं के हाथ में था। वहाँ की शिक्षा विशेषतया इस्लाम-धर्म से सम्बन्धित थी। कुरान एवं अन्य धार्मिक पुस्तकों का विशेष अध्ययन कराया जाता था। हिन्दुओं में इस प्रकार के धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपालन मठों और मन्दिरो द्वारा होता था। वे समय-समय पर संकीर्तन तथा कथा-वार्त्ता का आयोजन किया करते थे।

त्योहार—हिन्दुओं के मुख्य त्योहार होली, दिवाली, दशहरा और रक्षाबंधन थे। इन अवसरों पर वे अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनते, गाने-बजाने का अयोजन करते तथा परस्पर भोज देते थे। मुसलमान ईद, बकरीद मुहर्रम के त्योहार मनाते थे। इन त्योहारों के अवसर पर वे भी विविध आयोजन करते थे।

विदेशी लेखों के आधार पर मुगलकालीन जीवन—पैलसारेट (Pelsaret) और डी लाट (De Laet) ने जहाँगीर के समय के भारतीय समाज का अच्छा वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि सामन्तों का जीवन बड़ा समृद्ध

था। वे बड़ी शान-शौकत से रहते थे। परन्तु राज्य में कुछ ऐसे भी वर्ग थे, जिनका जीवन गुलामों का-सा था। इनमें मजदूर, नौकर तथा दूकानदार विशेष उल्लेखनीय थे। मजदूरों की आय बहुत ही कम थी। बहुधा इनसे बेगार कराई जाती थी। उन्हें दिन में केवल एक बार भोजन मिलता था। उनके मकान प्रायः कच्चे होते थे। उच्च पदाधिकारियों के नौकरों की भी आय अधिक न थी। परिणाम यह होता था कि वे अन्य अनुचित साधनों से रुपया पैदा करने की चिन्ता करने लगते थे। दस्तूरी माँगना तो एक साधारण बात हो गई थी। दूकानदारों की भी आर्थिक दशा असन्तोषकर थी। उन्हें समय-समय पर बादशाह तथा अन्य उच्च राज्याधिकारियों को बाजार से भी नीचे भाव पर सामान देना पड़ता था। इससे उन्हें काफी हानि हुआ करती थी। देश का अधिकतर व्यापार हिन्दुओं के ही हाथ में था। मुसलमान विशेषतया रंगरेज और जुलाहों का ही व्यवसाय अधिक करते थे।

हिन्दू गंगा को पवित्र मानते थे और विशेष पर्वों पर तो सहस्त्रों की संख्या में स्नान करने जाते थे। उनमें बालविवाह का प्रचलन था। ज्योतिष में हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से विश्वास करते थे। मुसलमान अनेक पीरों और पैगम्बरों की उपासना करते थे। गो-मांस का प्रयोग बहुत कम होता था। कदाचित् ईद के अवसर पर भी गो-वध न होता था। बकरों के माँस से ही काम चलता था। शियाओं और सुन्नियों में उस समय पारस्परिक द्वेष-भाव रहता था और दोनों एक-दूसरे को काफिर कहते थे।

सामाजिक पतन—औरंगजेब के शासन-काल में सामाजिक अवस्था बिगड़ने लगी। चारों ओर पतन के लक्षण दिखाई देने लगे। मुगल पदाधिकारी एवं उच्चवर्गीय सामन्त आचरण-भ्रष्ट हो गये। स्त्री और मदिरा के अनवरत साहचर्य्य ने उनकी नैतिकता का समूल लोप कर दिया था। समाज में साधुओं और फकीरों की पूजा की प्रथा बलवती होती गई थी और उसके साथ ही साथ लोगों में अन्धविश्वास भी बढ़ने लगा था। कभी कभी तो साधना-सिद्धि के हेतु नर-बलि भी दी जाती थी। इसके अतिरिक्त तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि तो साधारणतया प्रयुक्त होते थे। शाही दरबार की दशा और भी ख़राब हो गई थी। वह विलास-प्रिय, प्रपञ्ची एवं चाटुकार व्यक्तियों का अड्डा बन गया था।

दरबारियों में पहले जैसे वीरता, विद्वत्ता, सदाचारिता एवं सत्यवादिता के गुण न रह गये थे। राजदरबारी अपने भोग-विलास के लिए तो पानी की भांति रुपया बहाते थे, परन्तु जन-साधारण के हित के लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करते थे। नैतिकता के पतन के कारण राज्य-कर्मचारी घूसखोर हो गये थे। वे प्रजा के हिताहित का तनिक भी ध्यान न रखते थे; परन्तु नैतिकता की दृष्टि से जन-साधारण का चरित्र इन विलासी दरबारियों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा था। हिन्दुओं के धार्मिक आन्दोलन ने उनकी नैतिकता के स्तर को उच्चतर बना दिया था। भारत में जितने योरोपीय यात्री आये, हिन्दुओं के सदाचार की प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार मुसलमान साधु भी अपने धर्मबन्धुओं को सदैव सदाचारिता का उपदेश दिया करते थे।

व्यापार, व्यवसाय एवं कृषि-कार्य—राज्य वस्तुओं के अधिक से अधिक उत्पादन के लिए विशेष प्रयत्न करता था। उसकी ओर से स्थान-स्थान पर कारखाने खोले गये थे, जहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ बनाई जाती थीं। लाहौर, आगरा, फतहपुर और अहमदाबाद अपने कारखानों के लिए प्रसिद्ध थे। लाहौर में शाल, फतेहपुर सीकरी में दरियां तथा गुजरात और ढाका में सूती कपड़े अच्छे बनते थे। इनके अतिरिक्त चीन इत्यादि विदेशों से भी भारत में बहुत सा सामान आता था। आयात-कर अधिक न होने के कारण विदेशीय व्यापार उन्नतावस्था में था। इसी प्रकार भारतवर्ष से भी नील और ऊन आदि विदेशों को भेजा जाता था। अकबर ने देश के कृषि-कार्य की उन्नति के लिए विशेष प्रयास किया। इस कार्य में उसे राजा टोडरमल से बड़ी सहायता मिली। हमारे देश में तम्बाकू का उत्पादन अकबर के समय से ही प्रारम्भ होता है।

औरंगजेब के शासन-काल में व्यापार, व्यवसाय तथा कृषि की अवनति होने लगी। अनवरत युद्धों के कारण किसान के खेतों को बड़ी हानि पहुँचती थी। चतुर्दिक विद्रोह और अशान्ति के कारण देश की सड़कें अरक्षित हो गईं, अतः सुरक्षा के अभाव में व्यापार को भी धक्का पहुँचा। यह व्यापारिक अवनति दक्षिण भारत में विशेषतया हुई।

मुगलकालीन शिल्प-कला—मुगलों को शिल्प-कला से बड़ा प्रेम था। उन्होंने देश के भिन्न भिन्न भागों में जो इमारतें बनवाईं, उनसे उनकी रुचि का

पता चलता है। फर्गुसन का कथन है कि मुगलों की शिल्प-कला विदेशी है। परन्तु हैवेल का मत इसके विपरीत है। उसका मत है कि मुगल-कला देशीय और विदेशीय शैलियों का उत्तम सम्मिश्रण है। भारतीय कारीगरों ने विदेशीय कला के सिद्धान्तों को इस प्रकार परिवर्तित और संशोधित रूप में अपनाया कि भारतीय कला के साथ मिलकर वे देशीय से प्रतीत होते हैं। परन्तु निष्पक्ष भाव से देखने पर ज्ञान होगा कि वास्तव में अपनी विशालता के कारण भारत ने किसी एक विशेष शैली को ही नहीं अपनाया। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग किया गया। बाबर के समय में भारतीय कला पर विदेशी कला का प्रभाव पड़ा, जो अकबर के समय तक रहा। तत्पश्चात् वह भारतीय कला में इस प्रकार घुल-मिल गया कि अब उसके पृथक् अस्तित्व का पता लगाना कठिन प्रतीत होता है।

बाबर को भारतीय कारीगरों की कृतियों से सन्तोष न हुआ। उसका विचार था कि भारतीय कला निम्नकोटि की है। इसी से उसने भवन-निर्माण के लिए कुस्तुन्तुनियाँ से कारीगर बुलवाये। बाबर ने इमारतें तो कई बनवाई, परन्तु अब उनमें दो ही शेष रही हैं--पानीपत के काबुल बाग की मस्जिद और सम्भल की जामा मस्जिद। हुमायूँ का अधिक समय युद्ध में ही बीता। अतः उसे इमारतें बनवाने का अधिक अवकाश नहीं मिला। पंजाब के हिसार जिले के फतहाबाद नामक स्थान में उसके समय की एक मस्जिद अब भी विद्यमान है। यह फारसी ढंग के आधार पर अलंकृत की गई है। हुमायूँ के उत्तराधिकारी सूर शासकों ने कला की ओर विशेष ध्यान दिया। उनके समय में पंजाब, रोहतास और मंकोत के किले बने। इनके अतिरिक्त शेरशाह के समय की दो इमारतें--दिल्ली के समीप पूरन किला की मस्जिद तथा सहसराम का मकबरा--अपनी सुन्दरता और सुडौलपन के कारण प्रसिद्ध हैं। इन इमारतों में फारसी कला का प्रभाव स्पष्ट है।

अकबर के समय में कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उसकी धार्मिक सहिष्णुता से भारतीय और फारसी कलाएँ समान रूप से समुन्नत हुई। परन्तु उसके समय के भवनों को देखने से ज्ञात होता है कि राज्य में भारतीय कला का अधिक बोलबाला था। अकबर के समय की सर्वप्रथम इमारत हुमायूँ का

मकबरा है जो १५६५ ई० में बनकर पूर्ण हुआ। इसमें फारसी शैली का अधिक आश्रय लिया गया है। अकबर के समय की सबसे महत्त्वपूर्ण इमारतें फतहपुर सीकरी के राजभवन हैं। १५६९ ई० में बादशाह ने सीकरी के निकट एक पहाड़ी पर शेख सलीम चिश्ती की स्मृति में फतेहपुर सीकरी नामक नगर की नींव डाली। १५६९ ई० से १५७१ ई० तक इस नये नगर में अनेक भव्य भवन बनवाये गये। इनमें जामा मस्जिद और बुलन्द दरवाजा प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सुनहला महल, ख्वाबगाह और दीवान-खास भी अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। स्मिथ ने फतेहपुर की इन इमारतों की बड़ी प्रशंसा की है। अकबर की सर्वश्रेष्ठ इमारत सिकन्दरा का मकबरा है। यद्यपि इसका निर्माण अकबर के समय से ही प्रारम्भ हुआ था, परन्तु यह जहाँगीर के समय में पूरा बनकर तैयार हुआ। इसकी शैली बौद्ध विहारों की-सी है। बादशाह का विचार इसके ऊपर एक सुनहला गुम्बद बनवाने का था, परन्तु वह पूरा न हो सका। उसके बिना ही यह इमारत अपनी भव्यता के लिए विदेशों तक प्रसिद्ध है।

जहाँगीर को वास्तुकला से उतना प्रेम न था जितना कि चित्रकला से, फिर भी उसकी स्त्री नूरजहाँ ने कई सुन्दर इमारतें बनवाईं। इनमें इत्मदुद्दौला का मकबरा सर्वप्रथम है। यह मकबरा नूरजहाँ ने अपने पिता की स्मृति में बनवाया था। यह पूर्ण रूप से संगमर्मर का बना हुआ है। इस समय की दूसरी इमारत जहाँगीर का मकबरा है। इसे भी नूरजहाँ ने बनवाया था। यह लाहौर के उत्तर-पश्चिम में तीन मील की दूरी पर रावी नदी के किनारे बना है।

मुगल-काल का सबसे महान् निर्माता शाहजहाँ था। इसके समय की मुख्य इमारतें दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, जामा मस्जिद, मोती मस्जिद और ताजमहल हैं। दिल्ली का राज महल कदाचित् संसार की सर्वश्रेष्ठ इमारतों में है। दीवान-ए-खास अपने बहुमूल्य पत्थरों के अलंकरण के लिए विशेष प्रसिद्ध है। शाहजहाँ तो उसे 'पृथ्वी का स्वर्ग' कहा करता था। इसके विरुद्ध मोती मस्जिद अपनी पवित्रता और सरलता के लिए प्रसिद्ध है। कला की दृष्टि से यह एक उच्च कोटि की कृति है।

शाहजहाँ के समय की सर्वश्रेष्ठ इमारत ताजमहल है। इसे उसने अपनी पत्नी अर्जुमन्द बानू की स्मृति में बनवाया था। बेगम की मृत्यु १६३० ई०

में हुई और उसी के दूसरे वर्ष इसका बनना प्रारम्भ हुआ। इसके निर्माण के लिए फारस, अरब, टर्की तथा अन्य विदेशों से कारीगर बुलाये गये। स्पेन के फादर मानरीक का कथन है कि इसका खाका वेनिस-निवासी जेरोनिमो वेरोनियो ने बनाया था। परन्तु यह मत सन्देहास्पद है। ताजमहल के बनवाने में २२ वर्ष लगे और ३ करोड़ रुपया व्यय हुआ। ताज में पच्चीकरी का काम उच्च कोटि का है। इसके बेलबूटे, फूलों को देखकर कला-मर्मज्ञ आज भी आश्चर्य करते हैं। यह दाम्पत्य-प्रेम एवं सच्चे अनुराग का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है।

शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् शिल्प-कला की अवनति आरम्भ हो गई। कट्टर धर्मानुयायी औरंगजेब ने इसे कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। उसके समय में कुछ इमारतें अवश्य बनीं; परन्तु कला और सुन्दरता की दृष्टि से उनका स्थान गौण है। इन इमारतों में दिल्ली की संगमर्मर की मस्जिमंद, काशी में विश्वनाथ मन्दिर के ध्वंस पर बनी हुई मस्जिद, लाहौर की बादशाही मस्जिद उल्लेखनीय हैं।

बीजापुर और गोलकुण्डा के सुलतान भी बड़े कला-प्रेमी थे। बीजापुर की प्रमुख इमारतें जामा मस्जिद, अली आदिलशाह द्वितीय का मकबरा, गगन महल तथा आसार महल हैं। इनके अतिरिक्त सतमंजिल और मिथारी महल कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। गोलकुण्डा में कुली कुतुबशाह का मकबरा विशेष सुन्दर है।

हिन्दुओं ने भी इस काल में अनेक मन्दिर तथा राजप्रासाद बनाये जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ उल्लेख नहीं हो सकता।

चित्रकला—मुसलमानों के पूर्व हिन्दू-काल में चित्रकला बड़े ऊँचे स्तर पर पहुँच गई थी। परन्तु मुगलों के पूर्व के मुसलमान शासकों ने इसे कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। १४वीं शताब्दी में सुलतान फीरोज तुगलक ने तो अपने राजमहल में चित्रकला पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उसके महल में किसी प्रकार का भी चित्र अंकित नहीं किया जा सकता था। परन्तु मुगलों के समय में चित्रकला का पुनरुत्थान हुआ। बाबर कला-प्रेमी था। उसे प्रकृति के रम्य रूपों को देखकर आन्तरिक आनन्द होता था। हुमायूँ भी अपने पिता की भांति कला में रुचि रखता था। वह फारस से मीर सैयदअली तबरेजी

तथा ख्वाजा अब्दुस्समद नामक दो चित्रकला-मर्मज्ञों को अपने साथ भारतवर्ष लाया था। इन चित्रकारों ने दास्तान-ए-अमीर-हमजा के आधार पर चित्र बनाये। ऐसा कहा जाता है कि स्वयं बादशाह हुमायूँ एवं उसका पुत्र अकबर चित्रकला की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। परन्तु हुमायूँ की अकाल मृत्यु ने उनके कार्य को पूरा न होने दिया।

अकबर ने चित्रकला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। अबुलफजल लिखता है कि प्रति सप्ताह श्रेष्ठ चित्रकारों की कृतियां बादशाह के सम्मुख उपस्थित की जाती थीं। उन्हें देखकर वह चित्रकारों को योग्यतानुसार पारितोषिक देता था। उसकी धार्मिक सहिष्णुता के परिणामस्वरूप हिन्दू और फारसी दोनों कलाओं की विशेष उन्नति हुई। इसी समय से दोनों कलाओं के सम्मिश्रण से एक नवीन भारतीय कला का उद्भव हुआ। अकबर के समय में लगभग १०० चित्रकार अत्यन्त उच्च कोटि के थे, तथा अन्य छोटे चित्रकार तो असंख्य थे। मुख्य चित्रकारों में अब्दुस्समद, मीर सैयदअली, फारुख बेग, बसावन, दसवन्त, साँवलदास, ताराचन्द, जगन्नाथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बसावन पृष्ठभूमि के चित्रण तथा भावव्यंजना में अत्यन्त कुशल था। दसवन्त ने अपनी निपुणता के कारण चित्रकला में उससे भी अधिक ख्याति पाई थी। वह जाति का कहार था। अकबर ने उसकी प्रतिभा को देखकर उसे प्रसिद्ध चित्रकार अब्दुस्समद को सौंप दिया था। उसकी बनाई हुई कृतियों की बड़ी प्रशंसा हुई। परन्तु जब उसकी कला पराकाष्ठा को पहुँची तो उसी समय वह पागल हो गया और उसने आत्म-हत्या कर ली। बादशाह की आज्ञा से इन सफल चित्रकारों ने चंगेजनामा, जफरनामा, रामायण, नलदमन, कालियादमन आदि आख्यानों को चित्र के रूप में अंकित किया।

जहाँगीर सौन्दर्योपासक था। उसके इस वैयक्तिक गुण तथा देश में व्याप्त सुख-शान्ति ने चित्रकला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। बादशाह स्वयं एक उच्च कोटि का चित्रकार था। उसका चित्रकला का अनुभव इतना तीव्र हो गया था कि चित्र को देखकर ही वह चित्रकार का नाम बता सकता था। फारुख बेग, मुहम्मद नादिर और मुहम्मद मुराद इस काल के महान् चित्रकार थे। अब्दुल-हसन का पुत्र आका रजा उस समय के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों में गिना जाता था।

उसे बादशाह ने नादिरउज्जमाँ की उपाधि दी थी। इसी प्रकार उस्ताद मन्सूर भी एक श्रेष्ठ चित्रकार था। इसे नादिर-उल-असर की उपाधि मिली थी। यह चित्रकार पक्षियों के चित्रण में विशेष योग्यता रखता था। जहाँगीर के समय में हिन्दू चित्रकारों को राजदरबार में अधिक प्रोत्साहन न मिलता था। परन्तु फिर भी बिशनदास, केशव, मनोहर, माधव और तुलसी ने चित्रकला में पर्याप्त ख्याति पाई थी। इस काल की चित्रकला का मुख्य विषय प्रकृति-सौन्दर्य था। इस समय तक भारतीय कला ने फारसी कला के ऊपर विजय पा ली थी। अतः प्रायः सभी चित्रकारों ने फारसी कला को छोड़कर भारतीय शैली का ही प्रयोग किया।

जहाँगीर के पश्चात् चित्रकला की अवनति प्रारम्भ हो गई। शाहजहाँ को जितनी रुचि वास्तु-कला से थी उतनी चित्रकला से नहीं। उसके समय में चित्रकारों को राजदरबार द्वारा प्रोत्साहन न मिल सका। अतः उन्होंने अब सामन्तों तथा उच्च-पदाधिकारियों का आश्रय लिया। आसफखाँ ऐसे ही सामन्तों में से था। लाहौर में इसका भवन उत्कृष्ट चित्रों से अलंकृत था। ऐसे सुन्दर ढंग से चित्रित भवन देश में बहुत कम थे। इसी प्रकार दारा भी चित्रकला-प्रेमी था। उसके कुछ चित्र इण्डिया आफिस में संरक्षित हैं। शाहजहाँ के समय के मुख्य चित्रकार मीर हाशिम, अनूप चित्र और चित्रमणि थे।

दिल्ली-साम्राज्य के पतन के पश्चात् लखनऊ और हैदराबाद कला के केन्द्र बन गये और स्थानीय शासकों के आश्रय में नई-नई शैलियों की उत्पत्ति हुई। राजपूत राजाओं ने भी कला का संरक्षण किया। उनकी राजसभाओं के चित्र-कारों ने एक नवीन कला का सृजन किया, जो राजपूत-शैली के नाम से विख्यात है।

संगीत—मुगल बादशाहों ने संगीत को भी प्रोत्साहित किया। वास्तव में प्रत्येक मुगल शाहजादे के लिए संगीत-विद्या का ज्ञान अपेक्षित समझा जाता था। बाबर स्वयं संगीत-प्रेमी था। उसके बनाये हुए गान उसकी मृत्यु के उपरान्त भी बहुत दिनों तक प्रचलित रहे। इसी प्रकार हुमायूँ को भी संगीत से बड़ी रुचि थी। वह प्रति सोमवार और बुधवार को संगीतज्ञों एवं गायकों के सरस गान सुना करता था। जब उसने सन् १५३५ में मांडू-विजय की

और उसके बन्दियों की सार्वजनिक हत्या की आज्ञा दी, तो उसे ज्ञात हुआ कि उन बन्दियों में बच्चू नामक एक संगीतज्ञ भी है। बादशाह ने उसे अपने सम्मुख उपस्थित करने की आज्ञा दी। उसके गानों को सुनकर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसका नाम शाही दरबार के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञों में सम्मिलित कर लिया। मुगल बादशाहों की भांति सूर-शासक भी संगीत-प्रेमी थे। इनमें इस्लाम शाह और आदिल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कहते हैं कि एक बार आदिल ने एक संगीतज्ञ भक्त लड़के पर प्रसन्न होकर उसे १०,००० का मनसब दे दिया। अकबर के समय में संगीत-कला की बड़ी उन्नति हुई। उसके दरबार में हिन्दू, ईरानी, तूरानी, काश्मीरी आदि अनेक जातियों के संगीताचार्य थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध तानसेन था। बादशाह स्वयं संगीतज्ञ था और नक्कारा बड़ा अच्छा बजा लेता था। मुबारक और अबुलफजल को छोड़कर अकबर के प्रायः सभी दरबारी संगीत के आश्रय दाता थे। फैजी के पुस्तकालय में संगीत-विषयक अनेक पुस्तकें थीं।

अब्दुर्रहीम खानखाना कवि और गायक दोनों था। इसी प्रकार राजा भगवानदास और राजा मानसिंह को भी संगीत से विशेष प्रेम था। हिन्दू और मुसलमानों के सहवास और विचारों के आदान-प्रदान से संगीत-कला की बड़ी उन्नति हुई। नये-नये रागों का सृजन हुआ। संस्कृत के अनेक संगीतविषयक ग्रंथों का फारसी भाषा में अनुवाद हुआ।

अपने पिता की भांति जहाँगीर भी संगीत-प्रेमी था। इकबालनामा-ए-जहाँगीरी से ज्ञात होता है कि उसके दरबार में भी अनेक संगीतज्ञों तथा गायकों को आश्रय मिला था। संगीत की यह उन्नति शाहजहाँ के समय में भी जारी रही। बादशाह स्वयं संगीतज्ञ था। उसने अनेक हिन्दी गीतों की रचना की थी। उसे वाद्य एवं गेय दोनों प्रकार के गीतों से रुचि थी। जगन्नाथ और जनार्दन भट्ट उसके समय के प्रसिद्ध गायक थे। बादशाह रात को रोज गाना सुनता था। हिन्दी गीतों से भी उसे प्रेम था। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् संगीत-कला की अवनति हो चली। औरंगजेब नृत्य एवं संगीत को अधार्मिक कृत्य समझता था। यही कारण है कि उसने अपने दरबार से सब संगीतज्ञों को निकाल दिया।

फारसी-साहित्य—मुगलों के सुव्यवस्थित एवं सहिष्णुतापूर्ण शासन में कला और साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। बाबर स्वयं एक साहित्यिक व्यक्ति था। वह अरबी, फारसी और तुर्की का विद्वान् था। वह कविता करता तथा विद्वानों का आदर करता था। उसने तुर्की भाषा में बाबरनामा के नाम से स्वयं अपना जीवन-वृत्तान्त लिखा। उसका पुत्र हुमायुँ भी सुशिक्षित व्यक्ति था। उसके दरबार में अनेक विद्वान्, कवि तथा दार्शनिक थे। उसकी भूगोल और ज्योतिष में भी बड़ी रुचि थी। पढ़ने का उसे इतना शौक था कि अपनी युद्ध-यात्राओं में भी वह अपने साथ पुस्तकें रखता था। तजकिरात-उल-वाकयात का प्रसिद्ध लेखक जौहर भी हुमायूँ का एक नौकर था।

अकबर का शासन कला की भांति साहित्य के लिए भी स्वर्ण-युग था। इस समय अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से मुल्ला दाऊद-रचित तारीख-ए-अल्फी, अबुलफजल-लिखित आईन-ए-अकबरी तथा अकबरनामा, बदाऊनी की मुन्तखब-उत-तवारीख, निजामुद्दीन अहमद की तबकात-ए-अकबरी, फैजी सरहिन्दी का अकबरनामा आदि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है। अबुलफजल इस काल का सबसे बड़ा विद्वान् था। वह एक प्रसिद्ध लेखक, कवि, निबन्धकार, समालोचक एवं इतिहासकार था। उसकी लेखनी बड़ी प्रभावोत्पादक थी। अब्दुल्ला खां उजबेग कहा करता था कि मैं अकबर की तलवार से उतना नहीं डरता जितना कि अबुलफजल की कलम से।

सम्राट् की आज्ञा से अनेक संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। रामायण और महाभारत के अनुवाद का कार्य बदाऊनी को सौंपा गया। इसी प्रकार गणित के ग्रन्थ लीलावती का अनुवाद फैजी ने तथा अथर्ववेद का अनुवाद हाजी इब्राहीम ने किया।

इस समय गद्य और पद्य दोनों में ग्रन्थ लिखे गये। कवियों में सर्वप्रमुख स्थान गिजाली का था। यह फारस देश का रहनेवाला था। परन्तु अपने सूफी धार्मिक विचारों के कारण इसे अपना देश छोड़ भारतवर्ष आना पड़ा। यहाँ अपनी प्रतिभा के कारण शीघ्र ही वह राजदरबार में पहुँच गया। उसके मुख्य ग्रन्थ मीरतुल-केनात, नक्श-ए-बदीद तथा इसरार-ए-मक्तूम हैं।

मुगल-वंश की अनेक शाहजादियाँ भी उच्च कोटि की साहित्यिक थीं और उन्होंने बड़ी सुन्दर रचनाएँ कीं। बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम ने हुमायूँनामा लिखा। माहमअनगा, नूरजहाँ, मुमताजमहल तथा जहाँनारा भी साहित्य में विशेष रूप से रुचि रखती थीं। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा एक प्रतिभाशालिनी कवयित्री थी। इसने दीवान-ए-मख्फी की रचना की।

देशी भाषाएँ—पिछले एक अध्याय में कबीर के समय तक का हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास दिया जा चुका है। वास्तव में कबीर की रचनाएँ हिन्दी-साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन हैं। उनके दोहों और साखियों का हिन्दी में विशिष्ट स्थान है। मुगल-काल में सर्वप्रथम उच्च कोटि के कवि मलिक मुहम्मद जायसी हुए। इन्होंने शेरशाह के समय में पद्मावत् की रचना की। इस महाकाव्य में चित्तौड़ की रानी पद्मिनी की कहानी है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है।

अकबर का शासन-काल हिन्दी-साहित्य के लिए भी स्वर्ण-युग सिद्ध हुआ। इस समय ब्रज और अवधी दोनों की समान रूप से उन्नति हुई। अनवरत प्रयोग से ब्रजभाषा का माधुर्य और भी बढ़ गया। अब्दुर्रहीम ने अपने दोहे इसी भाषा में लिखे। यह एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। इसकी लिखी रहीम-सतसई का हिन्दी-साहित्य में आदरणीय स्थान है। अब्दुर्रहीम के अतिरिक्त राजदरबारियों में टोडरमल, भगवानदास और मानसिंह ने भी हिन्दी में रचनाएँ कीं।

इस समय की अधिकांश कविता का रूप धार्मिक था। कृष्ण और राम के जीवन-चरित्र ही कविता के मुख्य विषय थे। कृष्णमार्गी कवियों की परंपरा विशेषतया वल्लभाचार्य से प्रारम्भ होती है। इन्होंने आठ कवियों की अष्टछाप की स्थापना की। इनमें सूरसागर के रचयिता सूरदास अग्रगण्य थे। इस महाकवि ने श्रीकृष्ण और राधा के जीवन-चरित्र के विषय में जिन सरस एवं मार्मिक पदों की रचना की है, वह अपनी मधुरता तथा हृदयहारिता के लिए हिन्दी-साहित्य की अनुपम कृति है। ब्रजभाषा सूरदास के हाथों में पड़कर परम सरस एवं मधुर हो गई। सूरदास की काव्य-प्रतिभा निम्नलिखित दोहे से भली भांति प्रकट हो जाती है :—

गिजाली के बाद कवियों में दूसरा स्थान फैजी का था। वह अरबी साहित्य, काव्य-कला तथा चिकित्सा-शास्त्र का पण्डित था। इसके लिखे ग्रन्थों में मसनवी-नल-ओ-दमन, मरकज-ए-अदवर, मबारिदुल-कलाम और सवाती-उल-अलहाम उल्लेखनीय है। अन्य कवियों में गजलों का रचयिता मुहम्मद हुसेन नजीरी और कसीदों का लेखक सैयद जमालुद्दीन उर्फी विशेष प्रसिद्ध थे।

जहांगीर यद्यपि अपने पिता की भांति विद्याप्रेमी न था, तथापि पर्याप्त रूप से सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत था। उसने मौलाना मीर कलाँ मुहद्दिस और मिर्जा अब्दुर्रहीम के निरीक्षण में शिक्षा पाई थी। उसे फारसी का अच्छा ज्ञान था तथा तुर्की भी भली भांति समझ लेता था। उसकी आत्मकथा की लेखन-शैली बड़ी सरल और मधुर है। वह विद्वानों का आदर करता था। उसके दरबार में मिर्जा गयास बेग, नकीब खां, मुतमाद खां, नियामतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी आदि विद्वान् रहते थे।

शाहजहाँ के समय में भी विद्या और विद्वानों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलता रहा। उसके शासन-काल में अब्दुल हमीद लाहौरी ने बादशाहनामा और अमीन कजवीनी ने एक दूसरा बादशाहनामा और इनायत खां ने शाहजहाँनामा, मुहम्मद सालह ने अमल सालह ग्रन्थों की रचना की। बादशाह का पुत्र दारा स्वयं एक उच्च कोटि का विद्वान् एवं सूफी दार्शनिक था। उसने भगवद्गीता, उपनिषद् और योगवाशिष्ठ का फारसी में अनुवाद कराया। उसने स्वयं अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनमें मजमुआ-उल-बहरीन, सफीनत-उल-औलिया और सकीनत-उल-औलिया प्रमुख हैं।

औरंगजेब भी उच्च कोटि का विद्वान् था। उसके आदेशानुसार फतवा-ए-आलमगीरी की रचना हुई। परन्तु वह कविता से घृणा करता था। अपने शासन का इतिहास लिखने का भी उसने निषेध कर रक्खा था। ख्वाफीखां ने मुन्तखब-उल-लुबाब नाम से उसके शासन-काल का जो विस्तृत इतिहास लिखा है, वह वास्तव में गुप्त रीति से छिपकर लिखा गया था। इस समय के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ आलमगीरनामा, मासिर-ए-आलमगीरी तथा खुलासत-उत-तवारीख है। अन्तिम ग्रन्थ एक हिन्दू का लिखा हुआ है।

मुगल-वंश की अनेक शाहजादियाँ भी उच्च कोटि की साहित्यिक थीं और उन्होंने बड़ी सुन्दर रचनाएँ कीं। बाबर की पुत्री गुलबदन वेगम ने हुमायूँनामा लिखा। माहमअनगा, नूरजहाँ, मुमताजमहल तथा जहाँनारा भी साहित्य में विशेष रूप से रुचि रखती थी। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा एक प्रतिभाशालिनी कवयित्री थी। इसने दीवान-ए-मख्फी की रचना की।

देशी भाषाएँ—पिछले एक अध्याय में कबीर के समय तक का हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास दिया जा चुका है। वास्तव में कबीर की रचनाएँ हिन्दी-साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन हैं। उनके दोहों और साखियों का हिन्दी में विशिष्ट स्थान है। मुगल-काल में सर्वप्रथम उच्च कोटि के कवि मलिक मुहम्मद जायसी हुए। इन्होंने शेरशाह के समय में पद्मावत् की रचना की। इस महाकाव्य में चित्तौड़ की रानी पद्मिनी की कहानी है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है।

अकबर का शासन-काल हिन्दी-साहित्य के लिए भी स्वर्ण-युग सिद्ध हुआ। इस समय व्रज और अवधी दोनों की समान रूप से उन्नति हुई। अनवरत प्रयोग से व्रजभाषा का माधुर्य और भी बढ़ गया। अब्दुर्रहीम ने अपने दोहे इसी भाषा में लिखे। यह एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। इसकी लिखी रहीम-सतसई का हिन्दी-साहित्य में आदरणीय स्थान है। अब्दुर्रहीम के अतिरिक्त राजदरबारियों में टोडरमल, भगवानदास और मानसिंह ने भी हिन्दी में रचनाएँ कीं।

इस समय की अधिकांश कविता का रूप धार्मिक था। कृष्ण और राम के जीवन-चरित्र ही कविता के मुख्य विषय थे। कृष्णमार्गी कवियों की परंपरा विशेषतया वल्लभाचार्य से प्रारम्भ होती है। इन्होंने आठ कवियों की अष्टछाप की स्थापना की। इनमें सूरसागर के रचयिता सूरदास अग्रगण्य थे। इस महाकवि ने श्रीकृष्ण और राधा के जीवन-चरित्र के विषय में जिन सरस एवं मार्मिक पदों की रचना की है, वह अपनी मधुरता तथा हृदयहारिता के लिए हिन्दी-साहित्य की अनुपम कृति है। व्रजभाषा सूरदास के हाथों में पड़कर परम सरस एवं मधुर हो गई। सूरदास की काव्य-प्रतिभा निम्नलिखित दोहे से भली भांति **प्रकट हो जाती है :—**

सूर सूर तुलसी शशी, उडगन केशवदास;
अब के कवि खद्योत-सम, जहँ तहँ करत प्रकास।

अन्य कृष्णमार्गी कवियों में पंचाध्यायी के रचयिता नन्ददास, 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के लेखक श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ, परमानन्ददास एवं कुम्भनदास विशेष प्रसिद्ध हैं। हिन्दी का प्रसिद्ध कवि रसखान विट्ठलनाथ का शिष्य था। इस कृष्ण-भक्त मुसलमान कवि ने अत्यन्त सरस छन्दों की रचना की।

राम-मार्गी कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि तुलसीदास थे। इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना रामचरितमानस के कारण इनका नाम सदैव के लिए अमर हो गया है। कदाचित् ही कोई ऐसा हिन्दू घर हो जिसने इनका नाम न सुना हो। ये अकबर के शासन-काल में हुए थे। अपनी अन्य सुन्दर रचनाओं––विनय-पत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली आदि के द्वारा इन्होंने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भर दिया। अपनी रचनाओं में इन्होंने जिन मानवी आदर्शों––पितृ-भक्ति, मातृ-प्रेम, पातिव्रत, प्रजा-प्रेम आदि––का प्रतिपादन किया है, वे प्रत्येक समय में प्रत्येक समाज के लिए श्रेयस्कर सिद्ध होंगे। इस धारा के अन्य श्रेष्ठ कवि केशवदास हुए जिन्होंने रामचन्द्रिका, रसिक-प्रिया तथा अलंकार-मंजरी नामक ग्रन्थ लिखे। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय के मुख्य कवि सुन्दर, सेनापति, भूषण, देव और बिहारी हुए। सुन्दर ग्वालियर-निवासी एक ब्राह्मण थे। शाहजहाँ ने इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर इन्हें महाकविराय की उपाधि दी थी। इन्होंने १६३१ ई० में सुन्दर-श्रृंगार की रचना की और सिंहासन-पच्चीसी का ब्रजभाषा में अनुवाद किया। सेनापति कृष्ण के पुजारी थे। इनकी मुख्य रचना कवित्त-रत्नाकर है।

भूषण हिन्दू कवि थे और हिन्दुओं का गौरव ही उनकी कविता का विषय था। इनकी मुख्य रचनाएँ शिवाबावनी, छत्रसालशतक और शिवराजभूषण हैं। बिहारीलाल चौबे के संरक्षक मिर्जा राजा जयसिंह थे। इनकी सबसे ख्याति-प्राप्त रचना बिहारी सतसई है जिसमें सात सौ दोहे हैं। ये कविताएँ अधिकतर राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन करती हैं। इनका सौन्दर्य बड़ा हृदयग्राही है। देव कवि इटावानिवासी थे। मिश्रबन्धुओं ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। उनका कथन

ह कि सूर सूर्य हैं, तुलसी चन्द्रमा, परन्तु देव तो सम्पूर्ण आकाश हैं। औरंगजेब के बाद हिन्दी कविता की अवनति आरम्भ हो गई।

मुगलकाल में उर्दू कविता का अधिक विकास नहीं हुआ। इस भाषा का प्रचार दक्षिण से प्रारम्भ हुआ। बीजापुर और गोलकुण्डा के बादशाहों ने इस भाषा को बड़ा प्रोत्साहन दिया। औरंगाबादी वली का जन्म १६६८ में हुआ था। इन्होंने गजल, मसनवी और रुबाइयात लिखीं। वली दिल्ली आया और उसके दीवान से लोग बहुत प्रभावित हुए। हातिम खाँ, अर्जू, अब्रू और मजहर ने उसी की शैली की नकल की, इसलिए उसे उर्दू कविता का पिता कहा जाता है।

धार्मिक धाराएँ—पन्द्रहवीं शताब्दी के समान सोलहवीं शताब्दी में भी वैष्णव धर्म का आन्दोलन उत्तरी भारत में बड़े जोर पर था। कृष्ण-भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य थे। इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी इनके पुत्र विट्ठलनाथ थे जिनके शिष्यों को अष्टछाप कहते है। सूरदास इनमें मुख्य थे। इन लोगों ने कृष्ण की भक्ति की शिक्षा दी। १५८५ में हरिवंश ने राधावल्लभी सम्प्रदाय की नींव डाली। इनका मुख्य मन्दिर वृन्दावन में है। ये राधा की पूजा करते हैं और उन्हीं की सहायता से कृष्ण की कृपा प्राप्त करना चाहते हैं।

राम-भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन तुलसीदास ने किया। ये राम अवतार में विश्वास करते थे और उन्हीं की भक्ति की शिक्षा देते थे। ये जाति-पाँति के पक्ष में थे, स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध थे और ब्राह्मणों को समाज में सबसे उच्च स्थान देना चाहते थे।

अन्य सुधारकों ने कट्टर हिन्दूवाद के विरुद्ध आवाज उठाई। इन पर मुसलमानों का प्रभाव पड़ा था। दादूदयाल ने मूर्तिपूजा की कड़े शब्दों में आलोचना की, जाति-पाँति का विरोध किया और ईश्वर की भक्ति पर जोर दिया है। लालदासियों ने रामनाम को भगवद्भक्ति के लिए अनिवार्य समझा। सिद्ध तथा धर्मदासियों ने ईश्वर के नाम की महत्ता पर जोर दिया और भक्ति के लिए पवित्र जीवन अनिवार्य समझा।

बंगाल में चैतन्य के शिष्यों ने उस महापुरुष के कार्य को जारी रक्खा। उनके लिए भक्ति सब कुछ थी। बिना ज्ञानवाला मनुष्य भी भक्ति से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

दक्षिण भारत में भी एक नवीन धार्मिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। एकनाथ इसके प्रवर्त्तकों में से एक थे। इन्होंने भक्ति पर जोर दिया जिसके माध्यम से स्त्रियाँ और शूद्र तक मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। महाराष्ट्र के सबसे श्रेष्ठ भक्त तुकाराम का जन्म सन् १६०० में हुआ था। ईश्वर के प्रति उनका प्रेम अपार था, और यही उनके लिए धर्म का आधार था। पवित्र हृदय से भगवान् की पूजा करना और मनुष्य-जाति की सेवा करना ही ईश्वर तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग है। तुकाराम के अभंग, जिनमें निहित तीव्र भक्ति भावों को परिष्कृत करती है और आत्मा को ऊँचा उठाती है, अब भी महाराष्ट्र में गाये जाते हैं और लाखों दुखी आत्माओं को शान्ति प्रदान करते हैं।

दक्षिण भारत के एक और भक्त रामदास थे। वे वेदान्ती और वैष्णव थे। उनका कथन था कि मुक्ति राम की भक्ति ही से मिल सकती है। पवित्र विचार तथा कर्म, सत्य, क्षमा, दया तथा दान करने ही से मनुष्य स्वर्गीय आनन्द प्राप्त कर सकता है। रामदास स्वामी शिवाजी के गुरु थे। उन्होंने मराठा राज्य स्थापित करने में शिवाजी की सहायता की थी। महाराष्ट्र में वे समर्थ रामदास के नाम से प्रसिद्ध थे।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भक्ति का स्रोत बराबर जारी रहा। जिन महान् व्यक्तियों का हम उल्लेख कर चुके हैं, उनके उपदेश का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं का आचार श्रेष्ठ था। उनके विचार पवित्र थे। जीवन शान्ति एवं सुखमय था। इस कथन की पुष्टि योरोपीय यात्रियों ने जो भारत में आये, की है। ब्राह्मण धर्म का बोलबाला था। मुसलमानों की राजकीय शक्ति उसका दमन न कर सकी। जाति-पांति की व्यवस्था प्रचलित रही। हिन्दुओं में अनेक भक्त हुए जिन्होंने अपने धर्म की कीर्ति को प्रज्वलित किया। काशी प्रयाग, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, बद्रिकाश्रम अब भी बड़े तीर्थ गिने जाते थे। अनेक कष्ट सहकर मनुष्य यात्रा को जाते थे और धार्मिक उत्सवों में भाग लेते थे।

अध्याय ११

भारतवर्ष में योरपीय उपनिवेश

पुर्तगाली—प्राचीन काल से ही योरपीय देशों के साथ भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। भारतीय कारीगर अपने हस्त-कौशल के लिए दूर-दूर देशों तक विख्यात थे। उनकी बनाई हुई वस्तुएँ प्रतिवर्ष प्रचुर संख्या में दूरस्थ प्रदेशों में भेजी जाती थीं। इस क्रय-विक्रय से भारतवर्ष को बड़ा लाभ था। प्रति-वर्ष विदेशों से लाखों रुपये की सम्पत्ति इस देश में आया करती थी। यह व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। पश्चिम में रोम, वेनिस और जेनोवा मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे। इनके साथ भारतवर्ष का व्यापार बहुत दिनों तक प्रचुर मात्रा में चलता रहा। परन्तु जब १४५३ ई० में मुसलमानों ने कुस्तुन्तु-निया पर अधिकार कर लिया, तो योरपीय देशों के लिए भारतवर्ष का व्यापारिक मार्ग बन्द हो गया। इस प्रकार अपने समुन्नत व्यापार को रुकते देख उन्हें विशेष चिन्ता हुई, और उन्होंने भारतवर्ष के लिए किसी अन्य व्यापारिक मार्ग को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस दिशा में पुर्तगाली विशेष कृतकार्य रहे। पुर्तगाली राजकुमार हेनरी (Prince Henry the Navigator) ने अथक परिश्रम और विपत्तियों के पश्चात् जेरूसलम का पता लगाया। तत्पश्चात् बार्थालोम्यू डिआज (Bartholomew Diaz) ने गुडहोप अन्तरीप का अन्वेषण किया। लगभग उसी समय कारीलियन नामक एक अन्य पुर्तगाली गोआ और कालीकट पहुँचा। इस प्रकार पुर्तगालियों ने भारतवर्ष के लिए नवीन समुद्री-मार्ग खोज निकालने के लिए अपने प्रयत्न जारी रक्खे। अन्त में वास्कोडिगामा को इस कार्य में पूर्ण सफलता मिली। यह पुर्तगाली सन् १४९७ में तीन जहाज और १६० मनुष्यों को लेकर पूर्वी मार्ग की खोज में लिस्बन से निकला। लम्बी और दीर्घकालीन यात्रा के पश्चात् वह सन् १४९८ में गुडहोप अन्तरीप का चक्कर लगाते हुए कालीकट पहुँचा और उसने वहाँ के राजा जमोरिन से व्यापार करने

की आज्ञा माँगी। इस समय कालीकट भारतवर्ष के पश्चिमी समुद्र-तट पर एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ का तत्कालीन व्यापार प्रायः अरब-निवासियों के हाथ में था। अतः पुर्तगाली व्यापारियों को आते देख उन्होंने उनके मार्ग में नाना प्रकार की रुकावटें खड़ी करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु पुर्तगालियों की संलग्नता और कार्य-निपुणता के सामने उनकी एक न चली। धीरे धीरे अरब-निवासियों के हाथ से निकलकर सारा व्यापार पुर्तगालियों के हाथ में आ गया और नवागन्तुकों के अनेक उपनिवेश और व्यापारिक केन्द्र भारतीय समुद्र-तट पर स्थापित हो गए। भारतीय व्यापार के संरक्षण तथा भारतीय समुद्र-तट पर स्थित पुर्तगाली उपनिवेशों और कोठियों के सुप्रबन्ध और सुशासन के लिए पुर्तगाली गृह-सरकार ने भारतवर्ष में अपने गवर्नर नियुक्त करना प्रारम्भ किया। इनमें प्रथम उल्लेखनीय गवर्नर अलमिडा (Almeide) था जिसकी नियुक्ति सन् १५०५ में हुई थी। उसने पुर्तगालियों की संरक्षा के लिए अनेक दुर्ग बनवाये।

एलबुकर्क (Albuquerque) (१५०९-१५ ई०)—अलमिडा १५०९ ई० में वापस चला गया। उसके पश्चात् एलबुकर्क गवर्नर होकर आया। वह एक कुशल सैनिक और निपुण शासक था। उसकी देश-भक्ति सराहनीय थी। अपने ५-६ वर्ष के शासन-काल में उसने नितान्त निस्स्वार्थ भाव से स्वदेश की सेवा की। उसके समय में पुर्तगाली शक्ति भारतवर्ष में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। वह पहला पुर्तगाली गवर्नर था जिसने विशेष और स्पष्ट सिद्धान्तों और उद्देश्यों के आधार पर अपनी भारतीय नीति निर्धारित की। उसकी शासन-नीति के दो मुख्य उद्देश्य थे—प्रथम, भारत-भूमि पर पुर्तगाली शक्ति को सुदृढ़ करना और द्वितीय, भारतीय व्यापार पर पुर्तगाली एकाधिकार स्थापित करना। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उसने प्रशंसनीय प्रयत्न किये और इस दिशा में उसे प्रर्याप्त सफलता भी मिली। उसने १५१० ई० में गोआ पर अधिकार कर लिया और एक वर्ष पश्चात् ओर्मुज को भी जीत लिया। इस प्रकार फारस की खाड़ी का समुद्री मार्ग पुर्तगालियों के प्रभुत्व में आ गया। एलबुकर्क ने अदन के बन्दरगाह पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया और कुछ काल पश्चात् सकोत्रा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार निस्स्वार्थ कार्य-संलग्नता और अथक अध्यवसाय के परिणाम स्वरूप पूर्व और पश्चिम के अनेक व्यापारिक केन्द्रों पर पुर्तगालियों का अधिकार हो गया। लंका

में मनार (Manar), कोलम्बो (Colombo) और गाल (Galle), पूर्व में अम्बोयना (Amboyna) और अफ्रिका में सोफाला (Sofala) और मोजम्बीक (Mozambique) उनके मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे। धीरे-धीरे भारतवर्ष में भी उनके पैर जम गये और शीघ्र ही उनके पास एक जहाजी बेड़ा हो गया।

एलबुकर्क केवल विजय में ही विश्वास नही करता था, वरन् वह यहाँ अपने उपनिवेश भी स्थापित करना चाहता था। उसने स्वदेशीय और भारतीय व्यक्तियों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने पर भी जोर दिया। उसने भारतवर्ष में ईसाई धर्म के प्रसार का भी प्रयत्न किया। परन्तु इस दिशा में उसने असहिष्णुता से काम लिया। कट्टर ईसाई होने के कारण उसने विर्धामियों के साथ बहुधा कठोरता का व्यवहार किया। बहुधा उन्हें बलात् धर्म-परिवर्तन के लिए भी विवश किया। मुस्लिम जनता के साथ उसका व्यवहार और भी अधिक कठोर था। इस असहिष्णुता और कठोरता का परिणाम अन्ततोगत्वा अच्छा न हुआ। भारतीय जनता पुर्तगालियों से विमुख हो गई और इस प्रकार उनकी शक्ति का ह्रास होने लगा।

पुर्तगालियों की विफलता के कारण—एलबुकर्क के पश्चात् कोई भी ऐसा पुर्तगाली गवर्नर न हुआ, जो योग्यतापूर्वक किसी दृढ़ नीति का अनुसरण कर सकता। उसके सब उत्तराधिकारी अयोग्य और निर्बल सिद्ध हुए जिनकी कुव्यवस्था के परिणामस्वरूप पुर्तगाली साम्राज्य और व्यापार दोनों का ह्रास होने लगा। पुर्तगाली व्यापार प्रायः राजकर्मचारियों के हाथ ही में था, जो बहुधा धन-लोलुप और स्वार्थी होते थे। अपने निजी स्वार्थों और हितों के संरक्षण में वे स्वदेश और स्वराष्ट्र के हिताहित का ध्यान कम रखते थे। परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए राष्ट्रीय स्वार्थों की हत्या होने लगी और सारा व्यापारिक संगठन राष्ट्रीयता की उच्च भावना से हीन होकर शनैः शनैः क्षीण होने लगा। पुर्तगालियों की धार्मिक असहिष्णुता ने उनके विरुद्ध एक प्रबल जनमत खड़ा कर दिया। भारतीय जनता उनकी बलात् धर्म-परिवर्तन-नीति का तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवाह-पद्धति का घोर विरोध कर रही थी। पुर्तगाली मुसलमानों के प्रति विशेष रूप से असहिष्णु थे। अतः वे भी उनके कट्टर विरोधी हो गये। भारतीय लोकमत के सहयोग से वंचित

मिली। उसने अँगरेजों से पूर्वी द्वीप-समूह का अधिकांश भाग छीन लिया। सन् १६२१-२२ में अँगरेजों को लैण्टोर और पूलोरन से भी हाथ धोना पड़ा। सन् १६२३ में अम्बोयना का भीषण हत्याकाण्ड हुआ जिसमें बहुसंख्यक अँगरेज डच लोगों के हाथ मारे गये। इस हत्याकाण्ड की सूचना पाकर अँगरेज जनता क्षुब्ध हो उठी, परन्तु स्टुअर्ट शासकों की निर्बल नीति के कारण कुछ भी न हो सका। अन्त में जब क्राम-वेल के हाथ में शासनाधिकार आया तो उसने कड़ी कार्यवाही करने का निश्चय किया। डचों को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा जिसके अनुसार उन्होंने पूलोरन अँगरेजों को वापस देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ८५,००० पौंड अँगरेजों को दण्ड के रूप में दिये। अम्बोयना में मारे गये अँगरेजों के उत्तराधिका-रियों एवं संरक्षितों को भी क्षति-पूर्ति के रूप में काफी धन दिया गया। परन्तु यह सन्धि स्थायी सिद्ध न हो सकी। पारस्परिक द्वेष के कारण आये दिन दोनों कम्प-नियों में युद्ध होते रहे। डच कम्पनी अँगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुकाबला न कर सकी और धीरे-धीरे उसकी शक्ति नष्ट हो गई।

डच कंपनी की विफलता के कारण—पुर्तगाली कम्पनी के समान डच कम्पनी का भी व्यापार प्रायः राजकर्मचारियों के ही हाथ में था। कालान्तर में ये राजकर्मचारी स्वार्थी हो गये। इन्होंने कम्पनी के हिताहित के विचार से पराङमुख होकर स्वार्थ-सिद्धि की ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया। इस स्वार्थपरता के कारण वे कम्पनी के कार्यों के प्रति उदासीन हो गये जिसके परिणामस्वरूप उसका संगठन धीरे-धीरे क्षीण होने लगा।

पुनः योरप में हालैण्ड की इँगलैंड और फ्रांस से प्रायः शत्रुता रहती थी। अत इन देशों से आये दिन उसे जो अनेक युद्ध करने पड़े, उनसे उसकी आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई और वह डच कम्पनी को विशेष आर्थिक सहायता न दे सका। वास्तव में डच और फ्रांसीसियों की पारस्परिक शत्रुता ने उन दोनों को नितान्त अशक्त कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि अँगरेज कम्पनी का मार्ग अपेक्षाकृत सुगम हो गया। उसने दोनों कम्पनियों की निर्बलता से लाभ उठाकर भारतवर्ष में अपने पैर जमा लिये और कालान्तर में उसे व्यापारिक तथा राजनैतिक एकाधिकार प्राप्त हो सके।

अँगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी—पुर्तगालियों और स्पेन-निवासियों के समृद्ध

सन् १७०७ में भारत
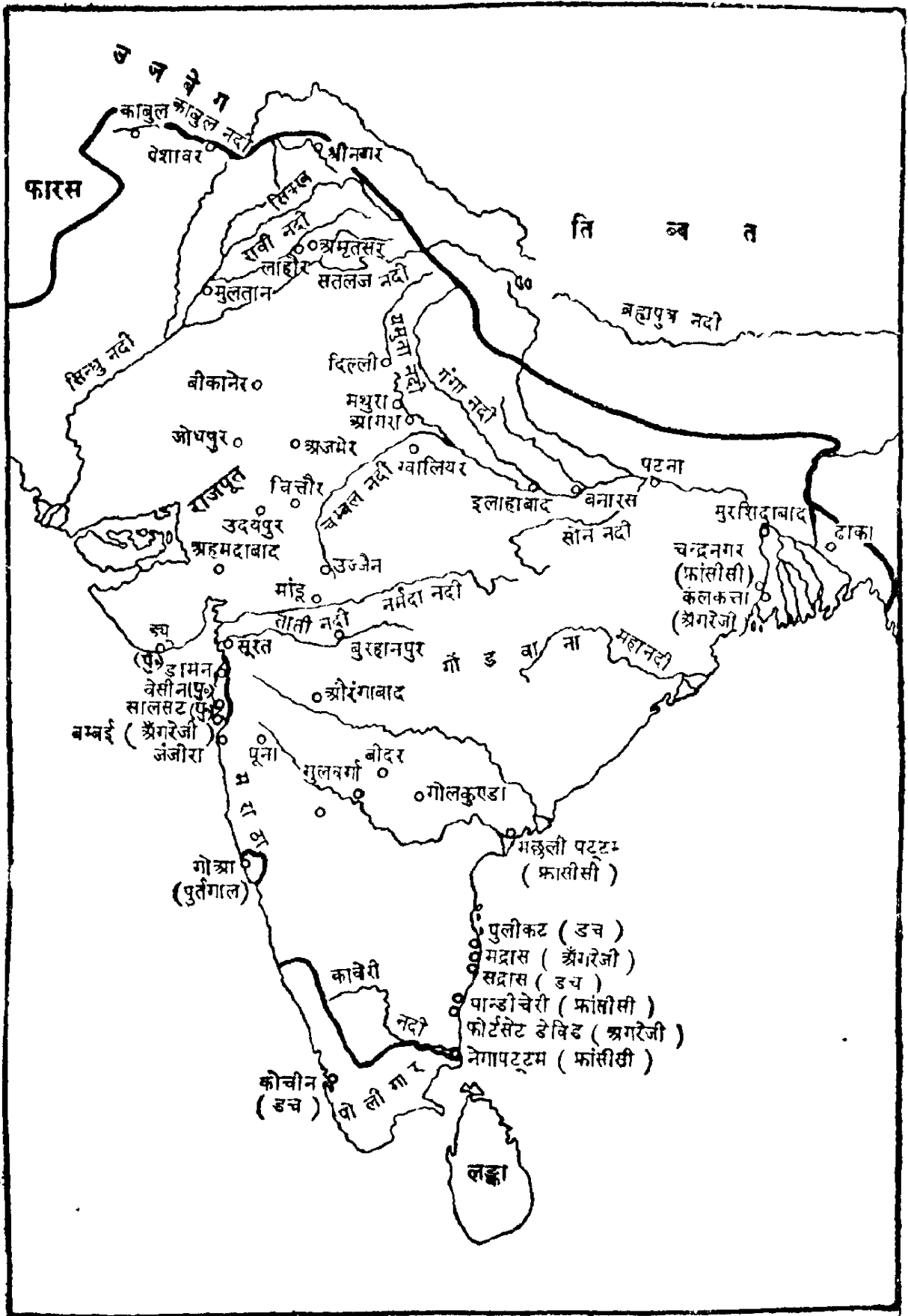
और उन्नत व्यापार को देखकर अँगरेजों को भी सुदूर प्रदेशों से व्यापार करने की उत्कण्ठा हुई। पूर्वी देशों से धन-धान्य की प्रचुरता की कहानियाँ सारे योरप में प्रचलित थीं। इन्होंने अँगरेज व्यापारियों को और भी अधिक लालायित कर रक्खा था। समय-समय पर जो अँगरेज भारतवर्ष में आये, उन्होंने यहाँ की सुख-समृद्धि का हाल स्वयं अपनी आँखों से देखा। इनके जो लेख और संस्मरण इँगलैंड में प्रकाशित हुए, उन्होंने व्यापारी-वर्ग की उत्कण्ठा को तीव्रतर कर दिया। परन्तु स्पेन-निवासियों की व्यापारिक प्रभुता अँगरेजों के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा थी। सन् १५८८ के पश्चात् स्थिति बदल गई। उसी वर्ष स्पेन के अरमडा (Armada) की पराजय ने उसकी व्यापारिक प्रभुता को बड़ा धक्का पहुँचाया। इसके विपरीत अंगरेजों की सामुद्रिक शक्ति का सारे महाद्वीप में सिक्का जम गया। इस परिवर्तन ने उसके व्यापार-विस्तार को भी प्रोत्साहन दिया। सन् १६०० में कुछ अँगरेज व्यापारियों ने महारानी एलिजाबेथ से आज्ञा प्राप्त कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना ब्रिटिश-साम्राज्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उस समय किसी ने स्वप्न में भी यह कल्पना न की थी कि यह कम्पनी एक दिन पूर्व में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर सकेगी। वास्तव में प्रारम्भ से ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति पुर्तगाली और डच कम्पनियों की स्थिति से अधिक आशाप्रद थी। इसका एक विशेष कारण था। पुर्तगाली और डच कम्पनियाँ सरकारी सहायता पर अवलम्बित थीं। जब तक सरकारी सहायता पर्याप्त मात्रा में मिलती रही तब तक तो वे चलती रहीं। परन्तु ज्यों ही वह बन्द या कम हो गई, त्यों ही इन कम्पनियों की अवनति होने लगी। इसके विपरीत ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आधार सरकारी न होकर वैयक्तिक था। कुछ व्यक्ति-विशेष अँगरेज व्यापारियों ने इसकी स्थापना की थी। अतः इसे व्यापारी-वर्ग का सक्रिय योग प्राप्त था। यह केवल सरकारी सहायता पर निर्भर न थी। गैर-सरकारी संस्था होने के कारण इसके सदस्य जी तोड़कर इसकी उन्नति का प्रयत्न करते थे। व्यक्तिगत लाभालाभ का विचार प्रायः व्यक्तियों को अधिक श्रम और अध्यवसाय की ओर प्रेरित करता है। यह सुविधा सरकारी संस्थाओं को कम प्राप्त होती है।

अस्तु, कम्पनी की स्थापना होने के साथ ही साथ इसका कार्य भी असीम उत्साह के साथ चल पड़ा। जेम्स लैंकास्टर (James Lancaster) ने सुमात्रा में बन्टम (Bantam) नामक नगर में एक फैक्टरी खोली। जान मिल्डेनहाल (Milden hall) नामक दूसरा व्यक्ति अकबर के दरबार में आया और उसने अँगरेज व्यापारियों के लिए कुछ सुविधाएँ माँगी। सन् १६०८ में एक अन्य व्यक्ति विलियम हाकिंस जहाँगीर के दरबार में पहुँचा और शीघ्र ही बादशाह का कृपा-पात्र बन गया। उसने बादशाह से सूरत में एक अँगरेजी कम्पनी खोलने की आज्ञा प्राप्त कर ली। परन्तु पुर्तगाली प्रतिद्वन्द्वी व्यापारियों के षड्यन्त्र के परिणाम-स्वरूप वह आज्ञा-पत्र शीघ्र ही रद्द कर दिया गया। यद्यपि हाकिंस (Hawkins) को अधिक सफलता न मिल सकी, परन्तु उसके अनुभवों से अँगरेजों को भारतीय स्थिति का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया।

इस समय सूरत में अँगरेजों की स्थिति बड़ी असन्तोषपूर्ण थी। पुर्तगाली और डच कम्पनियाँ उन्हें भारतवर्ष से निकाल बाहर करने पर तुली हुई थी। उनके षड्यन्त्रों के फल-स्वरूप मुगल दरबार में भी अँगरेजों के विरुद्ध विचार-धारा बह रही थी। इस संकटपूर्ण स्थिति में राज-योग की आवश्यकता थी। अतः अँगरेज शासक जेम्स प्रथम ने सन् १६१५ में अपना एक राजदूत सर टामस रो (Sir Thomas Roe) मुगल दरबार में भेजा। इस मिशन का उद्देश्य मुगल बादशाह से अँगरेजों के लिए व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त करना तथा भारतीय मुद्र-तट पर अँगरेजी फैक्टरियाँ खोलने के लिए आज्ञा प्राप्त करना था। सर टामस रो को अपने कार्य में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मुगल दरबार में शाहजादा खुर्रम एवं उसके सहयोगी पुर्तगाली पक्ष के समर्थक थे। अतः प्रारम्भ में उनको अधिक सफलता न मिली। हाँ, सूरत में अँगरेजों को शान्तिपूर्वक व्यापार करने की आज्ञा अवश्य प्राप्त हो गई।

सर टमस रो बड़ा चतुर व्यक्ति था। वह निरन्तर अपने कार्य में लगा रहा और अन्त में नूरजहाँ के भाई आसफखां के द्वारा उसे जहाँगीर से अधिक सुविधा-जनक फरमान प्राप्त हो सका। इसके द्वारा अँगरेजों को बिना किसी प्रकार का कर दिये व्यापार करने की आज्ञा मिल गई और उनके धन-जन की रक्षा का भार भारतीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया।

अतः सन् १६१९ में जब सर टामस रो भारतवर्ष से बिदा हुआ, उस समय तक अँगरेजों की स्थिति काफी दृढ़ हो चुकी थी। इस समय सूरत अँगरेजों का व्यापारिक केन्द्र था। सन् १६३३ में उन्होंने मछलीपट्टम में भी अपनी एक फैक्टरी खोली। सन् १६४० में मद्रास की स्थापना हुई और आत्म-रक्षा के लिए फोर्ट विलियम का निर्माण हुआ। बंगाल में व्यापार-विस्तार करने के ध्येय से हुगली में भी एक फैक्टरी खोली गई। इस समय तक मुगल दरबार में भी कम्पनी बादशाह का कृपा-भाजन बन गई थी। इस प्रकार अँगरेज अब फारस की खाड़ी से लेकर चीन समुद्र-तट तक व्यापार करने लगे। परन्तु इस क्षेत्र में डच कम्पनी भी व्यापार कर रही थी। अतः बहुधा अँगरेजों से उसका संघर्ष हो जाता था।

प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति डच कम्पनी की अपेक्षाकृत अधिक असन्तोषपूर्ण थी। डच कम्पनी को अपनी गृह-सरकार से पर्याप्त सहायता उपलब्ध थी। परन्तु इँगलैंड में राजा और पार्लियामेंट के बीच झगड़ा चल रहा था। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अधिक राजकीय सहायता न मिल सकी परन्तु १६६० ई० में चार्ल्स द्वितीय के सिंहासनारूढ़ होने पर इंगलैंड का वैधानिक झगड़ा कुछ काल के लिए शान्त हो गया और अब पुनः कम्पनी को गृह-सरकार से अधिक सहायता प्राप्त हो सकी। सन् १६६१ में चार्ल्स द्वितीय ने कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र प्रदान किया जिसके आधार पर कम्पनी को मुद्रा ढालने, किले बनाने, न्याय करने तथा गैर-ईसाई राज्यों के साथ सन्धि-विग्रह करने का अधिकार मिल गया। चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाली राजकुमारी कैथरीन से विवाह करने के उपलक्ष में दहेज के रूप में बम्बई का बन्दरगाह मिला था। सन् १६८८ में चार्ल्स ने उसे कम्पनी को दे दिया। इस प्रदान से कम्पनी के व्यापार को बड़ा लाभ हुआ। थोड़े ही समय में बम्बई व्यापार का केन्द्र हो गया और भारतवर्ष के पश्चिमीय समुद्र-तट पर अंगरेजों का सबसे प्रधान उपनिवेश बन गया।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक उन्नति में योग दिया। स्पेन और पुर्तगाल तो पहले से ही अवनतावस्था को प्राप्त हो चुके थे। उनके पश्चात् इँगलैंड, फ्रांस और हालैंड का व्यापारिक और सामुद्रिक संघर्ष प्रारम्भ हुआ। परन्तु फ्रांस और हालैंड दोनों ही अपनी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण निर्बल हो चुके थे।

अतः इँगलैड का मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया था और उसे अपनी व्यापारिक एवं सामुद्रिक प्रभुता स्थापित करने में अधिक कठिनाई न हुई।

इस समय बंगाल की आयात वस्तुओं का दाम बढ़ा हुआ था। इससे कम्पनी को प्रचुर आर्थिक लाभ हुआ। अँगरेजों ने हुगली से हटाकर कलकत्ता में अपनी कोठी स्थापित की। पूर्वी समुद्र-तट पर मद्रास इस समय तक एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र हो चुका था। इँगलैड की गृह-सरकार भी कम्पनी के प्रति उदारता का बर्ताव कर रही थी। चार्ल्स द्वितीय और जेम्स द्वितीय ने कम्पनी को जो आज्ञा-पत्र दिये उनसे उसकी शक्ति और भी बढ़ गई। अतः कम्पनी को कर वसूल करने तथा सेना रखने का भी अधिकार प्राप्त हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कम्पनी की स्थिति पर्याप्त रूप से दृढ़ हो गई थी। परन्तु भारतवष की तत्कालीन परिस्थिति ने शीघ्र ही उसकी स्थिति बड़ी जटिल कर दी। इस समय मुगल साम्राज्य का ह्रास-काल था। प्रान्तीय सूबेदार केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध स्वतन्त्रता की घोषणा कर रहे थे। शिवाजी के नेतृत्व में मराठा-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। १६६४ ई० में उसने सूरत पर आक्रमण किया। बंगाल के नवाब भी यथाशक्ति स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे। इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता के शिथिल होते ही सारे देश में आतंक के बादल घिरने लगे। अब कम्पनी को भी आत्म-रक्षा का उपाय सोचना पड़ा। सन् १६८६ में जोशिया चाइल्ड (Josia Child) सूरत की फैक्टरी का गवर्नर नियुक्त हुआ। उसने भारतवर्ष की अनिश्चयात्मक परिस्थिति से लाभ उठाकर यहाँ अँगरेजों की राजनैतिक सत्ता स्थापित करने का विचार किया। मुगल बादशाह औरंगजेब को जब इसकी सूचना मिली तो वह आग-बबूला हो गया और उसने कम्पनी को दण्डित करने के विचार से पटना, कासिमबाजार, मछलीपट्टम विजगापट्टम और सूरत की कोठियाँ छीन लीं। यह देखकर कम्पनी भयभीत हो गई। उसने मुगल बादशास से सन्धि की प्रार्थना की। अन्त में १७,००० पौण्ड दण्ड के रूप में लेकर औरंगजेब ने उसे क्षमा कर दिया, परन्तु यह चेतावनी दे दी कि पुनः भविष्य में वह ऐसी धृष्टता न करे। गवर्नर चाइल्ड को निर्वासित कर देने

की आज्ञा दी गई परन्तु इस अपमानजनक शर्त के कार्यान्वित होने के पूर्व ही वह मर गया।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बंगाल के शासक और कम्पनी के बीच झगड़ा खड़ा हो गया। सन् १७१५ में कम्पनी ने मुगल दरबार में अपने दो प्रतिनिधि भेजे। इनमें एक डाक्टर हैमिल्टन (Dr. Hamilton) भी था। इस डाक्टर ने बादशाह फर्रूखसियर को एक भयंकर रोग से बचा लिया। अतः बादशाह उससे बहुत प्रसन्न हुआ। उसके कहने से बादशाह ने कम्पनी को कलकत्ता और मद्रास के समीप कुछ गाँव दे दिये। इस प्रकार कम्पनी की स्थिति पहले से दृढ़तर हो गई। उसका भारत के एक भूखण्ड पर अधिकार हो गया। यहीं से ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का श्रीगणेश होता है।

यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कम्पनी—कम्पनी के भारतीय व्यापार से प्रचुर लाभ होते देखकर इंगलैंड के अन्य व्यापारी वर्ग उससे ईर्ष्या करने लगे। अब वे स्वयं भारतवर्ष से व्यापार करना चाहते थे। अतः उन्होंने कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का विरोध किया। कम्पनी के ऊपर मुगल बादशाह से अकारण बैर करने तथा चाइल्ड के ऊपर निरंकुशता के आरोप लगाये गये। इस प्रकार बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स में कम्पनी की स्थिति बड़ी संकटपूर्ण हो चुकी। परन्तु चाइल्ड ने डाइरेक्टर्स को खूब घूस देकर अपने पक्ष में कर लिया और इस प्रकार सन् १६९३ में कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र मिल गया।

परन्तु व्यापारी-वर्ग का असन्तोष कम न हुआ। कुछ व्यापारियों ने मिलकर १६९८ ई० में एक नई कम्पनी खोली। गृह-सरकार को इस समय धन की आवश्यकता थी। अतः उसने इस नई कम्पनी से आवश्यक धन लेकर इसे भी व्यापार करने का आज्ञा-पत्र दे दिया। अतः इस प्रकार भारतवर्ष में दोनों कम्पनियाँ व्यापार करने लगीं। प्रत्येक यही प्रयत्न कर रही थी कि किसी प्रकार भारतवर्ष के व्यापार पर उसी का एकाधिकार स्थापित हो जाय। ऐसी स्थिति में कलह अवश्यम्भावी था। इससे दोनों को हानि हुई। अतः अन्त में दोनों ही ने समझदारी से काम लिया और सन् १७०८ में उन्होंने आपस में सन्धि कर ली। दोनों कम्पनियाँ मिलाकर एक कर दी गई और इस

एकीकृत कम्पनी का नाम यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कम्पनी (United East India Company) रक्खा गया।

फ्रांसीसी कम्पनी—अन्य देशों के व्यापारिक विस्तार को देखकर फ्रांसीसियों ने भी विदेशों से व्यापार करने के हेतु कम्पनी खोलने का निश्चय किया। उनकी पहली कम्पनी सन् १६११ में खुली। इसका ध्येय मेडागास्कर में उपनिवेश स्थापित करना था। परन्तु इसे अधिक सफलता न मिली। सन् १६४२ में फ्रांस के मन्त्री रिशलू (Richelieu) ने पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए तीन कम्पनियाँ खोलीं। परन्तु उन्हें भी सफलता न मिली। पुनः सन् १६६४ में फ्रांस के सम्राट् लुई चौदहवें (Louis XIV) के शासन-काल में उसके मन्त्री कोलबर्ट (Colbert) ने फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी खोली। इसका उद्देश्य व्यापार करना, राजनीतिक शक्ति का स्थापना करना तथा ईसाई-मत का प्रचार करना था। सन् १६६७ में इस कम्पनी की एक शाखा मेडागास्कर में स्थापित हुई और वहाँ से इसने अपना कार्य-क्षेत्र भारतवर्ष की ओर विस्तृत करना आरम्भ कर दिया।

१६६८ ई० में एक फ्रांसीसी कम्पनी सूरत में खोली गई और १६६९ ई० में मछलीपट्टम में। सन् १६७४ में फ्रांसिस मार्टिन ने (Francis Martin) पाण्डीचेरी की नींव डाली। सन् १६७३ में बंगाल में चन्द्रनगर में भी फ्रांसीसी कोठी खुल गई। फ्रांस और हालैण्ड के बीच में होनेवाले योरपीय युद्ध ने फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी को बड़ी हानि पहुँचाई। पहले तो फ्रांसीसियों ने सेंट थोम (St. Thome) पर अधिकार कर लिया परन्तु दूसरे ही वर्ष उन्हें त्रिचनापल्ली छोड़ना पड़ा। सन् १६७४ में सेण्ट थोम पर डचों का अधिकार हो गया। १६९३ ई० में पाण्डीचेरी भी डच के हाथों में आ गया और रिजविक (Ryswick) की सन्धि तक वह उन्हीं के अधिकार में रहा। इन पराजयों के परिणाम-स्वरूप फ्रांसीसियों की बड़ी मान-हानि हुई और उनकी सूरत, बैण्टम और मछलीपट्टम की फैक्टरियाँ निष्क्रिय पड़ गईं।

कम्पनी की यह निराशास्पद दशा लगभग १२-१३ वर्ष तक रही। परन्तु प्रसिद्ध अर्थ-विशेषज्ञ जान ला (John Law) की योजना ने इसे नई

प्ररणा दी। इस योजना के अन्तर्गत उसके व्यापार का विस्तार हुआ और शीघ्र ही तम्वाकू आदि वस्तुओं के व्यापार पर उसे एकाधिकार मिल गया। सन् १७२५ में कम्पनी ने माही पर अधिकार कर लिया और १७३९ ई० में कारीकाल भी उसके हाथ में आ गया। सन् १७४१ में डूप्ले (Dupleix) फ्रांसीसी गवर्नर ड्यूमा का उत्तराधिकारी बनकर आया। उसके आगमन से भारतवर्ष में फ्रांसीसी इतिहास ने एक नये युग में पदार्पण किया।

अध्याय १२

अँगरेजों और फ्रांसीसियों में युद्ध

दोनों कम्पनियों की स्थिति—पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि किस प्रकार अँगरेजी और फ्रांसीसी कम्पनियाँ भारतवर्ष में आईं। दोनों का प्राथमिक ध्येय व्यापार था। परन्तु कालान्तर में दोनों को ही अपने हितों की रक्षा के लिए तथा स्वार्थों को अग्रसर करने के लिए राजनैनिक क्षेत्र में आना पड़ा। भारतवर्ष की राजनैतिक उथल-पुथल ने भी बहुत कुछ उन्हें ऐसा करने के लिए विवश किया। मुगल साम्राज्य को अवनति के पश्चात् भारतवर्ष की सार्वदेशिक राजसत्ता जाती रही। भारतवर्ष अनेक स्वतन्त्र प्रान्तों और भू-प्रदेशों में विभक्त हो गया। जो भाग दूसरे राज्यों के अधीन भी थे, वे भी केवल नाममात्र के लिए। ऐसी अवस्था में देश के भीतर निरन्तर कलह का होना अनिवार्य था। राजनैतिक कारणों को लेकर विभिन्न राज्यों अथवा व्यक्तियों में आये दिन पारस्परिक युद्ध होने लगे। इस वातावरण मे दोनों ही कम्पनियाँ प्रभावित हुई। देश की अनिश्चयात्मक परिस्थिति से उन्होंने भी लाभ उठाना चाहा। इस प्रकार व्यापारिक स्वार्थों के साथ राजनीतिक स्वार्थों के जुड़ जाने से कम्पनियों का जीवन और भी जटिल हो गया। व्यापारिक क्षेत्र में तो दोनों कम्पनियाँ परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थीं ही, अब राजनीतिक क्षेत्र में भी दोनों के स्वार्थों में संघर्ष चल पड़ा। प्रायः दोनों कम्पनियों ने परस्पर-विरोधी राज्यों से सहयोग किया, विपक्षी अधिकारों का समर्थन किया। दोनों ही ने भारतीय राजनीतिक विषयों को लेकर आपस में युद्ध किये, और षड्यन्त्र रचे। इस प्रकार व्यापारिक और राजनैतिक कारणों को लेकर अँगरेजों और फ्रांसीसियों में अनेक युद्ध हुए जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

प्रथम युद्ध सन् १७४०-४८ ई०—इसी समय योरप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार को लेकर इँगलैंड और फ्रांस में युद्ध छिड़ गया। उसका प्रभाव भारत की दोनों कम्पनियों पर पड़ना अवश्यम्भावी था। दोनों में व्यापारिक स्पर्धा

तो चल ही रही थी, अब उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय आधार भी मिल गया। अतः फ्रांसीसी सरकार ने अपने सेनापति ला बूर्दोने (La Bourdonnais) को आज्ञा दी कि वह भारतवर्ष के अँगरेजी उपनिवेशों तथा व्यापारियों पर आक्रमण करे। अतः डूप्ले और ला बर्दोने मद्रास पर सम्मिलित आक्रमण करने की योजना बनाई। सन् १७४६ में ला बूर्दोने अँगरेज सेनापति पेटन (Peyton) को हराकर पाण्डीचेरी पहुंचा। तत्पश्चात् उसने मद्रास पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। इसी बीच ला बूर्दोने और डूप्ले के बीच झगड़ा हो गया। ला बूर्दोने चाहता था कि ४,००,००० पौंड लेकर मद्रास अँगरेजों को वापस कर दिया जाय, परन्तु डूप्ले इसके विरुद्ध था। वह मद्रास को अपने अधिकार में रखना चाहता था। ला बूर्दोने डूप्ले के विरोध पर कोई ध्यान न दिया और धन लेकर मद्रास वापस कर देने के लिए अँगरेजों ने सन्धि कर ली। परन्तु उसके वापस चले जाने के पश्चात् डूप्ले ने मद्रास को अपने अधिकार में कर लिया और ला बूर्दोने के साथ हुए अँगरेजों के समझौते को रद कर दिया। इसके बाद उसने सेण्ट डेविड के किले पर आक्रमण किया, परन्तु अँगरेज अफसर लारेंस (Lawrence) की रण-कुशलता के कारण वह विफल हो गया। इसी बीच में अँगरेजों ने पाण्डीचेरी पर आक्रमण किया, परन्तु भीषण हानि के पश्चात् उन्हें वापस जाना पड़ा। इस प्रकार भारतवर्ष में दोनों कम्पनियों के बीच अभी युद्ध चल ही रहा था कि योरप में सन् १७४८ में एलाशपल (Aix la chapple) की सन्धि हो गई और आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में जो युद्ध चल रहा था, वह समाप्त हो गया। इस सन्धि की सूचना जब भारतवर्ष पहुँची तो यहाँ भी युद्ध बन्द कर दिया गया और दोनों कम्पनियों के बीच सन्धि हो गई। मद्रास अंगरेजों को वापस दे दिया गया।

इस युद्ध ने भारतवर्ष में फ्रांसीसियों की प्रतिष्ठा को खूब बढ़ा दिया। डूप्ले को प्रोत्साहन मिला और वह और भी अधिक उत्साह से भारतीय राजनीति में भाग लेने लगा। उसकी भारत में फ्रांसीसी राज्य स्थापित करने की इच्छा अधिक बलवती हो गई। पुनः इस युद्ध ने भारतीय राजाओं और नवाबों की निर्बलता को स्पष्ट कर दिया। दोनों कम्पनियों ने अच्छी तरह समझ लिया कि भारतीय नरेशों की पारस्परिक कलह से लाभ उठाकर अपनी

सत्ता स्थापित करना कठिन नहीं है। उन्हें विश्वास हो गया कि योरपीय संगठित सेनाएँ किसी भी देशी नरेश की सेनाओं का सफलतापूर्वक सामना कर सकती हैं। अतः अब वे भारतीय राजनीति में पहले से भी अधिक रुचि लेने लगीं।

द्वितीय युद्ध (सन् १७४८-५४ ई०)—फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले (Dupleix) एक कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने थोड़े ही दिनों में भारतीय राजनीति को भली भाँति समझ लिया था। देशी राज्यों के पारस्परिक कलह से लाभ उठाकर वह भारत में फ्रांसीसी सत्ता स्थापित करना चाहता था। कम्पनी के व्यापारिक लाभालाभ की उसे इतनी चिन्ता न थी जितनी उसके राजनीतिक अधिकार-विस्तार की। पिछले युद्ध ने अँगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच होनेवाले संघर्ष का रूप बदल दिया था। अब वह केवल व्यापारिक ही न था, वरन् राजनैतिक भी था। दोनों कम्पनियों ने सेनाओं का संगठन करना तथा भारतीय नरेशों से मैत्री-भाव स्थापित करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया था। मुगल साम्राज्य की अवनति के पश्चात् चारों ओर राजा और नवाब अपनी-अपनी सत्ता स्थापित करने की चेष्टा कर रहे थे। ऐसी दशा में पारस्परिक संघर्ष अवश्यम्भावी था।

इस प्रकार के भारतीय आन्तरिक संघर्ष में पहले-पहल अँगरेजों ने ही सक्रिय भाग लिया। तंजौर के राजा को उसके भाई ने निकालकर स्वयं सिंहासन हस्तगत कर लिया था। निर्वासित राजा ने अँगरेजों की सहायता चाही। अँगरेजों ने अपनी प्रभुता स्थापित करने का अच्छा अवसर देखा। अतः उन्होंने उसे सैनिक सहायता दी। यद्यपि अँगरेजों को सफलता न मिली, परन्तु उनके इस कार्य से डूप्ले को भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेने का एक बहाना मिल गया। जब अँगरेज भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप कर रहे है तो फिर फ्रांसीसी क्यों चुपचाप बैठे रहें।

इसी समय दक्षिण भारतवर्ष में राजसिंहासनार्थ एक नया झगड़ा उठ खड़ा हुआ। सन् १७४८ में आसफजाह, निजामुलमुल्क की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दूसरा लड़का नाजिरजंग गद्दी पर बैठा। परन्तु निजाम के पौत्र मुजफ्फरजंग ने उसका विरोध किया और स्वयं सिंहासन पर अधिकार करने की चेष्टा करने लगा।

इसी समय कर्नाटक म भी इसी प्रकार का राजनैतिक झगड़ा खड़ा हो गया। वहाँ के नवाब की मृत्यु के पश्चात् अनवरुद्दीन और चाँदा साहब में सिंहासन के लिए संघर्ष प्रारम्भ हुआ। अपने अधिकार को दृढ़ करने के लिए चाँदा साहब ने मुजफ्फरजंग से सन्धि कर ली तथा फ्रांसीसियों से सैनिक सहायता की प्रार्थना की। डूप्ले तो ऐसे अवसर की ताक में था ही, अतः उसने दोनों को सहायता देना स्वीकार कर लिया। बस यहीं से फ्रांसीसियों और अँगरेजों के बीच दूसरे युद्ध का श्रीगणेश हुआ। यह युद्ध इतिहास में कर्नाटक के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है।

चाँदा साहब, मुजफ्फरजंग और डूप्ले की सम्मिलित सेनाओं ने अनवरुद्दीन पर आक्रमण किया और सन् १७४९ में अम्बर के युद्ध में उसे मार डाला। उसका बड़ा पुत्र मुहम्मद अली त्रिचनापल्ली भाग गया जहाँ उसन अँगरेजों से सहायता माँगी। फ्रांसीसियों के विरोध में अँगरेजों ने उसे सहायता देने का वचन दिया।

अम्बर के युद्ध के पश्चात् कर्नाटक पर चाँदा साहब का अधिकार हो गया। उसने विजय के उपलक्ष में फ्रांसीसियों को ८० गाँव दिये। अब डूप्ले संगठित रूप से त्रिचनापल्ली पर आक्रमण करना चाहता था, परन्तु तंजौर के राजा के तीव्र अवरोध के कारण वह ऐसा न कर सका। अभी तंजौर का घेरा चल ही रहा था कि चाँदा साहब और फ्रांसीसियों को सूचना मिली कि नाजिरजंग ने अँगरेजी सेना की सहायता से कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया है। चाँदा साहब और उसके सहायकों को तंजौर का घेरा उठाना पड़ा। प्रारम्भ में नाजिरजंग को सफलता मिली। उसने मुजफ्फरजंग को पराजित कर दिया। परन्तु थोड़े ही दिनों में नाजिरजंग मार डाला गया। अतः फ्रांसीसियों ने मुजफ्फरजंग को दक्षिण का सूबेदार बना दिया। इस सफलता से डूप्ले की प्रतिष्ठा स्थापित हो गई। नये सूबेदार ने उसे दिरी और मछलीपट्टम के नगर तथा प्रचुर धन उपहार के रूप में दिया। पुनः उसने फ्रांसीसी कम्पनी को ५०,००० पौंड और दिये। इस प्रकार यद्यपि मुजफ्फरजंग दक्षिण का नवाब था, परन्तु वास्तविक सत्ता डूप्ले के हाथ में थी। इसी प्रकार चाँदा साहब
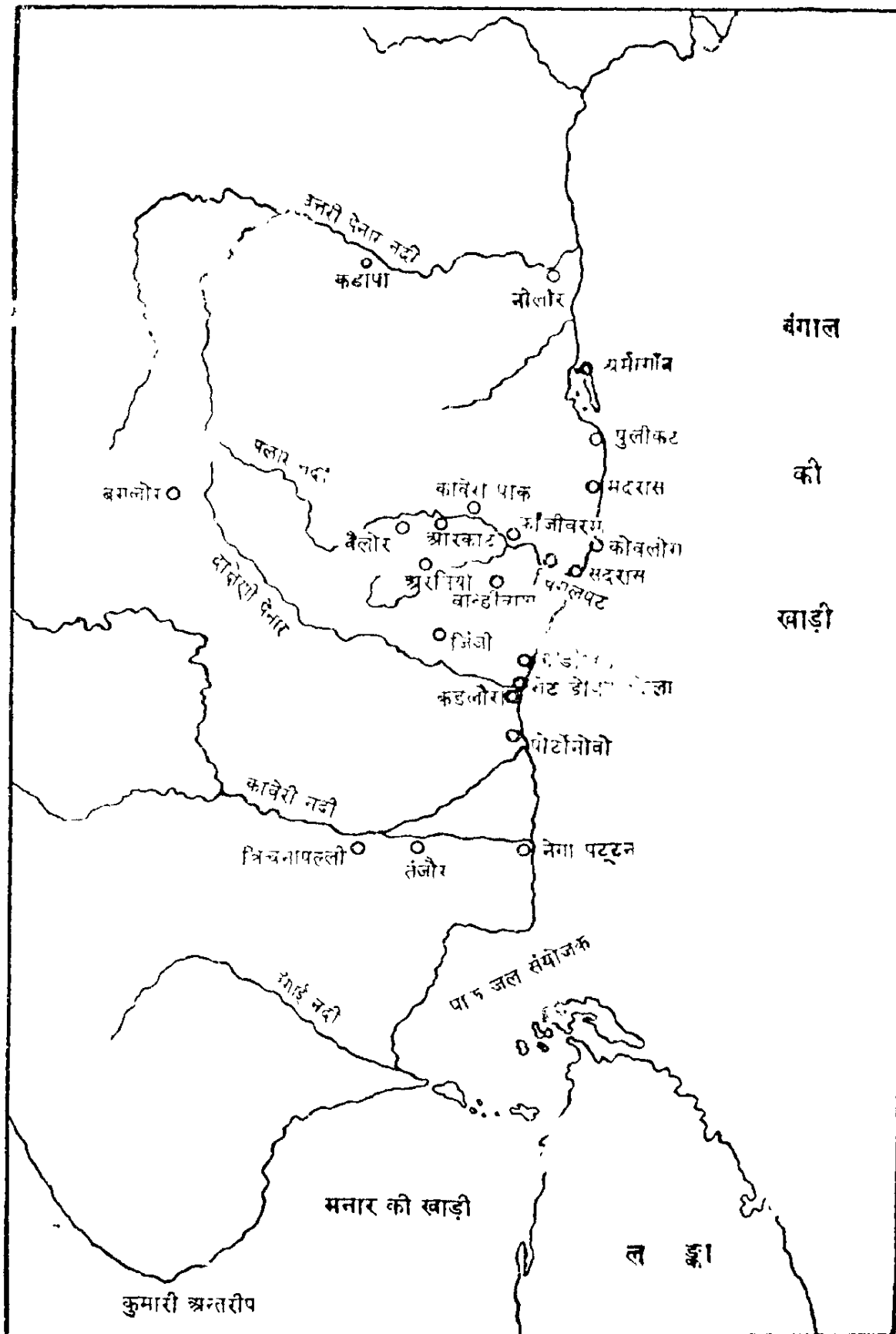
भी उसी की कृपा से कर्नाटक में राज्य कर रहा था। वास्तव में इस समय डूप्ले की शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी।

अब फ्रांसीसी सेनापति बुसी (Bussy) के नेतृत्व में मुजफ्फरजंग अपनी राजधानी पहुँचा (सन् १७५१)। परन्तु वहाँ वह कुछ असन्तुष्ट पठान सरदारों द्वारा मार डाला गया। बुसी ने इस विपत्ति-काल में साहस और धैर्य से काम लिया। उसने अब आसफजाह के तृतीय पुत्र सलाबतजंग को सिंहासन पर बैठाया। उसके संरक्षण के हेतु बुसी स्वयं ७ वर्ष तक उसकी राजधानी हैदराबाद में रहा।

फ्रांसीसियों की इन सफलताओं से अँगरेजों की स्थिति खराब हो गई। उन्होंने भली भाँति समझ लिया कि मुहम्मदअली के पक्ष का सफलतापूर्वक समर्थन करने में ही उनका कल्याण है। अतः विभिन्न आपत्तियों और कठिनाइयों के होते हुए भी उन्होंने उसके अधिकार को दृढ़तापूर्वक ,अग्रसर किया।

अँगरेजों की योजनाओं को विफल करने के हेतु चाँदा साहब ने त्रिचनापल्ली पर आक्रमण किया और उसके चारों ओर घेरा डाल दिया। त्रिचनापल्ली का शीघ्र ही पतन हो गया होता यदि इसी समय क्लाइव का उदय न हुआ होता। वह कम्पनी का एक सेनापति था। प्रतिभासम्पन्न होने के कारण उसने त्रिचनापल्ली के उद्धार का उपाय तत्काल ही ढूँढ़ लिया। उसने मद्रास के गवर्नर से अर्काट पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी। इसका एक विशेष कारण था। अर्काट चाँदा साहब की राजधानी थी। अतः क्लाइव ने सोचा कि यदि उस पर आक्रमण किया जाय तो चाँदा साहब अपनी राजधानी के रक्षार्थ निश्चय ही त्रिचनापल्ली का घेरा उठा देगा और इस प्रकार मुहम्मदअली का उद्धार हो जायगा। वास्तव में यही हुआ। क्लाइव ने भारतीय और अँगरेजों की सम्मिलित सेना को लेकर अर्काट पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। चाँदा साहब ने जब यह सुना तो उसने अपने पुत्र रजा साहब को लगभग अपनी आधी सेना देकर अर्काट के उद्धार के लिए भेजा। क्लाइव ने ५३ दिन तक घेरे का दृढ़तापूर्वक सामना किया। अर्काट का घेरा इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसमें अँगरेज और भारतीय सिपाहियों ने असीम साहस और धैर्य दिखलाया। अन्त में जीत क्लाइव की ही रही,

यद्यपि उसके ४५ अँगरेज और ३० भारतीय सिपाही मारे गये। इस अभूतपूर्व सफलता से क्लाइव की बड़ी ख्याति हो गई। अब अँगरेजों ने मुहम्मदअली के रक्षार्थ त्रिचनापल्ली पर आक्रमण किया। अपनी स्थिति को निर्बल समझकर चाँदा साहब भागा। अन्त में उसने तंजौर के राजा के सेनापति के हाथ में आत्म-समर्पण कर दिया परन्तु वहाँ उसके साथ विश्वासघात किया गया और वह मार डाला गया। इस प्रकार मुहम्मदअली कर्नाटक का नवाब बन गया। और डूप्ले की सारी आशाएँ धूल में मिल गईं। उसने फ्रांसीसियों की स्थिति सुधारने की भरसक चेष्टा की, परन्तु अँगरेज सेनापति लारेंस (Lawrence) ने उसकी सारी योजानाएँ विफल कर दीं। अंगरेजों की विजयी सेनाओं ने अनेक स्थानों पर फ्रांसीसियों को हराया। सन् १७५२ के अन्त तक जिजी और पाण्डीचेरी को छोड़कर फ्रांसीसियों के सारे अधिकार-क्षेत्र अँगरेजों के हाथ में चले गये। इन असफलताओं से असन्तुष्ट होकर फ्रांसीसी सरकार ने डूप्ले को वापस बुला लिया और उसके स्थान पर गोडहयू (Godheu) गवर्नर नियुक्त होकर सन् १७५४ में भारत आया। उसने आते ही अँगरेजों से सन्धि-प्रस्ताव किया। सन् १७५५ में पाण्डीचेरी की सन्धि हुई जिसके अनुसार दोनों कम्पनियों ने नवाबों द्वारा दी हुई अपनी-अपनी उपाधियाँ छोड दीं और भारतीय नरेशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। अँगरेजों के पास मद्रास, सेंट डेविडफोर्ट् और देवीकोटा रहे। इसी प्रकार पाण्डीचेरी फ्रांसीसियों के अधिकार में रहा।

सन्धि के प्रस्ताव प्रत्यक्ष रूप से फ्रांसीसियों के प्रतिकूल थे। कर्नाटक में पूर्ण रूपेण उनके प्रभुत्व का लोप हो गया। उनकी साम्राज्य-स्थापना की आशा निराशा में परिणत हो गई। परन्तु सन्धि के विभिन्न प्रस्ताव कार्यान्वित न हो सके, क्योंकि शीघ्र ही योरप में सप्तवर्षीय युद्ध की ज्वाला भड़क उठी जिसके परिणाम-स्वरूप भारत में भी दोनों कम्पनियों के बीच पुनः संघर्ष छिड़ गया।

हैदराबाद में बुसी---ऊपर कहा जा चुका है कि मुजफ्फरजंग की मृत्यु के पश्चात् फ्रांसीसियों ने सलाबतजंग को निजाम बनाया। निजाम ने फ्रांसीसी सेनापति बुसी एवं अन्य सैनिकों को उपहार के रूप में प्रचुर धन दिया।

इस प्रकार फ्रांसीसियों की शक्ति को हैदराबाद दरबार में बढ़ते देखकर मराठों को चिन्ता हुई। पेशवा बालाजी बाजीराव के नेतृत्व में उन्होंने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया और गाजीउद्दीन के अधिकार का समर्थन करने के हेतु औरंगाबाद की ओर प्रस्थान किया। गाजीउद्दीन निजामुलमुल्क का सबसे बड़ा पुत्र था। अभी तक वह दिल्ली में था और उसने उत्तराधिकार के युद्ध में कोई भी भाग न लिया था। मराठों ने देखा कि उसके पक्ष का समर्थन करके वे फ्रांसीसियों की शक्ति को निर्बल कर सकेंगे और साथ ही दक्षिण में अपनी शक्ति को सबल। बालाजी ने बम्बई और मद्रास के अँगरेजों से सहायता माँगी परन्तु कार्य-व्यस्तता के कारण वे उसे कोई मदद न दे सके।

मराठे एक सबल सेना के साथ निजाम राज्य में घुस गये। बुसी इतना भयभीत हुआ कि वह सलाबतजंग को लेकर मछलीपट्टम भागना चाहता था। परन्तु इतने ही में सूचना मिली कि औरंगाबाद में गाजीउद्दीन की मृत्यु हो गई है। अतः मराठों के युद्ध का प्रमुख कारण जाता रहा और अब बुसी ने उनसे सन्धि कर ली। फ्रांसीसी सहायता से सलाबतजंग निजाम के पद पर बना रहा। बुसी की सामयिक सहायता के लिए निजाम ने उसे मछलीपट्टम के समीप कोंडविड का एक जिला दिया।

परन्तु थोड़े ही दिनों में बुसी को एक नवीन आपत्ति का सामना करना पड़ा। लश्कर खाँ के नेतृत्व में निजाम दरबार में एक नये दल का उदय हुआ जो फ्रांसीसियों के स्वार्थों के विरुद्ध था। निजाम-राज्य में स्थित फ्रांसीसी सेना के रखने में प्रचुर धन खर्च हो रहा था और फिर फ्रांसीसी निजाम की सम्पत्ति को अपने स्वार्थों को अग्रसर करने में अपव्यय कर रहे थे। लश्कर खाँ इन सब बातों से रुष्ट था और फ्रांसीसियों को राज्य से निकालना चाहता था। इस समय बुसी बीमार था और मछलीपट्टम लौट आया था। उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर लश्कर खाँ ने फ्रांसीसियों के विरुद्ध खूब प्रचार और संगठन किया। उसने इस सम्बन्ध में अँगरेजों से भी सम्बन्ध स्थापित किया।

डूप्ले ने इस नये खतरे को भली भाँति समझ लिया था। अतः उसने बुसी को सलाह दी कि वह शीघ्रातिशीघ्र हैदराबाद पहुँचकर कार्य-भार अपने ऊपर ले ले। ऐसा ही हुआ। अशक्त निजाम बुसी का विरोध न कर सका और पुनः

हैदराबाद में फ्रांसीसियों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। बुसी ने फ्रांसीसी सेना रखने के लिए गन्तूर, राजमंद्री, एलोर और चिकाकोल के जिले अपने अधिकार में कर लिये। उसने निजाम को विवश किया कि वह एक सशस्त्र फ्रांसीसी दल अपने संरक्षण के लिए रक्खे और भविष्य में कर्नाटक के मामलों में हस्तक्षेप न करे।

इस प्रकार बुसी ने दक्षिण में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। परन्तु पाण्डीचेरी की सन्धि ने, जिसका वर्णन पीछे हो चुका है, उसकी स्थिति पुनः निर्बल कर दी। परन्तु सन् १७५५ में उसे अपनी शक्ति संगठित करने का पुनः एक अवसर मिला। मुगल सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में सलाबतजंग ने मैसूर-राज्य से कर माँगा। इस समय मैसूर-राज्य पर स्वयं मराठों ने आक्रमण कर दिया था। सलाबतजंग के आक्रमण ने उसकी स्थिति और भी भयावह कर दी। मैसूर-राज्य फ्रांसीसियों का मित्र था। अतः बुसी की स्थिति भी बड़ी संकटपूर्ण हो गई। परन्तु उसने बड़ी बुद्धिमानी से काम किया। उसने निजाम और मराठों में सन्धि करा दी और मैसूर-राज्य से निजाम को उचित कर दिला दिये परन्तु फिर भी दरबार के षड्यन्त्रों से प्रभावित होकर सलाबतजंग ने उसे सन् १७५६ में पदच्युत कर दिया। बुसी हैदराबाद पहुँचा और युद्ध के लिए तैयारी करने लगा। निजाम ने आत्म-रक्षा के लिए अँगरेजों से सहायता माँगी, परन्तु बंगाल के मामलों में व्यस्त होने के कारण अँगरेज उसे कोई मदद न दे सके। इस प्रकार पुनः बुसी का प्रभाव हैदराबाद दरबार में जम गया। निजाम-बुसी सम्बन्ध का आगामी वर्णन सप्तवर्षीय युद्ध के साथ किया जायगा।

डूप्ले का चरित्र और उसकी नीति—डूप्ले अपने समय का एक महान् कूटनीतिज्ञ और चतुर शासक था। उसमें अदम्य साहस और देश-भक्ति थी। सूक्ष्मदर्शी होने के कारण उसने भारतीय परिस्थिति को भलीभाँति समझ लिया था। भारतीय नरेशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके उसने भारतवर्ष में फ्रांसीसी प्रभुत्व स्थापित करना चाहा और कुछ समय के लिए उसे इस कार्य में सफलता भी मिली। कठपुतली नरेशों को सिंहासन पर बिठाकर थोड़े समय के लिए उसने उनकी सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली; और उसकी सहायता से अँगरेजों की शक्ति को उखाड़ फेंकने की प्रबल चेष्टा की।

कुछ लोगों का मत है कि डूप्ले ही सर्वप्रथम व्यक्ति था जिसने भारत में एक विदेशी साम्राज्य की कल्पना की थी। परन्तु वास्तव में यदि विचार किया जाय तो ऐसा सिद्ध नहीं होता। वास्तव में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना के हेतु उसने न तो कभी कोई विचारपूर्ण योजना ही बनाई और न उसे कार्यान्वित करने के हेतु किसी निश्चित नीति का ही अनुसरण किया। हाँ, उसके कार्यों से इतना स्पष्ट अवश्य होता है कि वह देशी राज्यों को अपने प्रभाव में रखना चाहता था। उसकी प्राथमिक सफलता सराहनीय है। परन्तु उसकी राजनीतिक नीति ने कम्पनी के व्यापारिक हितों पर बड़ा भारी आघात किया। डूप्ले ने आशा की थी कि नवीन अधिगत क्षेत्रों की आय इस व्यापारिक क्षति की पूर्ति कर देगी। परन्तु ऐसा न हो सका। उसकी आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर खराब होती गई। पाँच साल में उसने कम्पनी का ३० लाख रुपया खर्च कर दिया था। फ्रांस की गृह-सरकार ने भी उसे वाञ्छित आर्थिक सहायता दी। उसकी नीति से स्पष्ट हो गया था कि व्यापार और विजय साथ-साथ नहीं किये जा सकते। अतः धीरे-धीरे गृह-सरकार उसकी स्वतन्त्र नीति के विरुद्ध हो गई। फिर भी वह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करता रहा। उसने गृह-सरकार के उच्चाधिकारियों को सूचना दिये बिना ही धन व्यय किया, भारतवर्ष के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप किया और समय-समय पर स्वेच्छानुसार संधि-विग्रह किया। यद्यपि उसके सारे कार्य उच्च देशभक्ति की भावना से प्रेरित थे, तथापि उनका परिणाम अच्छा न हुआ। गृह सरकार उसे निरकुंश और स्वेच्छाचारी समझने लगी। उसके विरुद्ध आज्ञोल्लंघन का आरोप लगाया गया।

डूप्ले की शासन-नीति दोषपूर्ण थी। उसकी उपहार-ग्रहण की नीति ने उसके अफसरों पर बड़ा बुरा प्रभाव डाला। वे स्वार्थी, लोभी और चरित्रहीन हो गये। पुनः उसकी युद्ध-नीति ने आर्थिक संकट उत्पन्न कर दिया। यदि युद्धों से कम्पनी को धन-लाभ हुआ होता और उसकी आर्थिक स्थिति सुधरी होती तो सम्भव है गृह-सरकार उसकी नीति का समर्थन करती। परन्तु यहाँ तो खर्च ही खर्च था। जीते हुए प्रदेशों से आय बहुत कम हुई। कर्नाटक का प्रदेश साधन विपन्न था। उस पर अधिकार हो जाने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई। पुनः डूप्ले की शान-शौकत की मनोवृत्ति ने भी बहुत कुछ रुपया फूंक डाला।

इसके अतिरिक्त उसने अँगरेजों की सामुद्रिक शक्ति का विचार नहीं किया। उसे सोचना चाहिये था कि अँगरेजों की सामुद्रिक शक्ति के प्रबल होते हुए भारत-वर्ष में फ्रांसीसी प्रभुता स्थापित करना असम्भव है। सन् १७५४ का फ्रांसीसी बेड़ा शक्तिहीन था और वह समुद्र पर अंगरेजों से कभी भी सफलतापूर्वक मोर्चा न ले सकता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ की भाँति डूप्ले में गुण भी थे और दोष भी। कर्नल मैलीसन (Malleson) के कथनानुसार वह एक कुशल शासक और आश्चर्यजनक संगठनकर्ता था। इन गुणों के होते हुए भी यदि वह असफल रहा तो इसका मुख्य कारण फ्रांसीसी गृह-सरकार की उसके प्रति उदा-सीनता थी। उसने डूप्ले की योजनाओं से पर्याप्त असहयोग ही नहीं किया वरन् उनका विरोध भी किया। राजकीय सहायता न मिलने से उसकी सुसंचालित नीति दुष्परिणाम में परिवर्तित हो गई। इसके विपरीत थार्नटन (Thornton) का मत है कि डूप्ले अभिमानी तथा स्वमहत्त्वाकांक्षी था। यही धारणा स्मिथ (Smith) की भी है। वह उसे चरित्रहीन, षड्यन्त्रकारी और अवसरवादी बताता है। परन्तु ये सब विरोधी मत पूर्ण रूप से ठीक नहीं। डूप्ले की सूक्ष्म-दर्शिता, असीम साहस, अध्यवसाय और अपार देशभक्ति विवाद के परे है। उसकी असफलता का मुख्य कारण तत्कालीन परिस्थिति ही अधिक थी।

तृतीय अँगरेजी और फ्रांसीसी युद्ध (सन् १७५६-६३ ई०)—डूप्ले की नीति से फ्रांस की गृह-सरकार क्रुद्ध हो गई और उसने सन् १७५४ में उसे वापस बुला लिया। उसके जाने के पश्चात् भारतवर्ष के राजनीतिक क्षेत्र में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। सन् १७५७ के प्लासी के युद्ध के पश्चात् बंगाल में अंगरेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। कर्नाटक में फ्रांसीसियों और अँगरेजों के बीच चार वर्ष (१७५४-५८) तक शान्ति रही, परन्तु इसके बाद योरप में सप्तवर्षीय युद्ध प्रारम्भ हो गया। अतः भारतवर्ष में भी उसकी ज्वाला भड़क उठी। फ्रांस की गृह-सरकार ने लैली (Lally) नामक एक अत्यन्त वीर सेनापति को भारतवर्ष में युद्ध-संचालन के लिए भेजा। उसे आदेश दिया गया था कि वह डूप्ले और बुसी की भाँति साम्राज्य-विस्तार का प्रयत्न न करे, वरन् अंगरेजों के व्यापार को ही मुख्यतः क्षति पहुँचाने का प्रयास करे।

यद्यपि लैली एक वीर सैनिक था, तथापि जिस कार्य के लिए उसकी नियुक्ति हुई थी, उसके लिए वह अनुपयुक्त था। वह बड़े हठी और क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति था। वह चरित्रवान् और दृढ़ात्मा था। परन्तु अपने अधीन अफसरों से किस प्रकार कुशलतापूर्वक बर्ताव करना चाहिए, यह उसे ज्ञात न था। उसके उग्र स्वभाव के कारण उसके मित्र और सहायक भी उसके विरोधी हो गये। उसने कम्पनी के भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए जो सुधार किये उनसे वह अपने अधीनस्थ भ्रष्ट अफसरों में और भी अप्रिय हो गया। इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि लैली में अनेक सद्गुण थे, वह वीर था, साहसी था, चरित्रवान् था, देशभक्त था, तथापि वह राजनीतिज्ञ न था।

जिस समय लैली भारतवर्ष में आया उस समय तक अँगरेजों की स्थिति काफी दृढ़ हो चुकी थी। बंगाल की नवाबी के पतन के पश्चात् उस प्रान्त के सम्पूर्ण साधन उन्हें उपलब्ध थे। यदि लैली प्लासी के युद्ध के पूर्व आया होता तो कदाचित् उसे पर्याप्त सफलता मिल सकती।

लैली ने आते ही सेण्ट डैविड (St. David) के दुर्ग पर आक्रमण किया और बिना अधिक अवरोध के उसे हस्तगत कर लिया। अब उसने मद्रास पर धावा करना चाहा, परन्तु अन्य अफसरों के विरोध के कारण तत्काल वह ऐसा न कर सका। उसके पास धन की कमी थी। अतः उसने तंजौर के राजा से धन वसूल करना चाहा, किन्तु असफल रहा। उसने बुसी को हैदराबाद से बुला लिया। यह एक भारी भूल थी। बुसी के हैदराबाद से हटते ही वहाँ पर फ्रांसीसी प्रभाव लुप्त होने लगा।

सन् १७५८ में मद्रास का घेरा प्रारम्भ हुआ। मद्रास की रक्षा के लिए क्लाइव ने कलकत्ता से कर्नल फोर्ड (Ford) को बुलाया। फोर्ड एक कुशल सेनापति था। उसने फ्रांसीसियों को कोण्डोर (Condore) के युद्ध में पराजित किया और हैदराबाद में उनके प्रभाव को कम किया। मद्रास का घेरा चलता रहा। अँगरेज सेनापति लारेंस ने उसका वीरतापूर्वक सामना किया। सन् १७५९ में अँगरेजी जहाजी बेड़ा आ गया। उसे देखकर लैली निराश हो गया और उसने मद्रास का घेरा उठा लिया। अब अँगरेजों ने मछलीपट्टम पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। तत्पश्चात्

उन्होंने निजाम से भी सन्धि कर ली। सन्धि के प्रस्ताव अँगरेजों के अत्यन्त अनुकूल थे।

लैली की स्थिति निराशाजनक हो गई। फ्रांसीसी अफसरों में मतभेद हो गया। पाण्डीचेरी की कौंसिल ने लैली को कोई सहायता न दी। उसकी सेना का अनुशासन शिथिल हो गया। फ्रांस की गृह-सरकार से भी सहायता की कोई आशा न रही। इसी समय अँगरेजी सेनापति आयरकूट (Eyre Coote) वाण्डवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों को बुरी तरह परास्त किया (१७६० ई०)। फ्रांसीसी सेनापति बुसी बन्दी बना लिया गया। पराजित और अपमानित होकर भारी क्षति के साथ फ्रांसीसी पान्डीचेरी की ओर भागे।

इस पराजय ने फ्रांसीसी प्रतिशोध की कमर तोड़ दी। रक्षा का कोई उपाय न देखकर लैली ने मैसूर के शासक हैदरअली से सहायता माँगी। हैदरअली महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह मदूरा और तिन्नेवली पर अधिकार करना चाहता था। अतः उसने फ्रांसीसियों से संधि कर ली और उन्हें सहायता देने का वचन दिया। लेकिन जब उसे ज्ञात हुआ कि अंगरेजों की अपेक्षा फ्रांसीसी पक्ष नितान्त निर्बल है तो उसने अपनी सेना वापस बुला ली।

अब अँगरेजों ने त्रिचनापल्ली पर घेरा डाला। फ्रांसीसियों ने दृढ़तापूर्वक उनका मुकाबला किया, परन्तु अन्नाभाव के कारण सन् १७६१ में उन्हें आत्म-समर्पण करना पड़ा। पाण्डीचेरी के पश्चात् जिंजी और माही पर भी अँगरेजों का अधिकार हो गया। लैली बन्दी के रूप में फ्रांस भेजा गया। वहाँ उस पर देश-द्रोह का अभियोग चलाया गया और सन् १७६६ में उसे मृत्यु-दंड दिया गया। इस प्रकार एक देश-भक्त का अपने ही देशवासियों द्वारा कृतघ्नतापूर्वक वध हुआ।

सन् १७६० में योरप में पेरिस की सन्धि हो गई। इसके परिणाम स्वरूप भारतवर्ष में भी युद्ध बन्द हो गया। इस सन्धि ने भारतवर्ष में फ्रांसीसियों की शक्ति को चकनाचूर कर दिया। उनके सारे उपनिवेश उनके हाथ से निकल गये। अँगरेजों का बंगाल और दक्षिण भारतवर्ष में प्रभुत्व स्थापित हो गया। मुहम्मदअली कर्नाटक का नवाब मान लिया गया। निजाम फ्रांसीसियों के प्रभाव से मुक्त होकर बहुत कुछ अँगरेजों के प्रभाव में आ गया। उत्तरी सरकार में अँगरेजों की शक्ति दृढ़ हो गई।

अँगरेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों की विफलता के कारण--फ्रांसीसियों की विफलता का मुख्य कारण उनकी कम्पनी का दोषपूर्ण संगठन था। फ्रांसीसी कम्पनी राजकीय सहायता पर अवलम्बित रहती थी। अतः उसका कार्य उसी समय तक उत्तम ढंग से चल सकता था, जब तक गृह-सरकार से उसे पर्याप्त सहायता मिलती रही। पुनः सरकारी कर्मचारी उसके कार्यों में अधिक अभिरुचि भी न लेते थे। कम्पनी के लाभालाभ का उन्हें इतनी चिन्ता न थी जितनी अपने स्वार्थों को अग्रसर करने की। पुनः भारतीय राजनीति में पडकर वह यह भूल गई कि वह मुख्यतया एक व्यापारिक कम्पनी है। उसके भारतीय अधिकारियों ने सामरिक योजनाएँ तो बनाईं, परन्तु व्यापारिक उन्नति के विचार से पूर्णतया विमुख हो गये। परिणाम यह हुआ कि उत्तरोत्तर उसकी आर्थिक स्थिति खराब होती गई। युद्धों में अपार धन-राशि स्वाहा हो गई; दरबारों के शान-शौकत में प्रचुर धन बहाया गया। परिणाम यह हुआ कि व्यय तो दिन पर दिन बढ़ता गया, परन्तु आय के साधन लुप्त होते गये। बिना आर्थिक आधार के भला व्यापारिक कम्पनी कितने दिन चल सकती थी?

इसके विरुद्ध अँगरेजी कम्पनी राजकीय कम्पनी न थी। उसे राज्य की सहानुभूति अवश्य प्राप्त थी, परन्तु वस्तुतः उसका संगठन वैयक्तिक आधार पर हुआ था। कम्पनी का लाभालाभ उसके सदस्यों का लाभालाभ था। अतः उसकी उन्नति के हेतु वे जी तोड़कर परिश्रम करते थे। पुनः भारतीय राजनीति में पड़कर भी उसने यह नहीं भुलाया कि प्रधानतः वह व्यापारिक कम्पनी है। अपने व्यापार की रक्षा एवं उन्नति के लिए वह सदैव प्रयासशील रही। परिणाम यह हुआ कि उसकी आर्थिक स्थिति सदैव दृढ़ रही जिसके कारण उसे अपनी राजनीतिक योजनाओं को भी अग्रसर करने में सुविधा हुई। एक बात और थी। स्वतंत्र संस्था होने के कारण उसके कार्यों में राज्य की ओर से इतना हस्तक्षेप न होता था जितना कि फ्रांसीसी कम्पनी के कार्यों में। अतः वह सदैव अपना उत्तरदायित्व समझती थी।

पुनः ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय उच्चाधिकारी उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ और कुशल शासक थे। फ्रांसीसी कम्पनी के डूप्ले, बुसी, लैली आदि में यद्यपि अनेक गुण थे, परन्तु वे सफल राजनीतिज्ञ नहीं कहे जा सकते। उनमें क्लाइव और लारेंस जैसे कुशल संगठनकर्ताओं के समान कार्यक्षमता न थी। प्रायः भारत

में अँगरेज नेता और सेनापति सदैव ही पारस्परिक विश्वास और एकता के साथ कार्य करते थे। परन्तु इसके विरुद्ध फ्रांसीसी अफसरों में बहुधा द्वेष-भाव, प्रतिद्वन्द्विता और स्वार्थपरता रहती थी। इससे उनकी योजनाओं में सम्मिलित बल न होता था।

अँगरेजों का सैनिक संगठन भी उच्चतर कोटि का था। उनके सैनिक रण-विद्या-कुशल, अनुशासनशील और शस्त्र-सुसज्जित रहते थे। फ्रांसीसियों में न तो इतनी रण-कुशलता ही थी और न अनुशासन एवं संगठन ही। आर्थिक संकट के कारण उनके पास अस्त्र-शस्त्र एवं अन्न का भी अभाव रहता था।

पुनः अँगरेजों के पास शक्तिशाली जहाजी बेड़ा था। इससे उन्हें व्यापार और युद्ध में बहुत अधिक सहायता मिली। फ्रांसीसियों की सामुद्रिक शक्ति अँगरेजों की अपेक्षाकृत गौण थी। अतः वे न तो अँगरेजों के व्यापार को अधिक हानि पहुँचा सकते थे और न समुद्र पर उनके साथ सफलतापूर्वक युद्ध ही कर सकते थे।

इन्ही सब कारणों से अँगरेजों ने फ्रांसीसियों का मूलोच्छेदन कर भारतवर्ष में अपनी प्रभुता स्थापित की।

अध्याय १३

हैदरअली का उत्कर्ष

हैदरअली का उत्कर्ष भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। मैसूर प्रारम्भ में हिन्दू-राज्य विजयनगर का एक भाग था। सन् १५६५ में जब विजय-नगर-राज्य का पतन हुआ तो मैसूर में वोदेयर-वंश ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। १७०४ ई० में औरंगजेब ने इस वंश का शासनाधिकार मान लिया। अठारहवी शताब्दी के मध्य तक वोदेयर-वंशीय मैसूर में स्वतन्त्र रीति से शासन करते रहे। परन्तु उसके पश्चात् मुगल-सम्राट् के अधीनस्थ निजाम ने उसे अपने अधिकार में कर लिया। समय-समय पर मराठों ने भी उस पर आक्र-मण किया और चौथ इत्यादि कर वसूल किये। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वहाँ हैदरअली नामक एक वीर एवं कुशल सैनिक का उदय हुआ। उसके जीवन गाथाकारों ने लोदियों, बीजापुरी, आदिलशाहियों अथवा फारस के बादशाहों का वंशज कहा है। परन्तु इन मतों का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इतिहासकार तो प्रायः इतना ही जानते है कि वह किसी ऐसे विदेशी मुसलमान कुटुम्ब का सदस्य था जो कारणवश दक्षिण भारतवर्ष में जाकर बस गया था।

हैदरअली का जन्म १७२२ में हुआ था। उसके पिता एवं भाई मैसूर-राज्य में सैनिक अफसर थे। हैदरअली की वीरता और योग्यता ने किसी प्रकार राज्य के मन्त्री नंजराज का ध्यान आकर्षित किया और उसने उसे थोड़ी-सी सेना रखने की आज्ञा दे दी। कुछ समय बाद हैदरअली एक सीमास्थ भू-प्रदेश का संरक्षक बना दिया गया। यहाँ पर उसने मराठों के आक्रमणों से सीमाप्रदेश की इस कुशलता से रक्षा की कि निजाम ने उसके पद को और भी बढ़ा दिया। मन्त्री के साथ उसने अँगरेज-फ्रांसीसी युद्ध में भी भाग लिया। यह अवसर उसके सैनिक अनुभव का था। वह योरपीयों के सैनिक संगठन और अनुशासन से बहुत प्रभावित हुआ। सन् १७५५ में वह डिंडीगल का फौजदार बना दिया गया। यहाँ उसने एक विशाल सेना का संगठन किया जिसमें योरपीय सैनिक एवं पदाधिकारी भी

रक्खे गये। उसने इस सेना को खूब अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित किया। इस संगठन का मुख्य ध्येय मराठों से लोहा लेना था। शीघ्र ही उसने श्रीरंगपट्टन के राजा पर आक्रमण किया और उससे फतह-हैदरबहादुर की उपाधि प्राप्त की। उसने नंजराज से छुटकारा पा लिया और स्वयं संरक्षक बन बैठा। अगले दो वर्ष उसके लिए आपत्ति-काल थे। परन्तु अपनी दृढ़ता एवं चतुरता से उसने अपने सब शत्रुओं का दमन कर दिया। ब्राह्मण मन्त्री खाण्डेराव को उसने एक लोहे के पिजड़े में बन्द करके बंगलौर भेज दिया। उसने दृढ़तापूर्वक मैसूर-राज्य में सारे विद्रोहों और अत्याचारों को दबाया तथा अयोग्य और विश्वासघाती पदाधिकारियों को निकाल बाहर किया। उसने सेना का संगठन किया तथा शासन की सुव्यवस्था की। इन कार्यों से उसकी काफी प्रसिद्धि हो गई। अब उसने विजय-यात्रा आरम्भ की। सन् १७६३ में उसने बेदनूर जीत लिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने १५ दिन तक बड़ी धूम-धाम के साथ महोत्सव मनाया। सैनिकों और दीन-दुखियों को खूब धन बाँटा गया। बेदनूर का नाम हैदरनगर रक्खा गया जिसका शासन हैदरअली ने अपने एक नौकर के सुपुर्द किया। इसी समय कनारा में उत्तराधिकार का झगड़ा चल रहा था। हैदरअली ने इससे लाभ उठाकर उसे मैसूर-राज्य में मिला लिया। इसी प्रकार मलाबार, बरामहल और कोयम्बटूर आदि जिले भी उसने हस्तगत कर लिये। अब उसने हैदरअली खाँ बहादुर की उपाधि धारण की और राज्य की सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली। मैसूर का राजा तो केवल नाममात्र को सिंहासन पर रह गया।

प्रथम मैसूर युद्ध (सन् १७६७-६९)—तत्कालीन दक्षिण का इतिहास मराठों, निजाम, मैसूर और अँगरेजों के पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। इनमें से प्रत्येक दक्षिण में अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता था। अतः स्वार्थ-सिद्धि के हेतु कभी कोई किसी का शत्रु बन जाता और कभी कोई किसी का मित्र। हैदरअली के उत्कर्ष ने मराठों को भयभीत कर दिया। अतः उन्हें उसकी बढ़ती हुई शक्ति को दबाने की चिन्ता हुई। उन्होंने हैदरअली पर आक्रमण किया और उसे पराजित किया। दूसरे वर्ष उन्होंने पुनः आक्रमण किया। हैदरअली ने उनका मुकाबिला किया; परन्तु भीषण युद्ध के पश्चात् उसकी पराजय हुई। उसके १०,००० सैनिक काम आये। मराठों ने उसे सारे विजित प्रदेश वापस करने तथा ३२ लाख रुपया

जुर्माना देने पर विवश किया। इस क्षति की पूर्ति के लिए उसने मलाबार पर आक्रमण किया और वहाँ के नायरों को हराया। परन्तु इसी समय उसके राज्य पर निजाम और मराठों की सम्मिलित सेनाओं ने आक्रमण कर दिया। अतः उसे वापस आना पड़ा। अँगरेजों ने भी निजाम की सहायता करने का वचन दिया और कर्नल स्मिथ (Smith) को युद्ध के लिए भेजा। हैदरअली की स्थिति बड़ी संकटपूर्ण थी। परन्तु इस अवसर पर उसने बड़े धैर्य से काम लिया। उसने मराठों को घूस देकर वापस कर दिया तथा निजाम से भी सन्धि का प्रस्ताव किया और अँगरेजों पर सम्मिलित आक्रमण करने की योजना बनाई। हैदरअली की कूटनीति सफल हुई और मराठों तथा निजाम की सेनाओं के सहयोग से उसने कर्नल स्मिथ से मोर्चा लिया, परन्तु पराजित हुआ। इसी समय हैदर के पुत्र टीपू ने मद्रास पर आक्रमण किया और उसे खूब लूटा। अब अंगरेजों को चिन्ता हुई। उन्होंने हैदर की सम्मिलित शक्ति को तोड़ने के लिए निजाम पर आक्रमण किया। निजाम भयभीत हो गया और हैदर का साथ छोड़ वह स्वयं अपनी राजधानी की रक्षा के लिए भागा। अन्त में उसने अँगरेजों से सन्धि कर ली। सन्धि के प्रस्ताव निजाम के ही अनुकूल थे। अँगरेजों ने उसे उत्तरी सरकार के लिए कर देना स्वीकार किया। उन्होंने यह भी वचन दिया कि निजाम की मृत्यु के पूर्व वे गन्तूर पर अधिकार न करेंगे। हैदर को एक विद्रोही घोषित किया गया। उससे कर्नाटक और बालाघाट के प्रदेश छीन लेने की भी योजना स्वीकृत हुई। पुनः अँगरेजों ने मराठों को चौथ देना भी स्वीकृत किया। इस संधि से अँगरेजी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुंचा।

हैदरअली अब अँगरेजों का कट्टर शत्रु हो गया। उसे विश्वास हो गया कि आत्म-रक्षा के लिए उसे अँगरेजों से मोर्चा लेना ही पड़ेगा। परन्तु प्रारम्भ में उसे सफलता न मिली। कर्नल स्मिथ ने उसके कई किले जीत लिये और उसके जहाजी बेड़े को भी क्षति पहुँचाई। हैदर को मराठों के आक्रमण का भय था। अतः उसने अँगरेजों से सन्धि-प्रस्ताव किया और उन्हें बरामहल तथा प्रचुर धन-राशि देने का वचन दिया। परन्तु अँगरेजों ने उसके साथ ऐसे प्रस्ताव रक्खे जिन्हें स्वीकृत करना उसके लिए असम्भव था। अतः पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। हैदर ने इस बार असीम साहस और वीरता का परिचय दिया। उसने अपने हारे

हुए सारे दुर्गों पर पुनः अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने तंजौर के राजा से चार लाख रुपया वसूल किया। अब वह मद्रास की ओर बढ़ा। अँगरेज उसकी सफलताओं को देखकर भयभीत हो गये और उन्होंने सन् १७६९ में सन्धि का प्रस्ताव किया। इसके अनुसार दोनों ने एक-दूसरे के जीते हुए प्रदेशों को वापस कर दिया और आवश्यकतानुसार भविष्य में पारस्परिक सहायता का भी वचन दिया।

अँगरेजों से सन्धि करने के पश्चात् हैदर ने मराठों को कर देना बन्द कर दिया तथा उनके राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु पेशवा की सेना ने उसे बुरी तरह पराजित किया। वह किसी प्रकार भागकर श्रीरंगपट्टन पहुँचा। परन्तु मराठों ने उसका पीछा किया और उसकी राजधानी को घेर लिया। सन्धि के अनुसार हैदर ने अँगरेजों से सहायता माँगी, परन्तु उन्होंने उसे कोई सहायता न दी और उसे अपने भाग्य पर छोड़ दिया। विवश होकर हैदर ने मराठों से सन्धि कर ली। इसके अनुसार उसने उन्हें ३६ लाख रुपया दिया और १४ लाख रुपया वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया। उसे अपने राज्य के भी कुछ भाग से हाथ धोना पड़ा। हैदरअली अँगरेजों के वचन-भंग से बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह अब उनका कट्टर विरोधी हो गया और उनसे बदला लेने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

अध्याय १४

बंगाल की नवाबी का पतन

मुर्शिदकुली खाँ—पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार अँगरेज, फ्रांसीसियों और डच लोगों ने बंगाल में अपने-अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। आरम्भ में उनका उद्देश्य व्यापारिक उन्नति करना था। अतः आयात-निर्यात की सुविधा का ध्यान रखते हुए उन्होंने हुगली नदी के किनारे ही अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये थे। अँगरेजों का कलकत्ता, फ्रांसीसियों का चन्द्रनगर और डचों का चिन्सुरा ऐसे ही केन्द्रों में थे। यद्यपि दक्षिण भारत में अँगरेज और फ्रांसीसी आपस में अनवरत युद्ध करते रहे, परन्तु बंगाल में शान्तिपूर्वक रहे। बंगाल का मुगल सूबेदार कठोर स्वभाव का व्यक्ति था। उसके तीव्र निरीक्षण और नियन्त्रण के परिणाम-स्वरूप बंगाल में शान्ति बनी रही और विदेशी कम्पनियों का कार्य व्यापारिक क्षेत्र में ही सीमित रहा। उन्हें राजनीतिक विषयों में हस्तक्षेप करने का अवसर न मिला। परन्तु थोड़े ही समय में परिस्थिति बदल गई और धीरे-धीरे अँगरेजों ने बंगाल पर अधिकार कर लिया।

प्रारम्भ में बंगाल मुगल-साम्राज्य का एक प्रान्त था जिसका शासन एक सूबेदार द्वारा होता था। सन् १७०१ में मुर्शिदकुली खाँ वहाँ का दीवान नियुक्त किया गया। वह प्रारम्भ में एक ब्राह्मण था, परन्तु बाद को मुसलमान हो गया था। कुछ समय के पश्चात् उसका बंगाल के सूबेदार से झगड़ा हो गया और वह मुकसाबाद में रहने लगा। सन् १७०४ में उसने उस नगर का नाम मुर्शिदाबाद रक्खा। धीरे धीरे मुर्शिदकुली खाँ की शक्ति बढ़ने लगी। कासिम बाजार में अँगरेजों को फैक्टरी स्थापित करने की आज्ञा देने के बदले में उसने उनसे २५ लाख रु० लिये। सन् १७१३ में वह बंगाल का सूबेदार हो गया। अपने शासन-काल में उसने बंगाल में पूर्ण शान्ति रक्खी और विरोधियों का दृढ़तापूर्वक दमन किया।

अलीवर्दी खाँ—मुर्शिदकुली खाँ सन् १७२५ में मर गया। उसके पश्चात् उसका दामाद शुजा खाँ गद्दी पर बैठा। शुजा खाँ अधिक काल तक जीवित न रहा। सन् १७३९ में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र सरफराज खाँ को पराजित कर अलीवर्दी खाँ सिंहासनासीन हुआ।

इसी समय मराठों ने बंगाल पर आक्रमण किया। अलीवर्दी खाँ ने आत्म-रक्षा का कोई उपाय न देखकर उनसे सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार उसने उन्हें उड़ीसा का भू-प्रदेश दे दिया तथा १२ लाख रुपया वार्षिक कर देने का भी वचन दिया।

सन् १७५६ में अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पूर्व वह अपने नाती मिर्जा मुहम्मद को, जो इतिहास में सिराजुद्दौला के नाम से प्रसिद्ध है, अपना उत्तरा-धिकारी चुन गया था।

अलीवर्दी खाँ के समय नवाब और अँगरेजों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक मैत्रीपूर्ण न था। मराठा-आक्रमण के समय उसने उन्हें अपने उपनिवेशों में किले बनाने की आज्ञा दे दी थी। परन्तु वह उनकी स्वतन्त्र मनोवृत्ति का सदैव विरोध किया करता था। वह कहा करता था कि 'तुम सब व्यापारी हो। तुम्हें किलों की क्या आवश्यकता? हमारे संरक्षण में रहते हुए, तुम्हें किसी भी शत्रु से डरने की आवश्यकता नहीं।'

अलीवर्दी खाँ अच्छी तरह से जानता था कि किस प्रकार राजनीतिक विषयों में हस्तक्षेप करके अँगरेजों ने दक्षिण में अपनी सत्ता निर्माण की है। अतः उसने निश्चित कर लिया था कि बंगाल की राजनीति से विदेशियों को बिलकुल दूर रक्खा जाय। वह उन्हें भारत से निकालना नहीं चाहता था, परन्तु इतना अवश्य था कि वह उन्हें व्यापारियों के रूप में ही देखना चाहता था। उसका कथन था कि योरपीय मधुमक्खियों के छत्ते के समान हैं। इनके मधु से यथासम्भव लाभ उठाना चाहिए। पर इन्हें छेड़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उस दशा में ये काट खायेंगी और इनका काटना प्राणघातक भी हो सकता है।

नवाब और अँगरेजों में द्वेष-भाव उत्पन्न होने के कई कारण थे। फर्रुखसियर के सन् १७१७ के फरमान द्वारा अँगरेजों को निःशुल्क व्यापार करने की कतिपय सुविधाएँ प्राप्त थीं। परन्तु अब उन्होंने उनका दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर

दिया था। वे प्रायः धन लेकर अन्य भारतीय व्यापारियों को अपने हस्ताक्षर से आज्ञापत्र देकर निःशुल्क व्यापार करने के लिए प्रेरित करते थे। इसके अतिरिक्त जो सामान उनके पास निःशुल्क आता था, उस पर वे भारी शुल्क लगाकर सर्वसाधारण को बेचते थे। परिणाम यह होता था कि प्रान्त में व्यापारिक असुविधा और असन्तोष के प्रसार के साथ-साथ नवाब की आय में भी कमी होती थी। अलीवर्दी खां ने इसका दृढ़तापूर्वक विरोध किया। उसके समय में तो अँगरेज कुछ न कर सके परन्तु उसके उत्तराधिकारी के समय उन्होंने षड्यन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया।

सिराजुद्दौला--अलीवर्दी खाँ की मृत्यु के पश्चात् सिराजुद्दौला गद्दी पर बैठा। समय की आवश्यकता के अनुकूल न तो उसमें योग्यता ही थी और न कार्य-क्षमता। साधारणतया हिन्दू और विशेषतया सेठ इस समय समाज के प्रमुख अंग थे। परन्तु सिराजुद्दौला को प्रारम्भ से ही उनसे द्वेष था। अतः प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू उसके शासन के अन्त की कामना करने लगे। वास्तव में बंगाल की नवाबी के पतन का कारण इतनी अँगरेजों की कार्यक्षमता और षड्यन्त्रकारिता नहीं थी जितनी कि नवाब के पदाधिकारियों की स्वामिभक्तिहीनता और हिन्दू जनता की सहानुभूतिहीनता।

जिस समय सिराजुद्दौला गद्दी पर बैठा, उस समय अँगरेजों ने उसे कोई भी उपहारादि न दिये। उनकी इस स्वतंत्र मनोवृत्ति एवं उपेक्षा की भावना से नवाब असन्तुष्ट हो गया। उसका असंतोष और भी अधिक बढ़ गया जब कि उसने देखा कि विदेशी फ्रांसीसी और अँगरेज बिना उसकी आज्ञा के दुर्ग-निर्माण कर रहे है। अतः उसने तत्काल आदेश निकाला कि दोनों ही किले बनवाना बन्द कर दें। फ्रांसीसी तो मान गये परन्तु अँगरेजों ने उसकी आज्ञा की उपेक्षा की। अब क्या था। सिराजुद्दौला आग-बबूला हो गया। उसने लिखा कि 'मैं खुदा और पैगम्बरों की कसम खाकर कहता हूँ कि जब तक अँगरेज अपनी खाइयाँ पाट देने, अपने किलों को गिरवा देने और नवाब जफर खाँ के समय की शर्तों पर व्यापार करने के लिए रजामन्द न हो जायँ, तब तक मैं उनके पक्ष में कुछ भी न सुनूँगा और उन्हें पूर्णतया अपने देश से निकाल बाहर करूँगा।'

इस आज्ञोल्लंघन के अतिरिक्त वैमनस्य के दूसरे कारण भी थे। अँगरेज़ १७१७ ई० के फरमान के आधार पर निःशुल्क व्यापार करना चाहते थे परन्तु उसके दुरुपयोग के कारण सिराजुद्दौला उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहता था। इसके अतिरिक्त नवाब के कुछ अभियोगियों को अँगरेजों ने अपने यहाँ शरण दी थी और जब नवाब ने उन्हें वापस माँगा तो उन्होंने इनकार कर दिया।

अँगरेजों से युद्ध—अँगरेजों की इस धृष्टता का दमन करने के लिए सिराजुद्दौला ने उन्हें दण्डित करने का निश्चय किया। उसने उनकी कासिम बाजार की फैक्टरी पर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। पुनः वह ५०,००० सैनिकों को लेकर कलकत्ता की ओर बढ़ा। अँगरेज इस आकस्मिक आक्रमण से घबड़ा गये। उन्होंने फ्रांसीसियों और डचों से सहायता की प्रार्थना की, परन्तु वह न मिल सकी। नवाब की सेना शक्तिशाली थी। उसमें योरपीय बन्दूकची एवं फ्रांसीसी सेनापति थे। तत्काल उसने अँगरेजों के किले को घेर लिया। भीषण विपत्ति को देखकर अंगरेजों के होश उड़ गये। किले के भीतर बन्द अँगरेज-स्त्रियों के करुण-क्रन्दन और आर्तदान से वायु-मण्डल गूँज उठा। रक्षा का कोई उपाय न देखकर अँगरेज गवर्नर ड्रेक (Drake), सेनापति मिचेन (Michen) तथा अन्य अनेक अँगरेज कायरतापूर्वक भाग निकले। अतः अब बचे हुए अँगरेजो ने एक अवकाश-प्राप्त सर्जन हालवेल (Holwell) को अपना सेनाध्यक्ष चुना। इन लोगों ने कुछ समय तक तो नवाब की सेना का मुकाबला किया, परन्तु अन्त में हताश होकर आत्म-समर्पण कर दिया। बहुत से अँगरेज बन्दी बना लिये गये। अँगरेज इतिहासकारों के मतानुसार नवाब ने इनमें से १४६ अँगरेज कैदियों को एक कोठरी में बन्द करवा दिया। जून का महीना था। अतः जब प्रातःकाल कोठरी खोली गई तो उनमें केवल २३ व्यक्ति ही जीवित पाये गये। शेष गर्मी की अधिकता और हवा की कमी के कारण उस छोटी कोठरी में घुटकर मर गये। यह घटना इतिहास में ब्लैकहोल के नाम से प्रसिद्ध की गई। परन्तु आधुनिक अन्वेषण ने सिद्ध कर दिया है कि इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। यह केवल अँगरेजों की मन-गढ़न्त ही थी। वास्तव में इस कपोल-कल्पित कथा का प्रचार अँगरेजों की प्रतिहिंसात्मक मनोवृत्ति को उभाड़ने के लिए ही किया गया था।

कलकत्ता पर अँगरेजों का पुनः अधिकार--जब अँगरेजों की कलकत्ता-पराजय एवं तथाकथित ब्लैकहोल की घटना का समाचार मद्रास पहुँचा, तो वहाँ अँगरेज जनता क्षुब्ध हो उठी। उनमें प्रतीकार की भावना भड़क उठी। उन्होंने शीघ्र ही क्लाइव की अध्यक्षता में एक सेना बंगाल भेजने का निश्चय किया। क्लाइव के सहायतार्थ वाट्सन और पोकाक (Pocock) भी नियुक्त किये गये। अतः ९०० योरपीय और १,५०० भारतीय सैनिकों को लेकर १६ अक्टूबर, सन् १७५६ में क्लाइव ने कलकत्ता की ओर प्रस्थान किया। यह दलबल दिसम्बर मास में वहाँ पहुँच गया। थोड़े ही दिनों में इसने कलकत्ता और हुगली पर पुनः अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला ने अँगरेजों का सामना किया, परन्तु व्यवस्थाहीन योजना और संगठनहीन सेना के कारण उसकी पराजय हुई। निराश होकर नवाब को अँगरेजों से सन्धि करनी पड़ी। शर्तों के अनुसार अँगरेजों के सारे जीते हुए प्रदेश उन्हें वापस कर दिये गये और उन्हें मुद्रा-निर्माण एवं दुर्गीकरण का अधिकार भी प्राप्त हो गया। नवाब ने उनका एक प्रतिनिधि मुर्शिदाबाद में रखना स्वीकार किया।

चन्द्रनगर पर अधिकार--यद्यपि नवाब से सन्धि तो हो गई थी, परन्तु क्लाइव की स्थिति अब भी सुदृढ़ न थी। उसे फ्रांसीसियों का भय था। वह जानता था कि नवाब का झुकाव फ्रांसीसियों की ओर अधिक है और वह अंगरेजों की शक्ति तोड़ने के लिए उनसे सन्धि कर सकता है। वास्तव में उस समय फ्रांसीसियों के आक्रमण की सम्भावना भी थी। बुसी कलकत्ता से केवल १०० मील दूर उत्तरी सरकार में वर्तमान था। अतः इस सम्भाव्य विपत्ति का सामना करने के लिए क्लाइव (Clive) और वाट्सन (Watson) ने चन्द्रनगर पर अधिकार कर लेना उचित समझा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने नवाब से एक अस्पष्ट आज्ञा-पत्र भी प्राप्त कर लिया। अतः मार्च, सन् १७५७ में उन्होंने चन्द्रनगर पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। अंगरेजों के विरुद्ध सिराजुद्दौला ने फ्रांसीसियों को कोई भी सहायता न दी। इसका एक विशेष कारण था। जनवरी, सन् १७५७ में अहमदशाह दुर्रानी ने दिल्ली पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। उस समय ऐसी किंवदन्ती फैली थी कि वह बंगाल पर भी आक्रमण करना चाहता है। अतः

आत्म-रक्षा के लिए नवाब को अँगरेजों की सहायता की आवश्यकता थी। इसी विचार से उसने फ्रांसीसियों को सहायता देकर अँगरेजों को रुष्ट करना उचित न समझा।

चन्द्रनगर पर आधिपत्य हो जाने से अँगरेजों को बड़ा लाभ हुआ। बंगाल में उनकी स्थिति सुदृढ़ हो गई। इसके विपरीत फ्रांसीसियों की सत्ता एवं प्रतिष्ठा को बड़ा भारी धक्का लगा।

सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यन्त्र—नवाब को शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि फ्रांसीसियों की मैत्री खोकर उसने भारी भूल की। क्लाइव भी उसके मनोभावों को भली भाँति समझता था। वह जानता था कि नवाब अवसर मिलने पर फ्रांसीसियों से पुनः सन्धि कर सकता है और इस प्रकार सम्मिलित शक्ति से अँगरेजों पर आक्रमण होना नितान्त सम्भव है। वास्तव में था भी ऐसा ही। नवाब ने शीघ्र ही बुसी से पत्र-व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया और उसे सैनिक सहायता देने के लिए आमन्त्रित किया। क्लाइव यह सूचना पाकर सशंकित हो गया। अतः अब उसने कलकत्ता की सुरक्षा का प्रबन्ध करना प्रारम्भ किया। यदि उसने तत्काल नवाब पर आक्रमण कर दिया होता तो निश्चय था कि उसकी विजय होती, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उसने दूसरा मार्ग अपनाया और वह षड्यन्त्र एवं धूर्तता का मार्ग था। भाग्यवश नवाब के दरबार में क्लाइव की षड्यन्त्रकारी योजनाओं को अग्रसर करने के लिए एक उपयुक्त मनुष्य भी मिल गया। यह उपयुक्त मनुष्य अलीवर्दी खाँ का बहनोई मीर जाफर था। वह नवाब के स्वामिभक्तिहीन उच्चाधिकारियों की सहायता से स्वयं राज्य हस्तगत करने की चेष्टा कर रहा था। इन घर के भेदियों ने क्लाइव से सम्पर्क स्थापित किया। वह तो ऐसे अवसर की ताक में था ही, अतः उसने इस षड्यन्त्र में पूर्ण सहायता देने का वचन दिया। वह भली भाँति जानता था कि बंगाल में नवाबी के पतन के बिना अँगरेजों की स्थिति सदैव संशयात्मक रहेगी। अतः एक अत्यन्त घृणित एवं षड्यन्त्रपूर्ण योजना बनाई गई। इसमें जगत सेठ और अमीचन्द नामक दो व्यक्ति भी सम्मिलित थे। जगत सेठ के साथ सिराजुद्दौला ने दुर्व्यवहार किया था और उसे बलात् मुसलमान बना लेने की भी धमकी दी थी। इसी प्रकार अमीचन्द नामक

(प्लासी का युद्ध)
१७५७
मोगोरा
मालपुर
सोनारडांगा
बलचर
नबाब की छावनी
रामनगर
किरलाह
नदी
भागीरथी
आम का बगीचा
राजा दुलाब राम
यार लुत्फ़ खाँ
मीर जाफ़र
प्लासी गाँव
बक्सर
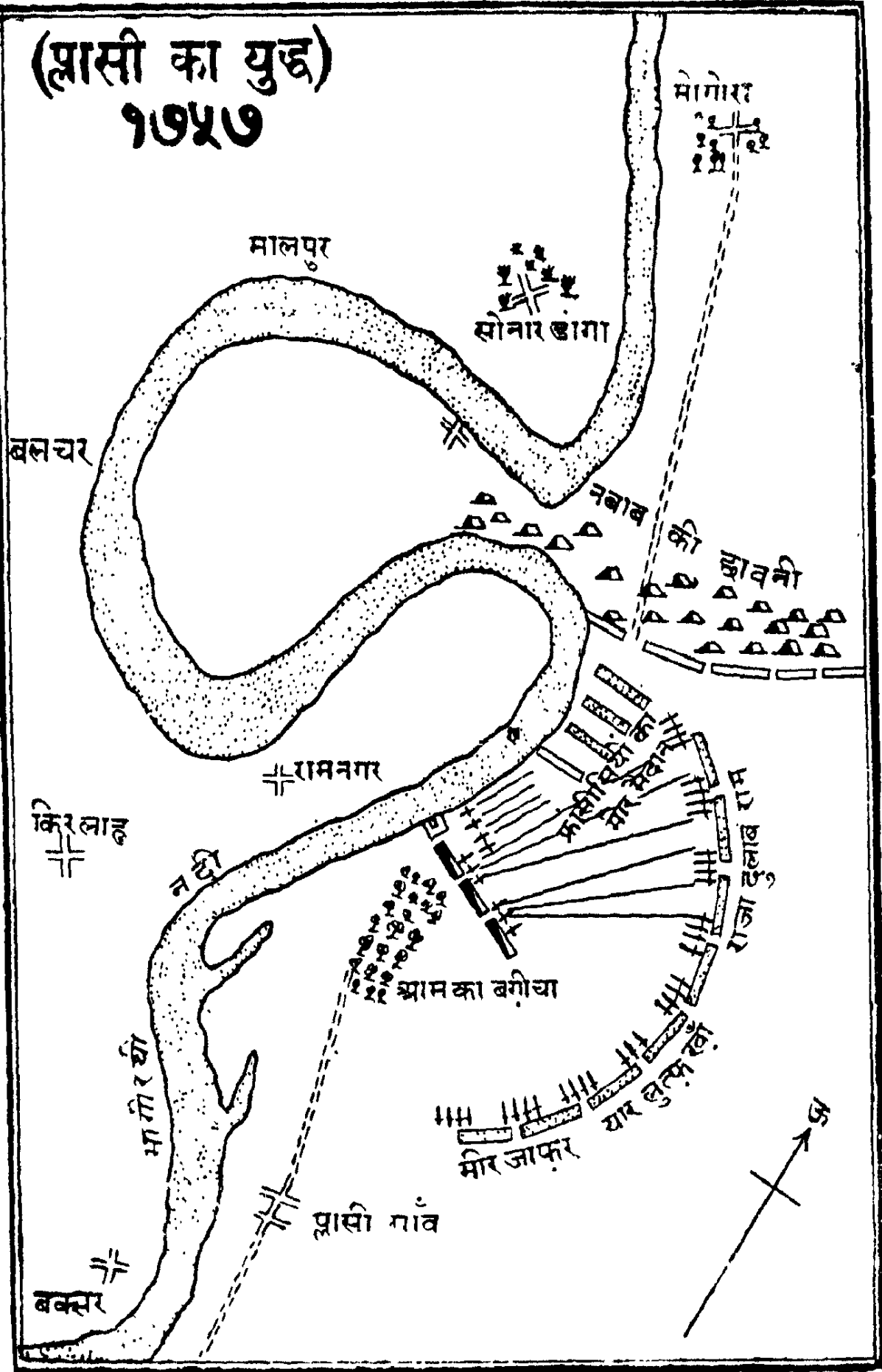
प्लासी का युद्ध

सिक्ख व्यापारी भी नवाब से अप्रसन्न था। इस योजना में उसने प्रमुख भाग लिया था। अतः उसने क्लाइव से कहा कि यदि योजना सफल हो गई तो मैं नवाब के कोष-धन का ५ प्रतिशत तथा जवाहिरात का चतुर्थ भाग कमीशन के रूप में लूँगा। और यदि ऐसा न किया गया तो मैं सारे षड्यन्त्र का भंडाफोड़ कर दूँगा। यह धमकी सुनकर क्लाइव कुछ समय के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। वह अमीचन्द की सहायता भी चाहता था और उसके साथ-साथ उसे इतना अधिक धन भी नहीं देना चाहता था। अतः बहुत कुछ सोच-विचार करने के पश्चात् उसने फिर धूर्तता का आश्रय लिया। उसने मीर जाफर के साथ होनेवाली सन्धि के दो प्रस्ताव-पत्र तैयार किये—एक श्वेत-पत्र पर जो वास्तविक था और दूसरा लाल पत्र पर जो जाली था। जाली पत्र में अमीचन्द को कथित धन देने का भी उल्लेख था। इन दोनों पत्रों पर क्लाइव ने अपने हस्ताक्षर कर दिये, परन्तु वाट्सन ने ऐसे धूर्ततापूर्ण एवं निन्द्य कार्य को करने से इनकार कर दिया। अतः विवश होकर क्लाइव ने उसके भी हस्ताक्षर स्वयं ही बना दिये।

इसी प्रकार सारी योजना बन गई। मीर जाफर ने वचन दिया कि यदि उसे बंगाल की नवाबी मिल गई, तो वह अँगरेजों को उनकी सारी व्यापारिक सुविधाएँ पुनः दे देगा, उन्हें ढाका और कासिम बाजार में किले बनवाने की स्वीकृति दे देगा और कलकत्ता पर उनका पूर्ण अधिकार मान लेगा। उसने कम्पनी को २४ परगनों की जमींदारी, तथा क्लाइव एवं अन्य अँगरेज उच्चाधिकारियों को प्रचुर धन देने का वचन दिया। इस प्रकार मीर जाफर ने स्वार्थसिद्धि के लिए एक ऐसी निन्दनीय योजना का प्रश्रय लिया जिसके कारण भारतीय इतिहास में वह सदैव एक देश-द्रोही के रूप में देखा जायेगा। उसके काले कारनामे वास्तव में भारतीय इतिहास के काले धब्बे हैं।

प्लासी का युद्ध—इस योजना के तैयार हो जाने पर क्लाइव ने नवाब को लिखा कि उसने गत फरवरी की सन्धि के विरुद्ध कार्य किये हैं जिससे कम्पनी के व्यापार एवं प्रतिष्ठा को बड़ी क्षति पहुँची है। उदाहरण के रूप में उसका बुसी के साथ होनेवाले पत्र-व्यवहार का उल्लेख किया गया। पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह ३,००० सैनिक लेकर कलकत्ते से चल पड़ा। जब वह

मुर्शिदाबाद से २३ मील दक्षिण में स्थित प्लासी में पहुँचा, तो उसे ज्ञात हुआ कि नवाब पहले से ही ५०,००० सैनिकों के साथ युद्ध-भूमि में उसका स्वागत करने के लिए प्रतीक्षा कर रहा था। इतनी विशाल सेना को देखकर क्लाइव भयभीत हुआ। पुनः उसे मीर जाफर की ओर से भी शंका थी। सम्भव था कि किसी कारण-वश वह नवाब का साथ छोड़कर ससैन्य उसकी सहायता करने के लिए उसकी ओर न आये। परन्तु अब क्या हो सकता था? अतः २३ जून को प्लासी का ऐतिहासिक युद्ध प्रारम्भ हुआ। सिराजुद्दौला ने अँगरेजों का दृढ़तापूर्वक सामना किया। उसके सेनापति मीर मर्दान तथा उसके सहायक लगभग ५० फ्रांसीसियों के सैन्य-दल ने असीम साहस दिखाया। परन्तु नवाब की सेना का एक बहुत बड़ा भाग मीरजाफर के अधीनस्थ था। इस देश-द्रोही ने भीषण युद्ध के समय धोखा दिया। नवाब ने उसका सेना से स्वामिभक्ति एवं कर्तव्य-परायणता की आशा की थी। उसे नहीं ज्ञात था कि उसका नेता एक गर्हित योजना का प्रमुख केन्द्र है और स्वार्थसिद्धि के लिए निन्द्यातिनिन्द्य विश्वासघात करने से भी नहीं चूकेगा। अस्तु, मीर जाफर अपनी सेना को लिए एक दर्शक की भाँति युद्ध में निष्क्रिय होकर खड़ा रहा। नवाब के सैनिक जीवन-मरण के संग्राम में व्यस्त थे, परन्तु मीर जाफर की सेना तमाशा देख रही थी। अतः परिणाम वही हुआ जो ऐसी स्थिति में प्रायः होना है। सिराजुद्दौला हार गया और प्राण-रक्षा के हेतु युद्ध-भूमि से भागा। परन्तु वह पकड़ा गया और मीर जाफर के पुत्र मीरन के द्वारा मार डाला गया। उसका मृत शरीर एक हाथी पर रखकर नगर के प्रमुख मार्गों से घुमाया गया। षड्यन्त्रकारियों की जघन्यता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई।

प्लासी के युद्ध का परिणाम—सैनिक दृष्टि से प्लासी के युद्ध का कोई मूल्य नहीं है। इससे अँगरेजों की रण-निपुणता अथवा सैनिक संगठन की कुशलता सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तव में क्लाइव ने युद्ध की कोई भी विस्तृत योजना न बनाई थी। उसकी सफलता का मुख्य कारण उसका कुशल सैनिक नेतृत्व न था, वरन् वह एक भारतीय की अपने देश के प्रति अक्षम्य देश-द्रोहिता थी। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से इस युद्ध का विशेष महत्त्व है। इसने

अंगरेजों की प्रतिष्ठा को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। इसके परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष का सबसे धनी प्रान्त उसके प्रभुत्व में आ गया। बंगाल का नवाब तो उनके हाथ की कठपुतली बन गया। उपलब्ध धन और शक्ति के प्रयोग से वे लैली आदि फ्रांसीसी सेनापतियों की योजनाओं को विफल कर उनके प्रभाव का मूलोच्छेदन कर सके। बंगाल हस्तगत हो जाने से अब अँगरेजों को उत्तर-भारत के अन्य प्रदेशों पर अधिकार करने की सुविधा प्राप्त हो गई।

प्लासी-विजय से क्लाइव को व्यक्तिगत लाभ भी हुआ। इससे उसे धन और कीर्ति दोनों मिली। मीर जाफर ने उसे कृतज्ञता-प्रकाशन के हेतु एक अच्छी जागीर दी जिसकी वार्षिक आय ३०,००० पौंड थी। इसके अतिरिक्त उसे तथा अन्य पदाधिकारियों को बहुमूल्य उपहार मिले। बंगाल की नवाबी तो मीर जाफर को मिली, परन्तु वास्तविक सत्ता क्लाइव के हाथ ही में थी। इतने बड़े परिवर्तन के करने का सारा श्रेय उसे प्राप्त हुआ। अँगरेजी जनता के मस्तक उसके प्रति कृतज्ञता के भार से झुक गये।

नवाब मीर जाफर—प्लासी-युद्ध की समाप्ति के दूसरे दिन ही अंगरेजों ने मुर्शिदाबाद में मीर जाफर को नवाब घोषित किया। उसने अपने सहायकों को मुक्तहस्त से उपहार दिये। कम्पनी को २४ परगनों की जमींदारी मिली, जिनकी वार्षिक आय १,५०,००० पौंड थी। क्लाइव को २,३८,००० की प्रचुर सम्पत्ति मिली। कम्पनी के अन्य अधिकारियों को भी खूब धन दिया गया। परन्तु अमीचन्द को कुछ भी न मिला। जब उसे सारे षड्यन्त्र का पता लगा तो उसके हृदय पर भीषण आघात हुआ। सारी वास्तविकता सुनकर वह अर्धचेतन अवस्था में गिरने ही वाला था कि उसके एक नौकर ने उसे पकड़ लिया।

मीर जाफर अँगरेजों के हाथ की कठपुतली बन गया। उपहार एवं दान में उसका कोष खाली हो गया। अतः उसे अपने जवाहिरात इत्यादि बेचकर एवं जागीरें प्रदान कर अपने सहायकों की धन-बुभुक्षा शान्त करनी पड़ी। चारों ओर स्वार्थ-सिद्धि का बोलबाला हो गया।

बंगाल के शासन में कुव्यवस्था फैल गई। कम्पनी के अधिकारी जोंक की तरह नवाब को चूसने लगे। क्लाइव नवाब की निर्बलता को समझता था। अतः उसने उसकी विवशता से लाभ उठाकर अँगरेजी हितों को सुदृढ़

करना प्रारम्भ किया। शासन में अनवरत हस्तक्षेप के द्वारा उसने नवाव के ऊपर अपना प्रभाव जमा लिया। अब नवाब उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी न कर सकता था। वास्तव में बंगाल की नवावी का स्वतन्त्र अस्तित्व प्लासी के युद्ध में नष्ट हो गया।

अलीगौहर का आक्रमण—फरवरी सन् १७५९ में शाहजादा अलीगौहर ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला की सहायता से बंगाल पर आक्रमण कर दिया। अलीगौहर मुगल-सम्राट् का पुत्र था जो कालान्तर में शाह आलम द्वितीय के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। आक्रमण का कारण यह बताया जाता है कि मुगल-सम्राट् ने बंगाल का प्रान्त उसे दे दिया था। अतः अपने अधिकार-क्षेत्र में अँगरेजों के प्रभुत्व को उन्मूल करने के ध्येय से उसने बंगाल पर आक्रमण किया। उसने पटना पर आक्रमण किया। वहाँ के असन्तुष्ट जमींदारों ने उसका साथ दिया। परन्तु अँगरेजी सेना के आ जाने से शाहजादे की सफलता असम्भव हो गई। अतः उसे वापस लौटना पड़ा। जिन जमींदारों ने उसका साथ दिया था, उनका अँगरेजों ने दमन कर दिया और बंगाल पर उनकी प्रभुता अक्षुण्ण हो गई।

क्लाइव और डच—अँगरेजों के निरन्तर हस्तक्षेप से नवाव मीर जाफर थोड़े ही दिनों में ऊब गया। अतः अब वह उनसे छुटकारा पाने की चेष्टा करने लगा। इस ध्येय से उसने चिन्सुरा के डचों से पत्र-व्यवहार करना प्रारम्भ किया और उनसे सहायता की प्रार्थना की। डच तो पहले से ही अँगरेजों की सफलता से क्षुब्ध थे। अँगरेजों के प्रभाव-विस्तार से उनके व्यापार को बड़ी हानि पहुँची थी। अतः उन्होंने अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध करने की तैयारी की। उन्होंने शीघ्र ही बटेविया से एक जहाजी बेड़ा मँगवा लिया। जब क्लाइव को उनकी युद्ध-योजनाओं की सूचना मिली तो तत्काल ही उसने उन पर आक्रमण कर दिया। डचों की पराजय हुई और उन्हें क्षति-पूर्ति के लिए अँगरेजों को प्रचुर धन देना पड़ा। इसके बाद फिर कभी भविष्य में डचों ने राजनीति में भाग न लिया। उनके कार्य व्यापारिक क्षेत्र ही में सीमित रहे।

निरन्तर कार्य करते रहने के कारण क्लाइव का स्वास्थ्य खराब हो गया और फरवरी, सन् १७६० में वह स्वदेश चला गया।

क्लाइव के पश्चात्—क्लाइव के चले जाने के पश्चात् बंगाल की दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती गई। चारों ओर कुशासन और भ्रष्टाचार फैल गया। इस समय कम्पनी का प्रबन्ध अयोग्य और अनुभवहीन मनुष्यों के हाथ में था। इससे परिस्थिति और भी दूषित हो गई। कम्पनी के अफसर अनेक सुख-सुविधाओं का तो उपभोग करते थे, परन्तु तत्सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन न करते थे। कम्पनी और नवाब दोनों को धन की आवश्यकता थी। कम्पनी को इँगलैंड में अपने स्वामियों के पास प्रचुर धन भेजना पड़ता था और इधर नवाब को अपनी सेनाओं एवं कम्पनी के उच्चाधिकारियों को धन देना पड़ता था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सम्पूर्ण व्यापार पर कम्पनी ने अपना एकाधिकार स्थापित करने की चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि व्यापारिक कार्य एवं शासन-कार्य दोनों एक ही के हाथ में पड़ गये। अतः दोनों में से कोई भी सुचारु रूप से न चल सका।

क्लाइव के पश्चात् हालवेल (Holwell) उसका उत्तराधिकारी हुआ। परन्तु वह बिगड़ी हुई परिस्थिति को बिलकुल ही न सुधार सका। कम्पनी के अफसरों का वेतन अधिक न था। अतः वे सब अनुचित उपायों से धन उपार्जन करने में लगे थे। छोटे से बड़े अफसर तक में यही धन-लिप्सा व्याप्त थी। अतः ऐसी दशा में सुधार होना बड़ा कठिन था।

हालवेल के पश्चात् वान्सिटार्ट (Vansittart) आया। वह बड़ा नेक और सच्चरित्र व्यक्ति था। इस समय कम्पनी के पास रुपया न था। इँगलैंड के डाइरेक्टर यही समझते थे कि बंगाल में अक्षय धन-राशि भरी पड़ी है। अतः उन्होंने वहाँ के प्रतिनिधियों से कहा कि वे मद्रास और बम्बई की प्रेसीडेंसियों को आर्थिक सहायता दें। इस समय नवाब की दुरवस्था थी। वह नितान्त अशक्त और असमर्थ हो गया था। कम्पनी के धन-पिपासु कर्मचारियों ने उसे चूस डाला था। राज-कोष खाली पड़ा था। राजकीय आय घट गई थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक परिस्थिति ने उसकी स्थिति और भी अधिक विषम कर दी थी। शाहआलम ने द्वितीय आक्रमण किया था। परन्तु बिहार में स्थित अँगरेज सेना ने उसे विफल कर दिया था। युद्ध के पश्चात् अँगरेज सेनापति ने मीर जाफर पर यह आरोप लगाया कि उसने अँगरेजों से सहयोग

नहीं किया है। मीर जाफर अब वृद्ध हो गया था। अतः उससे दृढ़तापूर्वक कार्य करने की आशा करना व्यर्थ था। उसका पुत्र पहले ही बिजली के आघात से मर चुका था। अब स्वय उसके विरुद्ध भी षड्यन्त्र होने लगे थे। कम्पनी के कर्मचारी एवं कुछ दरबारी उसे गद्दी से उतारकर उसके दामाद को नवाब बनाना चाहते थे। इस योजना में स्वयं हालवेल और वांसिटार्ट का भी हाथ था। अतः कुछ समय पश्चात् बंगाल की कौंसिल ने ऐसा ही किया। मीर जाफर गद्दी से उतार दिया गया और उसके स्थान पर मीर कासिम नवाब बनाया गया।

मीर कासिम—सितम्बर २७, सन् १७६० में मीर कासिम से एक सन्धि की गई। नवाब ने कम्पनी को बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव की जमींदारी दी। अतः अब कम्पनी को एक निश्चित आय का साधन हो गया। उसे केवल नवाब की सहायता एवं कृपा पर निर्भर रहना न था। यह भी निश्चित हुआ कि न तो नवाब के लोग अँगरेजों की भूमि पर बस सकेंगे और न अँगरेज नवाब की भूमि पर। पुनः मीर कासिम ने अपनी पूर्वाधिकारी के सारे ऋण चुका देने का भी वचन दिया। इस परिवर्तन से कम्पनी को प्रचुर आर्थिक लाभ हुआ। कौंसिल के सदस्यों को २,००,००० पौंड मिले। स्वयं गवर्नर वांसिटार्ट को ५०,००० पौंड प्राप्त हुए।

परन्तु नवाब-परिवर्तन से ही बंगाल की समस्या हल न हो सकी। नवाब और कम्पनी के बीच जो वमनस्योत्पादक कारण वर्तमान थे, उन्हें हल करने का कोई प्रयत्न न हुआ। ऐसी दशा में पुनः भविष्य में उन दोनों के स्वार्थों में संघर्ष होना निश्चित था।

मीर कासिम एक योग्य और बुद्धिमान् शासक था। सिंहासन पर आते ही उसने बंगाल की दशा सुधारने का प्रयत्न किया। उसका सबसे पहला काम पटना के गवर्नर रामनारायण को पदच्युत करना था। यह गवर्नर अँगरेजों के पक्ष का कट्टर समर्थक था। कम्पनी के कर्मचारियों की सहायता से वह स्वतन्त्र मनोवृत्ति का हो गया था और प्रायः नवाब की आज्ञाओं का उल्लंघन किया करता था। उसने नवाब को राज्य-कर देना भी बन्द कर दिया था। मीर जाफर ने उसे पदच्युत करने की कई बार चेष्टा की, परन्तु क्लाइव के विरोध के कारण वह ऐसा न कर सका। परन्तु मीर कासिम दृढ़ विचारों का

व्यक्ति था। अतः नवाब होते ही उसने रामनारायण को हटाने का निश्चय किया। जब रामनारायण को यह ज्ञात हुआ तो उसने सर आयर कूट नामक अँगरेज अफसर की सहायता से नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र करना प्रारम्भ किया। परन्तु गवर्नर वांसिटार्ट ने मीर कासिम का पक्ष लिया। रामनारायण पदच्युत कर दिया गया और उसकी सारी जायदाद जब्त कर ली गई।

अब मीर कासिम ने आन्तरिक व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। उसके राज्य में भोजपुरी जमींदार इस समय चारों ओर उत्पात मचा रहे थे। वे निडरता-पूर्वक इधर-उधर डाका डालते घूमते थे। मीर कासिम ने उन पर आक्रमण किया और उनके कई किले जीतकर उन्हें उनके जिलों से निकाल बाहर किया। जो जमींदार भाग गये उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उनके स्थान पर भिन्न भिन्न परगनों में तहसीलदार नियुक्त किये गये। नवाब ने विद्रोह-दमन के लिए कठोर नीति का अवलम्ब लिया। स्थान-स्थान पर सैकड़ों गुप्तचर रक्खे गये जिनका कार्य अपराधियों को ढूँढ़ निकालना था। अनेक व्यक्ति विद्रोह और षड्यन्त्र के अभियोग में फाँसी पर लटका दिये गये। बहुतों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई तथा अन्य को कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। मीर कासिम ने पुनः अपनी सेना का संगठन किया। उसमें उसने विदेशियों को भी रक्खा। समरू (Sombre) नामक एक जर्मन को उसने अपना सेनापति बनाया। इस प्रकार भय और आतंक की दृढ़ नीति के द्वारा मीर कासिम ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की। एक तत्कालीन इतिहासकार लिखता है कि दरबार का अत्यधिक प्रभावशाली व्यक्ति भी उसके सम्मुख एक भी गलत शब्द बोलने का साहस न करता था एवं उसका कोई भी कर्मचारी शान्तचित्त होकर अपने बिस्तर पर न सो सकता था। मीर कासिम के प्रभाव से सभी भयभीत हो गये थे।

अब मीर कासिम ने अपने राज्य की सीमाओं को दृढ़ करना प्रारम्भ किया। उसने स्वयं सीमान्त दुर्गों का निरीक्षण किया और उनके संरक्षण के लिए अफसर नियुक्त किये। सेनापति समरू एक सबल सैन्य के साथ बक्सर में नियुक्त किया गया। मीर कासिम ने अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से बदलकर मुंगेर में स्थापित की जो अँगरेजों के निरन्तर हस्तक्षेप एवं प्रभाव से दूर था। अतः अब यह स्पष्ट हो गया था कि वह अँगरेजों के साथ भी दृढ़तापूर्वक व्यवहार

करेगा, परिणाम चाहे जो हो। ऐसी परिस्थिति में दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी था।

मीर कासिम का अँगरेजों से झगड़ा—शीघ्र ही नवाब और कम्पनी के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि फर्रुखसियर के फरमान के द्वारा कम्पनी को नि:शुल्क व्यापार करने की आज्ञा मिली थी। सन् १७५६ के पश्चात् कम्पनी के नौकर अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए भी इस फरमान का उपयोग करने लगे। वे नमक, पान, तम्बाकू आदि वस्तुओं का व्यापार शुल्क दिये बिना ही करने लगे। प्लासी के युद्ध के पश्चात् जो सन्धि हुई थी, उसमें इस नि:शुल्क व्यक्तिगत व्यापार का कहीं भी उल्लेख न था। केवल मीर जाफर ने एक सनद द्वारा अँगरेजों को हर प्रकार के व्यापार की आज्ञा दी थी। पर इसका तात्पर्य यह न था कि वे नि:शुल्क व्यापार करें। इस प्रकार के व्यापार से राज्य की आय को तो क्षति हो ही रही थी, देशी व्यापारियों के व्यापार को भी बड़ी हानि थी। अनेक भारतीय गुमाश्ते अँगरेज कर्मचारियों के परमिटों के आधार पर नि:शुल्क व्यापार करने लगे। मीर कासिम के लिए यह सब असह्य था। उसने कलकत्ता की कौंसिल से इस अनीति की शिकायत की। परन्तु उसका कोई परिणाम न हुआ। उलटे उसी पर अँगरेजों के हितों की हत्या करने का आरोप लगाया गया। यही नहीं, धन-लोलुपता के वशीभूत होकर कौंसिल ने अब सम्पूर्ण रेशम के व्यापार पर २½ प्रतिशत के शुल्क लगाने का निश्चय किया और घोषित किया कि भविष्य में अँगरेज अफसर नवाब के नियन्त्रण में न रहेंगे। यह अन्याय और अनीति की पराकाष्ठा थी। इससे बचने का अन्य उपाय न देखकर नवाब ने सम्पूर्ण व्यापार नि:शुल्क कर दिया। फिर क्या था? अँगरेज आग-बबूला हो गये। नवाब के इस कार्य से उनका निशुल्क: व्यापार करने का एकाधिकार समाप्त हो गया था। अत: उन्होंने नवाब पर नये-नये आरोप लगाये और कहा कि उसने संधि के विरुद्ध कार्य किये हैं। अत: कौंसिल ने युद्ध की तैयारी की और उसे पदच्युत करने की घोषणा की। उसके स्थान पर मीर जाफर को पुन: सिंहासनारूढ़ करने का निश्चय किया गया।

मीर कासिम दबनेवाला व्यक्ति न था। उसने अपने २०,००० सैनिकों को लेकर कासिम बाजार पर धावा बोल दिया और उसे अपने अधिकार में कर लिया।
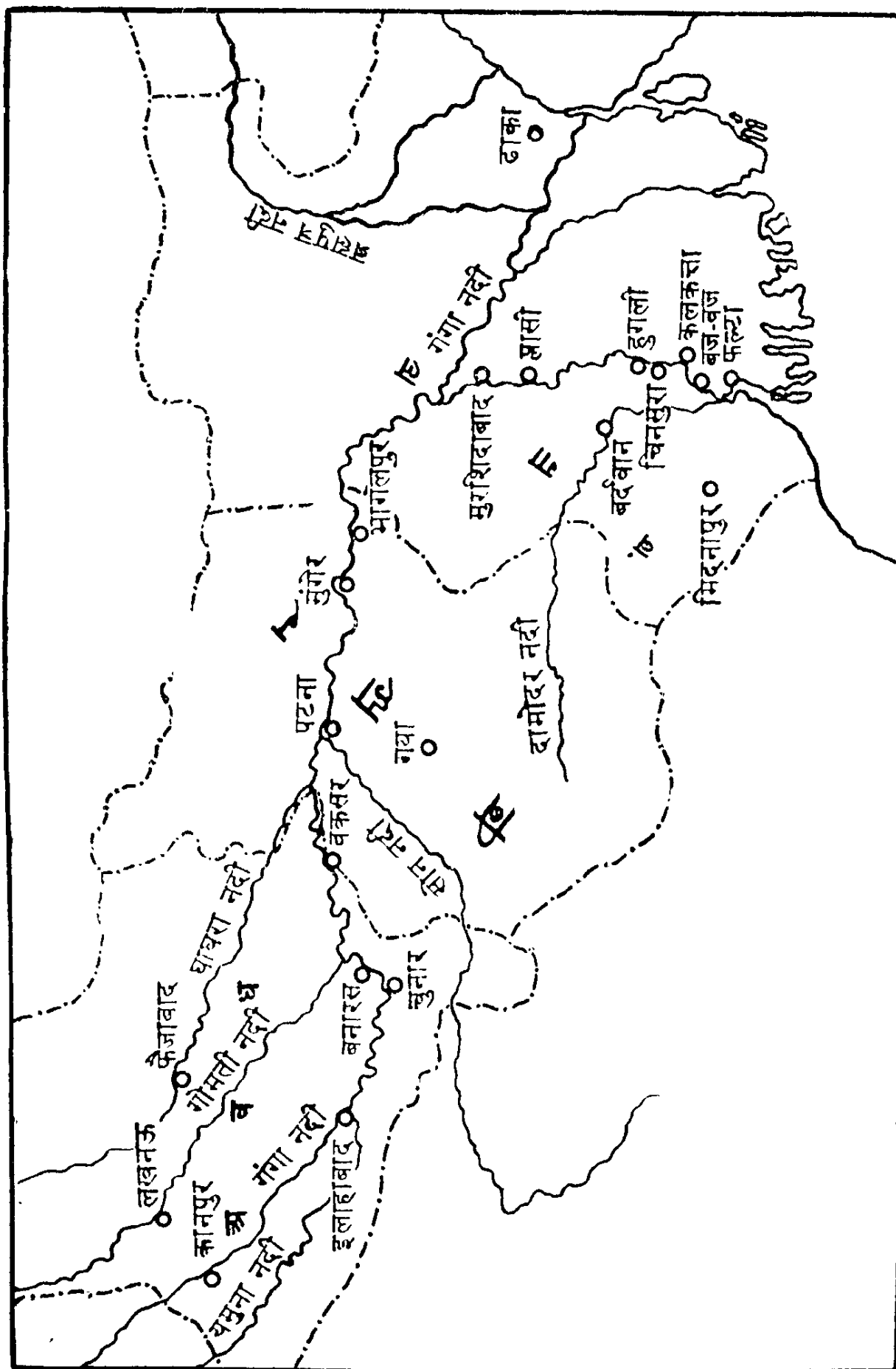
परन्तु इसी समय कलकत्ता से अँगरेजी सेना आ गई। उसने मीर कासिम को कोहेरिया और उदयनाला के युद्धों में पराजित किया।

परन्तु मीर कासिम ने आत्म-समर्पण न किया। एक वीर सैनिक की भाँति उसने अन्त तक अँगरेजों का विरोध करने का निश्चय किया। क्रोध और अपमान से क्षुब्ध होकर उसने सारे योरपीय बन्दियों को समरू द्वारा कत्ल करवा डाला। यह हत्याकाण्ड इतिहास में पटना के हत्याकाण्ड के नाम से विख्यात है।

बक्सर का युद्ध—आत्म-रक्षा का कोई अन्य उपाय न देखकर मीर कासिम अवध की ओर भागा। वहाँ के नवाब शुजाउद्दौला ने उसकी सहायता करने का वचन दिया। दोनों ने मुगल-सम्राट् शाह आलम का भी सहयोग प्राप्त कर लिया। शीघ्र ही मीर कासिम, शुजाउद्दौला और शाह आलम की सम्मिलित सेनाएँ पटना की ओर बढ़ीं। इनकी ओर लगभग चालीस हजार से साठ हजार तक सैनिक थे। इस आक्रमण का सामना करने के हेतु अँगरेज भी अपने ७,०७२ सैनिक एवं २० तोपें लाकर बक्सर के मैदान में आ डटे। अक्टूबर, सन् १७६४ में युद्ध प्रारम्भ हुआ। मीर कासिम ने वीरतापूर्वक युद्ध किया, परन्तु पराजित हुआ। उसके २,००० सैनिक मारे गये और इसके कई गुने नदी में डूब गये। अँगरेजों के कुल ८४७ सैनिक काम आये। तत्पश्चात् अँगरेजों ने शुजाउद्दौला के राज्य पर चढ़ाई की और बिना अवरोध के ही इलाहाबाद और चुनार पर अधिकार कर लिया।

शुजाउद्दौला ने मीर कासिम के साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया। उसे मीर कासिम को अंगरेजों से बचाने की इतनी चिन्ता न थी जितनी कि उसके धन-हरण करने की। कहते हैं कि नवाब वजीर की आज्ञा से मीर कासिम उबलते हुए पानी में बैठाया गया और अपना सारा धन उसे दे देने के लिए विवश किया गया। तीव्र यन्त्रणा भुगतने के पश्चात् मीर कासिम ने कहा था कि 'नवाब वजीर अब मुझसे क्या चाहता है। जो कुछ मेरे पास था वह सब उसने छीन लिया है। अब यदि उसका ध्येय मुझे मार डालना ही है, तो मैं ईश्वर के नाम पर तैयार हूँ। और यदि वह मुझे जीवन-दान देना चाहता है तो वह ऐसा कर सकता है जिससे कि मैं अपनी इच्छानुसार अन्यत्र चला जाऊँ।'

कुछ समय बाद उसे जाने की आज्ञा मिल गई। कहा जाता है कि एक लँगड़े हाथी पर बैठकर वह वहाँ से निकल पड़ा। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि मैं

अवसर मिलने पर पुनः अँगरेजों से युद्ध करूँगा। पर अभाग्यवश उसे फिर ऐसा अवसर न मिल सका।

बक्सर के युद्ध का परिणाम—एक दृष्टि से बक्सर का युद्ध प्लासी के युद्ध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अब कम्पनी केवल व्यापारिक संस्था ही न रही, वरन् उसके हाथ में राजनीतिक शक्ति भी आ गई। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप केवल बंगाल का नवाब ही नहीं, प्रत्युत मुगल-सम्राट् एवं उसका नवाब वजीर भी पराजित हुए। उनकी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा और देश में चतुर्दिक् अँगरेजों की धाक जम गई। इस युद्ध में अँगरेजी सेनाओं ने बनारस और इलाहाबाद तक आक्रमण किया था। अतः तत्पश्चात् शेष उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग पर अपना प्रभुत्व जमाना अब उनके लिए सुगम हो गया।

अध्याय १५

क्लाइव का दूसरी बार गवर्नर होना

सन १७६५में कम्पनी की स्थिति—बक्सर के युद्ध के पश्चात् भारतवर्ष में अँगरेजों की धाक जम गई। बंगाल का नवाब मीर जाफर उनके हाथ की कटपुतली था। मुगल-सम्राट् शाह आलम उनकी शरण में आ चुका था। अवध का नवाब वजीर शुजाउद्दौला अँगरेजों की सैनिक शक्ति के सामने सिर झुका चुका था। इस बार अँगरेज बंगाल की सीमा के बाहर निकलकर बनारस और इलाहाबाद तक धावा बोल चुके थे। उत्तर-भारत के शेष पश्चिमोत्तर प्रदेश भी उनकी दृष्टि के अन्तर्गत आ चुके थे। वास्तव में तत्कालीन उत्तर-भारत की राजनीतिक परिस्थिति भी कम्पनी के उत्थान के लिए अनुकूल थी। सन् १७६१ के पानीपत के युद्ध में मराठों की उदीयमान शक्ति टूट चुकी थी। अतः अब उस प्रदेश में किसी अन्य शक्ति से अँगरेजों को विशेष भय न था।

बक्सर के युद्ध के पश्चात् मीर जाफर को पुनः बंगाल की नवाबी मिली थी। परन्तु वह अधिक दिनों तक उसका उपभोग न कर सका। फरवरी, सन् १७६५ में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् अँगरेजों ने उसके द्वितीय पुत्र नजमुद्दौला को नवाब बनाया। नया नवाब भी अँगरेजों के हाथ का खिलौना था। वास्तविक सत्ता तो कम्पनी के हाथ ही में रही। अँगरेजों ने शासन-कार्य की देख-रेख के लिए अपने एक निजी व्यक्ति मुहम्मद रजा खाँ को नवाब का नायब बनाया। राज्य का सारा काम-काज वास्तव में यही नायब करता था। नवाब की स्थिति उससे भी अधिक गईबीती थी।

पूर्व परम्परा के अनुसार नये नवाब ने भी अँगरेजों की धन-पिपासा को यथाशक्ति शान्त किया। अँगरेज गवर्नर और उसके सहयोगियों को १,३९,३५७ पौंड मिले। इसके अतिरिक्त कम्पनी के अन्य अधिकारियों को भी बहुमूल्य उपहार एवं प्रचुर धन मिला।

यद्यपि बाह्य दृष्टि से कम्पनी की स्थिति बड़ी दृढ़ एवं समयानुकूल प्रतीत होती थी, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से उत्तरोत्तर उसके संगठन की नींव निर्बल

होती जाती थी। उसके भीतर भ्रष्टाचार का बोलबाला था। कम्पनी के अधिकारी एवं कर्मचारी स्वार्थपरायण हो गये थे। उन्हें कम्पनी के हितों की अपेक्षा अपने हितों का अधिक ध्यान रहता था। समय समय पर नवाब से उन्हें जो धन एवं उपहारादि मिले, उन्होंने उनकी धन-लोलुपता को और भी अधिक तीव्र कर दिया। अब वे अर्थ-संग्रह के नये-नये उपाय ढूंढ़ने लगे। कुछ ने अपना निजी व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया। दूसरों ने देशी व्यापारियों से घूस लेकर उन्हें निःशुल्क व्यापार करने के हेतु परमिट बाँटना आरम्भ कर दिया। अतः इस चतुर्दिक् भ्रष्टाचार को देखकर इँगलैंड में कम्पनी के अधिकारी घबड़ा गये। उन्होंने समझ लिया कि यदि यह दशा निर्विघ्न रूप से चलती रही तो कम्पनी शीघ्र ही अपनी समाधि स्वयं खोद लेगी। अतः परिस्थिति-सुधार के लिए उन्होंने पुनः क्लाइव को भारत भेजने का निश्चय किया।

क्लाइव का पुनरागमन—क्लाइव सन् १७६० में अस्वस्थता के कारण स्वदेश लौट गया था। भारत में रहकर उसने अतुल धन-राशि प्राप्त की थी। अतः उसी के आधार पर वह आयरिश पीयर (Irish Peer) एवं पार्लियामेंट का सदस्य हो गया। जब बंगाल के भ्रष्टाचार एवं अव्यवस्था का समाचार इँगलैंड पहुँचा तो कम्पनी के डायरेक्टरों ने उसे भारतवर्ष भेजने का निश्चय किया। इस निर्वाचन का मुख्य कारण उसका भारतीय परिस्थिति का ज्ञान एवं अनुभव तथा देश के प्रति महान् सेवा-कार्य थे। अतः वह बंगाल का गवर्नर तथा भारतीय अँगरेजी सेनाओं का सर्वोच्चाधिकारी नियुक्त किया गया। उसकी जागीर पर उसका अधिकार १० वर्ष के लिए स्वीकृत कर लिया गया। शासन-कार्य में उसके सहायतार्थ एक कौंसिल अथवा सिलेक्ट कमेटी का भी निर्देश किया गया।

कम्पनी का राजनीतिक सम्बन्ध—ऊपर बतलाया जा चुका है कि मुगल-सम्राट् शाह आलम और अवध का नवाब वजीर कम्पनी के सम्मुख नत-मस्तक हो चुके थे। यदि क्लाइव चाहता तो अवध-राज्य को अपने अधिकार में कर सकता था, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वह कम्पनी के आधिपत्य को केवल बंगाल, बिहार और उड़ीसा तक ही सीमित रखना चाहता था। अतः उसने अवध-राज्य को अपने अधिकार-क्षेत्र में न लाकर केवल प्रभाव-क्षेत्र में रखना ही श्रेयस्कर समझा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए वह इलाहाबाद गया और उसने

अगस्त, सन् १७६५ में नवाब वजीर से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार एक-दूसरे ने युद्ध के अवसर पर पारस्परिक सहायता देने का वचन दिया। अँगरेजों ने नवाब को यह भी विश्वास दिलाया कि वे आवश्यकता पड़ने पर सदैव धन लेकर नवाब को सैनिक सहायता देंगे। नवाब ने अँगरेजों की क्षति-पूर्ति के लिए उन्हें ५० लाख रुपया देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त उसने कड़ा और इलाहाबाद के जिले मुगल-सम्राट् को सुपुर्द कर देना भी स्वीकृत कर लिया। बनारस के राज-वंश का शासनाधिकार मान लिया गया और वह अवध-राज्य के आश्रित घोषित किया गया। पुनः नवाब ने विश्वास दिलाया कि वह मीर कासिम और समरू को अपने राज्य में आश्रय न देगा।

दीवानी बंगाल में दोहरा शासन--इसी प्रकार क्लाइव ने मुगल-सम्राट् से भी सन्धि की। वास्तव में मुगल-सम्राट् के पास उपाधि के अतिरिक्त और कुछ भी न था। अतः उसे कड़ा और इलाहाबाद के जिले दिये गये। इसके अतिरिक्त कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के आय-कोष से उसे २६ लाख रुपया वार्षिक पेंशन देना भी स्वीकृत किया। इसके बदले में सम्राट् ने कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी।

दीवानी का अधिकार प्राप्त हो जाने से कम्पनी की स्थिति में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। दीवान का कार्य मालगुजारी वसूल करना एवं एक सीमा तक न्याय-वितरण करना था। क्लाइव ने इन दोनों कार्यों को मुहम्मद रजा खाँ एवं राजा शिताब राय नामक दो भारतीय कर्मचारियों के सुपुर्द कर दिया। इन दोनों को नवाब का पद दिया गया और इनके मुख्य केन्द्र क्रमशः मुर्शिदाबाद और पटना में स्थापित किये गये। इस प्रकार दीवानी तो अँगरेजों के हाथ में आ गई, परन्तु फौजदारी कार्य नवाब के हाथ ही में रहा। इस कार्य के करने के लिए नवाब को एक नियत वार्षिक धन (५३ लाख रु०) देना स्वीकृत हुआ। परन्तु वास्तव में सारी सैनिक शक्ति अँगरेजों के ही हाथ में थी। शासन-कार्य में भी नवाब स्वतन्त्र न था। इस प्रकार इस नई योजना के अन्तर्गत कम्पनी के हाथ में तलवार और कोष दोनों आ गये। वर्तमान नवाब अल्पवयस्क था। अतः उसकी सहायता के लिए मुहम्मद रजा खाँ नामक एक व्यक्ति नायब

बनाया गया। यह नायब कम्पनी द्वारा निर्वाचित था और अपने कार्यो के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी था। अतः उसकी स्थिति बड़ी ही अनिश्चित थी।

दीवानी-प्राप्ति से भारत में अँगरेजों की वास्तविक सत्ता का प्रारम्भ होता है। इस समय तक क्लाइव ने भली भाँति समझ लिया था कि उत्तरदायित्व-हीन शासन-कार्य का समय बीत गया है। उसने मद्रास को लिखा था कि 'हमें नाम में नहीं तो यथार्थता में तो अवश्य ही नवाब बन जाना चाहिए।' इसी ध्येय से उसने कम्पनी के लिए दीवानी का अधिकार प्राप्त किया था। अभी तक कम्पनी ने एक षड्यन्त्रकारी संस्था के रूप में कार्य किया था, परन्तु अब उसके हाथ में शासन कार्य आ गया था।

क्लाइव का उपर्युक्त प्रबन्ध बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण था। उसने अँगरेजी सत्ता को बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अत्यन्त सुदृढ़ कर दिया। यदि वह चाहता तो सम्पूर्ण अवध पर अधिकार कर दिल्ली पर धावा बोल सकता था। परन्तु ऐसा करने से कम्पनी की स्थिति बड़ी जटिल हो जाती। सम्पूर्ण भारतीय राज्य---मराठा मुस्लिम और राजपूत---अँगरेजों का विरोध करते। इसके लिए कम्पनी उस समय तैयार न थी। उसे अधिगत प्रदेशों का संगठन कर शक्ति-संचय करना था न कि नये प्रदेशों की प्राप्ति में अपनी शक्ति का असामयिक व्यय करना। इसी दृष्टि से क्लाइव ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से संधि कर ली। अवध बंगाल तथा शेष उत्तर-भारतवर्ष के बीच में था। अतः उसे मित्र बनाकर अँगरेजों की स्थिति सुरक्षित हो गई।

मुगल-सम्राट् अब इलाहाबाद में रहने लगा। अँगरेजों के निकट सम्पर्क में आ जाने के कारण वह उनके हाथ की कठपुतली हो गया। अब वे आवश्यकतानुसार उससे कभी भी किसी प्रकार का भी फरमान लिखवा सकते थे।

इसी प्रकार नवाब वजीर भी अँगरेजों के अधीन हो गया। उसका राज्य मराठों की बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध अँगरेजों के बंगाल के लिए संरक्षक का कार्य करने लगा।

नये प्रबन्ध से अँगरेजों को आर्थिक लाभ भी खूब हुआ। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की वार्षिक मालगुजारी लगभग ३०,००,००० पौण्ड प्रतिवर्ष थी।

अब क्लाइव ने अपना ध्यान कम्पनी के आन्तरिक सुधार की ओर दिया।

कम्पनी के कर्मचारियों के चारित्रिक पतन को देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ। भ्रष्टाचार के कारण कलकत्ता को उसने 'संसार के निकृष्टतम नगरों में से एक' पाया। उसके चारों ओर धन-लोलुपता, विलासिता, स्वार्थपरायणता और अकर्मण्यता का बाजार गरम था। ऐसी दयनीय दशा को देखकर उसने कहा था 'अफसोस! अँगरेजों का नाम किस प्रकार डूब गया है। मैं अँगरेजी राष्ट्र की विगत एवं विनष्ट कीर्ति पर अश्रु-अंजलि चढ़ाए बिना नहीं रह सकता।'

अतः वह परिस्थिति-सुधार के कार्य में पूर्ण मनोयोग से जुट गया। पहला कार्य जो उसने किया वह कम्पनी के कर्मचारियों की उपहार-ग्रहण की रीति एवं उनके निजी व्यापार को बन्द करना था। इस पर बंगाल के उच्चाधिकारियों ने उसका तीव्र विरोध किया। परन्तु क्लाइव दृढ़ रहा। अभी तक बंगाल के उच्च पदों पर वहीं रहनेवाले अँगरेजों की नियुक्ति होती थी। परन्तु क्लाइव के मतानुसार यह प्रथा दोष-पूर्ण थी। इससे प्रायः अत्यन्त योग्य व्यक्ति नही मिल पाते थे। इस दोष को दूर करने के लिए उसने स्वयं कुछ मद्रास के अँगरेजों को बंगाल के उच्च पदों पर नियुक्त किया। क्लाइव कर्मचारियों की वेतन-वृद्धि भी करना चाहता था जिससे उन्हें अपनी कम आय को बढ़ाने के लिए घूस अथवा उपहार लेने की आवश्यकता न रहे। परन्तु उसके इस प्रस्ताव का इँगलैड के डाइरेक्टरों ने विरोध किया। इसलिए क्लाइव ने अब दूसरा उपाय सोचा। उसने कम्पनी के उच्च कर्मचारियों को नमक-व्यापार के एकाधिकार के हिस्से देना आरम्भ किया। गवर्नर को १७,५०० पौण्ड की, सेना के कर्नल और कौंसिल के सदस्य को ७,००० पौण्ड वार्षिक आय निश्चित हुई। इसी प्रकार निम्न कोटि के अफसरों को भी उनके पदानुसार भाग दिये गये। परन्तु डाइरेक्टर इस योजना से भी सहमत न हुए और उन्होंने दो वर्ष पश्चात् उसे बन्द कर दिया।

इसके पश्चात् क्लाइव ने सेना में भी सुधार किये। बंगाल की सेना में कम्पनी एवं नवाब दोनों की सेनाएँ थीं। विगत सन्धि के द्वारा नवाब १२,००० घुड़सवार और १२,००० पैदल से अधिक सेना न रख सकता था। कम्पनी के पास १८,००० भारतीय सैनिक और २,५०० योरपीय सैनिक थे। इस प्रकार बंगाल की सुरक्षा इन्हीं दोनों सेनाओं पर निर्भर थी। अब क्लाइव ने नये सुधार द्वारा नवाब की सैन्य-संख्या को घटाकर कम्पनी की सैन्य-संख्या बढा दी।

दूसरा सैनिक-सुधार उनके दोहरे भत्ते को कम करने का था। यह भत्ता उन्हें अपनी सक्रिय सेवाओं के लिए मीर जाफर के समय से मिलता था। मीर कासिम ने भी इसे जारी रक्खा था। उसने कम्पनी को कुछ जिले दे दिये थे जिनकी आय से यह भत्ता दिया जाता था। परन्तु कुछ समय पश्चात् धनाभाव के कारण डायरेक्टरों के आदेशानुसार क्लाइव ने सैनिकों के दोहरे भत्ते को बन्द कर दिया। इस सुधार का घोर विरोध हुआ। सेना के अनेक पदाधिकारियों एवं सैनिकों ने इस्तीफा दे दिया। कहीं-कहीं तो उन्होंने सशस्त्र विद्रोह करने की तैयारी की। परन्तु क्लाइव दृढ़ रहा। उसने सबके इस्तीफे स्वीकार कर लिये और उनके स्थान पर मद्रास के नये व्यक्तियों को नियुक्त किया। कुछ दिनों में सारा विरोध शान्त हो गया और परिस्थिति संभल गई।

इस प्रकार अनेक सुधार करने के पश्चात् क्लाइव सन् १७६७ में स्वदेश लौट गया। वहाँ उसके विरोधियों ने उस पर भाँति-भाँति के आरोप लगाना एवं बदनाम करना प्रारम्भ किया। उस पर घूसखोरी, भ्रष्टाचार और स्वेच्छाचारिता के आरोप लगाये गये। उसके कार्यों की परीक्षा के लिए एक सिलेक्ट कमेटी बनाई गई। विचार-विनिमय के पश्चात् इसने क्लाइव के कार्यों को दोषपूर्ण घोषित किया और उसकी तीव्र निन्दा की। क्लाइव ने अपने को निर्दोष कहा। पार्लियामेण्ट में दोनों पक्षों की ओर से खूब वाद-विवाद हुआ। परन्तु अन्त में उसने क्लाइव की देश-भक्ति और महती सेवाओं का स्मरण करते हुए प्रस्ताव उसके पक्ष में ही पास किया।

इस प्रकार यद्यपि वैरियों के सारे प्रयत्न विफल हुए तथापि क्लाइव को इन दोषारोपण से हार्दिक दुःख हुआ और शीघ्र ही वह २ नवम्बर, १७७४ में मर गया।

क्लाइव का चरित्र—अँगरेज जाति के इतिहास में क्लाइव का नाम अमर रहेगा। उसने अपनी प्रतिभा, अध्यवसाय एवं मनोयोग से भारत में कम्पनी की स्थिति सुदृढ़ कर दी। वह जन्मजात नेता था और भयानक से भयानक परिस्थिति में भी कभी धैर्य नहीं खोता था। अपनी सुदृढ़ मनःशक्ति तथा तीव्र बुद्धि से वह प्रत्येक जटिल समस्या का उपयुक्त समाधान ढूँढ़ लेता था। एक कुशल राज-नीतिज्ञ के साथ-साथ वह एक चतुर सेनापति भी था। अर्काट के घेरे में उसने जिस कुशलता, बुद्धिमत्ता, वीरता, एवं दृढ़ता का परिचय दिया था, वह कम्पनी

के इतिहास में अभूतपूर्व था। उसमें अटूट देशभक्ति थी। देश के लाभ के लिए वह स्वजातियों के भी विरोध एवं विद्रोह का कठोर दमन करने में न चूकता था। शासन में समय-समय पर उसने जो सुधार किये वे उसकी राजनीतिज्ञता के परिचायक हैं। कम्पनी को एक व्यापारिक संस्था से शासनकारिणी सत्ता के रूप में बदलने का सबसे अधिक श्रेय क्लाइव को ही है। डूप्ले जैसे कुशल फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ की योजनाओं को विफल करने का सामर्थ्य उस समय इसी में था। क्लाइव की कार्य-प्रणाली एवं संगठन-शक्ति का ही यह फल था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी समकालीन अन्य देशीय कम्पनियों के ऊपर अपनी प्रभुता स्थापित कर सकी। जटिल परिस्थितियों के सूक्ष्म विश्लेषण की क्षमता जितनी क्लाइव में थी उतनी तत्कालीन किसी भी भारतीय अँगरेज में नहीं थी। भारतीय देशी नरेशों की वास्तविक स्थिति उससे छिपी न थी। उनकी निर्बलता, अकर्मण्यता एवं पारस्परिक द्वेष-भाव का लाभ उठाकर उसने भारत में अँगरेजी साम्राज्य की नींव डाली।

परन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि क्लाइव में कतिपय उग्र दोष भी थे। बंगाल के राजनीतिक क्षेत्र में उसने कुछ ऐसे कार्य किये जिनका समर्थन चारित्रिक दृष्टि से किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। अमीचन्द को धोखा देकर जिस विधि से उसने मीर कासिम को पराजित किया था, वह उसके चरित्र पर एक गहरा धब्बा है। बंगाल के नवाब से जागीर एवं उपहारादि लेकर उसने कम्पनी के अधिकारियों के सम्मुख जो उदाहरण रक्खा उसका परिणाम अच्छा न हुआ। उसकी देखा-देखी अन्य अफसर भी धन-संचय के लिए उन्मुख हुए। इसके फलस्वरूप सारा वातावरण दूषित हो गया। चारों ओर धन-लोलुपता, स्वार्थान्धता और विलासिता का साम्राज्य छा गया। यदि इन दोषों का वह शीघ्र ही प्रतिकार न करता तो कम्पनी का भविष्य बड़ा ही अन्धकारमय हो जाता।

जो कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अँगरेज राष्ट्र के लिए उसने बड़ी-बड़ी सेवाएँ कीं और उसके कार्यों के पीछे उसकी अटूट देश-भक्ति स्पष्ट लक्षित होती है।

अध्याय १६

बंगाल का द्वैध-शासन

(सन् १७६७-७२ ई०)

क्लाइव के जाने के पश्चात् बंगाल की दशा---क्लाइव के इँगलैंड चले जाने के पश्चात् वर्ल्स्ट (Verelst) (१७६७-६९) और कार्टियर (Cartier) (१७७०-७२) क्रमशः बंगाल के गवर्नर नियुक्त हुए। इनमें उच्च कोटि की कार्य-क्षमता एवं शासन-निपुणता का सर्वथा अभाव था। अतः बंगाल की बिगड़ती हुई परिस्थिति को वे सँभाल न सके। बंगाल के द्वैध-शासन का परिणाम अत्यन्त अनिष्टकर हुआ। वहाँ की शासन-सत्ता नवाब और कम्पनी में विभक्त थी। नवाब के हाथ में निजामत थी अर्थात् पुलिस-विभाग एवं फौजदारी न्याय-विभाग उसके अधीन था। कम्पनी के अधिकार में धन था। प्रान्त में एक सर्वशक्तिमान् सत्ता न होने के कारण दोनों में समय-समय पर मतभेद और विरोध होना स्वाभाविक था। नवाब की शक्ति सीमित थी। कम्पनी प्रायः उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करती थी। उसके कर्मचारी नवाब के अधिकारियों की अवहेलना करते थे। कम्पनी के अन्तर्गत जमींदारों ने किसानों को सताना प्रारम्भ किया। जनता की दशा धीरे-धीरे बिगड़ने लगी। कम्पनी के पूर्व जमींदारों को अधिक मालगुजारी न देनी पड़ती थी। अतः वे किसानों से भी अनुचित लगान न लेते थे। उन्हें अपने अधिकृत प्रदेश की उन्नति का विचार रहता था। इसके परिणाम-स्वरूप जनता की दशा अच्छी थी। यद्यपि जमींदारों से नवाब को अधिक माल-गुजारी न मिलती थी, तथापि आवश्यकतानुसार वह धनी जमींदारों, सर्राफों एवं व्यापारियों से समय-समय पर आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकता था।

परन्तु कम्पनी के दीवानी प्राप्त कर लेने के पश्चात् से स्थिति बदल गई। कम्पनी को अपने लिए तो धन की आवश्यकता थी ही, इसके अतिरिक्त उसे समय-समय पर अपने स्वामियों के पास इँगलैंड में भी पर्याप्त धन भेजना

पड़ता था। इसके परिणाम-स्वरूप उसके कर्मचारी प्रजा से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे। उन्हें प्रजा की सुविधा-असुविधा या दुःख-सुख का कोई ध्यान न था। उन्हें तो कम्पनी को एक निश्चित भारी रकम देनी थी। उसकी वसूली में वे प्रायः प्रजा पर अत्याचार भी करते थे। इन कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करनेवाला कोई न था। अतः उनकी मनमानी निर्विघ्न रूप से चल जाती थी।

द्वैध-शासन के अन्तर्गत व्यापार की अवस्था भी बड़ी असन्तोषजनक थी। कम्पनी के बनिये और गुमाश्ते जनता पर अत्याचार करते थे। वे बहुधा जुलाहों को कैद करते और उन्हें कोड़े लगाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुतों ने अपना धन्धा ही छोड़ दिया। पुनः इन देशी कारीगरों की बनाई हुई वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण कम्पनी के गुमाश्ते करते थे। ये प्रायः उनका मूल्य बाजार के मूल्य से १५% और कभी-कभी तो ४०% तक कम रखते थे। ये उद्योग-जीवी यदि अँगरेज गुमाश्तों के हाथ अपना माल न बेचकर फ्रांसीसी और डच गुमाश्तों के हाथ बेचने का प्रयत्न करते थे, तो उन्हें कम्पनी के कर्मचारी निर्दयतापूर्वक दण्ड देते थे।

इस प्रकार कम्पनी के द्वैध-शासन से भारतीय जनता की दशा शोचनीय हो गई। कम्पनी के कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता को न तो रजा ख़ाँ ही रोक सका और न उसके पदाधिकारी ही। गवर्नर वर्ल्स्ट द्वैध-शासन की अनुपयुक्तता से परिचित था। उसने तत्कालीन परिस्थिति पर जो मसविदा इंगलैंड भेजा था उससे उसके विचार प्रकट होते हैं।

'...कम्पनी के नौकर बर्बरता से ऐसे काण्ड, जिनकी समता किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिल सकती, करने के पश्चात् धन-राशि से लदे हुए इंगलैंड लौटते हैं...।'

उसने पुनः लिखा था कि 'बंगाल की शासनकारिणी के रूप में तथा देश के सम्पूर्ण व्यापार की एकाधिकारिणी के रूप में कम्पनी के विभिन्न हित प्रत्यक्ष रूप से विरोधी दिशाओं में कार्य कर रहे हैं और वे एक दूसरे के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। अतः किसी अन्य नवीन व्यवस्था के बिना दशा अवश्य ही बिगड़ती

जायगी। यदि कम्पनी को अपनी वर्तमान प्रणाली के अनुसार कार्य करने दिया गया तो वह अपना विनाश स्वयं कर बैठेगी ..।'

इस प्रकार बंगाल के द्वैध-शासन के दोष स्पष्ट रूप से प्रकट हो गये थे। वहाँ का नवाब पूर्ण रूप से अशक्त हो गया था। उसके अधिकार में केवल पुलिस और फौजदारी का प्रबन्ध रह गया था। इन विभागों को सुचारु रूप से चलाने के लिए धन की आवश्यकता थी। परन्तु धन का स्रोत अँगरेजों के अधिकार में था। नवाब को आर्थिक सहायता के लिए कम्पनी का मुँह देखना पड़ता था। धन के अभाव में शासन-प्रबन्ध दोष-पूर्ण हो जाना स्वाभाविक ही था। उधर, कम्पनी के हाथ में दीवानी का प्रबन्ध था। उसके कर्मचारी प्रजा पर अत्याचार करते, उनसे मनमाना धन वसूल करते और सदैव उनकी सुविधा-असुविधा के प्रति उदासीन रहते थे। प्रजा कलपती-काँपती, परन्तु उनके दुःख-दर्द को पूछनेवाला कोई न था। यही दशा व्यापार की भी थी। देशी कारीगर कम्पनी की अन्यायपूर्ण नीति से तबाह और बरबाद हो रहे थे। वे परिश्रम करते और माल बनाते, परन्तु वह कम्पनी के गुमाश्तों के हाथों मिट्टी के मोल बिकता था। यदि वे उनके हाथ बेचने से इनकार करते तो उन्हें जेल और कोड़े की यातना भुगतनी पड़ती थी। अतः दोनों ओर से बेचारों का मरण था। कम्पनी की व्यापारिक नीति का परिणाम बड़ा हानिकर हुआ। स्वर्णिम बंगाल का सारा धन विदेश में पहुँच गया। वहाँ सिक्कों का अभाव हो गया तथा देशीय व्यापार मृतप्राय हो गया। कम्पनी के द्वैध-शासन की यही रूप-रेखा थी।

सन् १७७० का दुर्भिक्ष—१७६९ ई० में वर्ल्स्ट के इँगलैंड लौट जाने के पश्चात् कार्टियर गवर्नर बनकर आया। बंगाल की दशा तो पहले से ही शोचनीय थी, अब भयानक दुर्भिक्ष ने आकर उसे और भी खराब कर दिया। लगभग छः मास तक बंगाल के अधिकतर जिलों में एक बूँद भी पानी नहीं बरसा। परिणाम यह हुआ कि अनाज और भूसे इत्यादि का भीषण अभाव हो गया। दुर्भिक्ष ने इतना भयंकर रूप धारण किया कि केवल पटना नगर की सड़कों पर ही प्रतिदिन भूख से मरनेवालों की संख्या ५० से ऊपर पहुँच गई। दुर्भिक्ष के साथ-साथ चेचक आदि घातक रोग भी फैल गये। इनके कारण बंगाल में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। मुर्शिदाबाद की सड़कें लाशों से पट गईं। इस

आपत्ति-काल में बंगाल की लगभग एक तिहाई जनता मृत्यु का शिकार हुई।

इधर तो भारतीय जनता की ऐसी दारुण दशा थी, परन्तु उधर कम्पनी के कर्मचारी धन-संचय करने में व्यस्त थे। सर्वत्र भ्रष्टाचार का ही बोलबाला था। भारतीय किसान और जमींदार दोनों समान रूप से कम्पनी की आदिम धन-लोलुपता के अभागे लक्ष्य थे। अँगरेजी सत्ता भारतीयों के सिर पर अभिशाप बनकर छा गई। परन्तु उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय दृष्टिगत न होता था। कार्टियर एक निर्बल गवर्नर था। कम्पनी की कुव्यवस्था में सुधार करना उसके सामर्थ्य के बाहर की बात थी। पदाधिकारियों की स्वार्थ-परायणता एवं धन-लोलुपता के कारण कम्पनी का भी बुरा हाल था। उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण हो गई थी। बहुत सम्भव था कि उसका दिवाला निकल जाता, यदि इसी समय इँगलैंड के डाइरेक्टरों का ध्यान इस विषम स्थिति के तत्काल सुधार की ओर न गया होता।

अध्याय १७

शासन का पुनर्निर्माण

(सन् १७७२-७४ ई०)

वारेन हेस्टिंग्ज

वारेन हेस्टिंग्ज का प्रारम्भिक जीवन—अप्रैल, सन् १७७२ में कार्टियर के पश्चात् वारेन हेस्टिंग्ज बंगाल का गवर्नर होकर आया। वह कम्पनी में २० वर्ष तक नौकर रह चुका था, इसलिए उसे भारतीय परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान था। उसका जन्म १७३२ ई० में हुआ था। सन् १७५० में वह एक लेखक के रूप में कलकत्ता में आया। कम्पनी की नौकरी के साथ-साथ वह भारतवर्ष में अपना निजी व्यापार भी करता रहा। इससे उसे अच्छी आय हुई। जब सिराजुद्दौला की सेना ने कलकत्ता पर धावा बोला, तो हेस्टिंग्ज मुर्शिदाबाद में बन्दी बना लिया गया। परन्तु कुछ समय के पश्चात् वह छोड़ दिया गया। प्लासी के युद्ध के अनन्तर वह मीर जाफर के दरबार में रेजीडेण्ट नियुक्त किया गया। यहाँ पर रहकर उसने तत्कालीन परिस्थिति का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। सन् १७६१ में वह कलकत्ता के कौंसिल बोर्ड का सदस्य नियुक्त हुआ। बक्सर के युद्ध के पश्चात् वह स्वदेश चला गया। कहते हैं, उस समय उसकी पूंजी ३०,००० पौण्ड हो गई थी। उसकी प्रतिभा, कार्यक्षमता एवं वाक्पटुता से इँग-लैंड की पार्लियामेण्ट खूब प्रभावित हुई। क्लाइव के प्रयत्न से हेस्टिंग्ज शीघ्र ही मद्रास कौंसिल का एक सदस्य नियुक्त हो गया। अतः सन् १७६९ में वह पुनः भारतवर्ष आ गया। इस बार उसकी प्रतिभा एवं कार्यक्षमता सर्वमान्य हो गई और कार्टियर के चले जाने के पश्चात् सन् १७७१ में वह बंगाल का गवर्नर बनाया गया।

तत्कालीन परिस्थिति—इस समय बंगाल की परिस्थिति बड़ी शोचनीय थी। सन् १७७० के दुर्भिक्ष ने तो उसे लगभग बरबाद की कर दिया था। क्लाइव के द्वैध-शासन का परिणाम बड़ा ही अनिष्टकर हुआ। नवाब की

शक्ति तो जाती रही, परन्तु उसके स्थान पर कोई दूसरी सत्ता न आई। मुगल-सम्राट् की आज्ञा से ही कम्पनी को बंगाल की दीवानी प्राप्त हुई थी। परन्तु स्वयं सम्राट् का भूमि-अधिकार केवल कड़ा और इलाहाबाद के जिलों तक ही सीमित था और वह भी कम्पनी की देन से। इसी प्रकार यद्यपि बंगाल का शासन कम्पनी और नवाब का सम्मिलित उत्तरदायित्व था, तथापि वास्तविक सत्ता कम्पनी के ही हाथ में थी। नवाब तो उनके हाथ की कठपुतली था। इस समय कम्पनी का अधिकार-क्षेत्र तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली कोटि में बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले थे, जिन्हें उसने १७६० में प्राप्त किया था। दूसरी कोटि में कलकत्ता और २४ परगने थे जो प्लासी के युद्ध के पश्चात् उसके अधिकार में आये थे। तीसरी कोटि में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी थी। इस क्षेत्र में जो मालगुजारी प्राप्त होती थी, उसमें से २६ लाख मुगल-सम्राट् को और ३२ लाख बंगाल के नवाब को दिये जाते थे। शेष भाग कम्पनी अपने अधिकार में रखती थी।

क्लाइव के द्वैध-शासन ने बंगाल में उत्तरदायित्वहीन सत्ता की स्थापना की थी। कम्पनी ने नवाब को तो अशक्त कर दिया था, परन्तु स्वयं अपने ऊपर शासन का उत्तरदायित्व न लिया था। नई व्यवस्था में नवाब की सेना का लगभग अन्त कर दिया गया था। बिना सैन्य-बल के प्रान्त में सुख-शान्ति की स्थापना करना असम्भव था।

एक प्रमुख लेखक द्वैध-शासन के दुष्परिणामों का वर्णन निम्न प्रकार करता है :—

'द्वैध-शासन के परिणाम-स्वरूप निम्न कोटि के कर्मचारी-वर्ग को किसानों पर अत्याचार करने की स्वतन्त्रता मिल गई। मंत्री विवश था क्योंकि वह अपनी आज्ञाओं का पालन कराने में असमर्थ था। अँगरेज प्रायः उदासीन रहते थे। थोड़े से व्यक्ति जो प्रजा से सहानुभूति रखते थे, उनमें आवश्यक ज्ञान, अनुभव और शक्ति के अभाव के कारण प्रभावपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप करने की क्षमता न थी। इन सबका परिणाम वही हुआ जो ऐसी स्थिति में होता है। चारों ओर आन्तरिक अव्यवस्था फैल गई। पापाचार, डकैती, गुंडापन आदि की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किसानों पर होनेवाले अत्याचार के कारण

अन्नोत्पत्ति का अभाव हो गया। किसानों ने निराश होकर अपनी भूमि को छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रान्त की राजकीय आय बहुत घट गई।...सारांश में बंगाल की दयनीय दशा हो गई।'

हेस्टिंग्ज के आगमन के समय बंगाल की ऐसी ही अवस्था थी। अतः उसके सुधार में नये गवर्नर को अत्यन्त धैर्य, साहस एवं मनोयोग से कार्य करना पड़ा।

द्वैध-शासन का अन्त—सर्वप्रथम उसने क्लाइव के द्वैध-शासन की समाप्ति कर दी। उसने बंगाल और बिहार के नायब नवाब मुहम्मद रजा खाँ और शिताब राय को दीवानी के कार्य से उन्मुक्त कर दिया और सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। मुर्शिदाबाद और पटना के दो रेवेन्यू बोर्ड के स्थान पर उसने कलकत्ता में केवल एक बोर्ड स्थापित किया। भारतीय कलेक्टर पदच्युत कर दिये गये और उनके स्थान पर अँगरेज कलेक्टर रक्खे गये। नवाब को शासन के उत्तरदायित्व से पूर्णरूपेण मुक्त कर दिया गया। अब वह एक पेंशनर के रूप में रह गया। अब कम्पनी ने उसे ३२ लाख रुपया न देकर केवल १६ लाख रुपया देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार कम्पनी के व्यय में काफी कमी हो गई। हेस्टिंग्ज ने मीर जाफर की विधवा पत्नी मुन्नी बेगम को अल्पायु नवाब का संरक्षक नियुक्त किया। मुन्नी बेगम ने कृतज्ञता-प्रदर्शन हेतु हेस्टिंग्ज को १½ लाख रुपया दिया।

व्यापारिक सुधार—पहले बताया जा चुका है कि बंगाल की व्यापारिक स्थिति अच्छी न थी। कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का परिणाम अच्छा न हुआ। इससे भ्रष्टाचार तो फैला ही, उसके साथ-साथ वस्तुओं का मूल्य भी बहुत बढ़ गया। पुनः जमींदारों और अन्य कर्मचारियों द्वारा लगाये हुए विभिन्न व्यापारिक करों ने वस्तुओं के मूल्य में और भी अधिक वृद्धि कर दी थी। हेस्टिंग्ज ने इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने दस्तक-प्रथा को तोड़कर बंगाल के व्यापार को सर्वसाधारण के लिए खोल दिया। उसने जमींदारों के विभिन्न चुंगीघर का दमन किया क्योंकि ये व्यापारिक यातायात में विघ्नरूप थे। अब केवल कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, पटना और ढाका में ही चुंगीघर रक्खे गये। कम्पनी के गुमाश्तों के अत्याचार से भी

व्यापार को बड़ी क्षति पहुँची थी, अतः डाइरेक्टरों के आदेशानुसार गुमाश्तों को हटाकर बंगाल में स्वतन्त्र व्यापार की प्रथा चलाई गई। कम्पनी के व्यापारिक आय-व्यय के निरीक्षण के लिए एक 'कण्ट्रोलर आफ इनवेस्टमेंट' की नियुक्ति हुई। नमक, पान, सुपारी और तम्बाकू को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर २½% का समान कर लगाया गया। व्यापारिक क्षेत्र में कम्पनी, योरपीय एवं भारतीय व्यापारियों का भेद-भाव हटा दिया गया। हेस्टिंग्ज ने विदेशी व्यापार की उन्नति के हेतु नवाब और बनारस के राजा से व्यापारिक सन्धियाँ कीं। तिब्बत, चीन और मिस्र से भी इस प्रकार की सन्धियाँ करने के प्रयत्न किये गये।

मालगुजारी—मुगल-साम्राज्य के पतन के पश्चात् मालगुजारी वसूल करने की सुसंगठित व्यवस्था का अन्त हो गया। अँगरेज शासन के इस विभाग से पूर्ण रूप से अनभिज्ञ थे, अतः उनके समय में बंगाल में मालगुजारी वसूल करने की जिस प्रणाली का उदय हुआ, वह अत्यन्त दोषपूर्ण थी। बंगाल की नवाबी के पतन के पश्चात् कम्पनी के हाथ में वहाँ की दीवानी आ गई थी, अतः मालगुजारी वसूल करना उन्हीं का कार्य था। उन्होंने इस कार्य को धनी एवं वंशपरम्परागत जमींदारों के सुपुर्द कर दिया। अतः अब किसान पूर्ण रूप से इन्हीं जमींदारों के अधीन हो गये। बहुधा ये जमींदार अनीति और अत्याचार के द्वारा किसानों से मनमाना धन वसूल करते थे, परन्तु सरकार को बहुत ही थोड़ा भाग देते थे। इनके अत्याचारों से किसानों को बचाने के लिए सन् १७६९ में निरीक्षकों की नियुक्ति हुई। परन्तु यह व्यवस्था भी विफल रही। इसका कारण यह था कि निरीक्षकों का कोई प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व न था। उनका काम तो केवल निरीक्षण करना ही था। पुनः वे मुर्शिदाबाद की रेवेन्यू कौंसिल के अधीन थे। उन पर कलकत्ता की कौंसिल का कोई अधिकार न था। ऐसी दशा में वह उनके कार्यों का नियन्त्रण न कर सकती थी। इसके अतिरिक्त वे अपना व्यापार भी करते थे जिसके परिणामस्वरूप उनके कार्यों में अनेक दोष आ गये थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि कम्पनी की आर्थिक अवस्था खराब हो गई। सन् १७७० के दुर्भिक्ष ने उसे और भी शोचनीय कर दिया। अतः उसके सुधार के लिए डाइरेक्टरों

के आदेशानुसार हेस्टिंग्ज ने मालगुजारी का प्रबन्ध भारतीयों के हाथों से लेकर स्वयं अपने अधिकार में ले लिया। बहुत विचार-विनिमय के पश्चात् सन् १७७२ में गवर्नर एवं उसकी कौंसिल के अन्य सदस्य निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे :—

(१) भूमि जमींदारों को ५ वर्ष के लिए दी जाय।

(२) गवर्नर एवं कौंसिल के ४ सदस्यों की एक समिति बनाई जाय, जो प्रमुख जिलों में जाकर पंचवर्षीय बन्दोबस्त करे।

(३) प्रत्येक जिले के निरीक्षक अब कलेक्टर हों।

(४) किसी भी बनिया या कलेक्टर के एजेण्ट को कोई भी स्वतन्त्र भूमि-अधिकार न मिले।

(५) कोई भी कलेक्टर जमीदार या किसान से उपहारादि न ले।

(६) कलेक्टर अथवा उसका एजेण्ट किसानों को पेशगा के रूप में धन न दे।

(७) किसानों को पट्टे दिये जायँ जिनमें भूमि की दशा और भूमि-कर का उल्लेख रहे।

परन्तु इस नये प्रबन्ध से भी हेस्टिंग्ज को पूर्ण सन्तोष न हुआ। कलेक्टरों को स्वतन्त्र व्यापार करने की आज्ञा थी। इससे कम्पनी और जनता के हितों को हानि होती थी। अतः डायरेक्टरों की सहमति से सन् १७७४ में हेस्टिंग्ज ने कलेक्टरों के स्थान पर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का निर्माण किया। कौंसिल के सदस्य ही इनके अध्यक्ष होते थे। ये बोर्ड मालगुजारी वसूल करते और कलकत्ता की सुप्रीम कौंसिल अथवा रेवेन्यू बोर्ड के अन्तर्गत दीवानी न्याय भी करते थे।

न्याय-विभाग में सुधार—बंगाल का न्याय-विभाग बड़ा ही दोषपूर्ण था। वहाँ पर कम से कम दस अदालतें थीं; परन्तु किसी का भी कार्यक्षेत्र निश्चित न था। अतः बहुधा उनके न्याय-विवरण में गड़बड़ी रहती थी। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से अदालतों का द्वार सबके लिए खुला था। परन्तु विशेषतया उनसे धनी-वर्ग और गुण्डा-वर्ग का ही लाभ होता था। अतः इन दोनों के दूरीकरण के हेतु हेस्टिंग्ज ने न्याय-विभाग का पुनः संगठन किया। इस नवीन संगठन की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं :—

(१) जिला न्याय की इकाई माना गया। प्रत्येक जिले में मुफ़स्सिल दीवानी अदालत और मुफस्सिल फौजदारी अदालत की स्थापना हुई। दोनों

के अन्तर्गत आनेवाले मामलों की स्पष्ट व्याख्या कर उनके अलग-अलग अधिकार-क्षेत्र निश्चित कर दिये गये। दीवानी अदालत का अधिकार सम्पत्ति, उत्तराधिकार, विवाह, जाति, ऋण एवं व्याज इत्यादि से सम्बन्धित विषयों पर रहा। इसी प्रकार फौजदारी अदालत के अन्तर्गत हत्या, डकैती, चोरी, जालसाजी, आक्रमण, झगड़े इत्यादि के विषय रहे।

(२) इन स्थानीय अदालतों के ऊपर फोर्ट विलियम में दो उच्च अदालतों—सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत—की स्थापना हुई। जिले की दीवानी तथा फौजदारी अदालतों की अपील यहाँ हो सकती थी। सदर दीवानी अदालत में प्रेसीडेण्ट, कौंसिल के दो सदस्य, खालसा का दीवान, हेड कानूनगो और कचहरी के दूसरे अफसर अपील सुनते थे। सदर फौजदारी अदालत में दारोगा अदालत, प्रमुख काजी, प्रमुख मुफ्ती एवं अन्य विद्वान् और अनुभवी मौलवी अपील सुनते थे।

(३) प्रत्येक अदालत में जजों का पद वैतनिक कर दिया गया जिससे वे न्यायार्थियों से अनुचित फीस न ले सकें। न्यायालयों की कार्य-प्रणाली भी निर्धारित कर दी गई। हिन्दू धर्म-शास्त्रों का अँगरेजी में अनुवाद भी कराया गया।

इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि मजिस्ट्रेट और जमींदारों के अत्याचार बन्द हो गये।

सिक्का—अभी तक भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मूल्य का रुपया निकलता था। इससे व्यापार को बड़ी क्षति होती थी। जनता को भी असुविधा होती थी। वारेन हेस्टिंग्ज ने इस दोष को दूर करने के ध्येय से कलकत्ता में एक सरकारी टकसाल खोली जिससे एक निश्चित मूल्य और आकार का रुपया ढाला जा सके। इसके साथ-साथ कलकत्ता में एक बैंक की भी स्थापना हुई।

अराजकता का दमन—द्वैध-शासन के परिणाम-स्वरूप चतुर्दिक अराजकता फैल गई थी। डाकुओं और लुटेरों के झुण्डों के कारण जनता का धन-जन अरक्षित दशा में हो गया। अतः हेस्टिंग्ज ने आदेश निकाला कि डाकुओं को पकड़-पकड़कर उनके गाँवों में फाँसी पर लटका दिया जाय। डाकुओं की

भाँति संन्यासी नामक एक दूसरा वर्ग भी देश के दुःख और अशान्ति का कारण बन गया था। इस वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। ये साधु एवं भिक्षुओं के रूप में घूमते थे और मनुष्यों की सम्पत्ति को लूटते, उनकी हत्या करते तथा उनके बच्चों को उठा ले जाते थे। ये लोग अस्त्र-शस्त्र से भली भाँति सुसज्जित थे। हेस्टिंग्ज ने इनके विरुद्ध दो सेनाएँ भेजीं, परन्तु संन्यासियों ने उन दोनों को ही नष्ट कर दिया तथा उनके अफसरों को मार डाला। अन्त में कैप्टेन स्टेवर्ड (Steward) की अध्यक्षता में एक तीसरी सेना भेजी गई। यह सेना संन्यासियों का दमन करने में सफल हुई।

हेस्टिंग्ज के उपर्युक्त सुधारों ने दूषित परिस्थिति में बहुत-कुछ सुधार किया। उनसे कम्पनी की स्थिति दृढ़ हो गई तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की वास्तविक नींव पड़ी। बंगाल के द्वैध-शासन की समाप्ति कर हेस्टिंग्ज ने राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में जो सुधार किये, वे उसकी कार्य-क्षमता एवं शासन-निपुणता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। वह कदाचित् और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सुधार करता; परन्तु इंगलैंड के डायरेक्टर उसे सदैव अपना सहयोग न देते थे। पुनः इन डायरेक्टरों के अनेक सम्बन्धी भारत में कम्पनी के उच्च पदाधिकारी थे। इससे उनके विरुद्ध सुधार करने में वास्तविक कठिनाई प्रतीत होती थी।

विदेशी नीति—मराठों की उदीयमान शक्ति से प्रभावित होकर मुगल-सम्राट् शाह आलम सिन्धिया के संरक्षण में दिल्ली चला गया था। इस समय वह मराठों के हाथ की कठपुतली था। उसने उन्हें कड़ा और इलाहाबाद के जिले दे दिये थे। इस नई राजनीतिक परिस्थिति से हेस्टिंग्ज विशेष चिन्तित हुआ। सम्राट्-मराठा-सन्धि से उसे कम्पनी की स्थिति खतरनाक होती हुई प्रतीत हुई। अतः उसने इसका प्रतिकार करने का प्रयत्न किया। उसने तत्काल सम्राट् की २६ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन बन्द कर दी। तत्पश्चात् उसने कड़ा और इलाहाबाद के जिले नवाब को लौटा दिये।

रुहेला-युद्ध (सन् १७७३-७४)—रुहेलखण्ड दोआब का एक उपजाऊ खण्ड है। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् केन्द्रीय शासन के शिथिल पड़ने पर अनेक रुहेला अफगान सरदारों ने यहाँ पर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर

लिये। कालान्तर में हाफिज रहमत नामक एक शक्तिशाली सरदार रुहेला स्वतन्त्र राज-संघ का प्रमुख बन गया। वह एक वीर एवं साहसी सैनिक था। सन् १७६१ के पानीपत के युद्ध में उसने अब्दाली का साथ दिया था। मराठों की शक्ति का ह्रास हो जाने पर उसे अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला और उसने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया। परन्तु शीघ्र ही मराठों ने पुनः शक्ति संचय कर लिया। वे पुनः उत्तरी भारतवर्ष में अपना एकाधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। सन् १७६९ में इटावा एवं दोआब के अन्य भागों पर फिर से अपना अधिकार कर लिया। मराठों के इस अभ्युदय से अँगरेज और रुहेले दोनों भयभीत हो गये। १७७१ ई० में उन्होंने मुगल-सम्राट् एवं नवाब वजीर दोनों को अपने आक्रमण से आतंकित कर दिया। सम्राट् को दिल्ली एवं इलाहाबाद छोड़ना पड़ा।

सन् १७७२ में मराठों ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया। रुहेले उनका सामना न कर सके। अतः उन्होंने भविष्य में अपनी रक्षा के लिए नवाब वजीर से सन्धि कर ली। इसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि यदि मराठों ने रुहेलों पर आक्रमण किया तो नवाब वजीर रुहेलों की सहायता करेगा और रुहेले इसके बदले में उसे ४० लाख रुपया देंगे। यह सन्धि अँगरेज सेनापति सर राबर्ट बार्कर के सम्मुख हुई थी।

सन् १७७३ में मराठों ने पुनः रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया। पिछली सन्धि के अनुसार रुहेलों, अँगरेजों और नवाब वजीर की सम्मिलित सेनाओं ने मराठों का सामना करने की तैयारी करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इतने ही में पूना की राजनीतिक अवस्था में परिवर्तन होने के कारण मराठे अपने दक्षिण प्रदेश में लौट गये और इस प्रकार एक आपत्ति टल गई।

मराठों के वापस चले जाने के पश्चात् नवाब वजीर ने सन्धि के अनुसार रुहेलों से ४० लाख रुपया माँगा। परन्तु उन्होंने इतना धन देने में आनाकानी की। अतः नवाब वजीर क्रुद्ध हो गया। उसने रुहेलखंड को अपने अधिकार में करने का यह अवसर देखा। इस समय अँगरेज भी परिस्थिति-वश उसके पक्ष में थे। इसके कई कारण थे। उन्हें धन की बड़ी आवश्यकता थी। पुनः मराठों के आक्रमण के विरुद्ध उन्हें नवाब वजीर की सहायता की आवश्यकता

थी। इन्हीं स्वार्थों से प्रेरित होकर हेस्टिंग्ज ने सन् १७७३ में बनारस में नवाब वजीर से सन्धि कर ली। कड़ा और इलाहाबाद के जिले नवाब को दे दिये गये। इसके बदले में नवाब ने अँगरेजों को ५० लाख रुपये दिये। मुगल-सम्राट् की २६ लाख की पेंशन बन्द कर दी गई, क्योंकि वह मराठों के पक्ष में चला गया था। कम्पनी ने नवाब को एक सैन्य-दल देने का वचन दिया। इसका मासिक खर्च २,१०,००० रु० नवाब के सुपुर्द रहा। इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर नवाब ने भी अँगरेजों की सैनिक सहायता करने का वचन दिया। पुनः हेस्टिंग्ज ने ४० लाख रुपया लेकर रुहेलों के विरुद्ध नवाब वजीर को सैनिक सहायता देना भी स्वीकार किया।

इस सन्धि के अनुसार नवाब और अँगरेजों की सम्मिलित सेनाओं ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया।

२३ अप्रैल, १७७४ ई० को मीरन कटरा का युद्ध हुआ। रुहेलों ने बड़ी वीरता दिखाई, परन्तु अन्त में वे हार गये। हाफिज रहमत खाँ युद्ध करते हुए मारा गया। इस युद्ध का भीषण दुष्परिणाम हुआ। लगभग २,००० सैनिक युद्ध में काम आये। लगभग २०,००० रुहेलों को अपना देश छोड़ना पड़ा। उनका राज्य अवध में मिला लिया गया। बीर सरदार हाफिज रहमत खाँ की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी तथा उसके बच्चों को कठिन यन्त्रणाएं सहनी पड़ीं। सब कुछ खो जाने के पश्चात् बेचारे दाने-दाने को मोहताज हो गये।

अन्त में अँगरेजों और नवाबों ने फैजुल्ला खाँ नामक एक रुहेला सरदार से सन्धि कर ली। इसके अनुसार उसे रामपुर का जिला दे दिया गया। परन्तु अब वह ५,००० से अधिक सैनिक अपनी सेना में न रख सकता था। आवश्यकतानुसार उसने नवाब वजीर को सैनिक सहायता भी देने का वचन दिया। नवाब वजीर और अँगरेजों के अतिरिक्त वह किसी विदेशी से सीधे सम्बन्ध भी स्थापित न कर सकता था।

इस प्रकार रुहेला युद्ध से अँगरेजों की पश्चिमी सीमा सुरक्षित हो गई। परन्तु एक निरीह एवं निरपराध जाति के ऊपर अँगरेजों का अकारण आक्रमण कर देना किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसके लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट में हेस्टिंग्ज की तीव्र आलोचना हुई। प्रसिद्ध वक्ता बर्क

(Burke) ने अपने प्रसिद्ध भाषण में उसके कार्य की उग्र रूप से निन्दा की। हाफिज रहमत खाँ एक योग्य एवं दयालु शासक था। अपनी प्रजा के दुःख-सुख का वह सदैव ध्यान रखता था। शासन-निपुणता तथा युद्ध-कुशलता के अतिरिक्त उसमें काव्य-कला के भी गुण थे। वह एक प्रसिद्ध कवि था और अपनी कोमल-कान्त-पदावली के लिए दूर-दूर तक विख्यात था। ऐसे सुयोग्य और शान्तिप्रिय शासक के ऊपर अकारण आक्रमण करना अन्यायपूर्ण था। नवाब वजीर और हाफिज रहमत खाँ में पारस्परिक झगड़ा हो सकता था, परन्तु अँगरेजों को बिना किसी न्यायपूर्ण आधार के एक पक्ष के विरुद्ध दूसरे पक्ष का समर्थन करना नितान्त अनुचित था।

रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (१७७३ ई०)—पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि १७६५ ई० से ईस्ट इंडिया कम्पनी की दशा असन्तोषजनक चल रही थी। व्यापारिक स्वार्थों के अतिरिक्त इस समय उसके हाथ में शासनाधिकार भी आ गया था। राजनीतिक सन्धि-विग्रह के परिणामस्वरूप उसकी स्थिति और भी अधिक जटिल हो गई थी। उसे अपनी निजी सेनाएँ रखनी पड़ती थीं, अपने भूमि-अधिकारों की रक्षा के लिए देशी राजाओं और नवाबों से सन्धि करनी पड़ती थी। बहुधा आत्म-रक्षा अथवा स्वार्थ विस्तार के लिए उसे युद्ध भी करने पड़ते थे। इन सबका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। राजनीतिक विषयों में फँसकर वह व्यापारिक क्षेत्र से दूर होने लगी। पुनः कम्पनी के कर्मचारियों की स्वार्थपरायणता एवं भ्रष्टाचार के कारण उसकी आर्थिक स्थिति और भी बिगड़ गई। सन् १७७३ में पार्लियामेंट ने उसकी जाँच करने के लिए जो कमेटी नियुक्त की, उसकी रिपोर्ट से ज्ञात हुआ कि कम्पनी की आर्थिक अवस्था अत्यधिक शोचनीय है और यदि उसे गृह-सरकार से कुछ सहायता न मिली तो उसका दिवाला पिट जायगा। अन्त में घोर वाद-विवाद के पश्चात् सन् १७७३ में पार्लियामेंट ने दो ऐक्ट पास किये। प्रथम ऐक्ट के द्वारा उसने कम्पनी को ४ प्रतिशत ब्याज पर १४ लाख पौंड उधार दिये। दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण ऐक्ट रेग्यूलेटिंग ऐक्ट था। इसने कम्पनी के आन्तरिक संगठन में ही परिवर्तन नहीं किये, वरन् उसके एवं ब्रिटिश क्राउन के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी स्पष्ट व्याख्या की। कम्पनी के

इतिहास में सर्वप्रथम अँगरेजी पार्लियामेंट ने उसके भारतीय शासन की स्पष्ट रूप-रेखा निश्चित की।

इस ऐक्ट के अनुसार डाइरेक्टरों का पद-काल ४ वर्ष के लिए निश्चित कर दिया गया। उनमें से एक चौथाई सदस्यों को प्रतिवर्ष अवकाश प्राप्त करना था।

भारतवर्ष में बंगाल का गवर्नर भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल बना दिया गया। उसकी शासनावधि ५ वर्ष रक्खी गई। मद्रास और बम्बई के गवर्नर उसके अधीन कर दिये गये। अब गवर्नर-जनरल की सहमति के बिना वे सन्धि-विग्रह न कर सकते थे। गवर्नर-जनरल को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए चार सदस्यों की एक कौंसिल नियुक्त की गई। इन सदस्यों का पद-काल ४ वर्ष रक्खा गया। कौंसिल में रिक्त स्थान की पूर्ति कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के द्वारा होने का नियम था। गवर्नर-जनरल का वेतन २५,००० पौंड प्रतिवर्ष और कौंसिल के सदस्यों का वेतन १०,००० पौंड प्रतिवर्ष रक्खा गया। इँगलैंड के डाइरेक्टरों को अब कम्पनी के राजनीतिक एवं मिलिटरी शासन की सविस्तर सूचना सेक्रेटरी आफ स्टेट को देनी थी। इस ऐक्ट के द्वारा कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना हुई। इसमें चार अँगरेज जज नियुक्त हुए, जो अँगरेजी कानून के द्वारा अँगरेजी प्रजा के मुकदमे तय करने लगे। गवर्नर-जनरल का इन जजों पर कोई भी अधिकार न था। सुप्रीम कोर्ट के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील हो सकती थी। इस न्यायालय का चीफ जस्टिस सर एलिजा इम्पी नियुक्त हुआ जिसकी वार्षिक आय ८,००० पौंड निश्चित हुई। इस ऐक्ट के अनुसार कम्पनी का कोई भी पदाधिकारी बिना लाइसेंस प्राप्त किए निजी व्यापार न कर सकता था। उसे उपहारादि ग्रहण करने की भी स्वतन्त्रता न रही।

इस प्रकार ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश भारत का सर्वोच्च पदाधिकारी बना दिया। परन्तु उसे अपनी कौंसिल के सदस्यों के बहुमत के विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा न थी। इससे भविष्य में अनेक दोष उत्पन्न हो गये। गवर्नर-जनरल किसी भी आवश्यक विषय पर अब शीघ्रतापूर्वक कार्य न कर सकता था। प्रत्येक मामले में कौंसिल में वाद-विवाद होता था। तत्पश्चात्

यदि बहुमत ने उसकी नीति का समर्थन किया, तभी वह कुछ कार्य कर सकता था। परन्तु जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, कौंसिल के सदस्यों का बहुमत प्रायः गवर्नर-जनरल के विरुद्ध रहता था। इससे उसकी स्थिति बड़ी असन्तोषजनक हो गई। इसी प्रकार मद्रास और बम्बई के गवर्नरों की स्वतन्त्र सत्ता जाती रही। अब वे आवश्यकतानुसार यदि किसी से सन्धि-विग्रह करना चाहें, तो बिना गवर्नर-जनरल की सम्मति के नहीं कर सकते थे। सम्मति लेने में प्रायः देर हो सकती थी जिससे स्थानीय परिस्थिति बिगड़ सकती थी। पुनः गवर्नर-जनरल की सम्मति मिलने पर भी सन्देह हो सकता था।

सुप्रीम कोर्ट के अधिकार-क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या भी इस ऐक्ट में न हुई थी। इस न्यायालय को अँगरेजी प्रजा के मुकदमों का फैसला करने का अधिकार था, परन्तु यह स्पष्ट न था कि अँगरेजी प्रजा में योरपीय या योरपीय और भारतीय दोनों ही सम्मिलित हैं। इससे भविष्य में अनेक दोष उत्पन्न होने की सम्भावना थी। पुनः इसके न्यायाधीश केवल अँगरेजी कानून के अनुसार मुकदमों का फैसला करेंगे अथवा भारतीय कानून का भी प्रयोग किया जायगा, यह भी स्पष्ट न था। पुनः कौंसिल और सुप्रीम कोर्ट के अधिकारों के पृथक् विभाजन का प्रयत्न नहीं किया गया था। इससे भविष्य में दोनों संस्थाओं में कलह पैदा हो गया।

इस ऐक्ट ने कम्पनी के पदाधिकारियों को निजी व्यापार करने से मना कर दिया, परन्तु उनकी आय बढ़ाने का प्रयत्न न किया। यह एक भारी दोष था। कम वेतनवाले कर्मचारियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपनी आय किसी अन्य उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त साधन से बढ़ायें। अतः लाभ के बदले ऐक्ट की इस धारा ने हानि ही अधिक की।

उपर्युक्त धाराओं पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि यह ऐक्ट प्रमुख रूप से उन व्यक्तियों द्वारा बनाया गया था, जिन्हें भारतवर्ष की वास्तविक स्थिति का सच्चा ज्ञान न था। इसका मुख्य उद्देश्य कम्पनी के अधिकारों को कम करना था। परन्तु शक्ति-सन्तुलन के चक्कर में पड़कर इसके निर्माताओं ने शासन के प्रत्येक अंग को शिथिल कर दिया। गवर्नर-जनरल तथा कौंसिल के सदस्यों और सुप्रीम कोर्ट एवं कौंसिल के अधिकारों की स्पष्ट

व्याख्या न करके इसने भविष्य में उग्र कलह को जन्म दिया। परन्तु इस ऐक्ट का एक स्थायी परिणाम यह हुआ कि कम्पनी ब्रिटिश पार्लियामेंट के अन्तर्गत आ गई।

कौंसिल के सदस्यों का विरोध—ऐक्ट के अनुसार मेजर जनरल क्लेवरिंग, बारवेल, कर्नल मौन्सन और फिलिप फ्रांसिस कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए।* इन सदस्यों में फ्रांसिस सबसे योग्य व्यक्ति था। वह एक विद्वान्, प्रसिद्ध लेखक तथा कुशल वक्ता था। उसने कम्पनी के शासन के दोषों और त्रुटियों को पहले से ही सुन रक्खा था। अतः अब वह उनका मूलोच्छेदन करने के लिए व्यग्र था। परन्तु अनेक गुणों के होते हुए भी उसमें कुछ दोष थे। वह हठी और उग्र स्वभाव का मनुष्य था। अपना विरोध उसे असह्य था। इन दोषों के कारण शीघ्र ही उसमें और हेस्टिंग्ज में कलह उत्पन्न हो गई। उसने आते ही क्लेवरिंग और मौन्सन को अपने पक्ष में कर लिया और तत्पश्चात् अपनी अद्भुत भाषण-शक्ति का सहारा लेकर वह गवर्नर-जनरल के कार्यों की तीव्र आलोचना करने लगा। उसने नवाब वजीर के हाथ कड़ा और इलाहाबाद के जिले बेचे जाने के लिए तथा रुहेला-युद्ध के लिए हेस्टिंग्ज की तीव्र निन्दा की। उसने गवर्नर-जनरल पर स्वार्थपरायणता एवं भ्रष्टाचार के भी आरोप लगाये। कौंसिल का बहुमत उसके पक्ष में था। अतः शीघ्र ही उसने अंगरेज एजेण्ट मिडिल्टन (Middleton) को नवाब वजीर के दरबार से वापस बुला दिया और अपने मित्र ब्रिस्टो (Bristow) को उस स्थान पर नियुक्त किया। बनारस की सन्धि रद कर दी गई और शीघ्र ही अवध के नये नवाब आसफुद्दौला के साथ एक नवीन सन्धि की गई। इसके अनुसार नवाब को बनारस और गाजीपुर के जिले कम्पनी को देने के लिए विवश किया गया। हेस्टिंग्ज ने इस नई व्यवस्था का बहुत विरोध किया, परन्तु बहुमत के विपक्ष में होने के कारण उसकी एक न चली।

नन्दकुमार का मुकदमा—कौंसिल के सदस्य तो पहले से ही हेस्टिंग्ज के घोर विरोधी थे और प्रत्येक विषय में उसकी कटु आलोचना करते थे, शीघ्र ही

---

*General Clavering, Barwell, Monson, Philip Francis.

उन्हें हेस्टिंग्ज की उग्र भर्त्सना करने का एक और सुअवसर प्राप्त हो गया। यह सुअवसर नन्दकुमार के मुकदमे के साथ आया। नन्दकुमार एक बंगाली ब्राह्मण था। वह पहले मुर्शिदाबाद में मीर जाफ़र के यहाँ नौकरी कर चुका था। मुहम्मद रजा खाँ के साथ हेस्टिंग्ज ने जो कठोर व्यवहार किया था, उससे नन्दकुमार बहुत ही क्रुद्ध था। उसने कौंसिल के समक्ष हेस्टिंग्ज पर यह आरोप लगाया कि उसने मीर जाफर की विधवा पत्नी मुन्नी बेगम से ३½ लाख रुपया घूस लेकर उसे नये नवाब का रीजेण्ट बनाया है। हेस्टिंग्ज ने कहा कि कौंसिल को उसके कार्यों एवं नन्दकुमार के कथन पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। अतः शीघ्र ही उसने उसे भंग कर दिया। परन्तु सदस्यों ने अपना कार्य जारी रक्खा। उन्होंने नन्दकुमार के आरोप को सत्य पाया और हेस्टिंग्ज से वह धन वापस करने के लिए कहा। हेस्टिंग्ज ने स्वीकार किया कि उसने मुन्नी बेगम से १½ लाख रुपया लिया था; परन्तु उसने सदस्यों की अनधिकार चेष्टा का विरोध किया। कुछ भी हो, जन-साधारण के सम्मुख यह सिद्ध हो गया कि हेस्टिंग्ज ने मुन्नी बेगम से धन अवश्य लिया है और इस कारण वह सर्वत्र बदनाम हो गया। परन्तु हेस्टिंग्ज के भाग्य से इसी समय एक ऐसी घटना हो गई जिसने उसे भारी संकट से बचा लिया। मोहनप्रसाद नामक कलकत्ते के एक व्यापारी ने इसी समय नन्दकुमार के विरुद्ध जालसाजी का मुकदमा दायर किया। नन्दकुमार का अभियोग सिद्ध हो गया और उसे फाँसी दे दी गई। मृत्यु के पूर्व उसने क्लेवरिंग, मौन्सन और फ्रांसिस से रक्षा के लिए प्रार्थना की, परन्तु किसी ने भी उसके मामले में हस्तक्षेप न किया। नन्दकुमार की फाँसी से हेस्टिंग्ज का भय जाता रहा। अब उसके विरुद्ध घूस लेने का मुकदमा न चल सकता था। इस प्रकार वह एक भीषण विपत्ति के मुँह से निकल आया।

परन्तु नन्दकुमार की फाँसी से हेस्टिंग्ज और भी बदनाम हो गया। उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस से मिलकर निर्दोष नन्दकुमार को फाँसी दिला दी है जिससे स्वयं उस पर मुकदमा न चल सके। परन्तु यह आरोप नितान्त निराधार है। नन्दकुमार पर कानून के अनुसार मुकदमा चलाया गया था। उसे अपनी बचत के लिए कानूनी सहायता

पेशवा माधौराव नारायण

भी दी गई थी। फैरियर (Farrier) नामक एक विख्यात वकील ने उसकी पैरवी की थी, परन्तु फिर भी वह निर्दोष सिद्ध न हो सका। हाँ, एक बात स्वीकार करनी पड़ेगी। अँगरेजी कानून के अनुसार नन्दकुमार पर मुकदमा चलाना और इतने छोटे अपराध के लिए फाँसी की सजा देना सर्वथा अन्यायपूर्ण था। जेल में उसके साथ जो दुर्व्यवहार किया गया था, वह भी निन्दनीय था। एक ब्राह्मण की अन्यायपूर्ण मृत्यु का समाचार सुनकर सारा देश क्षुब्ध हो उठा और सर्वसाधारण हेस्टिंग्ज की अन्यायप्रियता को धिक्कारने लगा।

सुप्रीम कोर्ट और कौंसिल—पहले कहा जा चुका है कि रेग्यूलेटिंग ऐक्ट ने सुप्रीम कोर्ट के अधिकारों की विशद व्याख्या न की थी, अतः कौंसिल से उसका झगड़ा होना स्वाभाविक था। कोर्ट के जज समझते थे कि उनकी नियुक्ति ब्रिटिश क्राउन द्वारा हुई है और इस प्रकार उनका अधिकार सम्पूर्ण कम्पनी के अधिकृत भू-भाग पर है। इसलिए उन्होंने नवाब के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और उसके साथ भी साधारण अँगरेजी प्रजा के समान बर्ताव करना प्रारम्भ किया। कौंसिल का कथन था कि बंगाल के भूमि-अधिकारी नवाब की प्रजा हैं, अतः उन पर कोर्ट का कुछ भी अधिकार नहीं है। वास्तव में 'ब्रिटिश प्रजा' के शब्द ही सारी कलह के मूल कारण थे। ऐक्ट में यह स्पष्ट न था कि ब्रिटिश प्रजा का अर्थ योरपीय जनता से है या सम्पूर्ण बंगाल-निवासियों से। थोड़े ही दिनों में यह कलह जटिल हो गया। इससे अँगरेजी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा।

प्रथम मराठा युद्ध (सन् १७७५–८२ ई०)—पानीपत के युद्ध की भीषण पराजय ने पेशवा बालाजी बाजीराव का हृदय तोड़ दिया और वह जून, सन् १७६१ में मर गया। उसके पश्चात् उसका पुत्र माधोराव पेशवा हुआ। परन्तु वह अल्पायु था, अतः राज्य-कार्य उसके चाचा रघुनाथराव अथवा राघोबा के हाथ में रहा। परन्तु जब माधोराव कुछ बड़ा और समझदार हुआ, तो उसने अपने चाचा के शासन से स्वतन्त्र होना चाहा। इससे क्रुद्ध होकर राघोबा और उसके दीवान सखाराम बापू ने पदत्याग कर दिया। माधोराव तो यह चाहता ही था। उसने शासन-कार्य में सहायतार्थ नाना फड़नवीस को नियुक्त किया। इधर, राघोबा की स्त्री आनन्दीबाई भी माधोराव की माता

गोपिकाबाई से अप्रसन्न थी। अतः उसने भी राघोबा को पेशवा के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए प्रोत्साहित किया। अन्त में राघोबा ने निजाम को पूना पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। निजाम राजी हो गया। परन्तु पेशवा ने अपने को अशक्त देखकर राघोबा से पुनः सन्धि कर ली। वह पुनः अपने चाचा के प्रभुत्व में आ गया। सन् १७६३ में जनोजी भोसला का पक्ष लेकर निजाम ने पूना पर आक्रमण किया, परन्तु होलकर और गायकवाड़ की सहायता से पेशवा ने उसे पराजित कर दिया। उसके बाद कुछ समय तक तो चाचा-भतीजे के सम्बन्ध अच्छे रहे, परन्तु आनन्दीबाई के षड्यन्त्रों ने पुनः झगड़ा उत्पन्न कर दिया।

सन् १७६४ में माधोराव ने हैदरअली पर आक्रमण किया, परन्तु अपने चाचा राघोबा के प्रयत्नों से उसने हैदरअली से सन्धि कर ली। दो वर्ष पश्चात् माधोराव ने पुनः उस पर धावा किया। इस समय निजाम और अँगरेज भी मैसूर पर आक्रमण कर रहे थे। ऐसी विषम स्थिति से बचने के लिए हैदरअली ने मराठों को घूस देकर वापस लौटा दिया और निजाम को अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार उस पर आनेवाला एक भारी संकट टल गया।

धीरे-धीरे मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गई। उन्होंने सम्पूर्ण उत्तर-भारत को भी आतंकित करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने राजपूतों और जाटों से चौथ वसूल की तथा मुगल-सम्राट् को अपने अधीन कर लिया। उनकी बढ़ती हुई शक्ति से अँगरेज भयभीत हो गये।

सन् १७७२ में माधोराव पेशवा मर गया। उसकी मृत्यु ने पानीपत के युद्ध से भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये। उसके बाद उसका भाई नारायणराव पेशवा हुआ। परन्तु कुछ समय के बाद वह मार डाला गया। सम्भव है, यह हत्या आनन्दीबाई के षड्यन्त्रों का परिणाम हो। तत्पश्चात् राघोबा पेशवा हुआ; परन्तु मृत पेशवा के मन्त्री सखाराम और नाना फड़नवीस ने उसका विरोध किया। उनका कथन था कि नारायणराव की पत्नी गंगाबाई गर्भवती है और उसका सम्भावित पुत्र ही राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी होगा। कुछ दिनों बाद गंगाबाई के पुत्र उत्पन्न हुआ और इस प्रकार राघोबा की सारी आशाएँ धूल में मिल गईं। बारह नेताओं ने नवजात शिशु के अधिकार के

संरक्षण के हेतु एक संरक्षण-समिति बनाई। राघोबा की स्थिति निराशाजनक हो गई। उसे होल्कर और सिंधिया से भी कोई सहायता न मिली। अतः राघोबा ने अब अँगरेजों से सहायता माँगी। उसने ७ मार्च, सन् १७७५ में बम्बई सरकार से सूरत में सन्धि कर ली। अँगरेजों ने उसको सहायता देना स्वीकार कर लिया। इसके बदले में उसने अँगरेजों को सालसट और बेसीन के टापू देने का वचन दिया। परन्तु बम्बई की सरकार ने कलकत्ते की सरकार की अनुमति लिये बिना ही सूरत की सन्धि की थी। अतः जब हेस्टिंग्ज को इसका ज्ञान हुआ, तो उसने बम्बई सरकार के इस कार्य को 'आपत्तिजनक, अननुमोदित एवं नीति और न्याय के विरुद्ध' बताया। अतः एक अँगरेज अफसर को पूना में नवीन सन्धि करने के लिए भेजा। बम्बई सरकार के विरोध करने पर भी हेस्टिंग्ज ने पूना सरकार के साथ सन् १७७६ में पुरन्दर की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार अँगरेजों ने राघोबा का साथ छोड़ दिया। उसे ३ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन दी गई। अब वह कोई सेना न रख सकता था। बदले में फड़नवीस ने सालसट पर अँगरेजों का अधिकार रहने दिया। परन्तु इँगलैंड के डाइरेक्टरों ने सूरत की सन्धि का समर्थन किया। अतः अँगरेजों और फड़नवीस के दल में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। इसी बीच में एक फ्रांसीसी दूत पूना-दरबार में पहुँचा और उसने फड़नवीस से व्यापारिक संधि कर ली। अँगरेज इस सन्धि से सशंकित हो गये। उन्होंने पुनः राघोबा के पक्ष का समर्थन किया। इस प्रकार सन् १७७८ में युद्ध छिड़ गया। एक अँगरेजी सेना राघोबा को पेशवा की गद्दी पर बैठाने के लिए पूना की ओर बढ़ी। नाना फड़नवीस इसके लिए पहले से ही तैयार था। उसकी सहायता के लिए होल्कर और सिंधिया ने भी वचन दिया था। अतः जब अँगरेजी सेना पूना पहुँची तो मराठों ने उसे बुरी तरह पराजित किया। अन्त में विवश होकर अँगरेजों को बड़गाँव की अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार (१) बम्बई सरकार ने वे सारे प्रदेश लौटा दिये जिन्हें उसने सन् १७७३ के पश्चात् हस्तगत किये थे, (२) सिन्धिया को बरवाच (Barvach) की मालगुजारी का कुछ भाग दिया गया, (३) बंगाल से आनेवाली अँगरेजों की सेना को वापस लौटना पड़ा, (४) सन्धि की पूर्त्ति के प्रमाणस्वरूप अँगरेजों को ४१,००० रु० देना पड़ा।

इस सन्धि से अँगरेजी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। अतः हेस्टिंग्ज इसे रद करने का विचार करने लगा। अतः अँगरेजी सेनापति गौडार्ड (Goddard) ने अहमदाबाद पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया (१५ फरवरी, १७८० ई०)। इसी बीच सिंधिया और होलकर पेशवा की सहायता के हेतु आ गये। परन्तु गुजरात के युद्ध में मराठों की सम्मिलित सेनाएँ पराजित हुई।

परन्तु इसी समय ज्ञात हुआ कि हैदरअली और निजाम भी अँगरेजों के विरुद्ध मराठों की सहायता के लिए आ रहे है। इसके अतिरिक्त यह भी भय था कि कदाचित् फ्रांसीसी बेड़ा भी उनके सहायतार्थ आ जाय। अतः इन खतरों के बीच में अँगरेजों ने सन् १७८२ में मराठों के साथ सालबाई की सन्धि कर ली। इस प्रकार प्रथम मराठा-युद्ध का अन्त हुआ। सन्धि की शर्तों के अनुसार सालसट और बेसीन पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। उन्होंने राघोबा को सहायता देना अस्वीकार किया। उसे पेशवा ने २५,००० रु० मासिक पेंशन देना स्वीकार किया। पुरन्दर की सन्धि के पश्चात् अँगरेजों ने जो क्षेत्र जीते थे, वे सब मराठों को लौटा दिये गये।

इस प्रकार सालबाई की संधि ने भारतीय राजनीति में एक बार फिर अँगरेजों की प्रतिष्ठा स्थापित कर दी। इस संधि से मराठों और अँगरेजों में शान्ति स्थापित हो गई। इस शान्ति-काल से लाभ उठाकर महादाजी सिंधिया ने अपना प्रभाव-विस्तार करना प्रारम्भ किया। अभी तक वह केवल पेशवा का एक अधीनस्थ सरदार था। परन्तु इसके बाद उसने जो शक्ति-संचय की, उससे वह मराठा-राजनीति में एक प्रमुख व्यक्ति हो गया।

मैसूर का द्वितीय युद्ध (१७८०-८४ ई०)—पीछे बताया जा चुका है कि सन् १७७२ में मराठों ने हैदरअली को बुरी तरह परास्त किया था और उसके राज्य का एक भाग छीन लिया था। इस आपत्ति-काल में अँगरेजों ने उसकी सहायता न की थी। अतः हैदरअली उनसे असन्तुष्ट था और बदला लेने का अवसर ढूँढ़ रहा था। पेशवा नारायणराव की हत्या से पूना की राजनीति में बड़ी अव्यवस्था फैल गई। इससे हैदरअली को शक्ति-संचय करने का समय मिल गया। उसने कुर्ग के राजा को हराया और दूसरे वर्ष मराठों पर आक्रमण

कर अपने राज्य का खोया हुआ भाग पुनः हस्तगत कर लिया। मराठे हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर भयभीत हो गये और उन्होंने निजाम से सन्धि कर ली। दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने सन् १७७६ में मैसूर पर आक्रमण किया। परन्तु हैदरअली ने सेनापतियों को भारी घूस देकर अपने सिर से विपत्ति टाल दी। इस समय भी उसे अँगरेजों से कोई सहायता न मिली।

इसी बीच में सन् १७७८ में अँगरेजों और फ्रांसीसियों का अमेरिका में युद्ध छिड़ गया। अतः भारतवर्ष में भी उसकी ज्वाला भड़क उठी। मद्रास के अँगरेज सेनापति सर हेक्टर मुनरो (Sir Hector Munro) ने पाण्डीचेरी पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। तत्पश्चात् चन्द्रनगर और कारीकल पर भी अँगरेजों का अधिकार हो गया। अब अँगरेजों ने हैदरअली के पास इस आशय का सन्देश भेजा कि वे शीघ्र ही फ्रांसीसी बन्दरगाह पर आक्रमण करनेवाले हैं। माही मलाबार तट पर स्थित था और इस प्रदेश पर हैदरअली का आधिपत्य था। इसलिए उसने अँगरेजों के इस सम्भावित आक्रमण का विरोध किया। परन्तु अँगरेजों ने उसकी कुछ भी परवाह न की। उन्होंने माही पर आक्रमण कर १७७९ ई० में उस पर अधिकार कर लिया। अतः अब वह मराठों की ओर झुका। इस समय निजाम भी अँगरेजों से अप्रसन्न था। अतः तीनों ने—हैदर, निजाम और मराठों ने—पारस्परिक रक्षा एवं सहयोग की सन्धि कर ली। इस समय अँगरेजों की स्थिति अच्छी न थी। मद्रास-सरकार भ्रष्ट और शिथिल थी। उसकी सेना को बहुत दिनों से वेतन नहीं मिला था। इससे उसमें तीव्र असन्तोष फैला था। उसके प्रधान सेनापति सर हेक्टर मुनरो की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था अच्छी न थी। निरन्तर युद्ध के कारण कलकत्ता में भी कम्पनी की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। हेस्टिंग्ज और उसकी कौंसिल की पारस्परिक कलह के कारण भी वहाँ की सरकार कार्यशिथिल हो गई थी। यही अनाचार, आर्थिक संकट तथा कार्यशिथिलता बम्बई सरकार में भी वर्तमान थी।

इधर, हैदरअली ने युद्ध के लिए पूरी तैयारी कर ली थी। उसके पास ८३,००० सैनिकों की एक सुसंगठित सेना थी। उसमें १०० बन्दूकें भी थीं। इस सुव्यवस्थित सेना को लेकर हैदर ने जुलाई, सन् १७८० में कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। उसने इस विस्तृत प्रदेश में त्राहि-त्राहि मचा दी। अनेकों गाँव

नष्ट कर दिये गये, खेत उजाड़ दिये गये तथा सैकड़ों मनुष्य तलवार के घाट उतार दिये गये। कर्नाटक की राजधानी अर्काट को हैदरअली की विशाल सेना ने घेर लिया। जब अँगरेजों को इस घेरे का पता चला तो उन्होंने उसकी रक्षा के लिए सर हेक्टर मुनरो और कर्नल बेली (Baillie) को दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेजा। परन्तु हैदरअली के वीर पुत्र टीपू ने इन दोनों सेनापतियों का आपस में मिलना असम्भव कर दिया। हैदरअली ने बेली की सेना को घेर लिया और बुरी तरह पराजित किया। सैकड़ों अँगरेज सैनिक मारे गये और उनकी बहुत-सी युद्ध-सामग्री हैदर के हाथ लगी। रक्षा का उपाय न देखकर मुनरो मद्रास भाग गया। अर्काट पर हैदरअली का अधिकार हो गया।

अँगरेजों की इस विषम स्थिति में हेस्टिंग्ज ने बड़े धैर्य और चातुर्य से काम किया। उसने मद्रास के अयोग्य गवर्नर ह्वाइटहिल (Whitehill) को पदच्युत कर दिया और शीघ्र ही आयरकूट (Eyrecoot) नामक कुशल सेनापति को युद्ध के लिए भेजा। आयरकूट बड़ा निपुण सेनापति था। वह दक्षिण में फ्रांसीसियों के विरुद्ध अनेक सफल युद्ध कर चुका था। वांडवाश के प्रसिद्ध युद्ध के पश्चात् उसकी कीर्त्ति चारों ओर फैल चुकी थी। हेस्टिंग्ज ने सैन्य-संगठन एवं युद्ध-संचालन के लिए उसे १५ लाख रुपये दिये। पुनः हेस्टिंग्ज ने देख लिया था कि अँगरेज साथ-साथ हैदरअली और मराठा जैसे दो शक्तिशाली शत्रुओं का सामना नहीं कर सकते। अतः उसने अपनी कूटनीतिज्ञता के द्वारा मराठों को हैदरअली से अलग कर दिया। सन् १७८१ में उसने बरार के राजा को अपनी ओर मिला लिया और कुछ दिनों बाद उसने सिंधिया से भी सन्धि कर ली। सिन्धिया के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अँगरेजों की अन्य मराठा सरदारों के साथ भी सन्धि हो गई। यह सन्धि सालबाई की सन्धि (मई, १७८२) के नाम से विख्यात है। इसने मराठों को हैदरअली से अलग कर दिया।

आयरकूट की विजय—आयरकूट ने सेना का संगठन कर चिदम्बरम् पर आक्रमण किया, परन्तु वहाँ उसकी पराजय हुई। इस विजय से प्रोत्साहित होकर हैदर ने पोर्टोनोवो नामक स्थान पर अँगरेजी सेना पर आक्रमण किया। बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। परन्तु आयरकूट ने उसे परास्त कर दिया। हैदर के १०,००० सैनिक खेत रहे और उसे भारी क्षति उठानी पड़ी। इसके पश्चात् पोलीलोर का युद्ध

हुआ, परन्तु इसमें किसी की भी निश्चित विजय न हुई। परन्तु तृताय युद्ध में शौलिंगढ़ नामक स्थान में हैदर बुरी तरह पराजित हुआ। उसके ५,००० आदमी मारे गये।

डचों के साथ युद्ध—इसी बीच इँगलैंड और हालैण्ड में भी युद्ध छिड़ गया। अतः हैदरअली ने डचों का सहयोग प्राप्त करने के ध्येय से उनसे वार्त्ता प्रारम्भ की। यह समाचार पाकर अँगरेजों ने कारोमण्डल-तट पर स्थित डचों के मुख्य उपनिवेश नेगापट्टम पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत लिया। तत्पश्चात् लंका-स्थित त्रिकोमाली पर भी उनका अधिकार हो गया।

कर्नल ब्रैथवेट (Brathwaite)—अब टीपू के आक्रमण से तंजौर की रक्षा करने के हेतु अँगरेजों ने २,००० सैनिकों के साथ कर्नल ब्रैथवेट को भेजा। परन्तु टीपू की विशाल सेना ने उसे बुरी तरह परास्त किया। उधर हैदरअली तेलीचेरी को १८ मास से घेरे पड़ा था। उसके उद्धार के लिए अँगरेज मेजर अबिंगडन (Major Abingdon) ने हैदर पर आक्रमण किया और उसे परास्त किया। इसी बीच में फ्रांसीसी ऐडमिरल सफरन (Suffren) की अध्यक्षता में एक विशाल जहाजी बेड़ा आ पहुँचा। अतः हैदर को पुनः कुछ आशा हुई। इस बेड़े ने सन् १७८२ में त्रिकोमाली पर अधिकार कर लिया। शत्रुओं की शक्ति को नष्ट करने के ध्येय से अँगरेजों ने अब हैदरअली के राज्य पर आक्रमण करना निश्चित किया। अँगरेज सेनापति हम्बरस्टोन ने एक बड़ी सेना लेकर पालघाट पर आक्रमण किया। हैदर ने अपने पुत्र टीपू को उसका सामना करने के लिए भेजा, परन्तु अँगरेजों ने उसे हरा दिया। हैदर स्वयं अँगरेजों का सामना करने के लिए आ रहा था, परन्तु इसी बीच में ७ दिसम्बर, सन् १७८२ में उसकी मृत्यु हो गई।

उसकी मृत्यु का समाचार टीपू के प्रत्यागमन तक गुप्त रक्खा गया। तत्पश्चात् उसका शव श्रीरंगपट्टन भेजा गया और वहीं गाड़ दिया गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् टीपू ने युद्ध जारी रक्खा। सन् १७८३ में उसने बेदनूर का दुर्ग जीत लिया। परन्तु इसी बीच में अँगरेजी सेनापति फुलर्टन (Fullarton) ने उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टन पर आक्रमण कर दिया। टीपू ने अपनी स्थिति निर्बल देखी। निजाम ने उसकी सहायता न की थी। मराठों को अँगरेजों ने

अपनी ओर मिला लिया था। डच भी युद्ध में अधिक लाभकर न हो सके थे। अतः सारी परिस्थिति पर पूर्ण रूप से विचार कर टीपू ने सन्धि की वार्त्ता प्रारम्भ की। १७ मार्च सन् १७८४ में मॅगलोर की सन्धि हो गई। इसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते प्रदेश वापस कर दिये और पुनः युद्ध के पूर्व जैसी स्थिति हो गई।

हैदर अली का चरित्र---भारतीय इतिहास में हैदरअली एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता है। उसने स्वयं अपनी प्रतिभा, अध्यवसाय, वीरता एवं शासन-कुशलता से इतना बड़ा राज्य संगठित किया था। प्रारम्भ में वह एक साधारण सैनिक था, परन्तु शीघ्र ही अपने असाधारण गुणों के कारण वह एक बृहत् राज्य का शासक बन गया। यद्यपि वह अशिक्षित था, तथापि उसमें प्रतिभा थी जिसके बल पर वह जटिल से जटिल राजनीतिक परिस्थिति को समझ लेता था। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। बिना लिखे हुए वह गणित के बड़े-बड़े योग कर लेता था। वह पाँच भाषाओं का ज्ञाता था। वह अपने शासन-कार्य को बड़ी शीघ्रता एवं कुशलता से करता था। यद्यपि वह शान-शौकत पसन्द करता था, परन्तु उसमें व्यर्थ गर्व न था। उसका स्वभाव एवं भोजन साधारण था। प्रस्थान के समय उसका व्यय केवल एक साधारण सैनिक की भाँति होता था। परन्तु वह अनुशासन में बड़ा कठोर था। आलसी एवं विलासप्रिय कर्मचारियों को वह कठोर दण्ड देता था। वाचाल मनुष्यों से वह घृणा करता था। सभा-समितियों में वह केवल प्रासंगिक राजकीय विषयों पर ही वाद-विवाद करता था। घोड़ों से उसे विशेष प्रेम था। घोड़े बेचनेवाले बहुधा उसके लिए अच्छे अच्छे घोड़े लाते और इनाम पाते थे। वह मनुष्यों के गुण-अवगुण को भली भाँति समझ लेता था। उसमें जातीय पक्ष न था। राज्य के पद सब योग्य मनुष्यों के लिए खुले हुए थे। उसका प्रमुख मन्त्री पुर्णिया था, जो ब्राह्मण था। हैदर उसका बड़ा विश्वास करता था। शासन-सम्बन्धी कार्यों की वह स्वयं देख-रेख करता था। उसके राज्य में अनेक गुप्त लेखक थे, जो पदाधिकारियों के सम्पूर्ण कार्यों का लेखा रखते थे। कभी-कभी वह स्वयं भेष बदलकर घूमता था और प्रजा की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता था। वह एक कठोर शासक था और चाहता था कि सब लोग उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करें। आज्ञोल्लंघनकारी को

वह अत्यन्त कठोर दण्ड देता था। शासन-कार्य से अवकाश मिलने पर वह आमोद-प्रमोद में भी भाग लेता था। उसे धार्मिक विषयों में विशेष रुचि न थी। अतः धार्मिक वाद-विवादों को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। एक योरपीय लेखक का कथन है कि उसका कोई धर्म न था। अतः उसके राज्य में कोई भी मनुष्य किसी भी धर्म का स्वच्छन्दतापूर्वक अनुसरण कर सकता था।

हैदरअली एक वीर सैनिक था। उसके पास एक विशाल सुसंगठित सेना थी। इसमें अनेक योरपीय अफसर भी थे। उसने एक योरपीय सेना का भी संगठन किया था जिसका सेनापति एक फ्रांसीसी था। हैदरअली सैनिक विषयों में बड़ा दक्ष था। इसलिए नये सैनिकों की भर्ती करने में उसे कठिनाई न पड़ती थी। वह देखते ही सैनिक की योग्यता को समझ जाता था। उसे विभिन्न शस्त्रास्त्रों का भी समुचित ज्ञान था। वह सैनिकों के दुःख-सुख का सदैव ध्यान रखता था और उन्हें सदैव अच्छा वेतन देता था। अपने राज्य के विभिन्न स्थानों में उसने सुदृढ़ दुर्ग बनवाये थे और महत्त्वपूर्ण स्थानों की रक्षा के लिए पर्याप्त धन व्यय किया था।

हैदरअली एक विस्तृत भू-प्रदेश का शासक था। उसके राज्य का क्षेत्रफल ८०,००० वर्गमील और उसकी वार्षिक आय २ करोड़ रुपया थी।

चेतसिंह का मामला---मराठों और मैसूर के साथ युद्ध करने से कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। उसे धन की अत्यन्त आवश्यकता थी। हेस्टिंग्ज ने अन्य कोई उपाय न देखकर बनारस के राजा चेतसिंह एवं अवध की बेगमों से रुपया वसूल करना चाहा। परन्तु जिस ढंग से उसने यह धन प्राप्त किया, वह अतीव अन्यायपूर्ण एवं निन्दनीय था। इसके लिए उसकी बड़ी निन्दा हुई।

चेतसिंह बनारस का राजा था, जो अपने पिता बलवन्तसिंह के पश्चात् राज्याधिकारी हुआ था। पहले बनारस अवध के नवाब वजीर के अधीन था, परन्तु सन् १७७५ की फैजाबाद की सन्धि के अनुसार वह कम्पनी के अधिकार में आ गया था। परन्तु राजा के जमींदारी, अमीनी और फौजदारी के अधिकार पूर्ववत् कायम रहे। इनके बदले में वह कम्पनी को २२½ लाख रुपये की एक निश्चित वार्षिक रकम देता था। सन्धि के अनुसार यह तय हो चुका था कि इस निश्चित धन के अतिरिक्त कम्पनी बनारस के राजा से और अधिक धन माँगने की अधिकारिणी न होगी।

परन्तु धन की आवश्यकता होने पर हेस्टिग्ज ने संधि के विरुद्ध राजा से वार्षिक कर के अतिरिक्त ५ लाख रुपये और माँगे। दूसरे वर्ष फिर उतना अतिरिक्त धन माँगा गया। इस बार राजा ने धन तो दिया, परन्तु इस प्रकार की अनुचित आर्थिक माँग का विरोध किया। इस पर हेस्टिग्ज क्रुद्ध हो गया। उसने चेतसिंह के राज्य में एक सैन्य-दल भेजा और कहा कि इसका व्यय (लगभग २०,००० रु०) राजा को ही देना होगा। पुनः, सन् १७८० में उसने राजा से २,००० सैनिक देने के लिए कहा। राजा के विरोध करने पर इनकी संख्या १,००० कर दी गई। परन्तु हेस्टिग्ज राजा के विरोध और विलम्ब से चिढ़ गया और उसने उस पर ५० लाख रुपया जुर्माना कर दिया। अब हेस्टिग्ज ने ५०० सैनिक लेकर स्वयं बनारस की ओर प्रस्थान किया। राजा चेतसिंह ने बक्सर में उससे क्षमा-प्रार्थना की, परन्तु हेस्टिग्ज ने कुछ भी न सुना। जब वह बनारस पहुँचा तो उसने राजा से मिलने से भी इनकार कर दिया। उसने राजा पर आज्ञोल्लंघन एवं कुशासन का आरोप लगाया और उनका जो उत्तर दिया गया, उसे असन्तोषकर करार दिया। तत्पश्चात् हेस्टिग्ज ने उसे गिरफ्तार करने का आदेश दिया। अपने राजा के प्रति अकारण इतना अनुचित एवं अपमानपूर्ण व्यवहार देखकर बनारस-राज्य की सेना बिगड़ उठी और उसने अँगरेजी सैनिकों को मारना प्रारम्भ कर दिया। इस अव्यवस्था के बीच राजा अपने परिवार के साथ ललितगढ़ के दुर्ग में भाग गया। एक दूसरी अँगरेजी सेना बनारस भेजी गई, परन्तु उसे भी वहाँ के निवासियों ने नष्ट कर दिया। हेस्टिग्ज आत्मरक्षा के लिए चुनार भाग गया। वहाँ उसने पुनः एक सेना संगठित की और चेतसिंह पर आक्रमण किया। चेतसिंह ने २०,००० सैनिकों के साथ उसका सामना किया, परन्तु वह हार गया और ग्वालियर की ओर भाग गया।

अब हेस्टिग्ज बनारस पहुँचा और वहाँ उसने पुनः व्यवस्था स्थापित की। चेतसिंह राज्य-च्युत कर दिया गया और उसके स्थान पर उसका भतीजा गद्दी पर बैठाया गया। बनारस नगर का सैनिक-प्रबन्ध अली इब्राहीम खाँ के सुपुर्द किया गया।

इस सम्पूर्ण घटना से हेस्टिग्ज की बड़ी अपकीर्त्ति हुई। वास्तव में राजा के प्रति उसका बर्ताव सर्वथा अन्यायपूर्ण था। सन्धि की शर्तों के विरुद्ध उससे

अधिक धन माँगना असंगत था। राजा ने कभी भी कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रयत्न न किया था। राज्य के कुशासन का आरोप केवल बहाना-मात्र था। वास्तव में हेस्टिंग्ज राजा चेतसिंह से द्वेष रखता था। पुनः उसे धन की आवश्यकता थी। अतः उसने उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का विचार छोड़कर उसमे अधिक से अधिक धन लेने की चेष्टा की थी। परन्तु जुर्माना करना धन-प्राप्ति का ढंग न था। पुनः दण्ड-कर न मिलने पर राजा को उसी के नागरिकों एवं सैनिकों के सम्मुख बन्दी करने का प्रयत्न करना एक भारी भूल थी। निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर हेस्टिंग्ज का व्यवहार सर्वथा अनुचित प्रतीत होता था। पुनः आर्थिक दृष्टि से भी इस दुर्घटना से कम्पनी को कोई लाभ न हुआ। राजा के कोष से केवल २३ लाख रुपया कम्पनी के हाथ लगे। पुनः चेतसिंह के निष्कासन से राज्य की व्यवस्था असन्तोषजनक हो गई। वहाँ की खेती की अवनति हो गई तथा राज्य की आमदनी भी कम हो गई।

हेस्टिंग्ज और अवध की बेगमें—चेतसिंह से धन न मिलने पर हेस्टिंग्ज ने दूसरा अवलम्बन ग्रहण किया, जो पहले से भी अधिक गर्हित था। अवध के नवाब आसफुद्दौला ने बहुत दिनों से कम्पनी के पिछले कर न दिये थे। उस पर कम्पनी का १½ करोड़ रुपया ऋण था। आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण वह इतनी बड़ी रकम देने में असमर्थ था। आसफुद्दौला के पूर्वाधिकारी शुजाउद्दौला की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति (लगभग २ करोड़) पर उसकी विधवा स्त्री और माता ने अधिकार कर लिया था। आसफुद्दौला किसी प्रकार यह रकम हस्तगत करना चाहता था। पिछले अवसर पर उसने उनसे २५ लाख रुपया लिया था। अब सन् १७७५ में धन-संकट उपस्थित होने पर उसने अपनी माँ और दादी से पुनः आर्थिक सहायता माँगी। बेगमें बार-बार धन देना न चाहती थीं। अत उन्होंने कलकत्ता की कौंसिल के पास एक आवेदन-पत्र भेजा कि नवाब वजीर को मना कर दिया जाय कि वह इस प्रकार हमसे कोई भी धन-याचना न करे। अन्त में अँगरेजों के हस्तक्षेप करने से एक सन्धि हो गई जिसके अनुसार बेगमों से ३० लाख रुपया और लेकर नवाब वजीर ने वचन दिया कि अब भविष्य में वह रुपया न माँगेगा। परन्तु सन् १७८१ में आसफुद्दौला ने पुनः रुपया माँगा। अँगरेजों की सहायता प्राप्त करने के ध्येय से वह चुनार में हेस्टिंग्ज से मिला और

उसने उससे कहा कि बेगमें अंगरेजों के विरुद्ध चेतसिंह की सहायता कर रही हैं। ऐसी दशा में यदि उनकी सम्पत्ति उसे दे दी जाय, तो वह कम्पनी का सारा ऋण चुका सकता है।

हेस्टिंग्ज तो ऐसे अवसर ढूँढ़ा ही करता था। उसने मामले की जाँच के लिए तत्काल प्रधान जज सर एलिजा इम्पी की सहायता ली। बेगमों का अपराध सिद्ध कर दिया गया और उन्हें कम्पनी के संरक्षण से वंचित कर दिया गया। उनके ऊपर दबाव डाला गया। एक सैनिक दल फैजाबाद भेजा गया जिसने बेगमों के महल पर घेरा डाला। बिहार अली खाँ और जवाहर खाँ नामक उनके दो कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लिया गया, उनका भोजन बन्द कर दिया गया और उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट दिये गये। इन सारी यातनाओं से घबड़ाकर अन्त में असहाय बेगमों को अपना धन देना पड़ा।

इस काण्ड से हेस्टिंग्ज की भविष्य में बड़ी बदनामी हुई। वास्तव में महिलाओं के साथ इतनी कठोरता का बर्ताव करना नितान्त अभद्रता थी। हेस्टिंग्ज ने अपने कार्य को न्यायपूर्ण सिद्ध करते हुए दो प्रमुख आधार दिये थे। प्रथम, कि बेगमों की सम्पत्ति उनकी निजी सम्पत्ति न थी, वह राज्य का धन था। द्वितीय, कि बेगमों ने चेतसिंह की सहायता की थी। विचार करने पर ज्ञात होगा कि दोनों ही आधार तथ्यहीन हैं। बेगमों की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति थी अथवा निजी, इसका निर्णय करनेवाले अँगरेज कौन थे? उन्हें नवाब वजीर के घरेलू झगड़ों में पड़ने का कोई अधिकार न था। पुनः उन्होंने बेगमों के संरक्षण का वचन दिया था और नवाब वजीर को ३० लाख रुपया दिलाकर उनसे और अधिक धन न माँगने के लिए कहा था। अतः अपनी पूर्व सन्धि को भंग कर हेस्टिंग्ज ने बेगमों के साथ विश्वासघात किया था। इसी प्रकार द्वितीय आरोप भी सारहीन है। निष्पक्ष रूप से यह कभी भी प्रमाणित न किया जा सकता था कि बेगमों ने चेतसिंह की सहायता की थी। इस आरोप को सिद्ध करने के लिए हेस्टिंग्ज ने जिन साधनों का अवलम्ब लिया था, वे सब एकपक्षीय थे। बेगमों को अपनी निरपराधिता सिद्ध करने का कोई भी अवसर न दिया गया। यदि हेस्टिंग्ज को विश्वास था कि वास्तव में बेगमें अपराधिनी हैं, तो उसे उन पर नियमपूर्वक मुकदमा चलाना चाहिए था। परन्तु उसने ऐसा न करके उनका अपराध स्वयंसिद्ध समझ

लिया था। यह बर्बरता और अन्याय की पराकाष्ठा थी। पुनः असहाय महिलाओं के घर को घेरना, उनके नौकरों को बन्दी बनाना, भूखा रखना एवं अन्य यातनाएँ देना सर्वथा अति कठोर था। हेस्टिंग्ज के पक्ष का किसी भी दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता।

पिट का इण्डिया ऐक्ट (१७८४ई०)—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के पश्चात् कुछ वर्ष तक अँगरेज राजनीतिज्ञ अमरीका के झगड़ों में व्यस्त रहे, अतः भारतवर्ष की ओर उनका ध्यान अधिक आकृष्ट न हुआ। परन्तु सन् १७८० से उन्होंने पुनः भारतीय विषयों में रुचि लेना प्रारम्भ किया। सन् १७८१ में कम्पनी को दस वर्ष के लिए फिर एक नया चार्टर प्रदान किया गया। उसी वर्ष दो कमेटियाँ—सिलेक्ट कमेटी और सीक्रेट कमेटी—नियुक्त की गई। इन्होंने भारतीय परिस्थिति के पर्यवेक्षण के पश्चात् पार्लियामेंट को अपनी रिपोर्ट दी जिसमें इन्होंने वारेन हेस्टिंग्ज को वापस बुला लेना और गवर्नर-जनरल एवं उसकी कौंसिल के अधिकार-क्षेत्र का स्पष्टीकरण कर देने की सिफारिश की थी। सन् १७८३ में फाक्स ने पार्लियामेंट के सम्मुख अपना प्रसिद्ध 'इण्डिया बिल' पेश किया, परन्तु राजा के हस्तक्षेप के कारण वह पास न हो सका। सन् १७८४ में पिट ने अपना एक अन्य बिल उपस्थित किया। वह पास हो गया और इतिहास में इण्डिया ऐक्ट के नाम से प्रख्यात हुआ। इस ऐक्ट ने कम्पनी के ऊपर ब्रिटिश क्राउन का अधिकार और भी दृढ़ कर दिया।

इस ऐक्ट से इँगलैंड में ६ सदस्यों का एक 'बोर्ड आफ कण्ट्रोल' स्थापित किया गया। इसे कम्पनी के सम्पूर्ण दीवानी और फौजदारी मामलों के निरीक्षण करने का अधिकार मिला। इन विषयों में कम्पनी के डायरेक्टर्स इसके अधीन थे। बोर्ड आफ कण्ट्रोल उनसे तत्सम्बन्धी कोई भी कागजात माँग सकता था। पुनः कम्पनी के साथ होनेवाले डायरेक्टरों के पत्र-व्यवहार पर भी इस बोर्ड का निरीक्षण करने का अधिकार हो गया। इसके अतिरिक्त एक गुप्त-समिति की भी स्थापना की गई। यह डायरेक्टरों को सूचना दिये बिना ही गुप्त रीति से बोर्ड आफ कण्ट्रोल के आदेश भारतवर्ष भेजती थी। गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या ३ कर दी गई। बम्बई और मद्रास के गवर्नर गवर्नर-जनरल के अधीनस्थ हो गये। गवर्नर-जनरल को आदेश दिया गया कि वह कोर्ट आफ डायरेक्टर्स अथवा गुप्त-समिति की अनुमति के बिना कोई भी सन्धि-विग्रह न करे।

हेस्टिग्ज का चरित्र—अँगरेज गवर्नर-जनरलों में हेस्टिग्ज का एक विशिष्ट स्थान है। वह अत्यन्त योग्य व्यक्ति था। अपनी प्रतिभा, कार्यक्षमता और असीम साहस से उसने भारतवर्ष में अँगरेजी शासन की जड़ दृढ़ कर दीं। पीछे बताया जा चुका है कि किस प्रकार एक साधारण लेखक से वह भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल हो गया था।

प्रारम्भ से ही वह उत्कट महत्त्वाकांक्षी था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह उचित-अनुचित सब कुछ करने को प्रस्तुत रहता था। कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी वह हताश नहीं होता था। कम्पनी के जर्जर शासन को उसने जिस कुशलता से सुसंगठित करने का प्रयत्न किया, वह उसकी शासन-निपुणता का प्रमाण है। एक कुशल शासक के साथ ही साथ वह कूटनीतिज्ञ भी था। निजाम, मराठों और हैदरअली की सम्मिलित शक्ति का सामना अँगरेज कभी भी न कर सकते थे। अतः प्रारम्भ से ही हेस्टिग्ज ने इन्हें एक दूसरे से अलग रक्खा। कभी उसने एक का साथ दिया तो कभी दूसरे का। उसकी नीति का मुख्य आधार अवसरवादिता थी। तत्कालीन भारतीय परिस्थिति का ध्यान रखते हुए हेस्टिग्ज को इसके लिए दोष नहीं दिया जा सकता। पुनः वह राजनीति से सदाचारिता और सत्यपरायणता के सिद्धान्तों को पृथक् रखना चाहता था। अपने देश के कल्याण के लिए वह पतित से पतित कार्य भी कर सकता था। इसी दृष्टि से कुछ व्यक्तियों ने 'नन्दकुमार को फाँसी', चेतसिंह एवं अवध की बेगमों के काण्डों का समर्थन किया है।

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि अनेक गुणों के होते हुए भी उसमें कतिपय दोष भी थे। वह हठी एवं स्वेच्छाचारी था। अपनी बात का विरोध उसे असह्य था। किसी सीमा तक वह धन-लोलुप भी था। अनेक अवसरों पर देशी नरेशों से उपहार-पुरस्कार लेकर उसने कम्पनी के अन्य कर्मचारियों के सम्मुख कुदृष्टान्त उपस्थित किया था। उसके ऊपर घूस लेने का भी आरोप लगाया जाता है। सन् १७८५ में जब वह स्वदेश गया तो वहाँ की पार्लियामेंट ने उस पर अनेक आरोपों के लिए मुकदमा चलाया। यह मुकदमा सात वर्ष तक चलता रहा। परन्तु अन्त में पार्लियामेंट ने उसकी महती सेवाओं पर विचार कर उसे निर्दोष ठहराया और कम्पनी ने उसे शेष जीवन के लिए पेंशन दी।

अध्याय १८

लार्ड कार्नवालिस

(सन् १७८६-९३)

कार्नवालिस की नियुक्ति—वारेन हेस्टिंग्ज के पश्चात् जान मैक्फर्सन (John Macpherson) नामक कौंसिल का एक सीनियर सदस्य गवर्नर-जनरल बनाया गया। परन्तु उसे विशेष सफलता न मिली। अतः डेढ़ वर्ष पश्चात् डायरेक्टरों ने लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर-जनरल के पद के लिए चुना। कार्नवालिस एक अनुभवी सैनिक था। सप्तवर्षीय युद्ध एवं अमरीका के स्वतन्त्रता-युद्ध में उसने अपने सैनिक गुणों के लिए बड़ी ख्याति पाई थी। जब उसे भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल का पद दिया गया तो पहले तो उसने अस्वीकार कर दिया; परन्तु बाद को उसने इस शर्त पर उसे स्वीकार किया कि गवर्नर-जनरल के साथ साथ वह भारतवर्ष में प्रधान सेनापति रहे और आवश्यकता पड़ने पर कौंसिल के बहुमत की उपेक्षा कर सके। अतः सन् १७८६ में पार्लियामेंट ने एक ऐक्ट पास किया जिसके द्वारा गवर्नर-जनरल और सेनापति के पद एक ही में सम्मिलित कर दिये गये और गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह आवश्यकतानुसार कौंसिल के बहुमत के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है।

इस प्रकार विशेषाधिकार प्राप्त कर लार्ड कार्नवालिस सन् १७८६ में गवर्नर-जनरल होकर भारतवर्ष आया। वह बड़ा ही विचारशील एवं सच्चरित्र व्यक्ति था। इंगलैंड के राजनीतिक क्षेत्र में भी उसका पर्याप्त मान था। बोर्ड आफ कण्ट्रोल के प्रेसीडेण्ट हेनरी डण्डास (Henry Dundas) का वह घनिष्ट मित्र था। स्वयं पिट उसे सम्मान की दृष्टि से देखता था। यद्यपि कार्नवालिस उच्च कोटि का प्रतिभाशाली व्यक्ति न था, उसे भारतीय परिस्थिति का अधिक अनुभव भी न था, तथापि अपनी सच्चरित्रता उच्च विचारशीलता के कारण वह कम्पनी की बुराइयों एवं स्वार्थ-परायणता को दूर करने के

लिए विशेष व्यग्र था। उसके विचार उच्च, दृष्टिकोण विस्तृत एवं उदार और उद्देश्य पवित्र थे। कम्पनी के कर्मचारियों के नैतिक पतन की गाथाएँ सुनकर उसे वास्तविक दुःख होता था। वह प्रधानतः सैनिक था। अतः सैनिक की भाँति ही उसमें अनुशासनशीलता विद्यमान थी जिसके परिणाम-स्वरूप वह अपने उच्चाधिकारियों की आज्ञा मानने के लिए सदैव तैयार रहता था। उसमें महत्त्वाकांक्षा न थी। लाभालाभ का विचार करके वह केवल वही कार्य करता था जिसे वह कर्त्तव्य समझता था। वास्तव में इस कम्पनी को ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता भी थी। हेस्टिंग्ज की अनैतिकता एवं निकृष्ट कूटनीति-प्रियता ने कम्पनी के नैतिक स्तर को और भी अधिक नीचे गिरा दिया था। लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अत्यन्त निन्दनीय कार्य करने में भी संकोच न करते थे। चारों ओर भ्रष्टाचार का ही बोलबाला था।

शासन-सुधार—जिस समय मैक्फर्सन गवर्नर-जनरल हुआ था, उस समय बंगाल की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। कम्पनी के पास धन न था। अतः उसके सैनिकों को वेतन तक न मिला था। धनाभाव के कारण गवर्नर-जनरल को दीवानी और फौजदारी विभागों में छटनी भी करनी पड़ी थी। परन्तु फिर भी स्थिति न सुधरी। कार्नवालिस को भी आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। उसने कलक्टरों की संख्या ३६ से २३ कर दी। पुनः भ्रष्टाचार को रोकने के लिए उसने उन्हें निजी व्यापार करने की मनाही कर दी। आय-क्षति की पूर्ति के लिए उनका वेतन बढ़ाकर १,५००) रु० मासिक कर दिया गया। भारतवर्ष में कम्पनी की नौकरी आर्थिक दृष्टि से बड़ी लाभकर समझी जाती थी। यहाँ रहकर उसके कर्मचारियों ने प्रचुर धन प्राप्त किया था। अतः इँगलैंड के निवासी कम्पनी की नौकरी को एक वरदान के रूप में समझने लगे थे। परिणाम यह हुआ कि कुछ काल पश्चात् इँगलैंड के उच्च पदाधिकारियों ने—राजा, रानी, डाइरेक्टर, सामन्त आदि ने—कम्पनी के प्रत्येक पद पर अपने निजी व्यक्तियों को ही भरना आरम्भ किया। नियुक्ति मित्रता और सम्बन्ध के आधार पर होने लगी। योग्यता का विचार जाता रहा। इसका बड़ा दुष्परिणाम हुआ। कम्पनी में अयोग्य धन-लोलुप व्यक्तियों की भरमार हो गई; और चूंकि वे सब इँगलैंड के उच्च पदाधिकारियों के मित्र

अथवा सम्बन्धी थे, इससे उनके विरुद्ध कोई उँगली उठाने का भी साहस न करता था। परन्तु कार्नवालिस ने आकर इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया। उसने इँगलैंड के सिफारिशी पत्रों का विचार न करके नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर करनी प्रारम्भ कीं। परन्तु उसने एक भारी भूल की। उसकी धारणा थी कि भारतीयों की अपेक्षा योरपीयों का नैतिक स्तर अधिक ऊँचा होता है। इससे उसने उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति बन्द कर दी। केवल योरपीय ही उनके योग्य समझे गये। इसका परिणाम अच्छा न हुआ। बहुधा सरकारी पदों पर अयोग्य और अनुभवहीन योरपीय तो नियुक्त किये गये, परन्तु योग्य और अनुभवी भारतीय उनसे बाहर रक्खे गये। फलतः इस नवीन नियम से भारतीय-वर्ग में कटुता तो बढ़ी ही, इसके अतिरिक्त शासन-कार्य में योग्य व्यक्तियों का अभाव हो गया।

कार्नवालिस के पूर्व पुलिस-शासन प्रायः जमींदारों के हाथ में था। वे अपने अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियों की सहायता से गाँवों में धन-जन की रक्षा करते थे। यदि गाँव में कोई चोरी होती थी, तो चोर को पकड़ना और उसे दण्डित करना जमींदार का उत्तरदायित्व था। यदि चोरी का सामान बरामद न हुआ, तो स्वयं जमींदार को उसकी क्षति-पूर्ति करनी पड़ती थी। प्रारम्भ में तो यह विधान उचित ढंग से कार्य करता रहा, परन्तु कालान्तर में इसमें दोष उत्पन्न हो गये। जमींदार भी अपना उत्तरदायित्व भूल गये। उनका प्रभुत्व भी जाता रहा। निम्न वर्ग के कर्मचारी भ्रष्ट और स्वार्थी हो गये। परिणाम यह हुआ कि प्रजा को कष्ट होने लगा। उसका धन-जन अरक्षित हो गया। कार्नवालिस ने सुधार की दृष्टि से जमींदारों के हाथ से पुलिस विभाग ले लिया और उसे कम्पनी के कर्मचारियों के सुपुर्द कर दिया। बीस-बीस मील के अन्तर पर थाने स्थापित किये गये जिनमें एक-एक दारोगा रक्खा गया। गाँव के चौकीदार दारोगा के अधीन कर दिये गये।

अब कार्नवालिस ने सेना का सुधार आरम्भ किया। अभी तक इँगलैंड में रँगरूटों की भर्ती बड़े ही अव्यवस्थित ढंग से होती थी। इससे सेना में अयोग्यता फैली हुई थी। कार्नवालिस के प्रस्ताव से डण्डास ने इँगलैंड में एक नियमित भर्ती-प्रणाली प्रारम्भ की जिससे सेना में योग्य व्यक्ति आने लगे।

पुनः कार्नवालिस ने भारतवर्ष में अँगरेजी सेना की संख्या बढ़ाने पर भी जोर दिया। उसकी धारणा थी कि भारत में अँगरेजी राज्य की रक्षा के लिए भारतीय सेना पर अधिक विश्वास करना उचित नहीं। इस कार्य के लिए अधिकाधिक अँगरेजी सेना का रहना अनिवार्य है।

न्याय विभाग में सुधार—फौजदारी—तत्पश्चात् कार्नवालिस ने अनेक रेग्यूलेशन द्वारा न्याय-विभाग में सुधार करना आरम्भ किया। उसने मुहम्मद रजा खाँ को पदच्युत कर दिया और निजामत अदालत को मुर्शिदाबाद से हटाकर कलकत्ता में स्थापित किया। इस अदालत में अब स्वयं गवर्नर-जनरल, सुप्रीम कौंसिल के सदस्य, प्रान्त का मुख्य काजी और दो मुफ्ती, होते थे। जिला अदालतों का भी सुधार किया गया। वहाँ की फौजदारी अदालतें तोड़ दी गईं, और उनके स्थान पर चार प्रान्तीय अदालतें स्थापित की गईं, तीन बंगाल में और एक बिहार में। अब इनके जजों को समय-समय पर भिन्न-भिन्न जिलों का दौरा करना पड़ता था। दौरा समाप्त होने पर जज कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में स्थित डिवीजनल हेडक्वार्टर्स में रहते थे। परन्तु अँगरेज इनके न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत न आते थे। उनका मुकदमा कलकता के सुप्रीम कोर्ट में चलता था। प्रतिवर्ष दो बार बन्दियों की रहाई का भी नियम प्रचलित किया गया।

कुछ काल पश्चात् यह अनुभव हुआ कि चार प्रान्तीय अदालतें सारा कार्य सुचारु रूप से नहीं सँभाल सकतीं। अतः उनका कार्य-भार कम करने के लिए मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे चोरी के सम्पूर्ण छोटे छोटे मुकदमों का फैसला करें। उसी वर्ष जेल से छूटे हुए बन्दियों को कुछ अवधि तक ५) रु० मासिक भत्ता देने का नियम भी जारी किया गया जिससे वे धनाभाव के कारण पुनः पाप-कर्म न करने लगें। अभी तक यह नियम था कि ऐसे अभियुक्तों की, जिन पर मुकदमा चल रहा हो, सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। परन्तु कार्नवालिस ने यह अनुचित नियम भंग कर दिया।

दीवानी—कार्नवालिस के दीवानी सुधार भी कम महत्त्व के नहीं हैं। उसने रेवेन्यू कोर्ट तोड़ दिये और कलक्टर एवं बोर्ड आफ रेवेन्यू को अदालती कार्यों से मुक्त कर दिया, क्योंकि उसका विश्वास था कि कार्यकारिणी

संस्थाओं के हाथ में जब न्याय-विभाग भी आ जाता है तो शक्ति का दुरुपयोग होने लगता है और जनता के साथ वास्तविक न्याय नहीं होता। जिलों में दीवानी अदालतें स्थापित की गई। हिन्दू और मुस्लिम कानून की व्याख्या करने के लिए उनमें योग्य सहायक रक्खे गये। इन अदालतों के ऊपर अपील सुनने के लिए पटना, ढाका, मुर्शिदाबाद और कलकत्ता में प्रान्तीय अदालतें स्थापित की गई। प्रत्येक कोर्ट आफ अपील में तीन अंगरेज जज रहते थे। कुछ मामलों में इनके विरुद्ध की गई अपील की सुनवाई कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत में होती थी। इस अदालत का प्रेसीडेंट स्वयं गवर्नर-जनरल होता था। सर्वोच्च अपील प्रिवी कौंसिल में होती थी।

फिर भी, कार्नवालिस के सुधार दोषरहित नहीं थे। अदालतों की कार्य-प्रणाली बड़ी लम्बी थी जिससे न्याय-वितरण में अनावश्यक विलम्ब होता था। प्रायः अदालतों के कानून अँगरेजी कानून के आधार पर बनाये गये थे जिससे वे पूर्ण रूप से भारतीय परिस्थिति के अनुकूल न थे। अदालतों के जज भी योरपीय ही थे। उन्हें भारतीय समाज के धर्म-कर्म, रीति-रिवाज और भावनाओं का कोई ज्ञान न था। अतः न्यायार्थी भारतीयों को बड़ी असुविधा होती थी।

इस्तमरारी बन्दोबस्त—भारतवर्ष ऐसे कृषि-प्रधान देश में राज्य की मुख्य आय भूमि-कर से ही होती है। अतः यहाँ की सरकार का विशेष ध्यान मालगुजारी के उचित प्रबन्ध की ओर रहा है। यही बात कम्पनी के शासन-काल में भी थी। जिस समय कम्पनी के हाथ में बंगाल की दीवानी आई, उस समय वह यहाँ के भूमि-प्रबन्ध से नितान्त अपरिचित थी। परिणाम यह हुआ कि अव्यवस्थित भूमि-कर-प्रणाली के कारण किसानों को बड़ी हानि हुई। बंगाल के द्वैध-शासन के अन्तर्गत किसानों की दुर्दशा हो गई जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। हेस्टिंग्ज के पंचवर्षीय प्रबन्ध से भी कोई सुधार न हुआ। जो जमींदार सबसे ऊँची बोली बोलकर पाँच वर्ष के लिए भूमि प्राप्त करता था, वह अपनी अधिकारावधि में अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता था। किसानों के दुःख-सुख का विचार न करके वह उनका मनमाना शोषण करता था। पुनः, इस नये प्रबन्ध से जिन पुराने जमींदारों के हाथ से पैतृक भूमि निकल गई थी, वे भी कम्पनी से रुष्ट थे और उसे

अधिक से अधिक हानि पहुँचाने की चेष्टा करते रहते थे। सन् १७८४ में डायरेक्टरों ने पुनः वार्षिक प्रबन्ध प्रारम्भ किया। दो वर्ष पश्चात् दशवर्षीय प्रबन्ध किया गया जो कार्नवालिस के आगमन के पूर्व प्रचलित था।

कार्नवालिस ने भारतवर्ष में आते ही सारी परिस्थिति का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। इस कार्य में उसे कलकत्ता की कौंसिल के एक सदस्य सर जानशोर तथा एक अन्य अँगरेज अफ़सर जेम्स ग्राण्ट से बड़ी सहायता मिली। कार्नवालिस एक निश्चित मालगुजारी के आधार पर बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त करना चाहता था, परन्तु उसके सहयोगी इस विचार से असहमत थे। काफी छान-बीन और वाद-विवाद हुआ। अन्त में कार्नवालिस के विचार को ही कार्य-रूप दिया गया और सन् १७९३ से बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त प्रचलित हो गया। इस प्रबन्ध के अनुसार एक निश्चित मालगुजारी पर भूमि सदा के लिए जमींदारों को दे दी गई। सरकार समय-समय पर बन्दोबस्त नियत करने के झंझट से मुक्त हो गई। परन्तु सम्यक् रूप से विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस प्रबन्ध से सरकार अथवा प्रजा की अपेक्षा जमींदारों को ही अधिक लाभ हुआ। समय के साथ-साथ कृषि-कार्यानुकूल भूमि भी बढ़ी और भूमि की उपज भी। इसके कारण जमींदारों की आय बढ़ गई। अधिक उपज के आधार पर वे किसानों से अधिक लगान वसूल कर सकते थे, परन्तु सरकार जमींदारों से एक निश्चित मालगुजारी से अधिक पैसा भी न पा सकती थी। इस प्रकार स्थायी प्रबन्ध के अन्तर्गत भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाने पर भी किसान और सरकार को कोई लाभ न था। सारा लाभ जमींदारों की जेब में ही जाता था। इस प्रकार जमींदारों का वर्ग उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होता गया। उसका अंगरेजी शासन के प्रति स्वामि-भक्त होना भी स्वाभाविक था। परन्तु जमींदारों को यह समृद्धि धीरे-धीरे ही आई। पहले तो उन्हें काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। जो जमींदार नए कानून के अनुसार एक निश्चित तिथि तक निर्धारित मालगुजारी न चुका सका, उसकी भूमि नीलाम कर दी जाती थी। इस प्रकार अनेक पुराने कुटुम्बों के हाथ से उनकी भूमि निकल गई और वे दिवालिये हो गये।

इस्तमरारी बन्दोबस्त से किसानों को भी लाभ न हुआ। वे बेचारे

अपने श्रम और साधनों से भूमि को उर्वर बनाते और अधिक अन्न उत्पन्न करते थे, परन्तु फिर भी उन्हें अधिक लाभ न होता था। अधिक उत्पत्ति होने पर जमींदार उनसे मनमाना लगान वसूल करते थे। जमींदारों के अन्याय, अत्याचार अथवा कठोरता से बचने का उनके पास कोई उपाय न था। अदालतें अवश्य थीं, परन्तु उनकी कार्य-प्रणाली इतनी व्ययकारिणी एवं विलम्बकारिणी थी कि जन-साधारण सुगमता से उनका उपयोग न कर सकते थे। अतः इस नये प्रबन्ध का सबसे बड़ा दोष यह था कि यह पूर्णतया जमींदारों के साथ किया गया था, इसमें किसानों के दुःख-सुख का विचार न किया गया था।

फिर भी प्रारम्भ में इसके दोष प्रकट न हुए थे। और कार्नवालिस ने इसे बड़ा ही लाभकर समझा। वास्तव में बार-बार मालगुजारी के प्रबन्ध करने में खर्च और झंझट दोनों ही होते थे। इस्तमरारी बन्दोबस्त ने सरकार को इन दोनों से मुक्त कर दिया। पुनः समाज के एक समृद्धिशाली वर्ग--जमींदार--को स्वामिभक्त बनाकर भारत में अँगरेजी शासन की जड़ दृढ़ कर दी। इसके अतिरिक्त इस धनी-वर्ग ने अपनी संचित सम्पत्ति को व्यापार में लगाकर प्रान्त का औद्योगीकरण भी किया।

विदेशी नीति--शासन-सम्बन्धी सुधारों के अतिरिक्त कार्नवालिस को भारतीय राजनीति में भी समयानुसार भाग लेना था। उसके समय तक कम्पनी भारतवर्ष में शासन-सत्ता प्राप्त कर चुकी थी। वह केवल एक व्यापारिक संस्था न थी। समय-समय पर उसने देशी राज्यों से सन्धियाँ कीं, उनसे युद्ध किये और भारतीय राजनीति के प्रवाह को सदैव अपने अनुकूल करने का प्रयत्न किया। अब हम यहाँ पर कार्नवालिस एवं अन्य देशी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करेंगे।

मराठे--कार्नवालिस के आने तक महादजी सिन्धिया ने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था। मुगल-सम्राट् उसके हाथ की कठपुतली था। सन् १७८४ में उसने पेशवा को अपना वकील-ए-मुतलक एवं सिन्धिया को उपाध्यक्ष नियुक्त किया। सन् १७८६ में पेशवा ने टीपू के विरुद्ध निजाम से सन्धि कर ली। बॅगलोर की सन्धि के अनुसार अँगरेजों को टीपू का ही साथ देना चाहिए था, परन्तु गवर्नर-जनरल मैक्फर्सन ने

उसके विरुद्ध मराठों को सैनिक सहायता देने का वचन दिया। जब कार्नवालिस भारत में गवर्नर-जनरल बनकर आया तो उसने मैक्फर्सन की नीति का विरोध किया, क्योंकि वह पिट इंडिया ऐक्ट के अनुसार किसी भी देशी राज्य से शत्रुता नहीं करना चाहता था। जब यह सूचना नाना फड़नवीस को मिली तो वह बड़ा असन्तुष्ट हुआ और उसने अँगरेजी नीति को संशयात्मक एवं अवसरवादी कहकर उसकी कटु आलोचना की।

अवध--अवध के नवाब वजीर ने बहुत दिनों से अँगरेजों के पिछले कर अदा न किये थे। उसके राज्य की आन्तरिक व्यवस्था भी अच्छी न थी। इधर नवाब वजीर को अँगरेजों की नेकनीयती पर भी विश्वास न था। वह समझता था कि अँगरेज अपने व्यापारिक लाभ के लिए उसके राज्य के साधनों का दुरुपयोग कर रहे हैं। पुनः वह अपने राज्य में अँगरेजी सेना भी न रखना चाहता था। इन सब प्रश्नों को लेकर नवाब वजीर और कम्पनी में मतभेद चल रहा था। अतः जब कार्नवालिस गवर्नर-जनरल होकर आया तो अवध के नवाब ने अपने एक प्रतिनिधि हैदरबेग खाँ को वार्त्ता के लिए उसके पास भेजा। लम्बे विचार-विनिमय के पश्चात् कार्नवालिस और नवाब में समझौता हो गया। इसके अनुसार नवाब को प्रबन्ध में अँगरेजी सेना ने तो अवश्य रखनी पड़ी; परन्तु कार्नवालिस ने उसे वचन दिया कि भविष्य में उसके खर्च के लिए नवाब से ५० लाख रुपये से अधिक न लिया जायेगा। इसके अतिरिक्त कार्नवालिस ने नवाब के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने का भी वचन दिया। इधर नवाब ने वायदा किया कि वह गवर्नर-जनरल की पूर्व लिखित आज्ञा के बिना किसी भी योरपीय को अपने राज्य में न रक्खेगा।

निजाम—पिट इंडिया ऐक्ट के अनुसार कार्नवालिस भारतीय राजनीति में भाग न लेना चाहता था। परन्तु जटिल परिस्थिति के कारण वह ऐसा न कर सका। इस समय टीपू अँगरेजों का कट्टर शत्रु था। यद्यपि बँगलौर की संधि ने उसके और अँगरेजों के बीच में शान्ति स्थापित कर दी थी, तथापि वह हृदय से अँगरेजी शक्ति को चूर्ण करने की योजनाएँ बना रहा था। उसके सम्भावित आक्रमण से भयभीत होकर कार्नवालिस ने अपनी स्थिति दृढ़ करनी चाही। अतः वह निजाम की ओर झुका। टीपू ने निजाम और मराठों दोनों

के राज्यों के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। मराठों ने अँगरेजों से सहायता की प्रार्थना की, परन्तु वह उन्हें न मिल सकी। अतः वे भी टीपू की भाँति अँगरेज़ों के शत्रु हो गये थे।

इसी समय कार्नवालिस ने निजाम से गुण्टूर का प्रदेश माँगा। गुण्टूर की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। वह मद्रास और उत्तरी सरकार के बीच में स्थित था। निजाम-राज्य का सारा सामुद्रिक व्यापार उसी मार्ग से होता था। अतः अँगरेज और निजाम दोनों ही उसे अपने अधिकार में रखना चाहते थे। बहुत दबाव पड़ने पर निजाम ने गुण्टूर अँगरेजों को देना स्वीकार कर लिया बशर्ते वे हैदरअली द्वारा अधिकृत उसके भू-प्रदेश को वापस दिला दें। यह एक कठिन शर्त थी। सन् १७६९ की मद्रास की सन्धि एवं सन् १७८४ की बँगलोर की सन्धि के अनुसार अँगरेजों ने टीपू की राज्य-सीमा स्वीकृत कर ली थी। अतः अब उससे किसी भू-प्रदेश को वापस माँगना सन्धि-विरुद्ध था। अभी वार्ता चल ही रही थी कि कार्नवालिस को सूचना मिली कि टीपू ट्रावन्कोर पर आक्रमण करनेवाला है। टीपू के विरुद्ध अँगरेजों को निजाम की सहायता की आवश्यकता थी। अतः कार्नवालिस ने उससे समझौता कर लिया। समझौते के अनुसार अँगरेजों ने वचन दिया कि यदि निजाम द्वारा माँगा हुआ भू-प्रदेश भविष्य में उनके अधिकार में आ गया तो वे उसे निजाम को वापस कर देंगे और आवश्यकता पड़ने पर उसकी सैनिक सहायता भी करेंगे। निजाम से सन्धि करना पिट इंडिया ऐक्ट के विरुद्ध था। पुनः मैसूर और बँगलोर की सन्धियों के समक्ष टीपू के विरुद्ध गुट बनाना भी अनुचित था। परन्तु आत्मरक्षा के लिए अँगरेजों को निजाम की सहायता की अत्यधिक आवश्यकता थी। टीपू उनका कट्टर शत्रु था। वह अँगरेज़ों को भारतवर्ष से निकालना चाहता था। इस कार्य में उसे फ्रांसीसी सहायता की भी आशा थी। उसने पेरिस में अपने प्रतिनिधि भेजे थे। पाण्डीचेरी में भी उसके दूत विद्यमान थे। सर्वप्रथम वह ट्रावन्कोर को हस्तगत कर अपनी राज्य-सीमा आसमुद्र करना चाहता था।

तृतीय मैसूर युद्ध १७९०—बँगलोर की सन्धि के अनुसार ट्रावन्कोर राज्य अँगरेजों के संरक्षण में था। उसके राजा ने डचों से दो सीमास्थ नगर

खरीदे थे। टीपू का कथन था कि ये नगर कोचीन-राज्य के अधीन थे जो उसका संरक्षित राज्य था। डचों को उन्हें बेचने का कोई अधिकार न था। अत: उसने ट्रावन्कोर के राजा से उन्हें तत्काल वापस कर देने की माँग की। टीपू के असन्तोष का एक दूसरा कारण और था। ट्रावन्कोर ने मैसूर-राज्य के कुछ अपराधियों को अपने यहाँ शरण दी थी।

अत: टीपू ने १४ दिसम्बर, सन् १७८९ को ट्रावन्कोर पर आक्रमण कर दिया। विवश होकर अपने संरक्षित राज्य की रक्षा के लिए कार्नवालिस को जनवरी, सन् १७९० में मैसूर-राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी पड़ी। अँगरेज निजाम से तो मित्रता कर ही चुके थे, अब उन्होंने मराठों से भी सन्धि कर ली और यह प्रलोभन दिया कि युद्ध में अधिकृत प्रदेशों का आधा भाग वे मराठों को दे देंगे।

इस प्रकार अपनी स्थिति दृढ़ करने के पश्चात् कार्नवालिस ने युद्ध-संचालन करना आरम्भ किया। अँगरेज जनरल मेडोज ने टीपू पर आक्रमण किया, परन्तु अधिक सफलता न मिली। मराठों ने अँगरेजों का पक्ष लिया और धारवार (Dharwar) पर अधिकार कर लिया। निजाम ने भी अँगरेजों की सहायता की, परन्तु वह अधिक महत्त्वपूर्ण न रही। टीपू त्रिचनापल्ली पहुँचा और श्रीरंगम के टापू पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसकी प्रारम्भिक सफलता को देखकर कार्नवालिस घबड़ा गया और उसने सेनापतित्व का भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। अब वह वेलोर की ओर बढ़ा और सन् १७९१ में उसने भयंकर युद्ध के पश्चात् बँगलोर पर अधिकार कर लिया। बंगलोर मैसूर-राज्य का प्रमुख नगर था। अत: टीपू ने उस पर पुनराधिकार करने के लिए फिर आक्रमण किया। घोर संग्राम हुआ। टीपू की सेना ने सराहनीय वीरता दिखाई, परन्तु वह असफल रही। उसके लगभग ३०० व्यक्ति मारे गये। हारकर उसे वापस लौटना पड़ा। इस युद्ध में अँगरेजों को भी भारी क्षति उठानी पड़ी अनेक सैनिकों के साथ उसका किलादार बहादुर खाँ भी इस युद्ध में मारा गया।

बँगलोर युद्ध के पश्चात् अँगरेजों ने देवली और बलीपुर के दुर्गों पर भी अधिकार कर लिया। युद्ध की शीघ्र समाप्ति के लिए कार्नवालिस ने अब

टीपू की राजधानी श्रीरंगपट्टम की ओर धावा बोला। इस आक्रमण में निजाम और मराठों ने भी अपनी सबल सेनाएँ भेजीं। उनकी सम्मिलित विशाल वाहिनी को देखकर टीपू घबड़ा गया और उसने अँगरेजों से सन्धि-प्रस्ताव किया, परन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। इस बार वे टीपू की शक्ति को चूर्ण करने के पश्चात् ही उससे सन्धि करना चाहते थे। अतः युद्ध जारी रहा। अँगरेजों ने नन्दीदुर्ग पर अधिकार कर लिया। फरवरी, सन् १७९२ से श्रीरंगपट्टम का घेरा प्रारम्भ हुआ। टीपू की सेना ने आक्रमणकारियों पर आग और धुआँ उगलना प्रारम्भ किया। भीषण युद्ध हुआ। परन्तु गोला-बारूद के अभाव से टीपू विवश हो गया और विजय की आशा न रहने पर उसने पुनः सन्धि का प्रस्ताव किया। कार्नवालिस ने अपने अनुकूल प्रस्तावों के आधार पर सन्धि करना स्वीकार किया। यह सन्धि इतिहास में श्रीरंगपट्टम की सन्धि (१७९२ ई०) के नाम से प्रख्यात है। इसके अनुसार टीपू को अपना आधा राज्य और युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए ३ करोड़ और २० लाख रुपया अँगरेजों को देने का वचन देना पड़ा। विश्वास के लिए उसने अपने दो पुत्रों को भी बंधक के रूप में दिया।

अब अंगरेजों, मराठों और निजाम के बीच बँटवारा हुआ। प्रत्येक को लगभग ३,९५,००० पौंड का भाग मिला। अँगरेजों को बड़ा महल, सलेम, डिंडीगल और मलाबार के प्रदेश मिले। मराठों को कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच का कुछ भू-प्रदेश दिया गया। इसी प्रकार निजाम को कृष्णा और पन्ना नदी के बीच का कुछ भू-खण्ड मिला। कुर्ग के राजा ने अँगरेजों की सहायता की थी। अतः वह टीपू की अधीनता से मुक्त कर दिया गया और अँगरेजों के संरक्षण में आ गया।

कार्नवालिस ने युद्ध और सन्धि के अवसर पर बड़ी नीतिमत्ता से कार्य किया। यदि वह चाहता तो श्रीरंगपट्टम पर अधिकार कर टीपू को पदच्युत कर सकता था। युद्ध के पश्चात् वह मैसूर-राज्य को कम्पनी के शासन के अन्तर्गत ला सकता था। परन्तु कतिपय अंगरेज राजनीतिज्ञों और सेनापतियों के प्रस्ताव करने पर भी उसने ऐसा नहीं किया। प्रथम, उसका यह कार्य पिट इंडिया ऐक्ट के विरुद्ध होता। द्वितीय, मैसूर-राज्य पर अधिकार कर लेने से

कम्पनी की स्थिति बड़ी जटिल हो जाती। उस समय निजाम और मराठे अंगरेजों से सशंकित हो जाते और कार्नवालिस को उनकी मित्रता से हाथ धोना पड़ता। सम्भव है, उस समय वे सम्मिलित रूप से अँगरेजों की शक्ति का मूलोच्छेदन करने के लिए तुल जाते।

टीपू की पराजय का कारण अँगरेजों का कुशल सेनापतित्व अथवा उनका वीरत्व न था। उसकी हार का मुख्य कारण देशी राज्यों का असहयोग था। यदि निजाम और मराठों ने अंगरेजों का साथ न दिया होता तो टीपू की विशाल सेना के समक्ष उनका ठहरना असम्भव था। परन्तु अभाग्यवश देशी नरेशों की पारस्परिक कलह ने भारतवर्ष को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ दिया। उनमें उस समय तक राष्ट्रीय चेतना का अभाव था, और यही अभाव एक-एक करके के उन सबके विनाश का कारण हुआ।

कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र १७९३ ई०—सन् १७९३ में पुनः कम्पनी को बीस वर्ष के लिए एक आज्ञा-पत्र दिया गया। कम्पनी के सम्पूर्ण अधिकार पूर्ववत् बने रहे, केवल सिविल सर्विस को सुसंगठित और सुयोग्य करने के ध्येय से कुछ विशेष नियम बनाये गये। व्यापारिक लाभ की सम्भावना से इस समय इंग्लैंड के व्यापारी निजी व्यापार करने की आज्ञा चाहते थे। परन्तु कम्पनी के पिछले इतिहास को देखते हुए यह प्रथा हानिकर समझी गई। अतः निजी व्यापार करने की किसी को भी आज्ञा न दी गई।

सन् १७९३ में कार्नवालिस इंगलैंड लौट गया और उसके स्थान पर सर जानशोर गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ।

अध्याय १६

हस्तक्षेप न करने की नीति

(१७९३-९८ ई०)

सर जानशोर की नियुक्ति—कार्नवालिस के पश्चात् सन् १७९३ में सर जानशोर गवर्नर-जनरल बनाया गया। वह ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक साधारण क्लर्क था। धीरे-धीरे अपने योग्यता-प्रदर्शन के द्वारा उसने ख्याति प्राप्त कर ली और शीघ्र ही कलकत्ता की कौंसिल का एक सदस्य हो गया। लार्ड कार्नवालिस उसकी योग्यता से बड़ा प्रभावित हुआ था। बंगाल की माल-गुजारी का प्रबन्ध करने में उसे सर जानशोर से बड़ी सहायता मिली थी। कार्नवालिस का विचार था कि भारत के गवर्नर-जनरल के पद पर इंगलैंड के किसी उच्च कुलीन व्यक्ति की सीधे नियुक्ति होनी चाहिए। परन्तु सर जान-शोर के प्रश्न को उसने अपवाद के रूप में ग्रहण किया। उसकी नियुक्ति का उसने विरोध न किया।

यद्यपि सर जानशोर विस्तृत योजनाएँ बनाने एवं आफिस के नियम-बद्ध कार्यों में बड़ा दक्ष था, तथापि उसमें कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति मौलिकता, दूरदर्शिता एवं प्रतिभा न थी। वह भीरु स्वभाव का मनुष्य था। वह कम्पनी को भारतवर्ष के राजनीतिक संघर्ष से दूर रखना चाहता था। इसी से वह पिट इंडिया ऐक्ट का कट्टर समर्थक था। परन्तु कम्पनी के पिछले इतिहास ने अँगरेजों को ऐसी स्थिति में न रक्खा था जिससे वे राजनीतिक रंगमंच पर तटस्थ रह सकें। कार्नवालिस ने निजाम और मराठों से सन्धियाँ की थीं जिनके अनुसार युद्ध के अवसर पर अँगरेज उनके सहायतार्थ सक्रिय भाग लेने के लिए वचन-बद्ध थे। उस समय तटस्थ रहना देशी नरेशों के साथ विश्वासघात करना था। अतः ऐसी स्थिति में सर जानशोर की हस्तक्षेप न करने की नीति से अँगरेजों की स्थिति बड़ी जटिल हो गई।

महादाजी सिंधिया—सन् १७८२ की सालबाई की सन्धि के पश्चात् से महादाजी सिन्धिया की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अब वह पेशवा और उसके दाहिने हाथ नाना फड़नवीस के प्रभुत्व से स्वतन्त्र होना चाहता था। इसी प्रकार उसने फ्रांसीसी जनरल डी बोइन (De Boigne) के सेनापतित्त्व में अपनी सेना का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया था। उसने दिल्ली पर अपना आतंक जमा लिया था और मुगल सम्राट् शाह आलम द्वितीय उसके हाथ की कठपुतली था। उसने सिन्धिया को अपना नायब वकील-ए-मुतलक बनाया था। अब महादाजी ने दिल्ली के शासन को सुव्यवस्थित करना प्रारम्भ किया। उसकी प्रेरणा से शाह आलम ने मुगल-सम्राट् की हैसियत से अँगरेजों से कर माँगा। सिन्धिया ने राजपूत-राज्यों से भी कर मांगा, परन्तु उन्होंने उसका तीव्र विरोध किया। जयपुर और जोधपुर की सम्मिलित सेनाओं ने लालसोट के युद्ध में सिन्धिया को पराजित कर दिया। इस पराजय से लाभ उठाकर रुहेला सरदार गुलाम कादिर ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। मुगल-सम्राट् उसका सामना न कर सका और दिल्ली पर रुहेलों का अधिकार हो गया। उन्होंने राजमहल को खूब लूटा। शाह आलम की दोनों आँखें फोड़ दी गईं तथा शाही कुटुम्ब के साथ अत्यन्त जघन्य बर्ताव किया गया। बर्बर अफगान रुहेलों ने शाहजादियों तक को न छोड़ा। वे सड़कों पर निकाली गईं और खुले आम उनके कोड़े लगाये गये। इस बर्बरता का समाचार जब महादाजी सिन्धिया के पास पहुँचा तो वह आग-बबूला हो गया। उसने स्वयं एक सेना लेकर गुलाम कादिर पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर बन्दी बना लिया। उसके कुकर्मों के दण्ड-स्वरूप उसका मुंह काला किया गया और एक गदहे पर बैठाकर वह मथुरा-नगर की सड़कों पर घुमाया गया। उसकी आँखें फोड़ दी गईं और उसके शरीर के अंगों के टुकड़े कर शाहआलम के पास भेजे गये। इस प्रकार अपनी जघन्य बर्बरता के लिए उसे रोमांचकारी दण्ड दिया गया। सिन्धिया ने शाह आलम को पुनः अपने संरक्षण में ले लिया। मुगल-सम्राट् उसके दया-पूर्ण बर्ताव से इतना प्रभावित हुआ कि उसने मराठा-सरदार की प्रशंसा में अनेक पद बनाये और उसे 'फर्जन्द' (पुत्र) के नाम से सम्बोधित किया।

अब सिन्धिया ने अपने शत्रुओं का दमन करना प्रारम्भ किया। उसने

आगरा के भूतपूर्व गवर्नर इस्माइल बेग पर आक्रमण किया और उसे पूर्ण रूप से पराजित किया। तत्पश्चात् उसने जयपुर और जोधपुर के राजपूत राज्यों पर धावा बोला और उन्हें अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया।

इस समय सिंधिया के पास एक सुसंगठित सेना थी। उसका सेनापति डी बौइन (De Boigne) बड़ा कुशल संगठनकर्ता था। उसने सिंधिया की सेना का योरपीय ढंग से संगठन किया। उसकी सेना में ६८ बैटेलियन, ४२७ बन्दूकें और ४०,००० अश्वारोही थे।

अब सिन्धिया ने पूना की राजनीति की ओर ध्यान दिया। इस समय पेशवा के ऊपर नाना फड़नवीस का पूरा प्रभुत्व था। महादाजी सिन्धिया फड़नवीस को अपदस्थ कर पूना में स्वयं अपना प्रभाव जमाना चाहता था। अतः उसने एक नई योजना बनाई। सन् १७९० में उसने मुगल-सम्राट् से पेशवा को वकील-ए-मुतलक की उपाधि दिलाई और स्वयं उसका नायब बन गया। नाना फड़नवीस इस चाल को अच्छी तरह समझता था। अतः उसने पेशवा को सम्मति दी कि वह यह उपाधि अस्वीकार कर दे। परन्तु महत्त्वाकांक्षी पेशवा ने ऐसा नहीं किया और बड़ी धूम-धाम से पदवी धारण की। तत्पश्चात् महादाजी सिन्धिया ने मुगल-सम्राट् से एक फरमान निकलवाया जिसके अनुसार सम्पूर्ण भारतवर्ष में गो-वध निषिद्ध कर दिया गया। इस फरमान को लेकर महादाजी सिन्धिया पूना पहुँचा। वहाँ उसके समय में पेशवा ने एक दरबार किया। कई दिन तक राज्य में आमोद-प्रमोद होते रहे और इस प्रकार पूना की राजनीति में महादाजी सिन्धिया का प्रभाव जम गया।

महादाजी सिन्धिया की इस राजनीतिक चाल से नाना फड़नवीस के प्रभाव को बड़ा धक्का पहुँचा। अतः उसे पूर्ववत् कायम करने के लिए वह तुकोजी होलकर की ओर झुका। सिंधिया की भाँति होलकर ने भी ड्रेनेक (Drenec) नामक एक फ्रांसीसी को अपना सेनापति बनाकर अपनी सेना का संगठन किया था। इस समय उसमें और सिंधिया में प्रभुत्व-प्राप्ति के हेतु प्रतिस्पर्धा चल रही थी। अतः २० सितम्बर, सन् १७९२ में दोनों की सेनाओं में लखेरी नामक स्थान में मुठभेड़ हुई। भीषण युद्ध के पश्चात् सिन्धिया को विजय प्राप्त हुई। इस प्रकार नाना की रही-सही आशा भी

जाती रही। परन्तु कुछ समय बाद अचानक सिन्धिया की मृत्यु हो गई (१२ फरवरी, १७९४) और इस प्रकार नाना के मार्ग का एक कंटक जाता रहा।

महादाजी सिंधिया एक कुशल राजनीतिज्ञ था। उसकी दूरदर्शिता एवं कार्यक्षमता सराहनीय थी। गम्भीर विषयों पर विचार करते समय वह भावुकता को कोसों दूर रखता था। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह धैर्य न खोता था और सदैव हँसता रहता था जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। पराजय होने पर भी वह सदैव की भाँति शान्त रहता था और सफलता के लिए पुनः अध्यवसाय प्रारम्भ कर देता था। वह जन्मजात सैनिक था। अनेक युद्धों में उसने अपनी रण-कुशलता का परिचय दिया था। उसमें आश्चर्यजनक संगठन-शक्ति थी। अपनी सहृदयता एवं नीतिमत्ता के कारण वह सबका सम्मान-पात्र बन जाता था। विदेशियों तक ने असीम स्वामिभक्ति के साथ उसकी सेवा की थी।

सिंधिया पाश्चात्य रण-प्रणाली से बड़ा प्रभावित हुआ था। अँगरेजों से भारतवर्ष को जो खतरा था उससे वह पूर्ण रूप से परिचित था। उनका सामना करने के लिए उसने भी पाश्चात्य ढंग से अपनी सेनाओं का संगठन किया था।

परन्तु राजनीतिज्ञता एवं कूटनीतिज्ञता में सिंधिया नाना फड़नवीस का मुकाबला न कर सकता था। नाना उसकी अपेक्षा अधिक गम्भीर और विचार-शील था। उसकी योजनाओं का संकेत तक पाना कठिन था। परन्तु इधर सिंधिया कभी-कभी अपनी भावनाओं एवं योजनाओं का सर्वसाधारण के समक्ष भी प्रकटीकरण कर देता था। यद्यपि सिंधिया एक अत्यन्त कुशल सैनिक था, परन्तु फड़नवीस की भाँति उसमें शासन-निपुणता न थी। शासन के गूढ़ तत्त्वों एवं विवरण के अध्ययन करने में जिस धैर्य एवं अध्यवसाय की आवश्यकता होती है उसका उसमें अभाव था। उसमें स्वार्थपरता का भी दोष था। अँगरेजों की उदीयमान शक्ति को उसने भली भाँति समझ लिया था और उनकी सहायता एवं सहयोग से वह अपना प्रभाव-विस्तार करना चाहता था। परन्तु उसने दूरदर्शिता से कार्य न किया। यदि वह स्वार्थपरायणता से ऊपर उठकर, सारे मराठों को मिलाकर, अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता

तो कदाचित् भारतवर्ष परतन्त्र होने से बच जाता। परन्तु शायद उस समय यह राष्ट्रीयता की विस्तृत भावना किसी भी देशी नरेश में न थी।

निजाम से युद्ध—महादाजी सिंधिया की मृत्यु के पश्चात् नाना फड़नवीस ने पुनः पूना में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। इस समय पेशवा उसके हाथ की कठपुतली था। बहुत दिनों से निजाम ने मराठों को चौथ और सरदेशमुखी न दी थी। अतः अपनी स्थिति दृढ़ करने के पश्चात् नाना ने निजाम से पिछले कर माँगे। परन्तु निजाम ने एक ओर तो टालमटोल करना प्रारम्भ किया और दूसरी ओर फ्रांसीसी सेनापति रेमाण्ड (Raymond) के निरीक्षण में अपनी सेनाओं का संगठन करना प्रारम्भ किया। निजाम के दीवान ने नाना के प्रति अत्यन्त निन्दनीय शब्दों का प्रयोग भी किया। अतः दोनों में युद्ध अनिवार्य हो गया। नाना फड़नवीस ने अपनी सेनाओं का संगठन प्रारम्भ कर दिया। इस कार्य में उसे अन्य मराठा-सरदारों ने भी सहायता देने का वचन दिया। थोड़े दिनों बाद ही सिंधिया, होलकर, भोंसला और गायकवाड़ की सम्मिलित सेनाएँ परशराम भाऊ पटवर्धन के सेनापतित्व में, खरदा नामक स्थान में, स्थापित हुईं।

इस विशाल वाहिनी को देखकर निजाम के होश उड़ गये और उसने इस भयंकर आपत्तिकाल में अँगरेजों से सहायता की प्रार्थना की। सन् १७९० की सन्धि के अनुसार उसका अँगरेजों से सहायता की आशा करना स्वाभाविक भी था। परन्तु नया अँगरेज गवर्नर-जनरल तो तटस्थता का पोषक था। अतः उसने निजाम और मराठों के पारस्परिक झगड़े में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। फिर क्या था? मराठों की विशाल वाहिनी निजाम की निर्बल सेना पर टूट पड़ी और उसे बुरी तरह पराजित किया। आत्म-रक्षा का कोई अन्य उपाय न देखकर निजाम ने आत्म-समर्पण कर दिया। निजाम को अपमानजनक सन्धि के प्रस्तावों को स्वीकार करना पड़ा। उसे अपने दीवान मुशीरुल्मुल्क को, जिसने फड़नवीस के लिए अपशब्द प्रयुक्त किये थे, मराठों के हवाले करना पड़ा। निजाम को दौलताबाद के दुर्ग एवं ताप्ती से लेकर परैंडा के किले तक का सारा भू-प्रदेश मराठों को देना पड़ा। उसने पेशवा को तीन करोड़ रुपया युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए दिया।

इस विजय ने मराठा संघ को शक्ति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। कदाचित् यह अन्तिम अवसर था जब सब मराठा सरदारों ने मिलकर एक साथ शत्रु का सामना किया था। इसके पश्चात् वे पारस्परिक कलह के कारण सदैव अलग अलग कार्य करते रहे। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप पेशवा की प्रतिष्ठा बढ़ गई और मराठा राजनीति में नाना फड़नवीस का एक विशिष्ट स्थान हो गया।

अँगरेजों के विश्वासघात से निजाम बड़ा क्षुब्ध हो गया। उसने अँगरेजी सेनाओं को हटाकर अब फ्रांसीसी सेनाएँ रखना प्रारम्भ कर दिया। रेमाण्ड उसका सबके विश्वासपात्र सहायक हो गया।

पूना में क्रान्ति—अल्पवयस्क एवं अनुभवहीन पेशवा नाना फड़नवीस के हाथ की कठपुतली था। परन्तु अब वह उसके प्रभुत्व से मुक्त होना चाहता था। वह अपने चचेरे भाइयों, बाजीराव और चिम्मनराव अप्पा, से बड़ा स्नेह करता था। परन्तु नाना उन्हें बन्दी के समान रखते था। अतः जब पेशवा ने उन्हें स्वतन्त्र करने का प्रस्ताव किया तो नाना ने उसका विरोध किया। इस विरोध से पेशवा को बड़ा दुःख हुआ और मानसिक एवं शारीरिक अवस्था अच्छी न होने के कारण एक दिन अचानक वह महल से गिर पड़ा और मर गया। मरते समय उसने बाजीराव को अपना उत्तराधिकारी चुना।

पेशवा की मृत्यु होते ही सारे मराठा-संघ में अव्यवस्था फैल गई। नाना बाजीराव को पेशवा न बनाना चाहता था। अतः उसने भोंसला सरदार से परामर्श कर यह प्रस्ताव रक्खा कि स्वर्गीय पेशवा की विधवा स्त्री कोई अन्य लड़का गोद ले ले। इधर बाजीराव ने सिंधिया के मंत्री बालोबा तात्या को अपनी ओर मिला लिया और उसकी सहायता से वह सिंहासन हस्तगत करने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु नाना ने कूटनीति से बाजीराव को अपनी ओर मिला लिया और स्वयं उसे पेशवा बनाने का वचन दिया।

यह देखकर तात्या रुष्ट हो गया और उसने चिम्मनजी अप्पा को पेशवा बनाने का निश्चय किया। उसकी योजना से स्वर्गीय पेशवा की विधवा स्त्री ने चिम्मनजी अप्पा को गोद ले लिया और इस प्रकार २६ मई, १७९६ में वह

ेशवा घोषित किया गया। इधर नाना फड़नवीस ने बाजीराव को पेशवा घोषित किया और तात्या की योजना अनियमित करार दी। अन्त में नाना की कूटनीति सफल हुई और बाजीराव पेशवा स्वीकृत हुआ। परन्तु शीघ्र ही नये पेशवा ने सिंधिया की सहायता से नाना के चंगुल से छुटकारा पाने की योजना बनाई। नाना बन्दी बना लिया गया और पेशवा पर सिंधिया का प्रभुत्व जम गया। परन्तु सिंधिया का व्यवहार अच्छा न था। वह अपने स्वार्थों को अग्रसर करने के लिए पेशवा के साधनों का दुरुपयोग करने लगा। उसकी सेना ने पेशवा के महल पर धावा बोला और नाना के दल के अनेक सदस्यों के साथ बड़ी निर्दयता से बर्ताव किया। उसकी ज्यादतियों को देखकर पेशवा उससे बड़ा असन्तुष्ट हो गया।

मराठा-राजनीति में जब इस प्रकार की उथल-पुथल हो रही थी, उसी समय सन् १७९८ में सर जान शोर इँगलैंड वापस चला गया। वास्तव में ऐसे परिवर्तनशील समय में वह एक नितान्त अयोग्य गवर्नर-जनरल सिद्ध हुआ। यदि वह और अधिक रहा होता तो भारतवर्ष में अँगरेजी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगता। उसकी तटस्थता की नीति ने निजाम को तो क्रुद्ध कर ही दिया था, अँगरेजों के अन्य मित्र भी उनकी ओर शंकापूर्ण दृष्टि से देखने लगे थे। भारतवर्ष में अब अँगरेजों के प्रति लोगों का विश्वास जाता रहा था और अब वे उनकी प्रतिज्ञाओं एवं वचनों पर निर्भर न रहकर आत्म-रक्षा के अन्य उपाय सोचने लगे थे।

———

अध्याय २०

अँगरेजी साम्राज्य का विस्तार

लार्ड वेलेजली (सन् १७९८-१८०५)

नीति-विभेद—वारेन हेस्टिंग्ज के चले जाने के पश्चात् लार्ड वेलेजली के आगमन तक का काल कम्पनी के इतिहास में अपेक्षाकृत शान्ति और सुधार का ही काल रहा है। इस बीच (१७८४-१७९८ ई०) मैसूर-युद्ध के अतिरिक्त अँगरेजों ने किसी युद्ध में भाग न लिया। वास्तव में कार्नवालिस और सर जान शोर दोनों ही पिट इंडिया ऐक्ट के अनुसार भारतवर्ष की संघर्षपूर्ण राजनीतिक स्थिति से यथासम्भव दूर रहना चाहते थे। देशी राज्यों के प्रति उनकी नीति तटस्थता की थी। वे उनके आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप न करना चाहते थे। इँगलैंड का एक वर्ग उनकी नीति का कट्टर समर्थक था। उसका विश्वास था कि कम्पनी के हितों की रक्षा तटस्थ रहकर भारतीय राज्यों के बीच शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने में ही है। परन्तु इसके विपरीत इँगलैंड में एक अग्रगामी वर्ग भी था जो उग्र नीति का पोषक था। देशी राज्यों के पारस्परिक झगड़ों में अधिकाधिक हस्तक्षेप कर समयानुसार उनसे सन्धि-विग्रह कर वह भारतवर्ष में अँगरेजी राज्य-विस्तार करने के पक्ष में था। लार्ड वेलेजली जब १७९८ ईसवी में भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल हुआ तो उसने अपने पूर्वाधिकारियों की तटस्थ नीति का परित्याग कर इस उग्र वर्ग की राज्य-विस्तार-कारिणी नीति का अनुगमन किया।

लार्ड वेलेजली के आगमन के समय भारतीय परिस्थिति—जिस समय लार्ड वेलेजली भारतवर्ष आया, उस समय यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति अँगरेजों के अनुकूल थी। विगत मैसूर-युद्ध ने टीपू सुलतान की शक्ति को क्षीण कर दिया था। अँगरेजों के लिए अब वह 'मैसूर का सिंह' या 'हौआ' न था। इधर, यद्यपि सर जान शोर की तटस्थता की नीति ने निजाम को बहुत असन्तुष्ट

कर दिया था, तथापि मराठों के निरन्तर भय के कारण वह अब भी अँगरेजों की सहायता की अपेक्षा करता रहता था और कभी भी खुलकर उनका विरोध न कर सकता था। स्वयं मराठा-संघ इस समय अनेक परस्पर-विरोधी राज्यों में विभाजित होकर अशक्त हो गया था। महान् संगठनकर्ता महादाजी सिंधिया की मृत्यु हो गई थी। पूना की राजनीति में कूटनीतिज्ञ नाना फड़नवीस के प्रभाव का ह्रास हो चुका था। अतः किसी भी देशी राज्य में इतनी शक्ति न थी कि वह साधन-शक्ति-सम्पन्न अँगरेजों का अकेले सामना कर सकता। पुनः पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण वे सम्मिलित रूप से भी उनका विरोध करने के लिए प्रस्तुत न थे। ऐसी दशा में वेलेजली का साम्राज्य-विस्तार का कार्य काफी सुगम हो गया।

परन्तु देशी राज्य इस समय तक अँगरेजों से पूर्णतया सशंक हो गये थे। वे भली भाँति समझ गये थे कि अँगरेजों की मित्रता और शत्रुता समान रूप से घातक है। अँगरेजों के वचनों एवं सन्धियों पर से उनकी आस्था उठ गई थी। वे अँगरेजों को स्वार्थी, अवसरवादी एवं विश्वासघाती समझने लगे थे। अतः अपनी रक्षा के लिए अब वे स्वयं अपनी शक्ति पर निर्भर रहने की चेष्टा कर रहे थे। इसी ध्येय से उन्होंने फ्रांसीसी सेनाध्यक्षों के निरीक्षण में अपनी सेनाओं का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया था। सिंधिया के सैनिक संगठन का बहुत-कुछ श्रेय डी बौइन को था। इसी प्रकार निजाम की सेनाओं का संगठन रेमाण्ड नामक एक अन्य फ्रांसीसी की अध्यक्षता में हो रहा था। वास्तव में यह स्थिति अँगरेजों के लिए असन्तोषप्रद थी। देशी राज्यों में फ्रांसीसियों का रहना उनकी सुरक्षा के लिए घातक था। अतः वेलेजली ने आते ही इस सम्भावित खतरे के प्रतिकार का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। उसका ध्येय भारतीय राज्यों को अँगरेजी प्रभुत्व के अन्तर्गत कर तथा फ्रांसीसी प्रभाव का भारतीय राजनीति से मूलोच्छेदन कर यहाँ अँगरेजी साम्राज्य की स्थापना करना था।

वेलेजली और निजाम—भारतीय राजनीति में निजाम की स्थिति बहुधा चिन्ताजनक रही है। इस समय उसे पश्चिम की ओर से मराठों और दक्षिण की ओर मैसूर से भय था। अपने पड़ोसी राज्यों की अपेक्षा उसकी शक्ति

भी कम थी। उसे सदैव बाह्य आक्रमण का तो भय रहता ही था, इसके अतिरिक्त उसके राज्य की आन्तरिक स्थिति भी दृढ़ न थी, क्योंकि उसकी प्रजा में बहुमत हिन्दुओं का था। अतः अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए उसे सदैव किसी शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। पहले उसने फ्रांसीसियों का अवलम्ब लिया; परन्तु बुसी के चले जाने के पश्चात् जब फ्रांसीसी शक्ति का पतन हो गया तो उसने अँगरेजों का पल्ला पकड़ा। कार्नवालिस के समय उसने अँगरेजों से सन्धि कर ली थी और तृतीय मैसूर-युद्ध में उन्हें सक्रिय सहायता देकर स्वयं अपना राज्य-विस्तार किया था; परन्तु शीघ्र ही निजाम को दुर्दिन देखने पड़े। नाना फड़नवीस की अध्यक्षता में मराठों ने पुनः उस पर आक्रमण किया। निजाम ने सन्धि के अनुसार अँगरेजों से सहायता माँगी, परन्तु नया गवर्नर-जनरल सर जान शोर तटस्थता की नीति का पोषक था। अतः उसने निजाम को कोई सहायता न दी। परिणाम यह हुआ कि खरदा-युद्ध में (१७९५ ई०) मराठों ने निजाम को बुरी तरह परास्त किया। निजाम अँगरेजों के विश्वासघात से क्षुब्ध हो उठा। उसने अपने राज्य से अँगरेजी सेनाओं को निकाल दिया और फ्रांसीसियों की अध्यक्षता में स्वयं अपनी सेनाओं का संगठन करने लगा। धीरे-धीरे उसके राज्य में उनका प्रभाव बढ़ने लगा। यह समय फ्रांसीसी-क्रान्ति का समय था। सारा योरप नैपोलियन के भय से आक्रान्त था। अँगरेजों और फ्रांसीसियों की पारस्परिक शत्रुता ने दोनों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित कर दिया था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि निजाम-राज्य में फ्रांसीसियों का प्रभाव वेलेजली के लिए चिन्ता का कारण बनता।

अतः इस भय के प्रति प्रतीकार-हेतु वेलेजली ने सर्वप्रथम निजाम को पुनः अपने पक्ष में करना चाहा। उसने निजाम के एक मंत्री मीर आलम के द्वारा उससे वार्ता आरम्भ की और अन्त में वह सन् १७९८ में उससे सहायक सन्धि करने में सफल हुआ। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं:—

(१) निजाम को अपने राज्य में ६ बैटेलियन की एक स्थायी सेना रखनी होगी। इसका खर्च (लगभग २४ लाख रुपया वार्षिक) निजाम को ही देना होगा।

(२) निजाम को अपने राज्य से फ्रांसीसियों को निकालना होगा।

(३) अँगरेज मराठों से निजाम की रक्षा करेंगे।

टीपू के पतन के पश्चात् सन् १८०० में वेलेजली ने निजाम से एक दूसरी सन्धि की जिसके परिणाम-स्वरूप निजाम समता के स्तर से गिरकर अधीनता के स्तर पर आ गया। इस नवीन सन्धि के अनुसार उसके राज्य में अँगरेजी सेना की संख्या बढ़ा दी गई। उसके खर्च के लिए निजाम ने मैसूर-युद्ध के फल-स्वरूप पाया हुआ सम्पूर्ण भू-भाग अँगरेजों को दे दिया। निजाम ने वचन दिया कि वह किसी भी विदेशी सत्ता से स्वतन्त्र रूप से सम्बन्ध न रक्खेगा। अन्य राज्यों के साथ उसके सम्भावित झगड़ों को तय करने का उत्तरदायित्व अँगरेजों ने लिया। इन सब सुविधाओं के बदले में अँगरेजों ने उसकी आन्तरिक प्रभुता स्वीकार कर ली। अपने राज्य के भीतरी मामलों में निजाम स्वतन्त्र रहा।

इस सन्धि के अनुसार यद्यपि निजाम आन्तरिक अशान्ति और बाह्य आक्रमण से सुरक्षित हो गया, तथापि वह सदैव के लिए अँगरेजों के हाथ की कठपुतली हो गया। उसे अपने प्रभाव में रखकर अँगरेजों ने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। अब निजाम मराठों के साथ मिलकर अँगरेजों का विरोध न कर सकता था। निजाम-राज्य में स्थित अँगरेजी सेना किसी भी अवसर पर बड़ी शीघ्रता से निजाम अथवा मराठों के विरुद्ध प्रयुक्त की जा सकती थी। परन्तु स्वतन्त्र नीति न होने के कारण निजाम का आन्तरिक शासन-प्रबन्ध उत्तरोत्तर दोषपूर्ण होता गया।

चतुर्थ मैसूर-युद्ध (१७९९ ई०)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वेलेजली ने निश्चय कर लिया था कि वह भारतवर्ष में फ्रांसीसी प्रभाव का मूलोच्छेदन कर देगा। योरप में होनेवाले अँगरेजों और फ्रांसीसियों के युद्ध ने तथा नैपोलियन के भारतवर्ष पर सम्भावित आक्रमण ने उसके इस निश्चय को और भी अधिक दृढ़ कर दिया था।

कार्नवालिस ने तृतीय मैसूर-युद्ध में टीपू को परास्त कर उसकी शक्ति को क्षीण कर दिया था। परन्तु टीपू हताश होनेवाला व्यक्ति न था। उसने शीघ्र ही अपनी शक्ति का पुनः संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। देखते ही देखते

उसने अपने राज्य की आर्थिक स्थिति ठीक कर ली, सेना का संगठन कर दिया और सीमाओं का दुर्गीकरण आरम्भ कर दिया। वास्तव में वह अँगरेजों का घोर शत्रु था और भारतवर्ष में उनकी सत्ता को विध्वंस कर देना चाहता था। इस कार्य में उसे विदेशों से भी सहायता की आशा थी। अतः उसने राजनीतिक सम्बन्ध-स्थापना के लिए काबुल, फारस, अरब और मारीशस में अपने राजदूत भेजे। 'मारीशस' के फ्रांसीसी गवर्नर ने टीपू को प्रोत्साहन दिया और अनेक फ्रांसीसी उसकी सेना में सम्मिलित हो गये। टीपू फ्रांसीसी प्रजातन्त्र (French Republic) का सदस्य हो गया और अपने को नागरिक टीपू (Citizen Tipu) के नाम से पुकारने लगा। वेलेजली ने उसके इन कार्यों से उसका लक्ष्य भली भाँति समझ लिया और शीघ्र ही युद्ध की तैयारी करना प्रारम्भ कर दिया। निजाम और मराठों ने भी अँगरेजों का साथ दिया। हैरिस और गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेजली के सेनापतित्व में फरवरी, सन् १७९९ में टीपू के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की गई। अँगरेजी सेनाओं ने उसके राज्य पर पूर्व और पश्चिम से आक्रमण किया। टीपू ने बड़ी वीरता से सामना किया, परन्तु सदासीर और मलावली नामक स्थानों पर उसकी हार हुई। तत्पश्चात् विजयिनी अँगरेजी सेनाओं ने उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टम को घेर लिया। टीपू ने इस आपत्तिकाल में असीम साहस और शौर्य का प्रदर्शन किया। उसने जमकर अँगरेजों का सामना किया, परन्तु अन्त में अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए एक सच्चे सैनिक की भाँति युद्ध-भूमि में उसने वीरगति पाई। टीपू की मृत्यु के पश्चात् मैसूर में मुस्लिम सत्ता का अन्त हो गया।

अब टीपू के राज्य का विभाजन प्रारम्भ हुआ। अंगरेजों को कनारा, कोयम्बटूर, दारापुरम् और श्रीरंगपट्टम के भू-प्रदेश मिले। निजाम को गूटी, गुरमकोंड और चित्तलदुर्ग का कुछ भाग मिला। मराठों को भी अँगरेजों से सन्धि कर लेने पर कुछ भू-प्रदेश देने का वचन दिया गया, परन्तु उन्होंने सन्धि की शर्तों को अस्वीकार कर दिया। अतः वह भू-भाग भी अँगरेजों और निजाम ने आपस में बाँट लिया। शेष मैसूर-राज्य के सिंहासन पर प्राचीन हिन्दू-राजवंश का एक अल्पवयस्क लड़का बिठाया

गया। राज्य के संरक्षण के लिए एक अँगरेजी सैन्य रक्खा गया जिसके खर्च के लिए राजा ने ७ लाख पैगोडा प्रतिवर्ष देने का वचन दिया। यह भी शर्त ठहरी कि आवश्यकता पड़ने पर अँगरेज उससे और अधिक धन माँग सकते हैं और कुप्रबन्ध होने पर उसके शासन में हस्तक्षेप कर सकते हैं और समया-नुसार उसके राज्य को भी हस्तगत कर सकते हैं। पुनः राजा ने वचन दिया कि वह न तो किसी भी विदेशी को अपने राज्य की नौकरी में रक्खेगा और न किसी विदेशी सत्ता से पत्र-व्यवहार करेगा। राज्य के शासन-कार्य के संचालन के लिए हैदरअली के पुराने मन्त्री पूर्णिया की नियुक्ति की, जो इस समय तक अँगरेजों का पक्षपाती हो गया था। इस प्रकार इस नये प्रबन्ध ने मैसूर-राज्य को पूर्णतया अँगरेजों के अधीन कर दिया।

टीपू का चरित्र—भारतीय इतिहास में टीपू सुलतान का एक विशिष्ट स्थान है। वह अँगरेजों का घोर विरोधी था। अँगरेज उसकी शक्ति से सदैव सशंक रहते थे। उसके प्रति भय और घृणा के विचार होने के कारण कुछ अँगरेजों ने उसके चरित्र को अपशब्दों में अंकित किया है। परन्तु वह भी उसकी महती शक्ति का परिचायक है। कर्कपैट्रिक (Kirkpatrick) का कथन है कि वह निर्दय और अत्याचारी शासक था। उसका दृष्टिकोण कुंठित एवं व्यवहार कठोर और बर्बर था। हैदर ने अपने श्रम और शौर्य से जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, टीपू ने उसी को अपनी अदूरदर्शिता एवं अनी-तिज्ञता के कारण विध्वंस कर दिया। टीपू का यह चरित्र-चित्रण एकपक्षीय होने के कारण अधिक विश्वसनीय नहीं है। इसके विपरीत मेजर डिरोम (Major Dirom) एवं लेफ्टीनेण्ट मूर (Lt. Moore) आदि अन्य अँगरेज अफसरों ने उसका सराहनीय वर्णन किया है। उनके अनुसार टीपू का राज्य खूब घना बसा हुआ था, उसके उर्वर प्रदेशों में अच्छी खेती होती थी। मैसूर-राज्य की सेना का अनुशासन एवं राजभक्ति प्रशंसनीय था। यद्यपि टीपू कठोर और स्वेच्छाचारी शासक था तथापि वह सदैव अपनी प्रजा के दुख-सुख का ध्यान रखता था। उसका राज्य सुख-सम्पन्न था। व्यापार की उत्तरोत्तर उन्नति हो रही थी, बड़े-बड़े नगरों की संख्या बढ़ रही थी और प्रजा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने व्यापार-कार्यों को करती थी। विदेशी आगन्तुकों का उपर्युक्त वर्णन

निश्चय ही टीपू सुल्तान की शासन-कुशलता एवं लोक-हितैषिता का ज्वलन्त प्रमाण है। अतः निश्चय ही टीपू बर्बर, निर्दय और हठधर्मी शासक न था जैसा कि उसके शत्रुओं ने उसके विषय में लिखा है। वह एक परिश्रमी शासक था जो राज्य के प्रत्येक विभाग पर निजी दृष्टि रखता था। मिल (Mill) के कथनानुसार उसकी तुलना एशिया के बड़े से बड़े शासक से की जा सकती है। वह स्वभाव से निर्दय न था, परन्तु अपने शत्रुओं के प्रति अवश्य कठोर था। यद्यपि वह इस्लाम धर्म का श्रद्धालु अनुयायी था, तथापि अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु न था। उसने अनेक हिन्दू मन्दिरों के निर्माण-हेतु आर्थिक सहायता दी थी। स्वयं अपने राज्य में उसने हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया था। परन्तु अँगरेजों से उसे घृणा थी। वह उनकी कूटनीति से भली भाँति परिचित हो चुका था। उनकी राजनीतिक चालों की धूमिल छाया से वह अपने राज्य को बचाना चाहता था। यही नहीं, वह उनकी शक्ति का मूलोच्छेदन करके उन्हें सम्पूर्ण भारतवर्ष से निकालना चाहता था। इस कार्य की सिद्धि के लिए उसने अपने राज्य के सम्पूर्ण साधन लगा दिये और बड़े से बड़ा त्याग करने में भी न हिचका। अन्त में अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करते करते उसने वीरों की भाँति रण-भूमि में अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। वास्तव में भारतीय स्वतन्त्रता-पुजारियों में उसका एक विशिष्ट स्थान है।

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में टीपू ने विशेष दूरदर्शिता से काम न लिया। उसने फ्रांसीसियों का पल्ला पकड़ा जिनका प्रभुत्व भारतवर्ष में लुप्तप्राय हो चुका था। दूरस्थ फ्रांस से वे टीपू की विशेष सहायता न कर सकते थे। पुनः वह अन्य देशी राज्यों को पारस्परिक संगठन और सहयोग के सूत्र में न बाँध सका। यदि वह निजाम और मराठों के साथ मिलकर सम्मिलित रूप से अँगरेजों का सामना करता तो बहुत सम्भव था कि भारतवर्ष का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। परन्तु अभाग्यवश ऐसा न हुआ। राष्ट्रीय भावना के अभाव एवं पारस्परिक कलह की उग्रता ने शनैः-शनैः भारतवर्ष को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ लिया।

कर्नाटक, तंजौर और सूरत—टीपू के पतन के पश्चात् उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टम में कुछ ऐसे पत्र प्राप्त हुए जिनसे पता लगा कि कर्नाटक का नवाब अँगरेजों के विरुद्ध टीपू की योजनाओं में सहयोग दे रहा था। वेलेजली तो

ऐसे अवसर की ताक में रहता ही था। अतः उसने तत्काल ही कर्नाटक की राजनीति में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। इस समय वहाँ का शासन-प्रबन्ध भी बड़ा अव्यवस्थित एवं असन्तोषजनक था। नवाब ने अँगरेजों के पिछले कर अभी तक न चुकाये थे। अतः ऐसे ही अनेक सत्य, अर्धसत्य एवं असत्य कारणों को एकत्रित करके वेलेजली ने नवाब को सिंहासन-च्युत करने की योजना बनाई। परन्तु नवाब उमदत-उल-उम्रा की आकस्मिक मृत्यु ने (सन् १८०१ ई० में) उसे इस अपमान-जनक परिस्थिति से बचा लिया। उसके पश्चात् अली हुसेन राज्याधिकारी हुआ। वेलेजली ने उससे कहा कि वह राज्य का शासन-प्रबन्ध अँगरेजों के हाथ में दे दे। नवाब ने इसे अस्वीकार कर दिया। अतः अब वेलेजली ने विगत नवाब के भतीजे अजीम-उद्दौला से वार्ता चलाई। उसे अँगरेजी कम्पनी की ओर से एक पदवी एवं पेंशन दी गई। इसके बदले में उसने कर्नाटक का शासन-कार्य अँगरेजों के सुपुर्द कर दिया। इस प्रकार कर्नाटक भी अँगरेजों के चंगुल में आ गया। परन्तु यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो वेलेजली का यह कार्य नितान्त अन्यायपूर्ण था। श्रीरंगपट्टम में जो पत्र मिले थे, उनसे नवाब की अँगरेजों के विरुद्ध षड्यन्त्रकारिता सिद्ध न होती थी। पुनः अजीम-उद्दौला का कर्नाटक के राज्य पर कोई अधिकार न था। वास्तविक नवाब की उपेक्षा कर उससे शासनाधिकार प्राप्त करना अन्याय और अत्याचार की पराकाष्ठा थी।

इसी प्रकार जब तंजौर और सूरत के राज्यसिंहासनों के लिए दो दलों में झगड़ा हुआ तो वेलेजली ने एक पक्ष का समर्थन किया और उन्हें उपाधियाँ एवं पेंशनें देकर उनके राज्य को हस्तगत कर लिया। इस प्रकार की धाँधली सर्वथा निन्द्य थी। परन्तु वेलेजली को उचित-अनुचित का अधिक विचार न था। वह तो येन-केन प्रकारेण भारतवर्ष में अँगरेजों का साम्राज्य-विस्तार करना चाहता था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह जघन्य साधनों के प्रयोग से भी न हिचकता था।

अवध—बकरी को खाने के लिए भेड़िया कोई न कोई बहाना ढूँढ़ ही लेता है। यही बात अवध के विषय में भी सत्य सिद्ध हुई। आन्तरिक शासन की कुव्य-वस्था का आरोप लगाकर वेलेजली ने अवध-राज्य में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। सन् १७९७ में नवाब आसफुद्दौला की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात्

नवाब के पुत्र मिर्जाअली और नवाब के भाई सआदतअली में सिंहासन के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ। सर जान शोर ने सआदतअली का पक्ष लिया और १७९८ ईसवी में उसे नवाब बना दिया। नये नवाब ने कम्पनी को ७६ लाख रुपया वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया और उसे इलाहाबाद का किला दे दिया। पुनः नवाब ने वायदा किया कि वह बिना अँगरेजों की आज्ञा के किसी भी विदेशी शक्ति से न तो पत्र-व्यवहार करेगा और न किसी योरपीय को अपने राज्य में प्रविष्ट होने देगा। इसके अतिरिक्त राज्य प्राप्त करने के उपलक्ष में कृतज्ञता-प्रदर्शन-स्वरूप नवाब ने कम्पनी को १२ लाख रुपये और दिये।

जब वेलेजली गवर्नर-जनरल होकर आया तो उसने तत्काल अपना ध्यान अवध की ओर दिया। उसका ध्येय था किसी न किसी प्रकार अवध-राज्य को ब्रिटिश प्रभुता के अन्तर्गत कर लिया जाय। जब नवाब के विरुद्ध विद्रोह अथवा विश्वासघात का कोई प्रमाण न मिला, तो उस पर कुशासन का आरोप लगाया गया। पुनः यह भी कहा गया कि अफगानिस्तान का बादशाह जमानशाह भारतवर्ष पर आक्रमण करनेवाला है। इसके लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश-राज्य की पश्चिमी सीमा पर स्थित अवध राज्य उससे सन्धि कर ले। साम्राज्यवादी शासक अपने कलुषित मन्तव्यों को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए ऐसे ही अनर्गल तर्कों का सहारा लेते हैं। अस्तु, नवाब ने बहुतेरा विरोध किया, पर उसकी एक न चली। उसे विवश करने के हेतु कानपुर और इलाहाबाद से अँगरेजी सेनाएँ लखनऊ की ओर बढ़ीं। नवाब भयभीत हो गया और उसने नवम्बर, सन् १८०१ में सहायक-सन्धि स्वीकार कर ली। इसके अनुसार उसे अपना आधा राज्य—रुहेलखण्ड और दक्षिणी दुआब—अँगरेजों को देना पड़ा। उसके राज्य में अँगरेजी सेना बढ़ा दी गई और नवाब की सेना कम कर दी गई। नवाब ने ब्रिटिश रेजीडेंट की सहायता से शासन में सुधार करने का वचन दिया। इस प्रकार अवध भी अँगरेजी छत्रछाया में आ गया परन्तु वेलेजली का यह कार्य सर्वथा असंगत एवं अनुचित था। अपने शक्ति-विस्तार के लिए उसने न्याय का गला घोंट दिया।

वेलेजली और मराठे—हैदराबाद, मैसूर एवं अवध को सहायक-सन्धि के राजनीतिक अस्त्र द्वारा पंगु कर वेलेजली ने अब अपना ध्यान मराठों की ओर दिया। भारतवर्ष में अँगरेजी राज्य की स्थिति सुदृढ़ करने एवं फ्रांसीसी आक्रमण अथवा

हस्तक्षेप की सम्भावना को नष्ट करने के लिए यह आवश्यक था कि मराठे भी अंगरेजी प्रभाव में आ जाते। वास्तव में वेलेजली तो मराठों की शक्ति को चूर्ण कर अपना राज्य-विस्तार करना चाहता था। फ्रांसीसी आक्रमण की सम्भावना का कल्पित हौआ दिखाकर वह अपनी साम्राज्य-विस्तारकारिणी, असंगत एवं अनुचित नीति के कटु आलोचकों का मुँह बन्द करना चाहता था। गवर्नर-जनरल का भाई आर्थर कहा करता था कि वास्तव में फ्रांसीसी आक्रमण का कोई भय नहीं है। मिस्र में फ्रांसीसी शक्ति के पतन के पश्चात् तो यह भय और भी जाता रहा था। पुनः सामुद्रिक दृष्टि से निर्बल फ्रांस कभी भी इतने दूरस्थ देश पर आक्रमण करने का साहस न कर सकता था। अतः निश्चित है कि वेलेजली के लिए इस कल्पित आक्रमण ने एक उपयुक्त बहाने का काम किया। पुनः उसने देख लिया था कि मराठों के दमन करने का यह सुअवसर भी है। नाना फड़नवीस की मृत्यु के पश्चात् मराठा-राजनीति बड़ी अव्यवस्थित हो गई थी। उसके मूल में स्वार्थपरायणता एवं कलहप्रियता की भावना अपना कुत्सित कार्य कर रही थी। सन् १७९५ का वर्ष मराठा-इतिहास में अन्तिम अवसर था, जब सब मराठा-सरदारों ने सम्मिलित रूप से शत्रु का सामना किया था। खर्दा के युद्ध के पश्चात् नाना फड़नवीस अपनी कीर्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। एक साधारण मन्त्री के पद से उठकर अब वह मराठा-संघ की राजनीति का प्रमुख संचालक हो गया था। सिंधिया, होलकर और भोंसले आदि अन्य मराठा-सरदार उसके सम्मुख क्षीणश्री हो गये थे। पेशवा उसके हाथ की कठपुतली हो गया था। परन्तु अन्ततोगत्वा नाना फड़नवीस की चतुर्दिक् प्रभुता का परिणाम अच्छा न हुआ। पेशवा उसके हस्तक्षेप से व्यग्र हो उठा और वह स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगा। उधर, होलकर और सिंधिया नाना फड़नवीस की उदीयमान शक्ति से ईर्ष्या करने लगे और उसे अपदस्थ कर स्वयं पेशवा पर अपना प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करने लगे। पेशवा माधोराव नारायण की मृत्यु के पश्चात् नाना फड़नवीस और दौलतराव सिंधिया में नये पेशवा के चुनाव के विषय को लेकर झगड़ा खड़ा हो गया। अन्त में नाना फड़नवीस की विजय हुई और उसने बाजीराव द्वितीय को पेशवा बनाया। परन्तु बाजीराव बड़ा कृतघ्न था। उसने शीघ्र ही नाना के विरुद्ध षड्यन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया। इस

कार्य में उसने दौलतराव सिंधिया की सहायता ली। नाना फड़नवीस अपदस्थ कर दिया गया और बन्दी बना लिया गया। परन्तु बाजीराव ने शीघ्र ही देखा कि उसके प्रति दौलतराव का व्यवहार नाना से भी अधिक कठोर एवं अवांछनीय है। अतः अब उसने सिंधिया के विरुद्ध भी षड्यन्त्र करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार आये दिन होनेवाले षड्यन्त्रों ने मराठा-राजनीति में अव्यवस्था फैला दी। इधर दौलतराव सिंधिया और जसवन्तराव होलकर के पारस्परिक झगड़ों ने परिस्थिति और भी बिगाड़ दी। जसवन्तराव को निर्बल करने के लिए सिंधिया को थोड़े समय के लिए पेशवा और नाना दोनों से सन्धि करनी पड़ी। इस प्रकार यद्यपि कुछ समय के लिए उनमें मतभेद दूर हो गया, परन्तु इस झगड़े से मराठा-शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई। उसकी प्रतिष्ठा को भी बड़ा धक्का लगा। पुनः यह सन्धि केवल क्षणिक थी। मराठा-सरदारों का पारस्परिक वैमनस्य दूर न हुआ।

ऐसे ही दुर्दिन में नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई, (मार्च, सन् १८००)। उसकी मृत्यु से मराठा-संघ की रही-सही आशा भी जाती रही। वह एक कुशल राजनीतिज्ञ था और कर्नल पामर (Colonel Palmer) के अनुसार उसके साथ मराठा सरकार की सम्पूर्ण बुद्धि भी जाती रही। पूरे ३८ वर्ष तक उसने मराठा-राजनीति का संचालन किया था। इस बीच में उसने अनेक गलतियाँ भी कीं। वह महत्त्वाकांक्षी था और बहुधा अपनी शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए ऐसे कार्य कर बैठता था जिससे देश और राष्ट्र का अहित होता था। मराठा-शक्ति के लिए यह अभाग्य की बात थी कि ऐसा कुशल राजनीतिज्ञ महादाजी सिंधिया आदि प्रतिभाशाली व्यक्तियों से सहयोग और सहानुभूति न कर सका। नाना फड़नवीस की इस एकपक्षीय स्वार्थपरायणता एवं संकीर्णता ने मराठा-शक्ति के पतन में बड़ा योग दिया।

नाना फड़नवीस की मृत्यु के पश्चात् दौलतराव सिंधिया, जसवन्तराव होलकर और बाजीराव द्वितीय पेशवा में पुनः झगड़ा प्रारम्भ हो गया। अन्त में बाजीराव और दौलतराव ने होलकर के विरुद्ध सन्धि कर ली। पेशवा ने जसवन्तराव होलकर के भाई विठूजी होलकर को मार डाला। अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिए जसवन्तराव होलकर ने पूना पर आक्रमण किया और पेशवा एवं

सिंधिया की सम्मिलित सेनाओं को अक्टूबर, सन् १८०२ में परास्त किया। पेशवा ने भागकर बेसीन में अँगरेजों की शरण ली। अँगरेज तो ऐसा अवसर चाहते ही थे। उन्होंने पेशवा को सहायक सन्धि स्वीकार कर लेने के लिए विवश किया। परिणाम-स्वरूप दिसम्बर, १८०२ में बेसीन की सन्धि हो गई। दोनों ने एक दूसरे को पारस्परिक सैनिक सहायता देने का वचन दिया। पेशवा ने अपने राज्य में एक अँगरेजी सेना रखना स्वीकार किया। उसने यह भी वचन दिया कि वह किसी भी योरपीय को अँगरेजों की आज्ञा के विरुद्ध अपने राज्य में न रक्खेगा। सहायक-सेना के खर्च के लिए पेशवा ने कुछ जिले (जिनकी आय २६ लाख रुपया वार्षिक थी) अँगरेजों को दे दिये। पुनः उसने निजाम और गायकवाड़ के साथ होनेवाले अपने पारस्परिक झगड़ों में अँगरेजों को मध्यस्थ बनाना स्वीकार किया। इस सन्धि के अनुसार अब पेशवा किसी भी राज्य के साथ अँगरेजों के आदेश के बिना सन्धि-विग्रह न कर सकता था। इस प्रकार बेसीन की सन्धि ने पेशवा को पूर्ण रूप से अँगरेजों के अधीनस्थ कर दिया। पेशवा मराठों का अध्यक्ष एवं मुगल-सम्राट् का वकील-उल-मुतलक था। उसकी अधीनता का तात्पर्य सम्पूर्ण भारतवर्ष की अधीनता थी। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से अँगरेज सम्पूर्ण भारतवर्ष के स्वामी बन गये। भारतवर्ष के लिए यह अभाग्य की बात थी कि मराठों ने अपने पारस्परिक झगड़ों के कारण अँगरेजों को अपनी आन्तरिक राजनीति में प्रवेश करने का अवसर दिया। आगामी आपत्ति को देखकर भी उन्होंने अपने मतभेद दूर न किये। परिणाम यह हुआ कि एक एक करके सारे मराठे सरदार अँगरेजों के अधीन हो गये।

१३ मई, १८०३ को आर्थर वेलेजली की संरक्षता में पेशवा पूना में प्रविष्ट हुआ। जसवन्तराव होलकर ने उसके आगमन का समाचार पाकर पूना को छोड़ दिया। वह अपने राज्य मालवा में चला गया। इस समय सिंधिया और भोंसले नर्मदा के दक्षिण-प्रदेश में अपनी-अपनी सेनाएँ लिये पड़े थे। आर्थर ने उनसे सन्धि-की वार्ता चलाई; परन्तु उन्होंने अपनी सेनाएँ वापस करने से इनकार कर दिया। वे दोनों ही पेशवा और अँगरेजों से अत्यधिक क्रुद्ध थे। बेसीन की सन्धि ने उनकी मर्यादा को बड़ा धक्का लगाया था। अँगरेजों को अपने पारस्परिक झगड़ों में पंच बनाना उन्हें कभी भी मान्य न था। सिंधिया ने तो क्रुद्ध

होकर कहा था कि बेसीन की सन्धि ने मेरे सिर से पगड़ी उतार ली है। इसी प्रकार भोंसले ने भी उसे राष्ट्र के लिए अपमानजनक बताया था। हृदय से पेशवा भी सन्धि के दुष्परिणामों को समझता था, परन्तु अत्यन्त दुर्बल एवं विवश होने के कारण खुलकर अँगरेजों का विरोध न कर सकता था। अतः उसने गुप्त रीति से सिंधिया और भोंसले का समर्थन करना प्रारम्भ किया।

इस परिस्थिति से परिचित होकर वेलेजली ने सिंधिया और भोंसले के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। इस युद्ध में अँगरेजों की स्थिति बड़ी दृढ़ थी। उन्होंने पहले से ही युद्ध की पूरी तैयारी कर ली थी। उन्होंने दक्षिण और उत्तर भारतवर्ष में एक ही साथ आक्रमण किये। दक्षिण में आर्थर वेलेजली की अध्यक्षता में और उत्तर में जनरल लेक की अध्यक्षता में युद्ध-संचालन का कार्य प्रारम्भ हुआ। अँगरेजों की स्थिति ऐसी थी कि वे मराठों को घेरकर चारों ओर से आक्रमण कर सकते थे। इधर मराठों ने अपनी पूर्व रण-नीति को छोड़कर पाश्चात्य ढंग से खुले मैदान में युद्ध करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार की रण-नीति में वे इतने कुशल न थे जितने कि उनके विपक्षी अँगरेज। पुनः मराठों की सेना में जो योरपीय सेनाध्यक्ष थे, उन्होंने ठीक अवसर पर विश्वासघात किया और मराठों का साथ छोड़ दिया। उनके बिना मराठों की सेनाओं की स्थिति गड़रिया-रहित भेड़ों के समान हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ में ही मराठों की अपेक्षा अँगरेजों की स्थिति कहीं अधिक दृढ़ थी।

अतः १८०३ ई० में अँगरेज-मराठा युद्ध प्रारम्भ हुआ। दक्षिण में आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर पर आक्रमण किया और उसे अधिकृत कर लिया। २३ सितम्बर को उसने पुनः सिंधिया और भोंसले की सम्मिलित सेनाओं को असाई के युद्ध में परास्त किया। नवम्बर मास में अरगाँव के युद्ध में फिर भोंसले की हार हुई और दिसम्बर में ग्वालिगढ़ के दुर्ग पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। इन पराजयों से हताश होकर भोंसले ने हथियार डाल दिये। दिसम्बर, १८०३ में उसने अँगरेजों के साथ देवगाँव की सन्धि कर ली और इस प्रकार दक्षिण का युद्ध समाप्त हो गया।

दक्षिण की भाँति उत्तर भारतवर्ष में भी अँगरेजों को पूर्ण सफलता मिली। जनरल लेक ने अगस्त, १८०३ में अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया। शीघ्र ही

दिल्ली भी उसके हाथ में आ गया और मुगल-सम्राट् शाह आलम को अँगरेजी ने अपने संरक्षण में ले लिया। अक्टूबर मास में अँगरेजों ने आगरा पर भी अधिकार कर लिया। अन्तिम महत्त्वपूर्ण युद्ध लासवाड़ी के मैदान में हुआ। सिंधिया की सेनाओं ने सराहनीय वीरता दिखाई, परन्तु अन्त में हार गई। इस पराजय ने सिंधिया के विरोध की कमर तोड़ दी और उसने सन्धि-प्रस्ताव किया। अत: ३० दिसम्बर, १८०३ में सुर्जी अर्जुनगाँव की सन्धि हो गई।

देवगाँव और सुर्जी अर्जुनगाँव की सन्धियों ने अँगरेजी शक्ति को बहुत बढ़ा दिया। उनकी सबलता सर्वमान्य हो गई। देवगाँव की सन्धि के अनुसार भोंसले ने नागपुर में अँगरेजी रेजीडेण्ट रखना स्वीकार किया। उसने यह भी वचन दिया कि वह अँगरेजी-विरोधी किसी भी देश के नागरिक को अपने राज्य में स्थान न देगा। उसने निजाम-राज्य पर अपने सारे अधिकारों को छोड़ दिया और कटक एवं वर्धा नदी के पश्चिम का भू-प्रदेश अँगरेजों को दे दिया। परन्तु उसने अपने राज्य में अँगरेजों की सहायक-सेना रखने से इनकार कर दिया। अंग-रेजों ने इसके लिए उसे विवश भी न किया। इसी प्रकार सिंधिया ने सुर्जी अर्जुनगाँव की सन्धि के अनुसार गंगा और यमुना के बीच का सारा भू-प्रदेश अँगरेजों को दे दिया। उसने भड़ौंच एवं जयपुर, जोधपुर और गोहद के उत्तर के भू-भाग पर भी अपना अधिकार छोड़ दिया। भोंसले की भाँति उसने भी अपने राज्य में किसी भी अँगरेज-विरोधी राष्ट्र के नागरिक को स्थान न देने का वचन दिया। उसने अपने दरबार में अँगरेजी रेजीडेण्ट रखना भी स्वीकृत कर लिया। एक अन्य सन्धि के द्वारा भोंसले और सिंधिया दोनों ने बेसीन-सन्धि की योजना को स्वीकार कर लिया। इन सन्धि-प्रस्तावों ने अँगरेजों को भारतवर्ष में सर्वशक्तिमान बना दिया।

होलकर से युद्ध--अब केवल होलकर ही अँगरेजों के प्रभुत्व से बाहर बचा था। अँगरेजों ने उससे सहायक सन्धि स्वीकार करने का प्रस्ताव किया, परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। उसने अँगरेजों के मित्र जयपुर राज्य पर आक्रमण कर उसे लूटना भी प्रारम्भ कर दिया। अत: अप्रैल, सन् १८०४ में वेले-जली ने उसके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। उस पर अँगरेजों ने तीन दिशाओं से आक्रमण किया--जनरल लेक ने उत्तर से, आर्थर वेलेजली ने दक्षिण से और
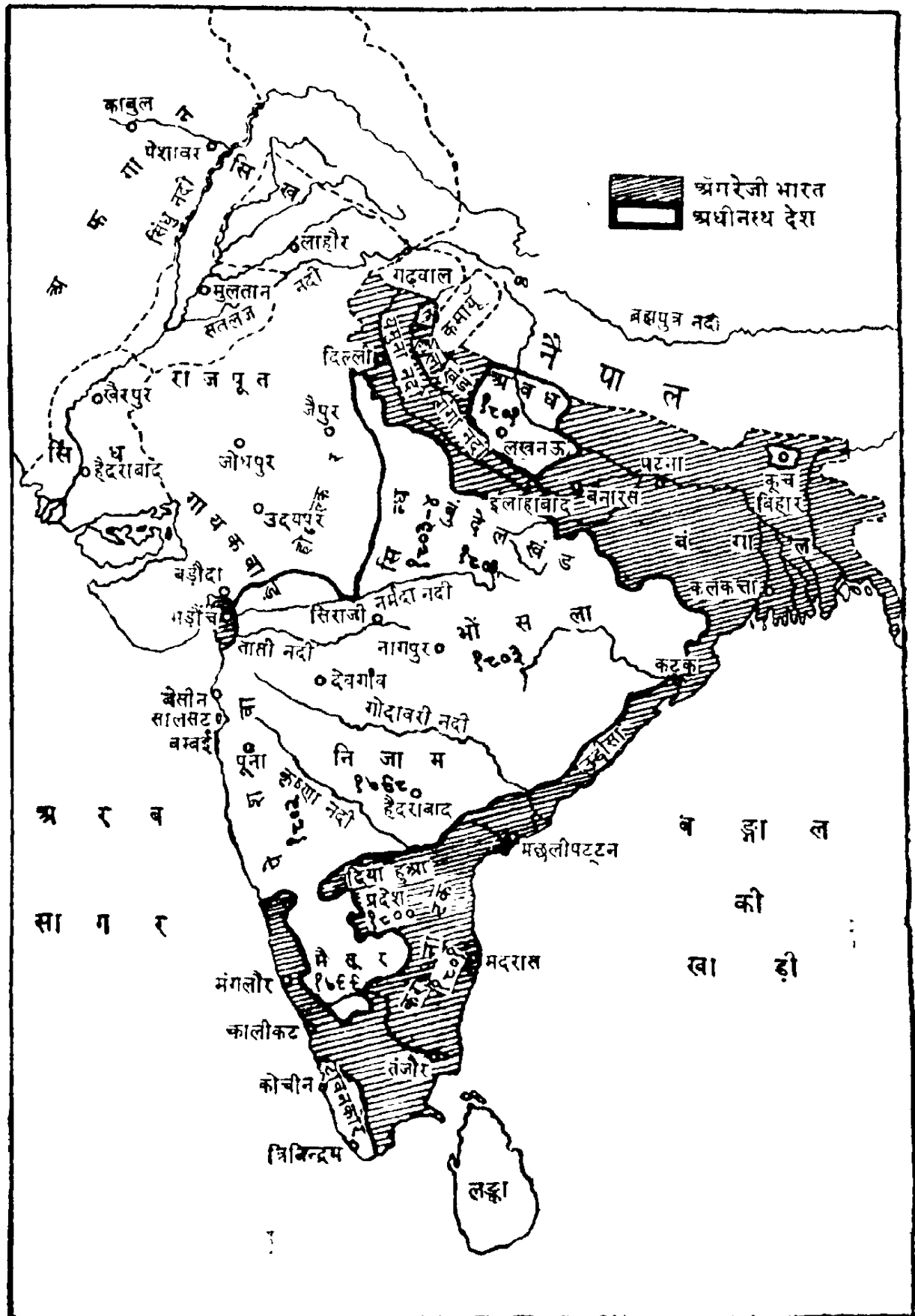
कर्नल मौनसन (Col. Monson) ने गुजरात से। परन्तु उनके एक स्थान पर मिलने के पूर्व ही होलकर ने मुलसुन्द द्वार पर कर्नल मौनसन पर आक्रमण कर दिया और उसे आगरा की ओर भागने के लिए विवश किया। इस विजय से प्रोत्साहित होकर जाट, सिंधिया और पिंडारियों ने भी होलकर की सहायता करना प्रारम्भ किया। परन्तु जब होलकर उत्तर में था, तब अँगरेजी कर्नल मुरे ने उसकी राजधानी इन्दौर पर आक्रमण किया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। पुनः फर्रुखाबाद में भी होलकर की पराजय हुई। होलकर ने दिल्ली पर आक्रमण किया, परन्तु सफल न हुआ। भरतपुर का जाट राजा होलकर के पक्ष में हो गया था। अतः जनरल लेक ने उसके दुर्ग पर आक्रमण किया। परन्तु प्रबल प्रतिरोध के कारण उस पर अधिकार न कर सका। अभी युद्ध चल ही रहा था कि इतने में वेलेजली की अग्रगामी युद्ध-नीति से असन्तुष्ट होकर डायरेक्टरों ने उसे वापस बुला लिया। (सन् १८०५ में) और उसके स्थान पर लार्ड कार्नवालिस को पुनः भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया। कार्नवालिस की अवस्था इस समय ६७ वर्ष की थी। उसने आते ही वेलेजली की नीति को बदल दिया और होलकर आदि अन्य मराठे सरदारों से सन्धि करने की इच्छा प्रकट की। परतु अक्टूबर, सन् १८०५ में उसकी मृत्यु हो गई और सन्धि का यह कार्य बंगाल कौंसिल के सीनियर सदस्य सर जार्ज बार्लो के कन्धों पर पड़ा। वह भी लार्ड कार्नवालिस की तटस्थता की नीति का अनुयायी था। अतः नवम्बर, सन् १८०५ को उसने सिंधिया से एक नवीन सन्धि की। इस सन्धि ने न्यूनाधिक अन्तर के साथ सुर्जी अर्जुनगाँव की शर्तों का ही अनुमोदन किया। कम्पनी और सिंधिया के राज्यों की बीच की सीमा चम्बल नदी मानी गई। ग्वालियर का दुर्ग एवं गोहद का प्रदेश पुनः सिंधिया को लौटा दिया गया। सिंधिया को ४ लाख की पेंशन भी दी गई। अँगरेजों ने वचन दिया कि वे सिंधिया के अधीनस्थ राज्यों—जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, मालवा, मेवाड़ और मारवाड़—से सन्धि न करेंगे। इसी प्रकार कम्पनी ने २५ दिसम्बर, सन् १८०५ में होलकर से भी सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार होलकर ने चम्बल नदी के उत्तर के भू-प्रदेश, पूना और बुन्देलखण्ड पर अपना अधिकार छोड़ दिया। इसके बदले में कम्पनी ने दक्षिण में जीते हुए उसके सारे प्रदेशों को वापस कर दिया। कम्पनी ने चम्बल नदी के

दक्षिण के प्रदेशों में हस्तक्षेप न करने का भी वचन दिया। चम्बल नदी के उत्तर के अनेक राज्यों ने कम्पनी की सहायता की थी और इसके बदले में वे अँगरेजों के संरक्षण की आशा करते थे। परन्तु होल्कर के साथ अँगरेजों ने जो सन्धि की, उसके अनुसार उन्होंने इन राज्यों का साथ छोड़ दिया। अतः अब वे पुनः मराठा प्रभाव में आ गये।

वेलेजली का चरित्र एवं उसकी सहायक-सन्धि—भारतवर्ष में ब्रिटिश-राज्य के संस्थापकों में वेलेजली का एक विशिष्ट स्थान है। वह साम्राज्यवाद का पोषक था और सम्पूर्ण देशी राज्यों को अपने अधीन कर भारतवर्ष में अँगरेजी सत्ता की स्थापना करना चाहता था। इस ध्येय की पूर्त्ति के लिए उसने सहायक-सन्धियों (Subsidiary Alliances) से काम लिया। वास्तव में सहायक-सन्धि की यह प्रथा नवीन न थी। क्लाइव और हेस्टिंग्ज ने भी इस प्रथा के आधार-भूत सिद्धान्तों का अनुसरण किया था। इसके अनुसार अँगरेज आपत्ति-काल में देशी राज्यों को सैनिक सहायता देते थे और उसके बदले उनसे प्रचुर धन प्राप्त करते थे। कभी-कभी इस धन के स्थान पर उन्हें स्थायी रूप से राज्य का कोई भू-प्रदेश भी दे दिया जाता था। वेलेजली के समय में इस सहायक-प्रथा का पूर्ण विकास हुआ। उनके हाथों में पड़कर यह प्रथा भारतवर्ष में अँग-रेज शासन के स्थापनार्थ एक शक्तिशाली यन्त्र बन गया जिसने अनेक देशी राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर डाला। जो देशी राज्य इस प्रथा को स्वीकार करता था उसे अँगरेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी और अपने राज्य में अपने ही खर्च पर एक अँगरेजी सेना रखनी पड़ती थी। पुनः उसे अँगरेजों को वचन देना पड़ता था कि वह अँगरेज-विरोधी किसी राष्ट्र के साथ किसी भी रूप में सम्बन्ध न रक्खेगा तथा उसके नागरिक को किसी भी रूप में अपने यहाँ स्थान न देगा। पुनः उसे अपने यहाँ एक अँगरेजी रेजीडेण्ट रखना पड़ता था जो उसके राजनीतिक कार्यों का पूर्ण पर्यवेक्षण करता था।

इस प्रकार की सन्धियाँ करके वेलेजली ने देशी राज्यों को पंगु कर दिया। अँगरेजी सेना एवं रेजीडेंट के रहते हुए वे किसी भी अपने पड़ोसी राज्य से सन्धि-विग्रह न कर सकते थे। उनके राजनीतिक कार्य अँगरेजों की राजनीति के द्वारा निर्धारित होते थे। अब अँगरेजों को उनसे कोई भय न रहा। वे अँगरेजों

के विरुद्ध अब संघ न बना सकते थे, और न अपने राज्य में फ्रांसीसियों की अध्य-क्षता में सेनाएँ ही संगठित कर सकते थे। यह सन्धियाँ अँगरेजों के लिए अत्यन्त लाभकर सिद्ध हुईं। इनसे भारतवर्ष में उनके साम्राज्य की नीव जम गई। अँगरेजों को अब आन्तरिक विप्लव एवं बाह्य आक्रमण का विशेष भय न रहा। कम्पनी की सैनिक शक्ति बढ़ गई। और उसका अधिकतर खर्च देशी राज्यों के कन्धों पर ही पड़ा। परन्तु देशी राज्यों पर इन सन्धियों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। अँगरेजी संरक्षण पर निर्भर होकर वे पूर्ण रूप से अयोग्य और अकर्मण्य हो गये। अब उन्हें अपने राज-काज की विशेष चिन्ता न रही। वे भोग-विलास-प्रेमी हो गये। परिणाम यह हुआ कि उनका शासन-प्रबन्ध अव्यवस्थित हो गया। राज्य में अनीति और अत्याचार बढ़ने लगा। राजनीतिक प्रभुता समाप्त हो जाने से देशी राज्यों की आत्म-सम्मान की भावना भी जाती रही। वे पूर्णतया अँगरेजों के अनुयायी हो गये।

वेलेजली इन सब परिणामों से भली भाँति परिचित था। परन्तु साम्राज्य-वाद का समर्थक होने के कारण वह उचित-अनुचित सब प्रकार के साधनों का पूर्ण प्रयोग करना चाहता था। नैतिक दृष्टि से गर्हित होते हुए भी उसकी नीति अपने राष्ट्र के लिए हितकर सिद्ध हुई। उसकी विजयों के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष में अँगरेजी राज्य विस्तृत एवं सुसंगठित हो गया। उसने कटक को हस्तगत करके मद्रास को बंगाल से मिला दिया। बुन्देलखण्ड तथा अन्य छोटी छोटी रियासतों पर अपना प्रभुत्व जमाकर उसने उत्तर-भारतवर्ष में विद्रोह एवं विरोध का भय कम कर दिया। मैसूर-राज्य पर अधिकार हो जाने से अँगरेज मराठा-राज्य एवं निजाम-राज्य के पड़ोसी हो गये। यहाँ से अब वे उनकी कार्य-विधि का भली भाँति निरीक्षण कर सकते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर चारों ओर से घेर सकते थे। मैसूर के राज्य-सिंहासन पर एक हिन्दू राजा को बैठाकर वेलेजली ने धर्म के आधार पर निजाम-राज्य एवं मैसूर-राज्य के बीच संघ की सम्भावना को नष्ट कर दिया। पुनः मराठों को परास्त कर उसने भारतवर्ष में अँगरेजी शक्ति का सिक्का जमा दिया। दिल्ली एवं मुगल-सम्राट् को अपने अधीन कर वेलेजली ने सैद्धान्तिक रूप से सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। उसके भारतवर्ष से जाने के समय यहाँ कोई भी ऐसा राज्य

न था जो अकेले अँगरेजों का युद्ध में सामना कर सकता। उसकी अग्रगामी नीति से डायरेक्टर असन्तुष्ट हो गये। अतः उन्होंने उसे वापस बुला लिया। वहाँ उस पर अनीति, अपव्यय एवं अत्याचार के आरोप लगाकर मुकदमा चलाने का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु ब्रिटिश पार्लियामेंट ने इसके लिए स्वीकृति न दी और अँगरेज राष्ट्र के प्रति की गई उसकी महती सेवाओं का विचार कर उसकी प्रशंसा में एक प्रस्ताव पास किया। वास्तव में इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य की स्थापना करने का बहुत-कुछ श्रेय वेलेजली को है।

अध्याय २१

तटस्थता की नीति

(सन् १८०६–१३)

नवीन नीति—वेलेजली ने सात वर्ष तक जिस अग्रगामी उग्र नीति का अनुसरण किया था, उससे इँगलैंड के अधिकारी-वर्ग में खलबली मच गई। डायरेक्टरों ने उसकी नीति का विरोध किया और उसे वापस बुला लिया। वेलेजली की साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति की प्रतिक्रिया हुई और उसके परिणाम-स्वरूप आगामी गवर्नर-जनरलों ने ७ वर्ष तक भारतीय राजनीति में तटस्थता की नीति का यथासम्भव अनुकरण किया। यह समय कम्पनी के इतिहास मे अपेक्षाकृत शान्ति एवं सुधार का समय था। लार्ड वेलेजली के जाने के पश्चात् लार्ड कार्नवालिस ६७ वर्ष की अवस्था में पुनः भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया। वह पिट के इण्डिया ऐक्ट का समर्थक था और भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध था। अतः वह वेलेजली की उग्र नीति में आमूल परिवर्तन करना चाहता था। परन्तु उसका स्वास्थ्य ठीक न था और शीघ्र ही ५ अक्टूबर, सन् १८०५ में वह गाजीपुर में मर गया। उसके पश्चात् बंगाल कौंसिल का सीनियर सदस्य सर जार्ज बार्लो कुछ काल के लिए गवर्नर-जनरल बनाया गया। कार्नवालिस की भाँति वह भी तटस्थता की नीति का अनुगामी था। उसके समय की मुख्य घटना वेलोर का सैनिक-विद्रोह है।

वेलोर का गदर—एक नवीन आज्ञा के द्वारा सेनापति ने वहाँ के सिपाहियों को यह आदेश दिया था कि वे सिर पर एक नये प्रकार की पगड़ी बाँधें और माथे पर तिलक न लगायें। सिपाहियों ने इस आज्ञा को अपने धर्म के ऊपर आघात समझा। उन्हें सन्देह हुआ कि कदाचित् अँगरेज उन्हें धर्म-भ्रष्ट करके विधर्मी बनाना चाहते थे। अतः इसी असन्तोष के कारण उन्होंने जुलाई, १८०६ में विद्रोह कर दिया और दुर्ग पर अधिकार कर अनेक अँगरेजों को मार डाला।

कुछ व्यक्तियों का कथन था कि इस विद्रोह में टीपू सुलतान के पुत्रों का भी हाथ था। इस विद्रोह का दमन करने के लिए तत्काल अर्काट से एक सेना भेजी गई जिसने उसे शान्त कर दिया। टीपू के पुत्र कलकत्ता भेज दिये गये। सन् १८०७ में सर जार्ज बार्लो मद्रास का गवर्नर बना दिया गया और उसके स्थान पर लार्ड मिण्टो गवर्नर-जनरल बनकर भारतवर्ष आया।

बाह्य घटनाओं का प्रभाव—उसके शासन-काल (१८०७-१८१३ ई०) की नीति पर योरपीय घटनाओं का विशेष प्रभाव पड़ा। वास्तव में इन्हीं बाह्य घटनाओं का ही यह प्रभाव था कि जिससे अँगरेजों को भारतवर्ष में अपनी अग्र-गामी उग्र नीति का परित्याग कर शान्तिप्रधान नीति का अवलम्ब लेना पड़ा। इस समय योरप में नैपोलियन अपनी कीर्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। उसने योरप के अनेक देशों को पददलित कर डाला था। मित्र राष्ट्रों के प्रत्येक संघ उसकी विजयिनी सेनाओं के सम्मुख छिन्न-भिन्न हो गये थे। सारा संसार उसके भय से आक्रान्त था। अँगरेजों को डर था कि कदाचित् वह भारतवर्ष पर भी आक्रमण करे। इस आक्रमण की सम्भावना एक बात से और बढ़ गई थी। भारतवर्ष की उत्तरी-पश्चिमी सीमा रूस की सीमा से मिली थी, और रूस एवं फ्रांस टिलसिट की सन्धि (१८०७ ई०) के द्वारा एक-दूसरे के मित्र हो चुके थे। इसके अतिरिक्त फ्रांस का सर्वेसर्वा नैपोलियन रूस के जार एलेक्जेण्डर का घनिष्ठ मित्र था। अतः यह सम्भव था कि रूस और फ्रांस की सम्मिलित सेनाएँ भारतवर्ष पर उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग से आक्रमण करतीं।

इस सम्भावित भय के निराकरण के लिए लार्ड मिण्टो ने शान्ति एवं सहयोग के आधार पर अपनी आन्तरिक एवं बाह्य नीति निर्धारित की। उसने लार्ड वेले-जली की उग्र एवं साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति का सर्वथा त्याग कर दिया और यथासम्भव तटस्थता एवं मित्रता का उपयोग किया।

आन्तरिक नीति—सहायक सन्धि के अनुसार अनेक देशी राज्यों ने अपनी निजी सेनाओं को भंग कर दिया था। इनके सैनिक पदच्युत होकर अब लूट-मार करने लगे थे। इन सैनिकों में पिण्डारी नामक अन्य वर्गीय लुटेरे भी सम्मि-लित हो गये थे। इनकी लूट-मार के परिणाम-स्वरूप जनता का धन-जन अरक्षित हो गया था। अतः लार्ड मिण्टो ने गवर्नर-जनरल के पद पर आते ही इनका दमन

किया। सैनिक-लुटेरों के झुण्ड के झुण्ड पकड़े गये और उन्हें कठोर दण्ड दिया गया।

अब लार्ड मिण्टो का ध्यान देशी राज्यों की ओर गया। इस समय भारतवर्ष में तीन प्रकार के देशी राज्य थे। पहली श्रेणी में अवध, हैदराबाद, पेशवा, मैसूर आदि ऐसे राज्य सम्मिलित थे जिन्होंने अंगरेजों से सहायक-सन्धि कर रक्खी थी और आत्म-रक्षा के लिए उन्हें धन देते थे। दूसरी श्रेणी में बूँदी, कोटा आदि छोटे-छोटे अधीनस्थ राज्य थे जो अंगरेजों द्वारा संरक्षित थे, परन्तु उन्हें धन न देते थे। तीसरी और अन्तिम श्रेणी में सिंधिया, होलकर और भोंसले के राज्य थे जिन्होंने अँगरेजों से समानता के आधार पर मित्रता तो कर ली थी, परन्तु उनकी सहायक-सन्धि स्वीकार न की थी। मिण्टो ने वचनानुसार प्रथम दोनों प्रकार के राज्यों को संरक्षण देना जारी रक्खा और तृतीय प्रकार के राज्यों से मित्रता रखते हुए भी उनके कार्यों पर तीव्र निरीक्षण रक्खा। यद्यपि मिण्टो की नीति शान्तिप्रधान थी, तथापि आवश्यकता पड़ने पर वह उग्र कार्यवाही करने में न चूकता था। भारतवर्ष में आते ही उसे सूचना मिली कि बुन्देलखण्ड में चतुर्दिक् अव्यवस्था फैली हुई है। बुन्देलखण्ड में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो अंगरेजों के संरक्षण में समझे जाते थे। इस समय ये सब आपस में लड़ रहे थे और अंगरेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र भी कर रहे थे। लार्ड मिण्टो ने तत्काल सैनिक कार्यवाही की। उसने एक सेना भेजकर बुन्देलखण्ड की अराजकता का दमन किया और अजयगढ़ एवं कालिंजर के किलों को छीनकर वहाँ अंगरेजी प्रभुत्व स्थापित कर दिया।

इसी प्रकार जब पठान सरदार अमीर खाँ ने होलकर के प्रोत्साहन पर भोंसले पर आक्रमण करने का विचार किया तो लार्ड मिण्टो ने भोंसले का पक्ष लेकर शीघ्र हस्तक्षेप किया। उसने पठान सरदार को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि यदि उसने भोंसले पर आक्रमण किया तो अँगरेजों को अपने मित्र की रक्षा के लिए उसके विरुद्ध शस्त्र उठाना पड़ेगा। अमीर खाँ इस उग्र चेतावनी से भयभीत हो गया और वापस चला गया।

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि राजपूताना और मालवा में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनका समय-समय पर सिंधिया और होलकर

शोषण किया करते थे। लार्ड वेलेजली ने मराठा-शक्ति को निर्बल करने के ध्येय मे इन राज्यों को अँगरेजी संरक्षण में ले लिया था। मराठों के विरुद्ध उसे इन राज्यों से पर्याप्त सहायता भी मिली थी। परन्तु मरुस्थल में स्थित होने के कारण वे आर्थिक दृष्टि से अँगरेजों के लिए विशेष लाभप्रद न थी। जब सर जार्ज बार्लो भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल हुआ तो उसने पुनः इन राज्यों को मराठों के सुपुर्द कर दिया। इस विश्वासघातपूर्ण कार्य के लिए उसकी बहुत निन्दा की गई। आशा यह थी कि कदाचित् लार्ड मिण्टो पुनः मराठों से छीनकर उन राज्यों को अँगरेजी संरक्षण में ले ले। परन्तु नया गवर्नर-जनरल तटस्थता की नीति का अनुयायी था। अतः उसने उन राज्यों एवं मराठों के बीच में कोई हस्तक्षेप न किया और वे पूर्ववत् मराठों के ही अधीन रहे।

त्रावणकोर का विद्रोह (सन् १८०८)--त्रावणकोर का राज्य सहायक-सन्धि द्वारा अँगरेजों के अधीनस्थ था। मिण्टो के शासन-काल में उसने पुनः स्वतन्त्र होने की चेष्टा की। इस समय राज्य के दीवान वेलू तम्पी और अँगरेज रेजीडेंट का पारस्परिक सम्बन्ध मित्रतापूर्ण न था। राज्य के आन्तरिक शासन में अँगरेजों का अत्यधिक हस्तक्षेप दीवान के असन्तोष का मुख्य कारण था। अतः एक घोषणा-पत्र के द्वारा उसने अपने राज्य-निवासियों को धर्म एवं राज्य के नाम पर अँगरेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए कहा। परिणाम-स्वरूप जनता ने विद्रोह कर दिया। अँगरेज रेजीडेण्ट के घर पर आक्रमण किया गया। वह तो किसी प्रकार भाग निकला परन्तु अनेक योरपीय सैनिक मारे गये। मिण्टो ने सूचना पाते ही राज्य में एक सेना भेजी जिसने विद्रोह का कठोरतापूर्वक दमन किया। वेलू तम्पी ने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए आत्महत्या कर ली। त्रावणकोर एवं कोचीन के राज्य कुशासन के आरोप पर कुछ समय के लिए ब्रिटिश अधिकार में कर लिये गये।

बाह्य-नीति--लार्ड मिण्टो की बाह्य-नीति फ्रांस और रूस के सम्भावित आक्रमण के परिणाम-स्वरूप थी। इस समय अँगरेजों को भय था कि ये दोनों योरपीय राष्ट्र उत्तरी-पश्चिमी स्थल-मार्ग से भारतवर्ष पर आक्रमण कर सकते हैं। अतः अँगरेजों को अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमा को सुदृढ़ करने की

चिन्ता हुई। इस सीमा पर पंजाब, सिन्ध, अफगानिस्तान और फारस के राज्य स्थित थे। लार्ड मिण्टो ने बाह्य आक्रमण के भय को दूर करने के लिए इन राज्यों से मैत्रीपूर्ण राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की।

पंजाब और रणजीतसिंह—मुगल-साम्राज्य के पतन के पश्चात् पंजाब पर सिक्खों का अधिकार हो गया। कालान्तर में महाराजा रणजीतसिंह ने वहाँ एक सुसंगठित राज्य की स्थापना कर ली। सिक्ख का शुद्ध संस्कृत रूप शिष्य है। गुरु नानक ने अपने अनुयायियों का यही नाम रक्खा था। वे सिक्खों के प्रथम गुरु थे और उनके पवित्र ग्रन्थ 'आदि ग्रन्थ' का निर्माण कर उन्होंने सिक्खों को एक पृथक् सम्प्रदाय में संगठित कर दिया था। प्रारम्भ में यह एक धार्मिक सम्प्रदाय था। परन्तु सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने उन्हें सैनिक रूप दे दिया। गोविन्दसिंह अभी केवल १५ वर्ष के ही थे जब उनके पिता गुरु तेगबहादुर का धर्मान्ध औरंगजेब ने वध करा दिया। फिर क्या था? सारा सिक्ख-समुदाय प्रतिहिंसा की भावना से व्यग्र हो उठा। गुरु गोविन्दसिंह ने इस भावना से लाभ उठाकर अपनी अद्भुत संगठन-शक्ति के द्वारा उन्हें एक सैनिक सम्प्रदाय में संगठित कर दिया। सन् १७०८ में गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु हो गई। परन्तु इस समय तक सिक्ख-सम्प्रदाय भारतवर्ष में एक प्रबल सैनिक वर्ग हो चुका था।

नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से देश में अव्यवस्था फैल गई और केन्द्रीय शक्ति शिथिल पड़ गई। इस अवसर से लाभ उठाकर सिक्खों ने अपनी शक्ति और भी बढ़ा ली और सम्पूर्ण पंजाब उनके प्रभुत्व में आ गया। इस समय उनका सम्प्रदाय अथवा खालसा १२ मिसलों में विभक्त था। प्रत्येक का एक नेता होता था। रणजीतसिंह का पितामह चरतसिंह सुखेरकुचिया एक ऐसे ही मिसल का नेता था। उसने आस-पास की भूमि जीतकर एक निश्चित भू-प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उसके पुत्र महासिंह ने अपने पिता के संगठन-कार्य को जारी रक्खा। सन् १७९१ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् मिसल के शासन का सूत्र उसके पुत्र रणजीतसिंह के हाथ में आया। उस समय उसकी आयु केवल १२ वर्ष की थी। परन्तु आरम्भ से ही उसने अपनी तीव्र प्रतिभा एवं कार्यक्षमता का

परिचय देना प्रारम्भ कर दिया। उसमें संगठन-शक्ति सराहनीय थी। शीघ्र ही उसने अपनी सेना को संगठित कर अपना राज्य-विस्तार करना आरम्भ किया। जिस समय लार्ड मिण्टो भारतवर्ष में गवर्नर-जनरल होकर आया, उस समय तक रणजीतसिंह पंजाब में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। लाहौर उसके राज्य की राजधानी थी।

सर्वप्रथम अँगरेजों का ध्यान सिक्खों की उदीयमान शक्ति की ओर उस समय आकृष्ट हुआ जब सन् १८०४ में फतेहगढ़-युद्ध में परास्त हो होलकर ने भागकर पंजाब में शरण ली। रणजीतसिंह होलकर की सन्धि करना चाहता था, परन्तु उसके परामर्शदाताओं ने अँगरेजों से संघर्ष होने की आशंका से उसे ऐसा करने से रोक दिया। उस समय से अँगरेजी अभिरुचि पंजाब में उत्तरोत्तर बढ़ती गई। सन् १८०६ तक रणजीतसिंह ने सम्पूर्ण पंजाब पर अधिकार कर पूर्व में सतलज नदी तक अपनी राज्य-सीमा बढ़ा ली थी। अब वह सतलज नदी के पूर्व में स्थित पटियाला, नाभा एवं झींद के राज्यों को हस्तगत करना चाहता था। सन् १८०६ में उसने सतलज नदी पार की और झींद और पटियाला पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। रणजीतसिंह की साम्राज्य-विस्तार-कारिणी महत्वाकांक्षा से भयभीत होकर सतलज नदी के पूर्व में स्थित देशी राज्यों ने अँगरेजों से संरक्षण की प्रार्थना की। ये राज्य रणजीतसिंह के राज्य एवं अँगरेजी राज्य के बीच में स्थित थे। अतः इनकी स्वतन्त्रता के लिए अँगरेज भी चिन्तित थे क्योंकि ये उनके लिए 'बफ्र स्टेट' (Buffer State) का कार्य करते थे। पुनः अँगरेजों को इस प्रदेश से होकर होनेवाले सम्मिलित फ्रांसीसी और रूसी आक्रमण का भी भय था। इससे वे इन राज्यों की स्वतन्त्रता एवं रणजीतसिंह की मित्रता दोनों के लिए समान रूप से उत्सुक थे। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए लार्ड मिण्टो ने दिल्ली के रेजीडेंट मेटकाफ (Metcalfe) को रणजीतसिंह से बातचीत करने के लिए भेजा। रणजीतसिंह अँगरेजों से सन्धि करने के लिए इस शर्त पर तैयार हुआ कि वे सतलज नदी के पूर्व के राज्यों पर उसका आधिपत्य स्वीकार कर लें और उसके राज्य के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप न करें। इस प्रस्ताव से मिण्टो बड़े संकट में पड़ गया। वह रणजीतसिंह के राज्य की सीमा को सतलज नदी

तक ही रखना चाहता था। अतः उसने अब दृढ़ता से काम लिया; एक अँगरेजी सेना सतलज-तट पर भेजी गई। वास्तव में रणजीतसिंह अँगरेजों से युद्ध न करना चाहता था। अतः अब उसने अमृतसर में अप्रैल, सन् १८०९ में अँगरेजों से सन्धि कर ली। इसके अनुसार सतलज सिक्ख-राज्य की सीमा मान ली गई। उसके पूर्व की स्वतन्त्र रियासतें अंगरेजों की संरक्षता में आ गईं। जब तक रणजीतसिंह जीवित रहा तब तक उसने इस सन्धि का अक्षरशः पालन किया। फिर उसने कभी भी सतलज नदी को पार कर पूर्वी-प्रदेश पर आक्रमण न किया। इस प्रकार उसके साथ लार्ड मिण्टो की नीति सर्वथा सफल रही।

फारस और अफगानिस्तान—फारस का शाह फ्रांसीसियों का मित्र था। फ्रांसीसी सरकार ने उसकी राजधानी तेहरान में अपना दूत भेजा था और आवश्यकतानुसार शाह को सैनिक एवं आर्थिक सहायता देने का भी वचन दिया था। फारस में बढ़ते हुए फ्रांसीसी प्रभाव को देखकर लार्ड मिण्टो सशंकित हो गया। टिलसिट की सन्धि के पश्चात् उसका भय और भी बढ़ गया। उसे निरन्तर फ्रांस और रूस की सम्मिलित शक्तियों के आक्रमण का भय रहता था। अतः अपनी पश्चिमी सीमा सुरक्षित करने के लिए उसने फारस के शाह को अपने पक्ष में लेना चाहा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने फारस में अपना एक दूत भेजा। अधिक दबाव पड़ने पर शाह ने सन् १८०९ में अंगरेजों के साथ सन्धि कर ली। इसके अनुसार अँगरेजों ने आवश्यकता पड़ने पर शाह को सैनिक सहायता देना स्वीकार किया। इसके बदले में शाह ने वचन दिया कि वह सारे अँगरेज-विरोधी योरपीय नागरिकों को अपने राज्य से निकाल देगा और फ्रांस अथवा रूस की सेनाओं को भारत पर आक्रमण करने के लिए अपने राज्य में मार्ग न देगा।

इसी प्रकार सन् १८०९ में लार्ड मिण्टो ने माउण्ट स्टुअर्ट एल्फिस्टन (Mount Stuart Elphinstone) को राजनीतिक विषयों पर बातचीत करने के लिए काबुल भेजा। वहाँ के अमीर शाहशुजा ने अँगरेजों से सन्धि कर ली। परन्तु इस सन्धि से विशेष लाभ न हुआ क्योंकि शीघ्र ही आन्तरिक युद्ध के कारण शाह शुजा अफगानिस्तान से निर्वासित कर दिया गया।

फ्रांसीसी उपनिवेशों पर अधिकार——योरप में अँगरेजी-फ्रांसीसी युद्ध के कारण भारतवर्ष में भी उसकी ज्वाला भड़क उठी। अँगरेजों ने उनके उपनिवेशों पर अधिकार करने का यह अच्छा अवसर देखा। अतः सन् १८१० में भारत-सरकार ने एक जहाजी-बेड़ा भेजकर बूर्बो और मारीशस के द्वीपों पर अपना अधिकार कर लिया।

कम्पनी को नया आज्ञा-पत्र (सन् १८१३)——सन् १८१३ में कम्पनी को २० वर्ष के लिए पुनः आज्ञा-पत्र दिया गया। परन्तु इस बार उससे भारतीय व्यापार का एकाधिकार ले लिया गया, यद्यपि उसका चीन के साथ होनेवाले व्यापार का एकाधिकार पूर्ववत् सुरक्षित रहा। इस बार भारतवर्ष में शिक्षा-प्रसार की ओर भी ध्यान दिया गया और इस कार्य के लिए १ लाख रुपया वार्षिक स्वीकृत किया गया। योरपीयों की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारतवर्ष में तीन पादरियों की नियुक्ति की गई जिनका वेतन भारतीय कोष से देना निश्चित हुआ।

सात वर्ष के शासन के पश्चात् सन् १८१३ में लार्ड मिण्टो इँगलैंड चला गया। उसने यथासम्भव शान्तिमय नीति का अवलम्बन लिया। उसका शासन विशेषतया अन्य स्वतन्त्र राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के कारण प्रसिद्ध है। वास्तव में फ्रांसीसी-रूसी शक्तियों के सम्भावित आक्रमण के भय के निराकरण के लिए ही उसने ऐसा किया था। उसके समय से अँगरेजों का ध्यान भारतवर्ष की उत्तरी-पश्चिमी सीमा की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया जिसने उनके इतिहास की एक विशेष रूप-रेखा कर दी। इसका वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायेगा।

———

अध्याय २२

साम्राज्य-विस्तार

(सन् १८१३-१८२८)

सन् १८१३ में भारतीय परिस्थिति—मास्को प्रत्यावर्तन (सन् १८१२) और लाइपजिग (सन् १८१३) के युद्ध के पश्चात् नैपोलियन की आशाओं पर तुषार-पात हो गया। ब्रिटिश भारतवर्ष पर फ्रांसीसी आक्रमण का भय जाता रहा। अतः अंगरेजों ने पुनः अग्रगामी, उग्र एवं साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति का अनुसरण करना प्रारम्भ किया। सन् १८१३ में लार्ड मिण्टो के पद-त्याग करने पर लार्ड हेस्टिंग्ज भारतवर्ष का गवर्नर जनरल बनाया गया। वह अमेरिका के स्वतन्त्रता-संग्राम में इंगलैंड की ओर से भाग ले चुका था। ब्रिटिश पार्लियामेंट में बैठकर उसने लार्ड वेलेजली की उग्र नीति का तीव्र विरोध किया था। परन्तु जब वह स्वयं गवर्नर-जनरल होकर आया तो उसे ज्ञात हुआ कि वास्तव में उसे भी विशेष परिस्थिति के कारण वेलेजली की ही भाँति उग्र नीति का अनुसरण करना होगा। भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थिति सन्तोषजनक न थी। यद्यपि मराठा-सरदार वेलेजली के समय में परास्त हो चुके थे, परन्तु उनका दमन न हो सकता था। लार्ड मिण्टो की शान्ति-प्रधान नीति से लाभ उठाकर सिंधिया, होल्कर और भोंसले ने पुनः अपनी शक्ति संगठित कर ली थी और अब वे ब्रिटिश शक्ति का मूलोच्छेदन करने के हेतु योजना बना रहे थे। उधर, पेशवा भी सहायक-सन्धि को तोड़ फेंकना चाहता था। मध्यभारत में अराजकता फैली हुई थी। पिण्डारियों के भय के कारण जन-साधारण का धन-जन अरक्षित हो रहा था। भारतवर्ष के बाहर नैपाल और ब्रह्मा विशेष सबल हो गये थे। उनकी राज्य-विस्तार-कारिणी महत्त्वाकांक्षा से अँगरेजी सत्ता को भय उपस्थित हो गया था।

गोरखा-युद्ध (सन् १८१४-१६)—सर्वप्रथम हेस्टिंग्ज का ध्यान नैपाल की ओर गया। ऊपर कहा जा चुका है कि इस समय नैपाल की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और अब वह अपनी सीमाओं का विस्तार करना चाहता था। सन् १८०१ में अँगरेजों ने अवध के नवाब वजीर से गोरखपुर हस्तगत कर लिया था। अतः अब उसकी सीमा ब्रिटिश भारत की सीमा से मिल गई थी। नैपाल के आदि इतिहास के विषय में विशेष ज्ञात नहीं। १४वीं सदी में वहाँ क्षत्रियों के अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। अनवरत युद्ध के पश्चात् अन्त में गोरखों ने अन्य वर्गों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और उसके नेता पृथ्वीनारायण ने सन् १७६७ में एक राजवंश की स्थापना की। गोरखा-राज्य ने बड़ी शीघ्रता से उन्नति की। थोड़े ही समय में उसकी पूर्व की सीमा सिक्किम तक और पश्चिम की सीमा सतलज नदी तक विस्तृत हो गई।

नैपाल की उदीयमान शक्ति को देखकर अँगरेजों ने उससे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु विफल रहे। उन्होंने सन् १७९३ में कर्नल कर्कपैट्रिक (Col. Kirkpatrick) और सन् १८०२ में कैप्टेन नाक्स (Captain Knox) को वार्ता चलाने के हेतु नैपाल भेजा, परन्तु कोई विशेष परिणाम न हुआ। अतः नैपाल-राज्य लार्ड हेस्टिंग्ज के समय तक अँगरेजों के लिए रहस्यमय देश ही रहा।

अँगरेजी और नैपाली राज्य की सीमाएँ निश्चित रूप से निर्धारित न थीं, अतः दोनों में बहुत दिनों से झगड़ा चल रहा था। गोरखे सम्पूर्ण तराई को अपना प्रदेश समझते थे, परन्तु अँगरेज उस दिशा में उनके राज्य-विस्तार से अपने साम्राज्य के लिए खतरा समझते थे। लार्ड मिण्टो के समय में गोरखों ने सारन और गोरखपुर के कुछ भू-प्रदेश पर अधिकार करना चाहा, परन्तु अँगरेजों की चेतावनी के कारण वे कुछ समय तक ऐसा न कर सके। परन्तु थोड़े ही समय के अनन्तर उन्होंने शिवराज और बुतवल पर अधिकार कर लिया। अँगरेजों को जब यह सूचना मिली तो उन्होंने अपनी सेना भेजकर इन जिलों पर पुनः अपना अधिकार कर लिया। गोरखों ने इसे अनधिकार चेष्टा समझा और वे अँगरेजों से अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। मई, सन् १८१४ में उन्होंने बुतवल के थाने पर आक्रमण कर दिया। अतः अब अँगरेजों को उनके विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी पड़ी।

लार्ड हेस्टिंग्ज ने युद्ध की एक विस्तृत योजना बनाई। ३० हजार की एक विशाल अँगरेजी सेना ने नैपाल-राज्य पर आक्रमण किया, परन्तु गोरखों की अद्भुत वीरता एवं पर्वतीय प्रदेश की दुर्गमता के कारण उसे प्रारम्भ में सफलता न मिली। मार्टले और वुड नामक अंगरेज सेनापतियों को गोरखों के भीषण आक्रमण के सामने भागना पड़ा। कलंगा के पहाड़ी दुर्ग पर अधिकार करने के प्रयास में अँगरेजी जनरल जिलेस्पी (General Gillespie) को अपने प्राण गँवाने पड़े।

अँगरेजों की इन प्रारम्भिक पराजयों से अन्य देशी राज्यों को प्रोत्साहन मिला। उन्होंने सम्मिलित रूप से आक्रमण कर अँगरेजों को भारतवर्ष से निकाल देने का यह अच्छा अवसर देखा। इस उद्देश्य से मराठों, पिण्डारियों एवं रणजीतसिंह ने आपस में वार्ता प्रारम्भ कर दी। यह सूचना पाकर हेस्टिंग्ज भयभीत हो गया। उसने डेविड आक्टर लोनी (David Ochterlony) की अध्यक्षता में पुनः सेनाओं का संगठन किया। अभाग्यवश अपनी पारस्परिक अविश्वास भावना के कारण देशी राज्यों का संगठित एवं सम्मिलित रूप से कार्य करना असम्भव हो गया। इस स्थिति से अंगरेजों ने पूरा लाभ उठाया। जनरल आक्टर लोनी ने पुनः नैपाली सेनापति अमरसिंह थापा पर आक्रमण किया और इस बार उसकी विजय हुई। नैपाली दुर्ग मलांव (Malaon) पर मई, सन् १८१५ में अँगरेजों का अधिकार हो गया और अमरसिंह को विवश हो आत्म-समर्पण करना पड़ा। अँगरेजो ने धन का प्रलोभन देकर गोरखा सिपाहियों को भी अपनी ओर मिला लिया। अतः नैपाली सरकार को विवश होकर सन्धि-वार्ता चलानी पड़ी। उसके परिणामस्वरूप नवम्बर, सन् १८१५ में सिगौली की सन्धि हो गई। परन्तु अमरसिंह की सम्मति से नैपाली सरकार ने पुनः युद्ध आरम्भ करने का निश्चय किया और सिगौली की सन्धि को अस्वीकार कर दिया। यह सूचना पाकर अँगरेज सेनापति आक्टर लोनी ने पुनः गोरखों पर आक्रमण किया और मकवानपुर (Makwanpur) के युद्ध में पराजित किया। हताश होकर अन्त में नैपाल-सरकार ने सिगौली की सन्धि स्वीकार कर ली। इस सन्धि के अनुसार अँगरेजों को गढ़वाल और कुमायूँ के जिले एवं तराई का एक विस्तृत भू-प्रदेश मिला। नैपाली सरकार को सदैव के

लिए शिकम से हटना पड़ा। उसने अपनी राजधानी काठमांडू में अंगरेज रेजीडेंट रखना भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सिक्ख-राज्य और नैपाली राज्य के बीच में अँगरेजी भू-प्रदेश के आ जाने के कारण दोनों में गुटबन्दी करना असम्भव हो गया। इस सन्धि के अनुसार शिमला, नैनीताल और अल्मोड़ा के सुन्दर पर्वतीय नगर अँगरेजों के अधिकार में आ गये। उस समय से अभी तक दोनों सरकारों ने सिगौली की सन्धि का सत्यतापूर्वक पालन किया है। कालान्तर में मराठा-शक्ति से युद्ध होना अवश्यम्भावी समझकर अँगरेजों ने गोरखों को सन्तुष्ट कर उन्हें अपने पक्ष में लेने के ध्येय से नैपाल-राज्य को तराई का एक विस्तृत देश पुनः लौटा दिया।

पिण्डारी युद्ध (सन् १८१६-१८)--गोरखा-युद्ध के पश्चात् हेस्टिंग्ज का ध्यान पिण्डारियों की ओर गया। इनकी उत्पत्ति एवं नाम का कारण निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। परन्तु इतना निश्चित है कि इनका किसी धर्म या जाति से सम्बन्ध न था। पहले पहल इनका नाम हम औरंगजेब के शासन-काल में सुनते है। इन्होंने मराठों का पक्ष लेकर मुगल-साम्राज्य की धर्मान्धता के विरुद्ध युद्ध किया था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इन्होंने पुनः ख्याति प्राप्ति की। नर्मदा-प्रदेश एवं मालवा इनका मुख्य केन्द्र हो गया। ये लोग सैनिक-प्रवृत्ति के वीरकर्मी एवं साहसी व्यक्ति थे। कालान्तर में इनमें बहुसंख्यक डाकू और लुटेरे भी सम्मिलित हो गये थे। इस प्रकार इनका दल सबल हो गया था। चीतू, वासिल मुहम्मद, अमीर खाँ और करीम खाँ इनके नेता थे जिनकी अध्यक्षता में १५,००० से २०,००० तक पिण्डारी रहते थे। इनके सशस्त्र दल मनुष्यों का उत्पीडन कर इतस्ततः घूमते थे। इनके आक्रमणो से जन-साधारण का धन-जन अरक्षित हो गया था। अनेक इतिहासकारो का मत है कि इनके कार्यों का राजनीतिक उद्देश्य भी था। ये मराठों के सहयोग से अंगरेजी सत्ता का विनाश करना चाहते थे। इन्होंने मराठों से गुप्त रूप से सन्धि कर ली थी और आवश्यकतानुसार उन्हें सैनिक सहायता देने के लिए तैयार थे। परन्तु मराठों के साथ इनका यथार्थ सम्बन्ध निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। अँगरेजों ने जान-बूझकर इनके कार्यों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बर्बर एवं निर्दयतापूर्ण बताया है। ऐसा कर वे हेस्टिंग्ज की मराठों के विरुद्ध उग्र नीति का औचित्य प्रदर्शित करना चाहते है।

अस्तु, हेस्टिंग्ज ने पिण्डारियों का दमन करने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए उसने १ लाख १३ हजार सिपाहियों की सेना संगठित की। इसे चार भागों में विभक्त किया गया। इसका कारण था कि उसी समय मराठों से भी युद्ध प्रारम्भ होनेवाला था। हेस्टिंग्ज को चिन्ता थी कि कहीं पिण्डारी और मराठे सम्मिलित होकर अँगरेजों से युद्ध न करें। अतः वह उन दोनों को अलग-अलग रखना चाहता था; उत्तरी सेना का नेतृत्व स्वयं हेस्टिंग्ज ने अपने ऊपर लिया और दक्षिणी सेना एक अन्य अफसर सर टामस हिसलाप (Sir Thomas Hislop) की अधीनता में रक्खी गई। इस प्रकार चारों ओर से मराठों और पिण्डारियों के विरुद्ध कार्यवाही आरम्भ हुई। पिण्डारी चारों ओर से घिर गये। अँगरेजी सेना ने उन पर आक्रमण किया और उन्हें परास्त कर उनका पीछा किया। पिण्डारी अस्त-व्यस्त हो गये। उनके बहुसंख्यक सैनिक मारे गये। उनके एक नेता अमीर खाँ ने अँगरेजों की अधीनता स्वीकार कर ली। अँगरेजों ने उसे टोंक का राज्य देकर अपने पक्ष में कर लिया। वहाँ पर अभी तक उसके वंशज राज्य कर रहे है। इसी प्रकार करीम खाँ भी हताश होकर अँगरेजों के अधीनस्थ हो गया। उनका अन्य नेता चीतू जंगल में भाग गया जहाँ उसे एक चीते ने मार डाला। इस प्रकार हेस्टिंग्ज ने सुव्यवस्थित सैनिक-योजना के द्वारा पिण्डारियों की सबल शक्तियों को चूर्ण कर दिया। उनके दल बिखर गये। बहुत से पिण्डारी नगरों और ग्रामों में आकर बस गये जहाँ वे साधारण नागरिकों की भांति जीवन व्यतीत करने लगे। बहुतों ने किसानों और कारीगरी का पेशा ग्रहण कर लिया।

मराठा-संघ का पतन (१८१७-१९)—हेस्टिंग्ज ने प्रारम्भ से ही समझ लिया था कि भारतवर्ष में अंगरेजी सत्ता को सर्वशक्तिमान बनाने के लिए मराठों से युद्ध करना अवश्यम्भावी है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वेलेजली ने मराठों को परास्त तो किया था, परन्तु उनकी शक्ति को पूर्णतया नष्ट न कर सका था। उसके जाने के पश्चात् लार्ड मिण्टो की शान्ति-प्रधान नीति से लाभ उठाकर मराठों ने पुनः शक्ति-संचय करना प्रारम्भ कर दिया था। वे भली भाँति समझ गये थे कि अँगरेज भारतवर्ष के लिए एक महान् आपत्ति के रूप में विद्यमान हैं। उनकी शत्रुता एवं मित्रता दोनों ही देशी राज्यों के

लिए समान रूप से घातक हैं। वे अन्य देशी राज्यों के भाग्य को देख ही चुके थे। उनमें से कुछ तो अँगरेजों के विरुद्ध अपना अस्तित्व ही खो चुके थे और कुछ उनकी कूटनीतिपूर्ण सहायक-सन्धि के चंगुल में फँसकर अपनी प्रतिष्ठा एवं स्वतन्त्रता को खोकर अँगरेजों की अधीनता में येन-केन प्रकारेण अपना अपमान-जनक अस्तित्व चला रहे थे। मराठों में केवल पेशवा ने अँगरेजों से सहायक-सन्धि की थी और वह भी अब उसे तोड़ने की चिन्ता में था। परन्तु, अन्य मराठा-सरदार अपने नेता पेशवा को अँगरेजों के अधीन देखकर अपमान से क्षुब्ध थे। वे उनके विरुद्ध युद्ध की योजनाएं बना रहे थे। हेस्टिंग्ज इस स्थिति से परिचित था। अतः उसने बड़ी सावधानी से कार्य करना प्रारम्भ किया। मराठों के पारस्परिक द्वेष-भाव ने उसकी राजनीतिक एवं सैनिक योजनाओं में पर्याप्त योग दिया।

हेस्टिंग्ज और भोंसले—सर्वप्रथम हेस्टिंग्ज का ध्यान भोंसला-राज्य की ओर आकृष्ट हुआ। इस समय नागपुर अन्तःकलह से व्याप्त था। २२ मार्च सन् १८१६ को राघोजी भोंसले द्वितीय (Raghuji Bhosale II) की मृत्यु हो गई। उसके पुत्र परसोजी (Parsoji) की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति अच्छी न थी। अतः संरक्षक-पद के लिए राघोजी की विधवा पत्नी बुकाबाई और अप्पा साहब में झगड़ा आरम्भ हो गया। हेस्टिंग्ज ने इस गृह-कलह से पूरा लाभ उठाया। उसने अप्पा साहब का पक्ष लिया और उसे सहायता देने का वचन दिया। प्रलोभन में पड़कर अप्पा साहब ने मई, सन् १८१६ में अँगरेजों से सहायक-सन्धि कर ली। इस सन्धि से मराठा-संघ की शक्ति को बड़ा आघात पहुँचा। माल्कम (Sir John Malcolm) के कथनानुसार अँगरेजों के लिए इस समय 'नागपुर के साथ होनेवाली सहायक-सन्धि से अधिक सौभाग्यशाली कोई अन्य घटना नहीं हो सकती थी।'

हेस्टिंग्ज और पेशवा—मराठा-सरदारों में पेशवा ही एक ऐसा था जिसने हेस्टिंग्ज के पूर्व अँगरेजों से सहायक-सन्धि की थी। परन्तु अब वह अँगरेजों के बन्धन से मुक्त होना चाहता था। अतः बेसीन की सन्धि के पश्चात् ही बाजी-राव द्वितीय ने अपनी शक्ति को संगठित करना प्रारम्भ कर दिया। उसकी

बढ़ती हुई शक्ति को देखकर अंगरेज सशंकित हो गये और उन्होंने उसे निर्बल करने के ध्येय से उसके अधीनस्थ राज्यों को अपनी ओर मिलाना प्रारम्भ कर दिया। पूना-स्थित अँगरेज रेजीडेंट एलफिंस्टन के प्रोत्साहन के परिणाम-स्वरूप कोल्हापुर और सावन्तवाडी (Sawantwadi) के राज्यों ने पेशवा की अधीनता अस्वीकार कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। इस प्रकार पेशवा और अँगरेजों में असन्तोष की भावना बढ़ने लगी।

सन् १८१४ में यह असन्तोष और भी बढ़ गया। पेशवा का मंत्री त्र्यम्बक जी अँगरेजों का घोर विरोधी था और उसने पुनः मराठा-संघ को अँगरेजों के विरुद्ध संगठित करना प्रारम्भ किया। अतः उसने योजना-निर्माण के लिए अपने दूत सिंधिया, होल्कर और भोंसले के दरबारों में भेजे। पेशवा ने बेसीन की सन्धि को तोड़ने के ध्येय से पुनः निजाम-राज्य और बड़ौदा-राज्य (गायकवाड़) से अपने प्राचीन अधिकारों को माँगा। सन्धि-वार्ता के लिए बड़ौदा का मंत्री गंगाधर शास्त्री पूना आया। कहते हैं कि त्र्यम्बक जी ने षड्यन्त्र करके वहाँ उसकी हत्या कराई परन्तु वर्तमान ऐतिहासिक अनुसन्धानों के आधार पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इस हत्या में पेशवा अथवा उसके मंत्री का कुछ भी हाथ था। फिर भी कूटनीतिज्ञ अँगरेजों को इस घटना से लाभ उठाने का पूरा अवसर मिल गया। पूना का अँगरेज रेजीडेंट एलफिंस्टन तो पहले से ही त्र्यम्बक जी का विरोधी था। अतः उसने अब इस हत्या का आरोप उसी पर लगाया। त्र्यम्बक जी पकड़ गया और एक थाने में बन्दी बना लिया गया। परन्तु किसी प्रकार वह वहाँ से भाग निकला। एलफिंस्टन को पुनः अवसर मिला। उसने त्र्यम्बक जी के निकल जाने में पेशवा का हाथ बताया। इस प्रकार एक के बाद दूसरा आरोप लगाकर उसने पेशवा को भयभीत कर दिया। अन्त में आत्मरक्षा का कोई उपाय न देखकर जून, सन् १८१७ को पेशवा ने अँगरेजों से एक नई सन्धि कर ली। इसके अनुसार पेशवा ने मराठा-संघ की अध्यक्षता का अधिकार छोड़ दिया। पुनः उसने किसी भी विदेशी सत्ता के साथ पत्र-व्यवहार न करने की प्रतिज्ञा की। अँगरेजों ने उसके राज्य का कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिया। इसके अतिरिक्त उसने अपने मन्त्री त्र्यम्बक जी को अँगरेजों के हवाले कर दिया। यद्यपि विवशता-वश पेशवा ने इन अपमानजनक प्रस्तावों को स्वीकार

तो कर लिया, परन्तु हृदय से वह अँगरेजों का घोर शत्रु हो गया और भविष्य में उनके विरुद्ध कार्यवाही करने का अवसर ढूँढ़ने लगा।

हेस्टिंग्ज और सिन्धिया—१८०५ ई० की सन्धि के अनुसार अँगरेजों ने सिन्धिया को वचन दिया कि वे उससे अधीनस्थ राजपूत-राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करेंगे। जब हेस्टिंग्ज गवर्नर-जनरल होकर आया तो उसे ज्ञात हुआ कि उसके पूर्वाधिकारियों ने इस प्रकार की सन्धि कर बड़ी भारी भूल की है। सामरिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से इन राजपूत-राज्यों की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। यदि वे अँगरेजों की संरक्षता में आ जाते तो मध्य-भारत में अँगरेजों की स्थिति बड़ी सुरक्षित हो जाती। पुन: इससे मराठों की शक्ति भी बहुत-कुछ क्षीण हो जाती। अत: इन विचारों से प्रेरित होकर हेस्टिंग्ज अब सिंधिया के साथ हुई १८०५ ई० की सन्धि को परिवर्तित करने की चिन्ता करने लगा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए दिल्ली के अँगरेज रेजीडेण्ट मेटकाफ (Metcalfe) ने राजपूत-राज्यों से वार्ता चलानी प्रारम्भ की। उधर हेस्टिंग्ज ने सिंधिया को भयभीत करने के लिए उस पर पिण्डारियों की सहायता करने का आरोप लगाया और उससे हिंडिया और असीरगढ़ के दो दुर्ग माँगे। पुनः उसे सूचित किया गया कि अँगरेज मालवा और राजपूताने के राज्यों को अपने संरक्षण में लेने का विचार कर रहे हैं। ये सब प्रस्ताव सन् १८०५ की सन्धियों के विरुद्ध थे। सिंधिया उन्हें सुनकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। अभी वह सम्पूर्ण स्थिति पर विचार कर ही रहा था कि इतने में हेस्टिंग्ज दल-बल-सहित उसके राज्य की सीमा पर पहुँच गया। आत्म-रक्षा का अन्य उपाय न देखकर सिंधिया ने ५ नवम्बर, सन् १८१७ में अंगरेजों के साथ ग्वालियर की सन्धि कर ली। इसके अनुसार सिंधिया ने वचन दिया कि वह पिण्डारियों को न तो किसी प्रकार की सहायता देगा और न उन्हें अपने राज्य में प्रविष्ट होने देगा। राजपूत-राज्यों पर से उसका अधिकार जाता रहा। वे अँगरेजों के संरक्षण में आ गये।

होलकर और पठान—सन् १८११ में जसवन्त राव होलकर की मृत्यु हो गई। जिस पुत्र को उसने गोद लिया था, वह अभी अल्पायु था। अतः तुलसीबाई उसकी संरक्षक बनी। परन्तु कुछ समय पश्चात् वेतन न मिलने के कारण उसकी सेना ने विद्रोह कर दिया। अतः अल्पायु शासक को साथ लेकर उसे आत्मरक्षा के

लिए राज्य से भागना पड़ा। अब उसने हेस्टिंग्ज से एक गुप्त सन्धि कर ली। अँगरेजों के संरक्षण के कारण उसके राज्य के सैनिक नेता उससे और भी अधिक असन्तुष्ट हो गये।

होलकर-राज्य की अव्यवस्था से लाभ उठाकर हेस्टिंग्ज ने उसे और अधिक निर्बल करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। पठान-सरदार अमीर खाँ होल्कर का मित्र था। अँगरेजों ने उसे अपने पक्ष में मिलाने की चेष्टा की। उन्होंने सन् १८१७ में उससे एक सन्धि कर ली और उसे टोंक का नवाब बना दिया। इसके बदले में उसने अपनी लुटेरों की सेना को भंग कर देने एवं भविष्य में अँगरेजों के साथ मित्रता रखने का वचन दिया। इस प्रकार अमीर खाँ के अँगरेजी पक्ष में चले जाने से होल्कर का पक्ष और भी अधिक निर्बल हो गया।

पेशवा से युद्ध—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पूना की अपमानजनक सन्धि के कारण पेशवा बड़ा क्षुब्ध था। वह उसे नष्ट करने की सतत चेष्टा कर रहा था। अँगरेजी रेजीडेंट एल्फिस्टन ने स्थिति को गम्भीर होते देखकर अपना दूतावास पूना से हटाकर किर्की में स्थापित किया। अवसर पाकर ५ नवम्बर, सन् १८१७ को पेशवा ने किर्की-स्थित उसके दूतावास पर आक्रमण कर दिया और उसे जलाकर भस्म कर दिया। परन्तु एल्फिस्टन किसी प्रकार निकलकर भाग गया। अँगरेजों को जब इस दुर्घटना की सूचना मिली तो उन्होंने पूना पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। बाजीराव पेशवा भागा, परन्तु अँगरेज सेनापति जनरल स्मिथ ने उसका पीछा किया और जनवरी, १८१८ में कोरीगाँव के युद्ध में उसे पराजित किया। पुनः फरवरी मास में अष्टी के युद्ध में पेशवा की फिर हार हुई। हताश होकर अन्त में उसने सर जान माल्कम के समक्ष जून, १८१८ में आत्म-समर्पण कर दिया। सन्धि के अनुसार उसे ८ लाख रुपया वार्षिक की पेंशन दी गई और वह बिठूर में रक्खा गया। पेशवा का पद भंग कर दिया गया। सतारा के राज्य-सिंहासन पर शिवाजी का एक वंशज बिठाया गया। शेष पेशवा-राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

भोंसले से युद्ध—परसो जी की हत्या के पश्चात् अप्पा साहब नागपुर के राज्य-सिंहासन पर बैठा। वह भी अँगरेजों से असन्तुष्ट था। अतः पेशवा की

भाँति उसने भी २६ नवम्बर, १८१७ को अँगरेज रेजीडेंसी पर आक्रमण किया। परन्तु अँगरेजों ने सीताबल्दी और नागपुर के युद्ध में उसे परास्त कर दिया। अप्पा साहब पदच्युत कर दिया गया। नर्मदा नदी के उत्तर का सम्पूर्ण भोंसला-राज्य अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया। शेष राज्य का अधिकारी राघोजी भोंसले द्वितीय का अल्पायु पौत्र बनाया गया। उसके संरक्षण के लिए एक ब्रिटिश रेजीडेण्ट की नियुक्ति हुई।

होलकर से युद्ध—होलकर-राज्य के सैनिक-सरदारों ने जैसे ही पेशवा के आक्रमण का समाचार सुना वैसे ही उन्होंने अपनी सेनाओं को एकत्र किया और उसकी सहायता के हेतु दक्षिण की ओर बढ़े। परन्तु उनके मार्ग को अँगरेजी सेनापति सर टामस हिसलाप (Sir Thomas Hislop) और सर जान मालकम ने रोक दिया। अन्त में २१ दिसम्बर, १८१७ को महीद-पुर नामक स्थान पर दोनों पक्षों की सेनाओं में युद्ध हुआ जिसमें अँगरेजों की विजय हुई। अन्त में जनवरी, सन् १८१८ में मन्दसोर की सन्धि हो गई। इसके अनुसार होलकर ने सहायता-सन्धि स्वीकार कर ली। उसने अपने राज्य में अँगरेजी सेना रख ली एवं किसी भी विदेशी सत्ता से सम्बन्ध न रखने का वचन दिया। उसने अपने राज्य का कुछ प्रदेश अँगरेजों को दे दिया।

सिन्धिया और गायकवाड़ से सन्धि—अभी तक सिंधिया पूर्ण रूप से युद्ध-क्षेत्र से बाहर रहा था। अन्य मराठा-सरदारों का दमन कर अब हेस्टिंग्ज ने उसकी ओर ध्यान दिया। सन् १८१८ में उसे विवश होकर अँगरेजों से सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार उसने अजमेर अँगरेजों को दे दिया और अपने राज्य की सीमा को पुन: निर्धारित करना स्वीकार कर लिया।

अब गायकवाड़ ने भी अँगरेजों से एक नवीन सन्धि कर ली। इसके अनुसार उसने अपने राज्य की अँगरेजी सेना की संख्या बढ़ाना स्वीकार कर लिया और उसके खर्च के लिए अहमदाबाद का भाग अँगरेजों को दे दिया।

इन समस्त युद्धों के परिणाम-स्वरूप मराठों की शक्ति चूर्ण हो गई। सिंध और पंजाब को छोड़कर अब समस्त भारत अँगरेजों के अधिकार में आ गया। कम्पनी की प्रभुता सर्वमान्य हो गई।
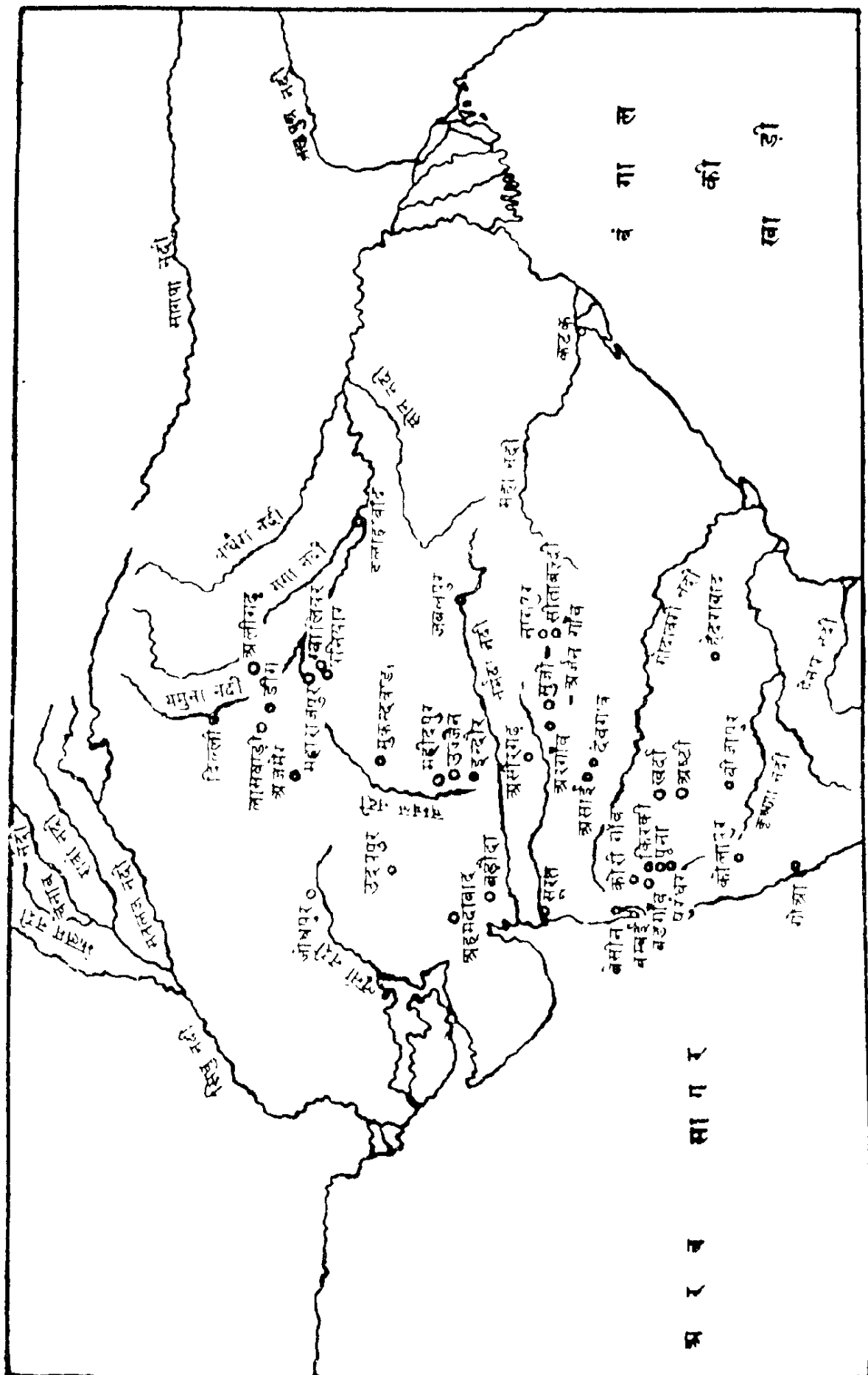
मराठों की पराजय के कारण—भारतीय राज्यों में मराठा-राज्य एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था। परन्तु कालान्तर में उसकी शक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगी और अन्त में वह बिलकुल लुप्तप्राय हो गई। पारस्परिक अविश्वास और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा ने मराठा-राज्य को अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया। इनके अध्यक्ष—पेशवा, होलकर, सिंधिया, भोंसले—बहुधा आपस में लड़ते रहते थे। इस प्रकार मराठा-संघ नितान्त शिथिल पड़ गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से पेशवा इस संघ का अधिपति बना रहा, परन्तु उसकी वास्तविक सत्ता जाती रही। अन्य मराठा-सरदारों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली और स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने अधिकृत प्रदेशों पर शासन करने लगे। परन्तु इन सरदारों ने कभी भी उच्च राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता के आधार पर संगठित रूप से कार्य न किया। अंगरेजों की कूटनीतिज्ञता एवं षड्यन्त्रकारिता से भारतीय स्वतन्त्रता के लिए जो खतरा उपस्थित हो गया था, उससे ये सब भली भाँति परिचित थे। अँगरेजों की शत्रुता एवं मित्रता के परिणाम-स्वरूप अन्य देशी राज्यों की शक्ति का जो घोर पतन हो चुका था अथवा हो रहा था, वह भी इनसे छिपा न था। पर फिर भी इन्होंने इन ज्वलन्त उदाहरणों से कोई शिक्षा ग्रहण न की। फिर भी देशीय एवं जातीय कल्याण के लिए वे अपनी स्वार्थपरता और संकीर्ण महत्त्वाकांक्षा का त्याग न कर सके। यह दोष हम नाना फड़नवीस और महादाजी सिन्धिया ऐसे महान् व्यक्तियों में भी पाते हैं। परिणाम यह हुआ कि एक-एक करके सब मराठा-राज्य अँगरेजों द्वारा परास्त हुए। बहुधा देखा गया कि जब अँगरेजों ने किसी एक मराठा-सरदार के राज्य पर आक्रमण किया तो अन्य मराठा-सरदार उसके भाग्य के प्रति उदासीन ही नहीं रहे, वरन् कभी कभी तो उन्होंने अपने बन्धु-सरदार के विरुद्ध विदेशीय अँगरेजों का साथ दिया। यह पतन की पराकाष्ठा थी। जब किसी देश में ऐसी स्वार्थजन्य अकर्मण्यता एवं उदासीनता आ जाती है, तो उसकी अवनति अवश्यम्भावी हो जाती है। यही सत्य हम मराठा-इतिहास में भी पाते हैं। मराठा-दरबार स्वार्थी व्यक्तियों के केन्द्र बन गये थे। शासन-प्रभुता प्राप्त करने के हेतु उनमें आये दिन षड्यन्त्र होते थे, हत्यायें की जाती थीं और इन कार्यों की सिद्धि के लिए अँगरेजों की सहायता-प्राप्ति की चेष्टा की जाती थी। कूटनीतिज्ञ अँगरेजों ने इस कलहमयी परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने एक पक्ष के

विरुद्ध दूसरे पक्ष का साथ दिया और उसे सिंहासन दिलाकर वास्तविक सत्ता अपने हाथ में कर ली। स्वार्थान्ध मराठा-सरदार इस कटु सत्य से सर्वदा उदासीन रहे। अन्त तक वे विदेशी सत्ता के मूलोन्च्छेदन-हेतु सम्मिलित रूप से कार्य न कर सके। यदि सब मराठा-राज्य मिलकर अँगरेजों का सामना करते तो कदाचित् भारतवर्ष का इतिहास कुछ दूसरा ही होता, परन्तु अभाग्यवश ऐसा न होना था। सबने अलग-अलग अव्यवस्थित एवं असंगठित रूप से अँगरेजों से संघर्ष किया और सब एक-एक करके अँगरेजों के अधीन हो गये।

इसी प्रकार मराठों ने अन्य देशीय राज्यों से भी कोई सहयोग स्थापित न किया। निजाम और मैसूर-राज्य के वे सदैव विरोधी रहे। यदि वे इन देशी राज्यों से सहानुभूति एवं सहयोग स्थापित कर अँगरेजों के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही करते तो अन्ततोगत्वा परिणाम शुभ एवं हितकारी हो सकता था। परन्तु इन देशी राज्यों ने एक-दूसरे के विरुद्ध विदेशियों की सहायता पर स्वयं अपना मूलोच्छेदन कर डाला। यही बात राजपूत-राज्यों के विषय में भी सत्य थी। मराठों ने अपनी उग्र एवं राज्यविस्तारकारिणी नीति से राजपूत-राज्यों को अपना शत्रु बना लिया। परिणाम-स्वरूप उन्होंने मराठों के संरक्षण से निकलकर अँगरेजों के संरक्षण में जाना उचित समझा।

पुनः मराठों की युद्ध-प्रणाली भी अधिक सन्तोषजनक न थी। गुरीला-युद्ध-प्रणाली का आश्रय लेकर शिवाजी ने औरंगजेब के समान शक्तिशाली सम्राट् के छक्के छुड़ा दिये थे। गुरीला मराठा-सैनिकों के समक्ष विशाल मुगल सेनाएँ निष्क्रिय सिद्ध हुई। यदि उसी कार्य-प्रणाली का प्रयोग अँगरेजों के विरुद्ध भी किया जाता तो परिणाम अधिक आशाप्रद हो सकता था। परन्तु मराठों ने गुरीला-प्रणाली को छोड़कर खुले मैदानों में युद्ध करना प्रारम्भ किया। इसके लिए उनका सैनिक-संगठन सन्तोषजनक न था। यद्यपि यह सत्य है कि अधिकतर मराठा-सरदारों ने योरपीय सेनापतियों को नियुक्त कर अपनी सेनाओं का संगठन पाश्चात्य युद्ध-प्रणाली पर किया था, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अँगरेजों की अपेक्षाकृत उनका यह संगठन सदैव शिथिल रहा।

पामर एण्ड कम्पनी (Palmer and Company)—सन् १८१४ में विलियम पामर नामक एक अँगरेज बैंकर हैदराबाद में रहने लगा। उसने अपने

व्यापार में बड़ी उन्नति की। अतः कुछ समय पश्चात् गवर्नर-जनरल का एक सम्बन्धी सर विलियम रम्बोल्ड (Sir William Rumbold) भी उसका एक साझीदार हो गया। निजाम-राज्य की आर्थिक स्थिति इस समय अच्छी न थी। उसे धन की आवश्यकता थी। अतः इन लोगों ने उसके एक मन्त्री चन्दूलाल को अपने पक्ष में मिलाकर निजाम-राज्य को भारी व्याज की दर पर धन उधार दिया। हेस्टिंग्ज अपने सम्बन्धी का लाभ चाहता था। अतः उसने इस व्यापार में हस्तक्षेप न किया। परन्तु कालान्तर में यह सूचना इँगलैंड में डायरेक्टरों के पास पहुँची। उन्होंने हेस्टिंग्ज की भर्त्सना की। गवर्नर-जनरल की बड़ी निन्दा हुई और जनवरी, सन् १८२३ में वह पद-त्याग कर स्वदेश लौट गया।

हेस्टिंग्ज का चरित्र—वेलेजली के अपूर्ण कार्य को हेस्टिंग्ज ने पूर्ण कर दिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वेलेजली ने देशी राज्यों को परास्त कर दिया था। हेस्टिंग्ज ने आकर उनकी शक्ति को पूर्णतया ध्वस्त कर दिया और वे अपंगु होकर अँगरेजों के अधीन हो गये। कार्नवालिस के समय से भारतवर्ष में अँगरेजों ने जिस साम्राज्य-विस्तारिणी नीति का आश्रय लिया था, वह हेस्टिंग्ज के शासन-काल तक पूर्ण रूप से विकसित हो गई। हेस्टिंग्ज जिस समय भारत से गया, उस समय यहाँ अँगरेजों की सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो गई थी। पंजाब और सिंध को छोड़कर सम्पूर्ण भारतवर्ष उनकी छत्रछाया में आ चुका था। वेलेजली केवल मुगल-सम्राट् को शक्तिहीन कर सका था; हेस्टिंग्ज ने अब मराठा-संघ को छिन्न-भिन्न करके भारत में अँगरेजी सत्ता को सर्वमान्य बना दिया। देशी राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध टूट गया। अलग-अलग वे सब अँगरेजों की दया-दृष्टि पर आश्रित हो गये। इन सब सफलताओं को देखते हुए हम हेस्टिंग्ज की ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रमुख संस्थापकों में गणना कर सकते हैं।

जान ऐडम्स—जनवरी, सन् १८२३ में लार्ड हेस्टिंग्ज स्वदेश लौट गया। उसके जाने के पश्चात् कलकत्ता कौंसिल का एक सीनियर सदस्य जान ऐडम्स भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल बनाया गया। उसने सात मास तक शासन किया। उसके शासन-काल की मुख्य घटनाएँ प्रेस-नियंत्रण एवं पामर एण्ड कम्पनी के अपमानजनक मामले का अन्त करना है।

भारतवर्ष में प्रेस का कार्य अँगरेजों की प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ था। जनवरी, सन् १७८० में हिकी (Hickey) का बंगाल गजट पहला समाचारपत्र था जो अँगरेजी में प्रकाशित हुआ था। इसने वारेन हेस्टिंग्ज के शासन-कार्यों की तीव्र आलोचना की। अतः १७८२ ई० में यह बन्द कर दिया गया। परन्तु धीरे-धीरे भारतवर्ष में शासन-सम्बन्धी कार्यों की आलोचना का कार्य प्रारम्भ हो गया। इससे अब अँगरेजों को प्रेस नियन्त्रित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह नियन्त्रण-कार्य सन् १७९९ से प्रारम्भ हुआ था। लार्ड हेस्टिंग्ज ने विचारों के आदान-प्रदान के लिए यह प्रतिबन्ध ढीले कर दिये थे। परन्तु जब जान ऐडम्स भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल हुआ तो उसने 'कलकत्ता जर्नल' के सम्पादक जेम्स सिल्क बकिंघम की कटु आलोचना से क्षुब्ध होकर पुनः प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया। उसने आदेश निकाला कि प्रत्येक समाचारपत्र के मुद्रक को भविष्य में एक लाइसेंस लेना होगा। उसकी प्राप्ति के बिना कोई भी पत्र प्रकाशित न हो सकेगा। अभी तक देशीय भाषा में कोई पत्र प्रकाशित न होता था। परन्तु सन् १८१८ में सर्वप्रथम जान क्लार्क (John Clarke) ने समाचार दर्पण नामक एक पत्र निकाला। परन्तु इसकी आलोचना इतनी कटु न होती थी जितनी कि अन्य समकालीन अँगरेजी पत्रों की। अतः जान ऐडम्स का ध्येय अँगरेजी पत्रों पर ही प्रतिबन्ध लगाने का था।

पहले बताया जा चुका है कि 'पामर एण्ड कम्पनी' के मामले से देश में बड़ी सनसनी फैल गई थी। अतः जान ऐडम्स ने आते ही इस मामले की जाँच की और कम्पनी को आदेश दिया कि भविष्य में वह निजाम को और अधिक रुपया उधार न दे। नये गवर्नर-जनरल ने निजाम को आर्थिक सहायता दी जिससे वह कम्पनी के ऋण को चुका सका। इस प्रकार एक अपमानजनक स्थिति का निराकरण हो सका।

लार्ड एमहर्स्ट (Lord Amherst)—सात मास के शासन के पश्चात् जान ऐडम्स के स्थान पर लार्ड एमहर्स्ट की नियुक्ति हुई। उसने अगस्त, सन् १८२३ को गवर्नर-जनरल के रूप में शासन-भार ग्रहण किया। इस समय तक कम्पनी का पर्याप्त साम्राज्य-विस्तार हो चुका था। उसकी पश्चिमी सीमा पंजाब और

सिंध के राज्यों से टकराती थी। उधर, पूर्व में उसका साम्राज्य-विस्तार ब्रह्मा राज्य की सीमा तक हो चुका था। अतः अब यह स्पष्ट हो गया था कि कालान्तर में साम्राज्य-विस्तार-कारिणी अँगरेजी नीति इन स्वतन्त्र राज्यों की नीति से अवश्य टक्कर लेगी और उस समय दोनों पक्षों में युद्ध अवश्यम्भावी हो जायगा ऐसा ही हुआ। नये गवर्नर-जनरल लार्ड एमहर्स्ट को अपने साम्राज्य के हितों के संरक्षण के लिए ब्रह्मा से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध के मूल में अंग्रेजों का साम्राज्यवाद काम कर रहा था।

ब्रह्मा का प्रथम युद्ध (१८२४-२६ ई०)—कम्पनी के साम्राज्य की पूर्वी सीमा ब्रह्मा-राज्य से मिली हुई थी। परन्तु दोनों पक्षों की सीमाएँ अभी तक निश्चित रूप से निर्धारित न हुई थी। जिस समय अँगरेज बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे, लगभग उसी समय अलोम्प्रा नामक सरदार की अध्यक्षता में ब्रह्मा में एक संगठित राज्य की स्थापना हो रही थी। सन् १७५० में इस सरदार ने पेगू को जीत लिया और अपने सैनिक संगठन से ब्रह्मा के अन्य छोटे-छोटे राज्यों को आतंकित कर दिया। सन् १७८४ तक ब्रह्मा के अन्य छोटे राज्य टेनासेरिम, अराकान इत्यादि भी आवा-राज्य के अन्तर्गत हो गये। जिस समय आवा-राज्य ने अराकान पर अधिकार किया, उस समय वहाँ से अनेक शरणार्थी ब्रिटिश राज्य में भाग आये। ब्रह्मा-सरकार ने अँगरेजों से इन व्यक्तियों को लौटाने के लिए कहा। परन्तु अँगरेजों ने उनकी माँग अस्वीकार कर दी। अतः दोनों पक्षों के सम्बन्ध कटुतामय हो गये। पुनः, अँगरेजों की साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति से ब्रह्मा-सरकार को उनके आक्रमण का भी भय था। अतः उन्होंने अपनी सीमाओं को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। सन् १८२२ में उनके कुशल सेनापति महाबुन्देला ने आसाम पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार उन्होंने मनीपुर पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया। तत्पश्चात् उन्होंने कचार के देशी राज्य को भी हस्तगत करना चाहा। परन्तु इस बार अँगरेजों ने इसका विरोध किया और उस राज्य को स्वयं अपने संरक्षण में ले लिया। इसका एक विशेष कारण था। कचार राज्य अँगरेजी और ब्रह्मा राज्य के बीच में स्थित था। अपनी सुरक्षा के लिए अँगरेज इसे 'बफर स्टेट' बनाना चाहते थे। अँगरेजों के इस कार्य से ब्रह्मा-सरकार

अत्यन्त क्षुब्ध हो गई। उसने इसे अँगरेजों की अनधिकार चेष्टा समझा। सम्पूर्ण वातावरण कटुतामय हो गया। इसी समय झगड़े का एक अन्य कारण उपस्थित हो गया। आवा की सरकार ने चटगाँव के दक्षिण में स्थित शाहपुरी नामक द्वीप पर अधिकार करना चाहा। ब्रह्मा-राज्य के हाथों में इस द्वीप के चले जाने से अँगरेजों की बंगाल की सीमा अरक्षित हो जाती। अतः लार्ड एमहर्स्ट ने इसका विरोध किया। उसने वार्त्ता चलाने के लिए एक संयुक्त कमीशन का प्रस्ताव किया और द्वीप की रक्षा के लिए कुछ अँगरेज सैनिक वहाँ रख दिये। परन्तु ब्रह्मा के सैनिकों ने उन रक्षकों को मारकर भगा दिया और द्वीप पर अपना झंडा गाड़ दिया। प्रतिशोध के लिए अँगरेजों ने सम्पूर्ण द्वीप पर अपना अधिकार कर लिया और २४ फरवरी, सन् १८२४ में ब्रह्मा के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। ब्रह्मा के सेनापति महाबुन्देला ने अँगरेजी राज्य की पूर्वी सीमा पर आक्रमण किया और चटगाँव के समीप रमू (Ramoo) पर अधिकार कर लिया। परन्तु इधर, अँगरेजी सेनापति कैम्पबेल ने अपनी सबल सामुद्रिक शक्ति का उपयोग कर इरावदी नदी के मार्ग से रंगून पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् अँगरेजों ने आसाम पर आक्रमण किया और उसे १८२५ ई० में हस्तगत कर लिया। अँगरेजी सेनापति कैम्पबेल इरावदी के मार्ग से रंगून के आगे बढ़ा। बर्मी सेनापति महाबुन्देला ने उसे रोकने का प्रयत्न किया और बड़ी वीरता से युद्ध किया, परन्तु अन्त में वह लड़ते हुए मारा गया। अपने प्रमुख सेनापति की मृत्यु से ब्रह्मा-सरकार हताश हो गई। तीन सप्ताह के पश्चात् अँगरेजों ने लोअर ब्रह्मा की राजधानी प्रोम पर अधिकार कर लिया। इधर, पर्वतीय प्रदेश में लड़ते-लड़ते दोनों पक्ष थक चुके थे, अतः अब उनमें सन्धि की बातचीत प्रारम्भ हुई। २४ फरवरी, सन् १८२६ को यांडबू की सन्धि हो गई। इसके अनुसार ब्रह्मा-सरकार ने अराकान और टेनासिरिम के प्रान्त अँगरेजों को दे दिये। उसने आसाम और कचार के राज्यों पर अपने अधिकार छोड़ दिये और मनीपुर की स्वाधीनता स्वीकार कर ली। आवा में एक अँगरेज रेजीडेण्ट रहने लगा। युद्ध-क्षति-पूर्त्ति के लिए ब्रह्मा-सरकार ने अँगरेजों को १ करोड़ रुपया देना स्वीकार किया। यद्यपि इस युद्ध में अँगरेजों को काफी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी, तथापि उनकी राज्य-सीमा निर्धारित हो गई और उस ओर आक्रमण का भय जाता रहा।

भरतपुर का घेरा (सन् १८२६)––लार्ड एमहर्स्ट के शासन-काल की अन्य प्रमुख घटना भरतपुर का घेरा है। सन् १८२६ में भरतपुर के राजा की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसके पुत्र और उसके चचेरे भाई दुर्जनसाल में राज-गद्दी के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश सरकार ने विगत राजा के अल्पायु पुत्र का पक्ष लिया। परन्तु दुर्जनसाल ने बलात् राज्य पर अधिकार कर लिया। अतः अँगरेजी सेनापति लार्ड काम्बर मिअर (Lord Combermere) भरतपुर भेजा गया। उसने भरतपुर के किले पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। यद्यपि दुर्जनसाल पदच्युत कर दिया गया, परन्तु अँगरेजी सेना ने भरतपुर-राज्य में जो लूट-मार की, उससे अँगरेजों की बड़ी निन्दा हुई।

सन् १८२६ में लार्ड एमहर्स्ट स्वदेश लौट गया और उसके स्थान पर लार्ड विलियम बेंटिक गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ।

अध्याय २३

लार्ड विलियम बेंटिंक

(सन् १८२८--३५)

नीति--लार्ड हेस्टिंग्ज और लार्ड एमहर्स्ट की उग्र साम्राज्य-विस्तारकारिणी नीति का फल यह हुआ कि कम्पनी को अनेक युद्ध करने पड़े जिनके कारण उसकी आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक हो गई। विगत ब्रह्मा-युद्ध से अँगरेजी साम्राज्य की पूर्वी सीमा सुरक्षित तो हो गई, परन्तु पर्वतीय प्रदेश में युद्ध-संचालन के हेतु लार्ड एमहर्स्ट को प्रचुर धन व्यय करना पड़ा। अतः सन् १८२८ में जब लार्ड विलियम बेंटिक गवर्नर-जनरल होकर आया, तो उसका ध्यान कम्पनी की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने की ओर गया। वास्तव में उसका शासन-काल शान्ति और सुधार का काल था। इसका अर्थ यह नहीं कि वह अँगरेजी साम्राज्य के विस्तार का विरोधी था। हृदय मे वह भी अपनी सीमाओं का विस्तार करना चाहता था, परन्तु आर्थिक दशा खराब होने के कारण वह किसी ऐसे युद्ध में भाग नहीं लेना चाहता था, जिसमें कम्पनी को अधिक व्यय करना पड़े। फिर भी बिना व्यय के जब कभी साम्राज्य-विस्तार का अवसर मिला, तो उसने सदैव उससे पूरा लाभ उठाया।

आन्तरिक सुधार--गवर्नर-जनरल के पद पर आते ही विलियम बेंटिक को यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार कम्पनी के आय-व्यय को व्यवस्थित किया जाय। अतः उसके आगामी सुधार प्रायः इसी ध्येय से हुए। परिस्थिति-विशेष के कारण मितव्ययिता और आय-वर्धन उसके शासन के मूल-मन्त्र बन गये। एक बात और थी। कम्पनी के पिछले आज्ञा-पत्र की अवधि सन् १८३३ में समाप्त होनेवाली थी। उसके पश्चात् उसे नया आज्ञा-पत्र प्राप्त करना था। अतः इंगलैंड के पदाधिकारियों के समक्ष उसे अपनी स्थिति की अनुकूलता प्रदर्शित करनी थी। इस दृष्टि से भी सुधारों की आवश्यकता थी। उधर, फ्रांस की राजक्रान्ति ने

सम्पूर्ण योरप को स्वतन्त्रता, बन्धुता और समता के उच्च सिद्धान्तों से प्रभावित किया था। अनुदार इंगलैंड भी इस प्रभाव से पूर्णतया अछूता न बच सका था। आगामी शासन-कार्यों में इस परिवर्त्तन की छाप स्पष्टतः दृष्टि-गोचर होती है। इँगलैंड में भी चारों ओर से सुधार की माँग उठी जिसके परि-णाम-स्वरूप पार्लियामेण्ट को १८३२ ई० का बिल पास करना पड़ा। ऐसी स्थिति में कम्पनी के डायरेक्टरों को भली भाँति विदित हो गया था कि यदि उन्होंने भारतवर्ष के शासन की रूप-रेखा उदार सिद्धान्तों पर अवलम्बित न की, तो उन्हें नवीन आज्ञा-पत्र मिलना दुर्लभ हो जायेगा। इसी दृष्टि से विलियम बेंटिक गवर्नर-जनरल बनाया गया था। इँगलैंड में स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त स्वीकृत हो गया था। अतः भारतवर्ष में कम्पनी का चीन के साथ होनेवाले व्या-पार का एकाधिकार भी शीघ्र ही जानेवाला था। इस परिवर्त्तन से उसे भारी आर्थिक क्षति की आशंका थी। अतः इस क्षति-पूर्त्ति के लिए भी उसे अपने आय-व्यय को सुव्यवस्थित करना पड़ा।

आर्थिक सुधार—बेंटिक के आर्थिक सुधारों का ध्येय कम्पनी के व्यय मे कमी करना और आय में वृद्धि करना था। इसकी पूर्त्ति के लिए उसने दो समितियाँ नियुक्त कीं, एक सिविल कमेटी और दूसरी मिलिटरी कमेटी। इन दोनों का काम आय-व्यय के लेखे का निरीक्षण करना और उसमें यथासम्भव सुधारों को प्रस्तावित करना था। उनकी सिफारिशों के परिणामस्वरूप बेंटिक ने अनेक पदों को भंग कर दिया, सिविल नौकरों के वेतन कम कर दिये और उनके भत्ते काट दिये। मिलिटरी नौकरियों में उसने दोहरे भत्ते को कम कर दिया। अपने नियमित वेतन के अतिरिक्त सैनिकों को भिन्न-भिन्न स्थानों में जाने का अतिरिक्त भत्ता मिलता था। इस परिपाटी से कम्पनी को बहुत अधिक व्यय करना पड़ता था। अतः विलियम बेंटिक के भारत-आगमन के पूर्व भी अनेक बार डायरेक्टरों ने इस भत्ते में कमी करने का प्रस्ताव किया था, परन्तु वह कार्यरूप में परिणत न हो सका था। परन्तु इस बार आर्थिक स्थिति के अधिक असन्तोषजनक होने के कारण डायरेक्टरों ने बेंटिक को आदेश दिया कि यह भत्ता तत्काल कम कर दिया जाय। अतः उनके आदेशानुसार बेंटिक ने नवम्बर, सन् १८२८ में आज्ञा निकाली कि जो सेनाएँ कलकत्ते से ४०० मील तक की दूरी पर स्थित हों, उन्हें

केवल आधा भत्ता दिया जाय। इस नियम से सैनिकों में बड़ा असन्तोष फैल गया। ऐंग्लोइण्डियन प्रेस ने भी सैनिकों का पक्ष ग्रहण किया। इस कार्य के लिए गवर्नर-जनरल की कटु आलोचना एवं निन्दा हुई। परन्तु वह दृढ़ रहा और कालान्तर में सारा विरोध आप ही शान्त हो गया। इस प्रकार कम्पनी के व्यय में २०,००० पौण्ड वार्षिक की बचत हुई।

इसके अतिरिक्त विलियम बेंटिक ने प्रान्त की दौरा और अपील की अदालतों को भी भंग कर दिया। उसका विचार था कि ये अदालतें कम्पनी के अयोग्य व्यक्तियों की केन्द्र बन गई हैं। वास्तव में इनका कार्य बड़ा शिथिल था। प्रत्येक मुकदमे का फैसला बहुत अधिक समय लेता था। इससे जन-साधारण को असुविधा तो होती ही थी, इसके अतिरिक्त उन्हें धन भी बहुत अधिक व्यय करना पड़ता था। बेंटिक ने इन्हें तोड़कर कम्पनी के व्यय में कमी कर दी और साथ ही साथ न्यायविभाग में सुधार भी कर दिया।

आय-वृद्धि के उपाय—चीन और पूर्वी द्वीपसमूह में अफीम की बड़ी खपत थी। सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्ज का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ था। उसने अफीम के व्यापार से कम्पनी की आय बढ़ाने का प्रयत्न किया था। अत: एकाधिकार के अन्तर्गत बिहार और बनारस के भू-प्रदेशों में अफीम की खेती प्रारम्भ हुई। सरकार ने उसकी शुद्धता का भार अपने ऊपर लिया। मालवा में भी इसकी उपज होती थी। परन्तु बम्बई में इसका निषेध था। अत: कम्पनी इसे पुर्तगाली-अधिकृत डामन और ड्यू के बन्दरगाहों के अन्य पूर्वी देशों में भेजती थी। पुर्तगालियों के हाथ में पड़ने के कारण अँगरेजों के लाभ में कमी हो जाती थी। अत: विलियम बेंटिक ने इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने मालवा से सीधे बम्बई अफीम का निर्यात करने के हेतु लाइसेंस देने की परिपाटी चलाई। इस प्रकार अफीम के व्यापार में कम्पनी की आय बहुत बढ़ गई।

भूमि-प्रबन्ध—अनेक नरेशों ने समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों को जागीरें दे दी थीं जिनके लिए उन्हें मालगुजारी या अन्य प्रकार के भूमि-कर न देने पड़ते थे। विलियम बेंटिक ने नई आज्ञा निकाली कि ऐसे सब भूमि-प्रदेशों की जाँच की जाय और अधिकारियों से पूछा जाय कि उन्होंने ये भूमि-खण्ड कैसे, कब और किससे प्राप्त किए। समुचित प्रमाण न मिलने पर उनके प्रदेशों को कम्पनी के

अधिकार में कर लेने की आज्ञा दी गई। बहुत प्राचीन जागीरें होने के कारण अनेक व्यक्तियों के प्रमाण-पत्र नष्ट हो गये थे। अतः वे अपना अधिकार सिद्ध न कर सके। बेंटिक ने बिना किसी अन्य विचार के उनके प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये और इस प्रकार कम्पनी की आय में ३० लाख की वृद्धि की। परन्तु उसके इस कार्य से जन-साधारण में बड़ा असन्तोष फैल गया और कालान्तर में वह १८५७ के विद्रोह का एक कारण बना।

उत्तर-पश्चिमीय सीमा-प्रान्त का लगान-प्रबन्ध—कम्पनी ने अवध के नवाब और सिन्धिया से आगरा का समीपवर्ती भू-प्रदेश प्राप्त किया था। वेलेजली ने इस प्रदेश में मालगुजारी का स्थायी प्रबन्ध करना चाहा था, परन्तु डायरेक्टरों की आज्ञा से वह ऐसा न कर सका। अन्त में वहाँ उसे, पंचवर्षीय प्रबन्ध करना पड़ा, परन्तु यह प्रबन्ध सन्तोषजनक सिद्ध न हुआ। जमींदार किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करने की चेष्टा करते थे। उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयत्न तो बेचारे किसान करते थे, परन्तु उसका अधिकांश लाभ जमींदारों की जेब में जाता था। अतः अपने परिश्रम का सुफल मिलने न देखकर अन्त में किसान भी अपने कार्य के प्रति उदासीन हो गये और इस प्रकार खेती की अवनति होने लगी।

जब विलियम बेंटिक भारतवर्ष में गवर्नर-जनरल होकर आया तो उसने लगान एवं मालगुजारी का समुचित प्रबन्ध करने का यत्न किया। इस कार्य में नवनिर्मित बोर्ड आफ रेवेन्यू के अध्यक्ष राबर्ट बर्ड (Robert Bird) ने उसकी बड़ी सहायता की। उसने सारी भूमि की माप कराई और उसके मानचित्र बनवाये। उपज एवं स्थिति के अनुसार भूमि का विभाजन किया गया और तत्पश्चात् उस प्रदेश में ३० वर्ष के लिए प्रबन्ध जारी किया गया। यह प्रबन्ध आवश्यकतानुसार किसानों, जमींदारों अथवा सम्पूर्ण ग्राम-निवासियों से किया गया था। बेंटिक का यह प्रबन्ध बहुत-कुछ टोडरमल के मुगलकालीन भूमि-प्रबन्ध से मिलता-जुलता था। इससे सरकार की आय तो निश्चित हो गई, परन्तु किसानों को विशेष लाभ न हुआ। भूमि-कर अत्यधिक होने के कारण अँगरेजी राज्य की आय बहुत बढ़ गई, परन्तु उसका अधिकांश भार किसानों पर ही पड़ा।

शासन-कार्य में भारतीयों की नियुक्ति––कार्नवालिस के समय से सरकारी उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति नहीं की जाती थी। अभाग्यवश उसे भारतीयों पर विश्वास न था और इसी से वह उन्हें उत्तरदायी पदों से पूर्णरूपेण वंचित रखना चाहता था। उसके इस नियम से भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला हुआ था। विलियम बेंटिंक के समय तक भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य की सीमाएँ खूब विस्तृत हो चुकी थीं। साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ शासन कार्य भी बढ़ गया। नये-नये विभागों और पदों पर नियुक्ति के लिए पहले से कहीं अधिक मनुष्यों की आवश्यकता उत्पन्न हुई। यदि इन सब स्थानों पर अँगरेज अधिकारी एवं कर्मचारी ही रक्खे जाते तो ब्रिटिश कम्पनी का व्यय बहुत अधिक बढ़ जाता। अतः बेंटिक ने निम्न पदों पर अब भारतीयों को रखना प्रारम्भ किया। भारतीय कर्मचारियों का वेतन अँगरेज कर्मचारियों की अपेक्षा कहीं कम था। उसके इस कार्य से भारतीयों का असन्तोष भी कम हुआ और कम्पनी का व्यय भी बहुत-कुछ घट गया। भारतीयों को शासन-कार्य के योग्य बनाने के हेतु यहाँ अँगरेजी शिक्षा का प्रचार भी आरम्भ हुआ। सन् १८३१ के कानून द्वारा बंगाल प्रेसीडेंसी में उसने भारतीय जजों की नियुक्ति की भी आज्ञा दी थी। उनके अधिकार निर्धारित कर दिये गये। परन्तु बेंटिक के ये सुधार विवशतावश ही हुए थे। फिर, उनकी सीमाएं भी बहुत संकीर्ण थीं। वास्तव में अँगरेजी शासन में वर्ण-भेद जारी रहा। उच्च पदों पर बहुत दिनों तक भारतीयों की नियुक्ति न हो सकी। कालान्तर में इस अन्याय के विरुद्ध प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को अपनी आवाज उठानी पड़ी।

शासन-सुधार––शासन की स्पष्ट रूप-रेखा सर्वप्रथम लार्ड कार्नवालिस के समय में ही निरूपित हुई थी। उस समय से विलियम बेंटिंक के समय तक अँगरेजी राज्य का विस्तार बहुत अधिक बढ़ गया था। अतः पुनः शासन में सुधार की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। यह आवश्यकता न्याय-विभाग में सबसे तीव्र थी। भारत में अँगरेजी न्याय-विभाग में तीन बड़े दोष थे : (१) विलम्ब (२) अपव्यय (३) अनिश्चयात्मकता। मुकदमों का फैसला बहुत देर में होता था। इससे जनता को बड़ी असुविधा होती थी। मुकदमों के लम्बे दौरान में उन्हें धन भी अत्यधिक व्यय करना पड़ता था। इतना होने पर

भी उनका फैसला निश्चित न होता था। पुनः कलकत्ता अँगरेजी शासन का केन्द्र था। परन्तु अँगरेजी साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ जाने के कारण देश के सुदूर प्रदेशों से वह बहुत दूर हो गया था। इस शासन-कार्य में बड़ी असुविधा होती थी। बेंटिक ने इन दोषों को दूर करने का प्रयास किया। न्याय-सम्बन्धी सुधारों में चार्ल्स मेटकाफ बटरवर्थ बेली (Butterwotth Bayley) और मेकेंजी (Mecenzie) नामक अँगरेज अफसरों से उसे बड़ी सहायता मिली। उसने प्रान्तों की अपील और दौरा की अदालतें भंग कर दीं। दीवानी अदालतों का कार्य सदर अदालत के हाथ में और सेशन की अदालतों का कार्य कमिश्नरों के हाथ में दे दिया। परन्तु कमिश्नरों का कार्य सन्तोषजनक सिद्ध न हुआ। अतः सन् १८३२ में उसने यह कार्य डिस्ट्रिक्ट जज के सुपुर्द कर दिया। इस नई व्यवस्था ने न्याय-विभाग के दोषों को बहुत-कुछ दूर कर दिया।

इसी प्रकार बेंटिक ने शासन के अन्य विभागों में भी सुधार किया। उसने इलाहाबाद में एक बोर्ड आफ रेवेन्यू स्थापित किया तथा कमिश्नरों की नियुक्ति की। अभी तक अदालतों में फारसी भाषा का प्रयोग होता था। यह भाषा न तो न्यायाधीशों की समझ में आती थी और न जन-साधारण की। अतः बेंटिक ने उसके स्थान पर उर्दू भाषा का प्रयोग कराना प्रारम्भ किया

शिक्षा—सर्वप्रथम शिक्षा-प्रसार की ओर कम्पनी का ध्यान सन् १८१३ में आकृष्ट हुआ था। उसी वर्ष एक चार्टर ऐक्ट के द्वारा भारतवासियों में शिक्षा-प्रसार के हेतु एक लाख रुपया वार्षिक की स्वीकृति हुई। किसी निश्चित योजना के अभाव में शिक्षा-प्रसार का कार्य तत्काल प्रारम्भ न हो सका। अतः बहुत दिनों तक वह धन एकत्र होता रहा। सर्वप्रथम शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए सन् १८२३ में गवर्नर-जनरल ऐडम्स (Adams) ने पब्लिक इंस्ट्रक्शन्स कमेटी (Public Instructions Committee) की नियुक्ति की। परन्तु ब्रह्मा-युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण इसका कार्य न हो सका। अन्त में विलियम बेंटिक ने आकर पुनः इस दिशा में ध्यान दिया। इस समय तक देश में अनेक कालेज स्थापित हो चुके थे। सन् १८१६ में राजा राममोहन राय के प्रोत्साहन से डैविड हैअर (David Hare)

ने कलकत्ता में एक हिन्दू-कालेज की स्थापना की थी। इसमें योरपीय साहित्य एवं विज्ञान पढ़ने की भी सुविधा थी। लगभग इसी समय कैरी (Carey), मार्शमैन (Marshman) और वार्ड (Ward) नामक पादरियों ने श्रीरामपुर में एक अन्य कालेज की स्थापना की। पूर्व-कथित 'समाचार दर्पण' नामक समाचारपत्र इन्हीं पादरियों का प्रकाशन था। सन् १८२० में एलेक्जेण्डर डफ (Alexander Duff) नामक एक अँगरेज ने कलकत्ते में एक अन्य कालेज स्थापित किया। इन समस्त शिक्षा-केन्द्रों में अभी तक देशी भाषाओं की ही प्रधानता थी। अभी तक अँगरेजी भाषा शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृत न हुई थी। परन्तु इस विषय पर विवाद प्रारम्भ हो गया था। विल्सन (Wilson) आदि विद्वानों का मत था कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ ही होनी चाहिए। ये विद्वान् संस्कृत और अरबी की उन्नति करने के पक्ष में थे। इनके विरुद्ध लार्ड मेकाले (Macaulay) आदि अन्य विद्वान् अँगरेजी भाषा के माध्यम के पक्ष में थे। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् अँगरेजी पक्ष की विजय हुई। वास्तव में इस समय तक अँगरेजी शासन भारतवर्ष में सम्यक् रूप से स्थापित हो चुका था। शासन-कार्य में भाग लेने देने के हेतु यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि भारतवासी अँगरेजों की भाषा को समझें। पुनः अँगरेज कूटनीतिज्ञों ने यह भी समझ लिया था कि भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि यहाँ के निवासी अपनी संस्कृति और सभ्यता को भूलकर अँगरेजी संस्कृति और सभ्यता को ग्रहण कर लें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अँगरेजी भाषा का प्रचार भी आवश्यक समझा गया। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। अँगरेजी भाषा के साथ-साथ अज्ञात रूप से इस देश में अँगरेजी सभ्यता और संस्कृति फैलने लगी और शनैः-शनैः लोग अपनी सभ्यता और संस्कृति को भूलने लगे।

अस्तु, मेकाले के प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप ७ मार्च सन् १८३५ को एक प्रस्ताव पास हुआ जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि शिक्षा-प्रसार के लिए कम्पनी को जो धन स्वीकृत हुआ है, वह केवल अँगरेजी शिक्षा के प्रचार में व्यय किया जाय। यद्यपि संस्कृत और अरबी के कालेज भी रहे, परन्तु धीरे-धीरे उनका महत्त्व कम होने लगा।

भारतवर्ष में अँगरेजी शिक्षा के प्रसार से हानि और लाभ दोनों हुए। जैसा कि

पहले कहा गया है, अँगरेजी शिक्षा के साथ अँगरेजी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार भी होने लगा। इस परिवर्त्तन ने भारतीयों के हृदय में अपनी सभ्यता के प्रति हेय भावना उत्पन्न कर दी। अँगरेजी सभ्यता की चकाचौंध से प्रत्येक भारतीय वस्तु अनादर की दृष्टि से देखी जाने लगी। परिणामस्वरूप भारतीयों की मौलिकता और विचार-स्वतन्त्रता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। पाश्चात्य प्रणाली पर ढला हुआ भारतीय नागरिक प्रत्येक दिशा में—बोल-चाल, खान-पान, पहनावा, विचार आदि में—अँगरेजों का अन्धानुकरण करने लगा। इससे भारतीयता को बड़ा धक्का लगा।

परन्तु कुछ बातों में अँगरेजी शिक्षा लाभकर भी प्रतीत हुई। दूसरी सभ्यता के सम्पर्क में आने पर भारतीयों को अपनी सभ्यता की अनेक त्रुटियाँ एवं अभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगा। शिक्षा-प्रसार से उनका दृष्टिकोण भी विस्तृत होने लगा। अब उन्होंने अपने समाज के अंधविश्वासों एवं कुरीतियों के विरुद्ध विचार प्रकट करना प्रारम्भ किया। इससे कालान्तर में सुधारों का युग प्रारम्भ हुआ। पुनः पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के प्रचार ने भारतीयों में स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना का भी उल्लंघन किया। अब भारतीय धीरे-धीरे अँगरेजों की शासन-नीति और कूटनीतिज्ञता से भी परिचित होने लगे। अतः इसी काल से उसके प्रतीकार के प्रयत्नों का बीजारोपण होता है।

सन् १८३५ में बेंटिक ने कलकत्ते में एक मेडिकल कालेज की स्थापना की। वास्तव में उसका यह कार्य बड़ा ही स्तुत्य रहा। भारतीय जनता पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली से परिचित होने लगी और उसकी उपयोगिता को देखकर धीरे-धीरे अन्यत्र भी मेडिकल कालेज खोले गये।

सती-प्रथा—भारतवर्ष में सती-प्रथा का मूल स्रोत भारतीय महिला की पावन सच्चरित्रता में है। भारतीय महिलाओं का पातिव्रत संसार-प्रसिद्ध है। वे आजीवन अपने पति के प्रति तन-मन से श्रद्धा-विश्वासमयी रहती थीं। पति की मृत्यु के पश्चात् अपनी धर्मपरायणता एवं श्रद्धा का परिचय देते हुए तथा शारीरिक क्लेश और यन्त्रणाओं का उपहास करते हुए धू-धू करती हुई अग्नि-ज्वालाओं में वे अपने कान्त-कलेवर को पति-शव के साथ ही भस्मीभूत कर देती थीं। भारतीय महिला के आत्मोत्सर्ग एवं आत्मसमर्पण की यह परा-

काष्ठा थी। परन्तु कालान्तर में यह प्रथा बड़ी भयावह हो गई। यदि कोई स्त्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती नहीं होती थी, तो उसके चरित्र एवं वंश के लिए यह एक कलंक समझा जाता था। अतः उसके घरवाले कभी-कभी बलात् उसे सती कर देते थे। भारतवर्ष का शिक्षित समुदाय इस दूषित सती-प्रथा के विरुद्ध हो गया। इस सम्बन्ध में राजा राममोहन राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने सती-प्रथा का घोर विरोध किया और उसे जघन्य हत्या के समान ही गर्हित बताया। अँगरेजों के भारत में आने के पूर्व भी अनेक समाज-सुधारकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ था। मुगल-सम्राट् अकबर, पुर्त्तगाली गवर्नर एल्बुकर्क और पेशवा ने सती-प्रथा के बन्द करने का प्रयत्न किया था। परन्तु कानून द्वारा इसका निषेध सर्वप्रथम विलियम बेंटिक ने ही किया। राजा राममोहन राय इत्यादि अनेक हिन्दू-समाज-सुधारकों के प्रोत्साहन से उसने १४ दिसम्बर, सन् १८२९ को इस प्रथा को नियम-विरुद्ध घोषित किया। कुछ कट्टरपन्थी हिन्दुओं ने—विशेषतया बंगाल में—इसका विरोध किया। उन्होंने इस नियम को अपने धर्म पर आघात समझा और उसे रद्द करने के लिए प्रिवी कौंसिल में भी अपील की। परन्तु कुछ परिणाम न हुआ और इस समाजोपयोगी नियम का अधिकांश जनता ने स्वागत किया।

ठगी—जिस समय विलियम बेंटिक गवर्नर-जनरल होकर भारत में आया तो उसने देखा कि भारतीय जन-धन ठगों के अत्याचारों से आक्रान्त है। ठगी कुछ मनुष्यों का पेशा हो गया था। इनके समय में हिंदू-मुसलमान आदि अनेक जाति एवं सम्प्रदाय के लोग सम्मिलित थे। ये लोग झुण्डों में इधर-उधर घूमते थे और अवसर मिलने पर पथिकों को पकड़ते, उनका गला घोंटकर अथवा अन्य प्रकार से उनकी हत्या कर उनके माल-सामान को छीन लेते थे। मार्गों में पुलिस के समुचित प्रबन्ध न होने के कारण ये लोग अपने जघन्य कार्यों को स्वच्छन्दतापूर्वक करते रहते थे। परिणाम यह हुआ कि एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए यात्रा करना खतरनाक हो गया। अतः बेंटिक को इन ठगों के दमन करने के लिए चिन्ता हुई। उसने सर विलियम स्लीमेन (Sir William Sleeman) की अध्यक्षता में एक विभाग की स्थापना की। इस विभाग ने ठगों के सम्बन्ध में सविस्तर सूचनाएँ संकलित कीं। तत्पश्चात् उनका पीछा किया गया। हजारों

ठग पकड़े गये। उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया अथवा कारागार में डाल दिया गया। बन्दियों के चरित्र-सुधार के लिए बेंटिक ने जबलपुर में एक औद्योगिक विद्यालय भी खोला, जहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक जीविका कमाने के लिए शिक्षा दी जाने लगी। इस प्रकार अपनी सुसंगठित योजना के द्वारा विलियम बेंटिक ने ठगों का अन्त कर दिया।

बेंटिक और देशी राज्य—जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है; विलियम बेंटिक ने देशी राज्यों के प्रति अधिकतर तटस्थ नीति का अवलम्ब लिया। कम्पनी की आर्थिक स्थिति ऐसी न थी कि वह अनवरत युद्धों का संचालन कर सकती। पुनः, ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाएँ खूब बढ़ गई थीं। अब उसके सुसंगठन एवं संव्यूहन की आवश्यकता थी। परन्तु सैद्धान्तिक रूप से बेंटिक किसी भी नीति का कट्टर अनुयायी न था। यदि वह देशी राज्यों के सम्बन्ध में अधिकतर तटस्थ रहा, तो इसका कारण परिस्थिति-जन्य आवश्यकता थी। अतः यदि उसे अवसर मिलता और आर्थिक अवस्था उसके अनुकूल होती, तो कदाचित् वह उग्र नीति का भी अनुसरण करता। यह कथन उसके कचार और कुर्ग इत्यादि के हस्तगत करने से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। बात यह थी कि लार्ड वेलेजली ने जिस उग्र अग्रगामी नीति का दृढ़तापूर्वक अनुसरण किया था, वह लार्ड मिण्टो एवं लार्ड हेस्टिंग्ज के समय तक अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। उसके पश्चात् संगठन और संव्यूहन की आवश्यकता थी। परन्तु उस दिशा में अभी तक किसी सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित नीति का आविर्भाव न हो सका था। सुधार एवं शान्ति के वास्तविक युग के आने में अभी देर थी। विलियम बेंटिक के समय की शान्ति कम्पनी की शक्ति-शिथिलता एवं आर्थिक प्रतिकूलता की द्योतक थी। वह किसी सुनिश्चित नीति का परिणाम नही थी।

योरप में टिलसिट की सन्धि के पश्चात् भारतवर्ष पर फ्रांस और रूस के सम्मिलित आक्रमण की सम्भावना बढ़ गई थी। इसके निराकरण के लिए लार्ड मिण्टो का ध्यान भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा की ओर आकृष्ट हुआ था। उसने सीमावर्त्ती राज्यों से मित्रता कर उन्हें अपने पक्ष में करने की चेष्टा की थी। वाटरलू (Waterloo) के युद्ध में नैपोलियन की पराजय के पश्चात्

वह भय कुछ समय के लिए मिट गया था। परन्तु विलियम बेंटिंक के आने तक वह भय एक अन्य रूप में पुनः उपस्थित हो गया।

मैसूर—वेलेजली ने मैसूर-राज्य के सिंहासन पर जिस राजा को बैठाया था, वह नितान्त अयोग्य सिद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि शासन उत्तरोत्तर दोषपूर्ण होने लगा और प्रजा को कष्ट होने लगा। अतः बेंटिक ने सन् १८३१ में उसे गद्दी से उतार दिया और शासन-संचालन के लिए एक अँगरेज कमिश्नर की नियुक्ति की। उसकी सहायता के लिए चार अफसर और नियुक्त किए।

कचार—कचार का राज्य बंगाल के उत्तर-पूर्व में स्थित था। सन् १८३२ में वहाँ के निवासियों ने अँगरेजों की छत्र-छाया में रहने की प्रार्थना की। अतः विलियम बेंटिक ने उसे अँगरेजी साम्राज्य में मिला लिया।

कुर्ग—विलियम बेंटिक के समय में कुर्ग का शासन-प्रबन्ध बहुत खराब हो गया था। उसका राजा नितान्त अयोग्य एवं अत्याचारी था। प्रजा उसके कुप्रबन्ध एवं अन्याय से खिन्न हो गई थी। अतः सन् १८३४ में बेंटिक ने उसे भी अँगरेजी राज्य में मिला लिया।

अवध—इस समय अवध में भी बड़ी अव्यवस्था फैली हुई थी। नवाब प्रायः शासन-कार्य से उदासीन रहता था। उसके वजीर राज्य में मनमानी करते थे जिससे प्रजा को बड़ा कष्ट होता था। अँगरेज रेजीडेण्ट ने इस कुप्रबन्ध की विलियम बेंटिंक से शिकायत की। बेंटिंक ने अवध के नवाब को शासन-सुधार करने की चेतावनी तो दे दी, परन्तु उसके राज्य में विशेष हस्तक्षेप न किया। रूस पर्याप्त सबल था। वह पूर्व की ओर अपने राज्य की सीमा का विस्तार करना चाहता था। उसके इस लक्ष्य ने पुनः भारत में अँगरेजी साम्राज्य के लिए भय उत्पन्न कर दिया था। रूस की सीमा और कम्पनी की पश्चिमीय राज्य-सीमा के बीच में सिन्ध, भावलपुर, सिक्ख-राज्य, अफगानिस्तान और फारस के राज्य स्थित थे। अतः कम्पनी को अपनी सीमा की सुरक्षा के लिए आवश्यक था कि वह इन राज्यों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करे।

इस समय पूर्वीय समस्या (Eastetn Question) के कारण योरप में इँगलैंड और रूस का सम्बन्ध द्वेषपूर्ण था। रूस ने फारस को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेकर अँगरेजों के लिए एक विशेष चिन्ता उत्पन्न कर दी।

भारतवर्ष पर रूस के सम्भावित आक्रमण की अफवाहें चारों ओर फैलने लगीं। अत: अँगरेज अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए विशेष सचेष्ट हो गये। उस समय लार्ड ऐलनबरा बोर्ड आफ कण्ट्रोल का प्रेसीडेण्ट था। उसने भारतीय पश्चिमोत्तर सीमावर्त्ती राज्यों से मैत्री-वार्त्ता चलाने के लिए लेफ्टीनेण्ट राबर्ट बर्न्स (Lt. Robert Burns) को भेजा।

परन्तु उसके आगमन से सिन्ध का अमार और पंजाब के रणजीतसिंह सशंकित हो गये। अत: सन् १८३० में जब बर्न्स उनके राज्य में पहुँचा, तो उसे विशेष सफलता न मिली। ये दोनों राज्य अँगरेजों की कूटनीतिज्ञता से भली भाँति परिचित थे। वे समझते थे कि उनकी मित्रता और शत्रुता समान रूप से घातक है। कहते हैं कि जब बर्न्स सिन्ध में पहुँचा तो वहाँ के एक बलूची सरदार ने कहा था, "विपत्ति आ गई; अँगरेजों ने हमारे देश को देख लिया।" वास्तव में भविष्य की घटनाओं ने उस सरदार के इस कथन को सत्यता को प्रमाणित कर दिया।

विफल मनोरथ होकर बर्न्स सिन्ध से भावलपुर और तत्पश्चात् लाहौर गया। इन स्थानों के अनुभवों को एकत्रित करके वह शिमला पहुँचा और उसने सम्पूर्ण स्थिति की सूचना विलियम बेंटिंक को दी।

सिन्ध से सन्धि—वास्तविक स्थिति को समझकर विलियम बेंटिंक ने सिन्ध से व्यापारिक सन्धि करने के हेतु कर्नल पोटिंगर (Colonel Potinger) को वहाँ भेजा। इसमें एक अन्य कारण भी निहित था। रणजीतसिंह सिन्ध के प्रमुख नगर शिकारपुर पर अधिकार कर लेना चाहता था। परन्तु अँगरेजों की सदैव यह नीति रही है कि देशी राज्यों को समुद्र-तट से जितना अधिक दूर रक्खा जाय उतना ही अच्छा है। वे नहीं चाहते थे कि रणजीतसिंह का अधिकार सिन्ध के समुद्र-तट पर हो। अत: उन्होंने स्वयं सिन्ध के अमीरों से व्यापारिक सन्धि करनी चाही। पहले तो अमीरों ने आना-कानी की, परन्तु अँगरेजों के दबाव और सिक्खों के भय के कारण अन्त में उन्होंने सन् १८३२ में अँगरेजों से एक व्यापारिक सन्धि कर ली।

रूपर-दरबार—इधर जब कर्नल पोटिंगर सिन्ध के अमीरों से सन्धि-वार्त्ता चला रहा था तो उधर विलियम बेंटिक रणजीतसिंह को प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा था। इस समय उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। उसके पास एक सुसज्जित

एवं सुविशाल सेना थी जिसे योरपीय ढंग से सैनिक शिक्षा दी गई थी। सिक्ख अपनी वीरता के लिए तो विख्यात थे ही, अब रणजीतसिंह के कुशल नेतृत्व में वे एक प्रबल शक्ति हो गये। सम्पूर्ण पंजाब उनके अधीन हो गया। उनके राज्य की सीमा सिन्ध के अटक नगर तक हो गई। १८१८ ई० में उन्होंने मुलतान जीत लिया। तत्पश्चात् उनकी विजयिनी सेनाओं ने काश्मीर पर धावा बोला और उसे अपने आधिपत्य में कर लिया। इस विजय के उपलक्ष में राज्य ने लाहौर और अमृतसर में लगातार तीन दिनों तक खूब आमोद-प्रमोद किया। चारों ओर दीपावलि जलाई गई और विजयोत्सव मनाया गया। यह सिक्खों के उत्कर्ष का समय था। तत्पश्चात् सन् १८२३ में रणजीतसिंह ने अफगानों और पठानों पर आक्रमण किया और उन्हें पराजित कर पेशावर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सिक्ख-राज्य खैबर के महत्त्वपूर्ण दर्रे तक पहुँच गया।

रणजीतसिंह की उदीयमान शक्ति से अँगरेज आतंकित हो गये। पुनः उन्हें पश्चिमोत्तर मार्ग से रूस के आक्रमण का भी भय था। अतः अब विलियम बेंटिक ने उसे अपने पक्ष में करने का निश्चित प्रयत्न किया। उसने सन् १८३१ में सतलज नदी के किनारे रूपर नगर में एक भारी दरबार किया। इसमें सिक्ख-नरेश का बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया गया। इसके परिणामस्वरूप दोनों पक्षों ने सन्धि कर ली जिसके अनुसार दोनों ने एक-दूसरे के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार बनाये रखने का वचन दिया।

कम्पनी का आज्ञा-पत्र (सन् १८३३)—सन् १८३३ में कम्पनी को पुनः २० वर्ष के लिए नया आज्ञा-पत्र दिया गया। इसके अनुसार चीन के साथ होने-वाले कम्पनी के व्यापार का एकाधिकार उसके हाथ से निकल गया। अब गवर्नर-जनरल को कौंसिल की सहायता से सम्पूर्ण देश के लिए कानून बनाने का अधिकार मिल गया। उसकी कौंसिल में एक कानून का सदस्य और बढ़ा दिया गया। इस नये पद पर लार्ड मेकाले की नियुक्ति हुई। बम्बई और मद्रास की प्रेसीडेंसियाँ पूर्ण रूप से गवर्नर-जनरल के अधीन कर दी गईं। उन्हें कानून बनाने का अधिकार न रहा। इस आज्ञा-पत्र ने नौकरी के सम्बन्ध में धर्म, जन्म-स्थान, वंश और वर्ण के भेद को हटा दिया। अब राज्य-पद योग्यतानुसार सबके लिए खुल गये।

लार्ड बेंटिंक का चरित्र—सन् १८३५ में लार्ड बेंटिक ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। उसका शासन-काल प्रधानतः सुधार और शान्ति का काल था। पिछले युद्धों के परिणामस्वरूप कम्पनी की आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गई थी। उसे बेंटिक ने अपने सुधारों से ठीक किया। वह पहला गवर्नर-जनरल था, जिसने प्रजा के हित की ओर भी ध्यान दिया। सती-प्रथा एवं ठगी को दूर कर वास्तव में उसने देश का महान् उपकार किया था। गंगा नदी में जहाज चलाने की योजना को सर्वप्रथम उसी ने कार्यान्वित किया था। उसके उदार एवं विस्तृत दृष्टिकोण ने शासन के अनेक अंगों में परिवर्त्तन किया। उसकी सुधारात्मक बुद्धि ने अँगरेजी शासन की रूप-रेखा का परिवर्त्तन करने पर जोर दिया। वह भली भाँति जानता था कि अँगरेजी साम्राज्य को सुदृढ़ करनके हेतु सुशासन की अत्यावश्यकता है। यही कारण है कि उसने अनेक अदालती, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार किए। वास्तव में सुधारों का यह प्रारम्भिक काल था। उसका विकास कालान्तर में हुआ।

अध्याय २४

पश्चिमोत्तर सीमा

(सन् १८३६–४४ ई०)

सर चार्ल्स मेटकाफ—विलियम बेंटिक के पश्चात् सर चार्ल्स मेटकाफ (Sir Charles Metcalfe) गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। वह पहले आगरा-प्रान्त का गवर्नर था। उसके अल्पकालीन शासन-काल की सर्वप्रमुख घटना प्रेस की स्वतन्त्रता है। पहले बताया जा चुका है कि प्रेस की कटु आलोचनाओं से क्षुब्ध होकर कम्पनी के अधिकारियों ने समाचार-पत्रों पर कतिपय प्रतिबन्ध लगा दिये थे। चार्ल्स मेटकाफ इस विषय में अधिक उदार था। वह प्रेस की स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। अतः उसने इन प्रतिबन्धों के हटाने के पक्ष में प्रस्ताव किया। लार्ड मेकाले उस समय उसकी कौंसिल का कानूनी सदस्य (Law member) था। उसने भी गवर्नर-जनरल के विचार का समर्थन किया। अतः सितम्बर सन् १८३५ ई० में एक प्रेस ऐक्ट (Press Act) पास हुआ जिसके द्वारा समाचार-पत्रों के प्रतिबन्ध हटा दिये गये।

चार्ल्स मेटकाफ के पश्चात् माउण्ट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन (Mount Stuart Elphinstone) गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त हुआ; परन्तु अस्वस्थता के कारण उसने इस पद को अस्वीकार कर दिया। तब उसके रिक्त स्थान पर लार्ड आकलैण्ड (Lord Auckland) गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। उसने लगभग ६ वर्ष तक (सन् १८३६-४२) शासन किया।

अफगानिस्तान के प्रति नीति—अफगानिस्तान का देश रूस और भारतवर्ष की सीमाओं के बीच में स्थित है। पहले बताया जा चुका है कि अँगरेजों को पश्चिमोत्तर मार्ग से रूस के सम्भावित आक्रमण का सदैव भय रहता था। अतः जब लार्ड आकलैण्ड गवर्नर-जनरल होकर आया, तो उसने इस भय के दूरीकरण के हेतु अफगानिस्तान को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसने जिस नीति का आश्रय लिया, वह सर्वथा अदूरदर्शितापूर्ण थी। उससे अँगरेजों के धन-जन की भारी हानि हुई।

इस समय अफगानिस्तान में बड़ी अव्यवस्था फैली हुई थी। बरुकजाई-वंशज दोस्त मुहम्मद ने सन् १८२६ में अब्दाली-वंश को पदच्युत कर अफगानिस्तान का सिंहासन प्राप्त किया था। परन्तु उसकी स्थिति सन्तोषजनक न थी। चारों ओर से विपत्तियाँ उसे घेरे हुए थीं। अफगानिस्तान के एक भाग हिरात पर सदोजाई-वंशज कामरान का अधिकार था। कन्धार में इस समय विद्रोह हो गया था। पूर्व की ओर रणजीतसिंह अफगास्नितान के लिए वास्तविक खतरा बन गया था। उसने अफगानों पर आक्रमण कर पेशावर छीन लिया था। उधर अब्दाली-वंश का निर्वासित सरदार शाह शुजा अपने खोये हुए राज्य की प्राप्ति के लिए दोस्त मुहम्मद के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था।

अतः इस संकटापन्न परिस्थिति में दोस्त मुहम्मद के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह अपनी सुरक्षा-हेतु अँगरेजों या रूसियों से सन्धि कर ले। पहले वह अँगरेजों की ओर झुका। इसका एक विशेष कारण था। वह रूस से विशेष सशंकित था। अफगानिस्तान की सीमा फारस की सीमा से मिली हुई थी और इस समय फारस के सिंहासन पर मुहम्मद मिर्जा विद्यमान था, जो रूस का घनिष्ठ मित्र था। दोस्त मुहम्मद को भय था कि कहीं फारस-नरेश की सहायता से रूसी अफगानिस्तान में भी अपने प्रभुत्व-विस्तार की चेष्टा न करें। पुनः कन्धार का सरदार फारस के शाह की सहायता से हिरात प्राप्त करना चाहता था।

इन्हीं सब कारणों से प्रेरित होकर दोस्त मुहम्मद ने अँगरेजों से सन्धि करनी चाही। लार्ड आकलेंड के भारत आने पर मई सन् १८३६ में उसने उसके पास एक बधाई-पत्र भेजा और अपनी चिन्ताजनक स्थिति का उल्लेख करते हुए अँगरेजों की सहायता-प्राप्ति के हेतु इच्छा प्रकट की। परन्तु आकलैण्ड ने तटस्थता का अनुसरण करते हुए उसे कुछ भी सहायता न दी। अतः दोस्त मुहम्मद की स्थिति बड़ी संकटापन्न हो गई।

सन् १८३७ में फारस के शाह ने रूस की सहायता से हिरात पर आक्रमण किया। यह आक्रमण कोई नई बात न थी। फारस और हिरात में बहुत दिनों से शत्रुता चली आ रही थी। परन्तु रूसी आक्रमण के भय ने इस घटना को अत्यधिक राजनीतिक महत्त्व दे दिया। लार्ड आकलैण्ड ने समझा कि रूस हिरात को हस्तगत करने के पश्चात् कदाचित् भारतवर्ष पर भी आक्रमण करे। अतः उसने निश्चित

रूप से अफगानिस्तान को अपने प्रभाव में करने की चेष्टा करना प्रारम्भ किया। ऊपर कहा जा चुका है कि दोस्त मुहम्मद तो पहले से ही अँगरेजों की मित्रता के लिए उत्सुक था; परन्तु इसके बदले में वह चाहता था कि अँगरेज रणजीतसिंह से उसे पेशावर दिला दें और अवसर पड़ने पर फारस और रूस के विरुद्ध उसके राज्य का संरक्षण करें। लार्ड आकलैण्ड किसी प्रकार का वचन न देना चाहता था। वह यह तो चाहता था कि दोस्त मुहम्मद रूस और फारस से विच्छेद कर अँगरेजों के पक्ष में आ जाय, परन्तु उसे पेशावर दिलाने के लिए वह शक्ति-शाली सिक्ख-राज्य से शत्रुता न करना चाहता था। पुनः वह रूस और फारस के विरुद्ध दोस्त मुहम्मद को संरक्षण देकर अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप भी न करना चाहता था।

दोस्त मुहम्मद अँगरेजों की इस स्वार्थपूर्ण नीति से क्षुब्ध हो गया। अतः अब वह रूस की ओर झुका। रूस भी अफगानिस्तान की मित्रता के लिए उत्सुक था। वह इस सन्धि के द्वारा अँगरेजों को भयभीत कर उन्हें पूर्वी समस्या में संलग्न कर योरपीय राजनीति से विमुख करना चाहता था। अतः शीघ्र ही उसने अफगानिस्तान से सन्धि कर ली और अपना राजदूत काबुल भेजा।

लार्ड आकलैण्ड को जब यह समाचार मिला तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अफगानिस्तान के विरुद्ध उग्र कार्यवाही करने का निश्चय किया। इस ध्येय की पूर्त्ति के लिए रणजीतसिंह की सहायता आवश्यक थी। अतः २६ जून, १८३८ में आकलैण्ड ने उसके साथ एक सन्धि की जिसके अनुसार दोस्त मुहम्मद को पदच्युत कर निर्वासित शाहशुजा को पुनः सिंहासनस्थ करने की योजना बनाई गई। शाहशुजा ने स्वीकार किया कि यदि उसे अफगानिस्तान का राज्य मिल गया तो वह रणजीतसिंह और अँगरेजों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लेगा और उन दोनों की इच्छा के विरुद्ध किसी भी विदेशीय शक्ति से सन्धि-वार्त्ता न करेगा। पुनः उसने अपने राज्य में अँगरेज दूत रखना भी स्वीकार किया। उसने हिरात की स्वतन्त्रता और अफगानिस्तान के जीते हुए प्रदेश पर रणजीतसिंह का अधिकार भी मान लिया। रणजीतसिंह को शिकारपुर तो न मिल सका, परन्तु उसकी क्षति-पूर्त्ति के हेतु उसे ५० लाख रुपया दिया गया। इस प्रकार त्रिदल-सन्धि के पश्चात् लार्ड आकलैण्ड ने अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

लार्ड आकलैण्ड की अफगान-नीति बड़ी ही दोषपूर्ण एवं अन्यायपूर्ण थी। अफगानिस्तान एक स्वतन्त्र देश था। अँगरेजों के लिए उसके शासक को पदच्युत कर दूसरे व्यक्ति को स्थानापन्न करना अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के विरुद्ध था। पुनः दोस्त मुहम्मद एक योग्य शासक था। अफगान प्रजा उससे प्रसन्न थी। उधर शाह-शुजा, जिसे अँगरेज अफगानिस्तान का शासक बनाना चाहते थे, सर्वथा अयोग्य, स्वार्थी एवं मन्दबुद्धि व्यक्ति था। अफगानिस्तान की प्रजा उसके विरुद्ध थी। अतः उसका पक्ष लेकर आकलैण्ड ने अफगान लोकमत की उपेक्षा की। सामयिक दृष्टि से भी आकलैंड की उग्र नीति का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। ९ सितम्बर, १८३८ को हताश होकर फारस ने हिरात का घेरा उठा लिया था। अतः अब अफगानिस्तान अथवा भारतवर्ष के लिए रूसियों का भय भी जाता रहा था। इस परिवर्तित परिस्थिति में अफगानिस्तान के ऊपर अँगरेजी आक्रमण का उचित कारण न रह गया था। परन्तु आकलैण्ड अपनी पूर्वनिर्धारित नीति पर दृढ़ रहा। उसने दोस्त मुहम्मद को पदच्युत कर अफगानिस्तान में कठपुतली सरकार स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। वास्तव में यदि देखा जाय तो दोस्त मुहम्मद पूर्ण रूप से निरपराध था। उसने अँगरेजों से सन्धि करने की पूरी चेष्टा की थी। परन्तु आकलैण्ड की स्वार्थपूर्ण, द्विविधाजनक एवं अनिश्चयात्मक नीति से ऐसा न हो सका। अँगरेजों की ओर से हताश होकर दोस्त मुहम्मद का रूस की ओर झुकना स्वाभाविक था।

अस्तु, उचित-अनुचित का विचार किए बिना आकलैण्ड ने नवम्बर १८३८ में फिरोजपुर नगर में एक विशाल अँगरेजी सेना एकत्रित की। अँगरेज सेनापति सर हेनरी फेन (Sir Henry Fane) आकलैण्ड की अन्याय-पूर्ण नीति का विरोधी था। उसने अस्वस्थता के आधार पर आक्रमण का नेतृत्व करना अस्वीकार कर दिया। अतः आकलैण्ड ने बम्बई के सर जान कीन (Sir John Keane) को आक्रमणकारिणी सेना का सेनापति बनाया।

प्रथम अफगान-युद्ध—अँगरेजी सेना ने सिन्ध से होकर अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। उसका यह कार्य सिन्ध के अमीरों के साथ की गई सन्धि के विरुद्ध था। परन्तु आकलैण्ड अमीरों की निर्बलता को जानता था। अतः वह इस सन्धि-विरुद्ध कार्य के करने में तनिक भी न हिचका। शीघ्र ही अँगरेजी सेना

ने भक्कर पर अधिकार कर लिया। अमीरों ने जब इसका विरोध किया, तो अँगरेजों ने उनके व्यवहार को शत्रुतापूर्ण घोषित किया और उन्हें दण्डित करने का निश्चय किया। अमीरों से कहा गया कि तुमने ३० वर्षों से निर्वासित शाह शुजा को कर नहीं दिया है। अतः तत्काल उसकी पूर्त्ति के लिए २५ लाख रुपया दो। पुनः उनसे कहा गया कि यह अँगरेजों का आपत्तिकाल है। अतः वे उनके साथ की गई किसी भी पुरानी सन्धि को मानने के लिए बाध्य नहीं। अन्याय और अनौचित्य की पराकाष्ठा थी। इस प्रकार की अँगरेजों की धाँधली सर्वथा निन्दनीय था। बेचारे अमीर क्या करते। विवश होकर उन्हें अँगरेजों की शर्तों को स्वीकार करना पड़ा।

तत्पश्चात् अँगरेजी सेना बोलन दर्रे को पार करती हुई २६ मार्च १८३९ को क्वेटा पहुँची। अप्रैल मास में शाह शुजा कन्धार में प्रविष्ट हुआ। अफगान सरदार तो पहले से ही उसके विरुद्ध थे। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उसने अपने स्वार्थ के लिए देश की स्वतन्त्रता अँगरेजों के हाथ बेच दी है और उन्हीं की संगीनों के बल पर उनके ऊपर शासन करना चाहता है, तो उनके असन्तोष की सीमा न रही। सारा मामला बिगड़ते देख अँगरेजों ने कूटनीतिज्ञता से काम लिया। उन्होंने घूस के रूप में प्रचुर धन देकर असन्तुष्ट सरदारों का मुँह बन्द कर दिया और अपनी योजना को कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया। अँगरेजी सेना ने जुलाई मास में गजनी हस्तगत कर लिया और ७ अगस्त १८३९ में वह काबुल में प्रविष्ट हुई। भयभीत होकर दोस्त मुहम्मद चार दिन पूर्व ही भाग गया था। अतः अँगरेजों को विशेष विरोध का सामना न करना पड़ा। शाहशुजा को राज्य तो प्राप्त हुआ, परन्तु जनता ने उसका स्वागत न किया। अफगान-प्रजा में उसके प्रति तनिक भी सम्मान और हर्ष न था। चतुर्दिक उदासीनता के कारण उसका राजधानी प्रवेश एक जनाजे के समान प्रतीत हुआ। नवम्बर मास में दोस्त मुहम्मद ने आत्मसमर्पण कर दिया और वह बन्दी के रूप में कलकत्ता भेज दिया गया। इस प्रकार कुछ समय के लिए अँगरेजों को शान्तिपूर्वक पूर्ण सफलता मिल गई।

परन्तु यह शान्ति आगामी तूफान की द्योतक थी। अँगरेजों को पूर्ण रूप से यह ज्ञात हो गया था कि शाहशुजा में तनिक भी लोकप्रियता नहीं है और उनकी संगीनों के बिना उसका राजत्व कायम रखना असम्भव है। अब अफगानिस्तान

लड़ाईयाँ = हिरात ※

अफगान-युद्ध

से वापस जाना उपहासास्पद था, परन्तु वहाँ रहना भी खतरे से खाली न था। अतः अन्त में यह निश्चित हुआ कि शाहशुजा की सुरक्षा के लिए १०,००० की सेना को अफगानिस्तान में छोड़कर अँगरेज वापस लौट जायँ।

जून, १८३९ में रणजीतसिंह की मृत्यु से अँगरेजों की स्थिति और भी अधिक चिन्ताजनक हो गई। रणजीतसिंह के पश्चात् उसका पुत्र खड़गसिंह सिक्ख-राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने अँगरेजी सेना को अपने राज्य से गुजरने की आज्ञा न दी। खैबर दर्रा अरक्षित था, उधर पंजाब का द्वार भी अँगरेजों के लिए बन्द हो गया। अतः अब अफगानिस्तान के अँगरेज भारतवर्ष से सुगमता-पूर्वक सम्बन्ध एवं सम्पर्क स्थापित न कर सकते थे। अफगानिस्तान में उत्तरोत्तर उनका विरोध बढ़ रहा था। घूस ने अफगान-सरदारों का मुँह बन्द कर दिया था। परन्तु उन्हें जैसे ही रुपया मिलना बन्द हुआ वैसे ही विद्रोह के लक्षण भी दृष्टि-गोचर होने लगे। अँगरेज पदाधिकारियों की चरित्रहीनता एवं भ्रष्टाचारिता ने उनकी स्थिति और भी खराब कर दी।

सन् १८४१-४२ की दुर्घटना--शीघ्र ही असन्तोष पराकाष्ठा पर पहुँच गया। नवम्बर, १८४१ को लगभग १०० अफगानों ने अँगरेज राजदूत बर्न्स (Burnes) के घर पर धावा बोला और उसकी बोटी-बोटी काट डाली। फिर क्या था, चारों ओर विद्रोह की आग भड़क उठी। दोस्त मुहम्मद के पुत्र मुहम्मद अकबर खाँ ने इसका नेतृत्व किया। अँगरेज सेनापतियों की अकर्मण्यता से स्थिति और भी बिगड़ गई। २३ नवम्बर, १८४१ को अफगानों ने बमरू नामक स्थान पर अँगरेजों को बुरी तरह परास्त किया। हताश होकर अँगरेजी सेनापति मैकनाटन (Macnaughten) को मुहम्मद अकबर खाँ के साथ ११ दिसम्बर को एक अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। इसके अनुसार अँगरेजों ने अफगानिस्तान मे अपनी सम्पूर्ण सेनाएँ हटा लेने तथा दोस्त मुहम्मद एवं अन्य बन्दी अफगानों को मुक्त कर देने का वचन दिया। शाह-शुजा के लिए दो मार्ग निर्धारित किये गये। या तो वह भारतवर्ष भेज दिया जाय या पेंशन लेकर अफगानिस्तान में ही रहने दिया जाय। इधर अफगानों ने वचन दिया कि वे अपने सरदारों के संरक्षण में अँगरेजी सेना को सीमा पार करा देंगे। इसी बीच में मैकनाटन का वध कर दिया गया। इससे सन्धि के कार्यान्वित

किसी अन्य व्यक्ति को सिंहासनारूढ़ करना नितान्त अदूरदर्शितापूर्ण था। लोक-मत के विरोध के समक्ष किसी भी व्यक्ति का शासन अधिक समय तक नहीं चल सकता। पुनः पर्वतीय प्रदेश में सैनिक कार्यवाही करना कठिन था। अँगरेजों को यातायात का मार्ग पंजाब से न मिल सका। अतः उन्हें और भी अधिक कठि-नाई उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान में जितने भी अँगरेजी पदाधि-कारी थे, वे सब दूरदर्शितारहित थे। किसी में भी समयानुकूल कार्य करने की क्षमता न थी। अतः ऐसी दशा में सुफल की आशा करना व्यर्थ था।

इस प्रकार अँगरेजों की अफगान-नीति पूर्ण रूप से असफल रही। इससे उन्हें प्रचुर धन-जन की क्षति पहुँची। अँगरेज अफगानिस्तान को मित्र-राज्य बनाना चाहते थे, परन्तु इस ध्येय की पूर्त्ति के लिए उन्होंने जिन साधनों का अवलम्ब लिया, वे नितान्त मूर्खतापूर्ण थे। अतः उनका परिणाम सर्वथा प्रतिकूल हुआ। अफगानिस्तान अँगरेजों का घोर शत्रु हो गया। यही कारण है कि अनेक इतिहासकारों का कथन है कि अँगरेजों की इस असफलता के समान इतिहास में अन्य उदाहरण दुर्लभ हैं।

सिंध—अफगान-युद्ध के संबंध में सिंध का उल्लेख किया जा चुका है। सिद्धान्तः सिन्ध अफगानिस्तान के आश्रित था, परन्तु वास्तव में वह एक स्वतन्त्र राज्य की भाँति कार्य करता था। सम्पूर्ण सिन्ध तीन अमीरों के राज्यों में विभक्त था—खैरपुर, मीरपुर और हैदराबाद। ये अमीर स्वतन्त्र थे। अँगरेजों ने भी इनकी स्वतन्त्रता को मानकर इनसे अलग-अलग सन्धियाँ की थीं। पहले बताया जा चुका है कि अफगानिस्तान के युद्ध के समय लार्ड आकलण्ड ने उनकी आन्त-रिक राजनीति में हस्तक्षेप किया था। सन् १८३९ में उन्हें अँगरेजों के साथ एक सहायक सन्धि करनी पड़ी। इसके अनुसार उन्होंने अपने पारस्परिक झगड़ों में अँगरेजों को पंच बनाया एवं ३ लाख रुपया देना स्वीकार किया। भक्कर, कराची और सक्खर पर अफगान-युद्ध के समय तक अँगरेजों का अधिकार हो गया। पुनः इस युद्ध में अमीरों से अन्य प्रकार की सहायता लेने का विचार भी अँगरेजों ने प्रकट कर दिया। समस्त अफगान-युद्ध में सिन्ध अँगरेजों के लिए सामग्री-प्रदान-केन्द्र बन गया। अफगान-युद्ध में अँगरेजों को शोचनीय विफलता मिली। उसकी क्षति-पूर्त्ति के हेतु उनकी कलुषित दृष्टि सिन्ध की ओर आकृष्ट हुई। वास्तव में

अँगरेजों का यह व्यवहार अन्यायपूर्ण था। अँगरेज जानते थे कि सिन्ध में विरोध करने की शक्ति नहीं। अतः अब वे उसे हस्तगत करना चाहते थे। एक बात और थी। इस समय अफगानिस्तान अँगरेजों का कट्टर विरोधी था। उधर रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्ख-राज्य की नीति भी परिवर्तित हो चली थी। अतः अब अँगरेजों को अपने राज्य की सीमा सुरक्षित करने की चिन्ता हुई। इसके लिए उन्हें बोलन दर्रे पर आधिपत्य जमाना आवश्यक था। यदि उत्तरी सिन्ध पर उनका अधिकार हो जाय, तो वे गजनी और कन्धार के द्वार से होकर आनेवाले आक्रमण को भली भाँति रोक सकेंगे।

अतः अब सिन्ध पर अधिकार करने के लिए वे किसी बहाने को ढूँढ़ने लगे। इतिहास में पुनः एक बार भेड़िया और मेमने की कहानी दुहराई गई। कतिपय बनावटी और जाली पत्रों के आधार पर अमीरों पर अँगरेजों के प्रति शत्रुता-पूर्ण भावना रखने का आरोप लगाया गया। अतः अब अँगरेजों ने उनसे नई सन्धि करने का स्वाँग रचा। अमीरों के साथ अलग-अलग वार्त्ता करने की प्रथा छोड़ दी गई और एक का अपराध सबका अपराध समझा गया। अँगरेजों ने अपने कलुषित ध्येय को कार्यान्वित करने के लिए सर चार्ल्स नेपियर (Sir Charles Napier) को सिन्ध भेजा। उसने घोषित किया कि अमीरों पर लगाए हुए सारे आरोप सत्य है। उसके उग्र व्यवहार को देखकर अमीर भयभीत हो गये। नवम्बर, १८४२ में उन्हें विवश होकर अँगरेजों के साथ नई सन्धि करनी पड़ी। इसके अनुसार अमीरों का मुद्रण-अधिकार जाता रहा और उन्हे अँगरेजों को कतिपय प्रदेश देने का वचन देना पड़ा। एक ओर तो नेपियर ने इस सन्धि का लिखित विवरण अमीरों के पास भेजा और दूसरी ओर अँगरेजी शक्ति का परिचय देने के हेतु उसने उनके ईमानगढ़ के किले पर आक्रमण कर उसे हस्तगत कर लिया। तत्पश्चात् विरोध होते न देखकर वह उड़ा दिया गया। अँगरेजों की यह धाँधली देखकर अमीर सशंकित हो गये। उनके धैर्य का अन्त हो गया। प्रतिकार की भावना से क्षुब्ध होकर उन्होंने अँगरेज प्रतिनिधि आउट्रम (Outram) से हैदराबाद छोड़ देने के लिए कहा। उसके इनकार करने पर बलूचियों ने रेजीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। नेपियर तो ऐसे अवसर की ताक में था ही, उसने तत्काल सिन्ध के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। १७ फरवरी

सन् १८४३ को मियानी के युद्ध में अमीरों की पराजय हुई। २४ मार्च को हैराबाद के युद्ध में और ४ अप्रैल को अमरकोट के युद्ध में भी अँगरेजों की विजय हुई। अमीरों की प्रतिरोध-शक्ति टूट गई। अगस्त, १८४३ को एलिनब्रा ने सम्पूर्ण सिन्ध को अँगरेजी साम्राज्य में मिला लेने की घोषणा की। अली मुराद नामक जिस व्यक्ति ने अपने राज्य के साथ विश्वासघात कर अँगरेजों को सहायता दी थी, उसे खैरपुर का प्रदेश मिला। अमीरों का राज्य-निष्कासन कर दिया गया। नेपियर को पारितोषिक के रूप में ७०,००० पौंड एवं सिन्ध का गवर्नर-पद प्राप्त हुआ।

अँगरेजों ने जिस धाँधली के साथ सिन्ध को हस्तगत किया, वह सर्वथा निन्दनीय थी। भारतवर्ष में अँगरेजों के अनेक काले कारनामों के बीच में उनका सिन्ध पर अधिकार करना अत्यधिक अन्यायपूर्ण था। स्वार्थ-सिद्धि के लिए अंगरेजों ने सारी नीति एवं औचित्य का बहिष्कार कर दिया और निरपराध अमीरों पर अनेक असत्य एवं तथ्यहीन आरोप लगाकर 'भेड़िया और मेमना' की कहावत सिद्ध कर दी।

आन्तरिक शासन—आन्तरिक शासन अथवा सुधार की दृष्टि से सन् १८३६ और १८४४ के बीच में कोई भी विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। इस समय विलियम बेंटिक के समय की ही शासन-व्यवस्था जारी रही। हाँ, शिक्षा-प्रसार को कुछ प्रोत्साहन अवश्य मिला। मद्रास और बम्बई में दो मेडिकल कालेजों की स्थापना की गई तथा सरकारी स्कूलों में कुछ छात्र-वृत्तियाँ देने की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार लौकिक भाषाओं की उन्नति में भी कुछ धन व्यय किया गया।

देशी राज्यों के प्रति अँगरेजों की नीति अधिकाधिक उग्र हो रही थी। उनकी प्रवृत्ति किसी न किसी बहाने उन्हें हस्तगत कर अँगरेजी साम्राज्य का विस्तार करने की ओर थी। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भी इसी नीति का समर्थन किया था। अपने आदेश-पत्रों में उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि उचित अवसर मिलने पर कम्पनी देशी राज्यों को हस्तगत करने में कभी न चूके। इसी नीति का पूर्ण विकास लार्ड डलहौजी के समय में हुआ था। सन् १८३६-४४ के काल में इस नीति का स्पष्ट प्रादुर्भाव हो रहा था। मन्दवी, जालौन और कोलब के नरेशों के पुत्र गोद लेने के अधिकार को अस्वीकृत कर एवं इसी आधार पर उन्हें

अँगरेजी राज्य में मिलाकर लार्ड आकलैण्ड ने उसी नीति का अनुसरण किया था। पुनः कर्नूल के राजा पर अँगरेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का आरोप लगाया गया और बिना उसकी सत्यता प्रमाणित किए हुए उसका राज्य छीन लिया गया। इसी प्रकार का आरोप सतारा के राजा पर भी लगाया गया और उसे सिंहासन-च्युत कर उसके भाई शाहजी को राजा बनाया गया।

तत्पश्चात् आकलैण्ड का ध्यान इन्दौर और अवध के बड़े राज्यों की ओर गया। इन्दौर के राज्य में हस्तक्षेप करने के लिए कुशासन और कुव्यवस्था का बहाना ढूँढा गया। अँगरेजों की चेतावनी से हरीराव होलकर भयभीत हो गया और उसने अँगरेजों के एक निजी व्यक्ति को अपना मन्त्री बनाना स्वीकृत कर लिया।

अवध-राज्य में इस समय सिंहासन के लिए झगड़ा चल रहा था। मृत नवाब का चाचा मुहम्मद अली स्वयं नवाब बनना चाहता था। आकलैण्ड ने हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर देखा। उसने मुहम्मद अली को सैनिक सहायता देकर अवध के सिंहासन पर आसीन कर दिया। नये नवाब ने १,६०,००० पौंड के व्यय पर अपने राज्य में एक अँगरेजी सेना रखना स्वीकार किया। अँगरेजों को यह भी अधिकार मिल गया कि कुशासन होने पर वे शासन-कार्य अपने हाथ में कर सकते हैं। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने इस अनुचित हस्तक्षेप का विरोध किया, परन्तु लार्ड आकलैण्ड ने अपनी नीति में कोई परिवर्त्तन न किया।

ग्वालियर और एलिनबरा—भारतवर्ष में सतलज के पूर्व में ग्वालियर ही एक ऐसा देशी राज्य था, जिसे किसी सीमा तक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली कह सकते हैं। उसके पास ४०,००० सैनिकों की एक सुसंगठित सेना एवं २०० बन्दूकें थीं। उसकी सैनिक शक्ति को देखकर आकलैण्ड का उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरल लार्ड एलिनबरा भयभीत हो गया। उसे भय था कि कहीं पंजाब के सिक्खों के ७०,००० सैनिक इन ४०,००० सैनिकों से मिलकर अँगरेजों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही न कर बैठें। इस समय तक सिक्ख अँगरेजों की कूटनीति से क्षुब्ध हो चुके थे। एलिनबरा जानता था कि कभी न कभी सिक्खों के साथ अँगरेजों का युद्ध अवश्यम्भावी है। उस अवसर पर कहीं ग्वालियर-राज्य सिक्खों की सहायता न करे, इस भय से आक्रान्त होकर एलिनबरा ने पहले उसी की ओर ध्यान दिया।

फरवरी, १८४३ में जनकोजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था। अतः उसकी विधवा स्त्री ताराबाई ने, जिसकी अवस्था केवल १३ वर्ष की थी, जयाजीराव नामक एक ८ वर्ष के लड़के को गोद लिया। परन्तु उसका संरक्षक कौन हो, इस प्रश्न पर विवाद उठ खड़ा हुआ। एलिनबरा कृष्णराव कदम नामक एक व्यक्ति को जो मामा साहब के नाम से प्रसिद्ध था, उसका संरक्षक बनाना चाहता था। उसका विचार था कि अपना पक्षपाती संरक्षक होने पर ग्वालियर की शासन-सत्ता स्वयं मेरे हाथ में आ जायगी। मराठा-सरदार इस कूट-नीति से भली भाँति परिचित थे। अतः वे इस व्यवस्था के विरोधी हो गए। वे शासन-कार्य चलाने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना करना चाहते थे। परन्तु यदि एलिनबरा केवल एक ही संरक्षक नियुक्त करता, तो उनकी इच्छा थी कि वह पद दादा खासगीवाला को दिया जाय। परन्तु एलिनबरा ने इसका विरोध किया। परन्तु जब मराठा सरदारों ने उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य किया, तो वह आगबबूला हो उठा। उसने ग्वालियर से अपना रेजीडेंट वापस बुला लिया और युद्ध की तैयारी की। सर ह्यू गफ (Sir Hugh Gough) के नेतृत्व में एक सेना ग्वालियर भेजी गई। ग्वालियर की रानी ने न्याय एवं औचित्य के नाम पर बहुत-कुछ अनुनय-विनय की, परन्तु उसका कुछ परिणाम न हुआ। स्वार्थान्ध अँगरेजों ने उसके राज्य पर आक्रमण कर ही दिया। मराठों के सामने युद्ध करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। महाराजपुर और पनियार के युद्धों में अँगरेजों ने उन्हें पराजित कर दिया। अन्त में विवश होकर मराठों को सन्धि करनी पड़ी। इसके अनुसार उनकी सेना की संख्या घटाकर ९,००० कर दी गई। ग्वालियर में राज्य के खर्च पर १०,००० सैनिकों की एक अँगरेजी सेना रक्खी गई। जयाजीराव की अल्पावस्था तक शासन-कार्य चलाने के लिए एक मन्त्रि-मण्डल का निर्माण किया गया। इस प्रकार ग्वालियर-राज्य की शक्ति भी तोड़ दी गई।

एलिनबरा की अफगान-नीति से तो डाइरेक्टर्स असन्तुष्ट थे ही, उसके सिन्ध एवं ग्वालियर के युद्धों से वे और भी खिन्न हो गये। अनवरत युद्ध-नीति ने उन्हें भयातुर कर दिया, अतः जून, १८४४ में उन्होंने एलिनबरा को वापस बुला लिया। उसके पश्चात् लार्ड हार्डिंज गवर्नर-जनरल होकर आया।

अध्याय २५

सिक्ख-राज्य—उत्कर्ष और पतन

सिक्ख-राज्य—सिन्ध-आधिपत्य के पश्चात् अँगरेजों के समक्ष केवल पंजाब का सिक्ख-राज्य ही एक स्वाधीन एवं शक्तिशाली देशी राज्य रह गया था। पहले संकेत किया जा चुका है कि परिस्थिति से लाभ उठाकर गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों के धार्मिक सम्प्रदाय को एक सैनिक संगठन में परिवर्तित कर दिया था। यह संगठन उत्तरोत्तर बढ़ता गया और अन्त में महाराणा रणजीतसिंह के कुशल नेतृत्व में इसने एक शक्तिशाली सिक्ख-राज्य का रूप ले लिया। सिक्खों की उदीयमान शक्ति को देखकर अँगरेज सशंकित हो गये। उनकी शंका का एक विशेष कारण था। रणजीतसिंह के राज्य की पूर्वी सीमा सतलज नदी तक आ चुकी थी। अब वह उसे पारकर पंजाब के पूर्व में स्थित छोटे-छोटे राज्यों को हस्तगत करना चाहता था। ये राज्य सिक्ख-राज्य और अँगरेजी राज्य के बीच में स्थित थे। यदि रणजीतसिंह का अधिकार इन पर हो जाता, तो उसके राज्य की पूर्वी सीमा अँगरेजी राज्य की सीमा से मिल जाती और इस प्रकार अँगरेजों के लिए एक महान् संकट उत्पन्न हो जाता। इस खतरे को दूर करने के लिए ही लार्ड मिण्टो ने रणजीतसिंह से सन् १८०९ में अमृतसर की सन्धि की थी। इस सन्धि के अनुसार रणजीतसिंह ने वचन दिया था कि वह सतलज नदी के पूर्व में अपना राज्य-विस्तार न करेगा। उसने आजन्म इस सन्धि का पालन किया। वास्तव में अमृतसर की सन्धि अँगरेजों की एक महान् कूटनीतिक सफलता थी। इसने सिक्ख-राज्य को सतलज तक सीमित कर दिया। परन्तु रणजीतसिंह इससे हतोत्साहित न हुआ। अब उसने अपना राज्य-विस्तार पश्चिमोत्तर दिशा में करना प्रारम्भ किया। गोरखों से उसने काँगड़ा छीन लिया और सन् १८१३ में अफगानिस्तान पर आक्रमण कर अटक हस्तगत कर लिया। अफगानिस्तान की आन्तरिक अव्यवस्था से लाभ उठाने के ध्येय से उसने उसके निर्वासित शाह

शुजा को सन् १८१४ में लाहौर में शरण दी और उसका कोहनूर हीरा अपने अधिकार में कर लिया। सन् १८१८ में उसने मुलतान जीता और सन् १८१९ में काश्मीर। चार वर्ष पश्चात् पेशावर भी उसके आधिपत्य में आ गया। काश्मीर और पेशावर दोनों अफगानिस्तान के प्रदेश थे। उनके निकल जाने से उसे बड़ी क्षति पहुँची। रणजीतसिंह सिंध को भी हस्तगत करना चाहता था, परन्तु अँगरेजों की कूटनीतिज्ञता से वह ऐसा न कर सका। सन् १८३९ में जब वह मरा तो उस समय सिक्ख-राज्य एक विशाल एवं शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित हो चुका था।

रणजीतसिंह का चरित्र—रणजीतसिंह एक कुशल संगठन-कर्त्ता था। एक मिसिल के छोटे से भू-प्रदेश को विशाल राज्य के रूप में संगठित कर उसने अपनी अद्‌भुत कार्य-क्षमता का ज्वलन्त प्रमाण दिया था। वह देखने में सुन्दर न था। उसका कद छोटा था। बाल्यावस्था में चेचक से उसकी एक आँख नष्ट हो चुकी थी। परन्तु इतना होते हुए भी उसमें एक विचित्र प्रभावोत्पादकता थी। जो मनुष्य उसके सम्पर्क में आता था वही उसके उच्च व्यक्तित्व से आकृष्ट हो जाता था। उसके अदम्य साहस को देखकर बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों के छक्के छूट जाते थे। उसकी वीरता, दृढ़ता एवं कार्य-निपुणता ने उसे अपने सैनिकों का प्रशंसा-पात्र बना दिया था। उसके सैनिक उसके प्रति असीम स्नेह और श्रद्धा रखते थे और उसके इंगित-मात्र पर अपने प्राणों की बाजी लगा देते थे। उसने अपनी सेना का संगठन पाश्चात्य-प्रणाली पर किया। अँगरेजी कम्पनी की सेनाओं का भी उसने सूक्ष्म निरीक्षण किया था। कवायद और अनुशासन से वह खूब प्रभावित हुआ था। अतः उसने उनकी प्रणाली का ही अनुसरण किया था। उसके सैनिक संगठन-कार्य में फ्रांसीसी जनरल वेण्टुरा (Ventura), एलार्ड (Allard), कोर्ट (Court) आदि ने भी सराहनीय योग दिया था। इस प्रकार योजना-मिश्रित परिश्रम और निरीक्षण से सिक्ख सेना अत्यधिक संगठित एवं बलवती हो गई थी। उसे देखकर बड़े-बड़े शत्रुओं के दिल भी दहल जाते थे।

वीर सैनिक होने के साथ-साथ रणजीतसिंह एक कूटनीतिज्ञ भी था। अपनी हित-पूर्त्ति के लिए वह किसी भी साधन का अवलम्ब ले सकता था। उसका विचार था कि राजनीति में सत्य एवं सदाचार के लिए कम स्थान है। देश और जाति

का कल्याण सर्वोपरि है। इसकी सिद्धि के लिए अनुचित अवलम्बों का भी उपयोग किया जा सकता है। परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में वह विशेष उदार था। वह दूसरे धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का बर्ताव करता था। यद्यपि वह कट्टर सिक्ख था, तथापि उसने कभी किसी को धर्म-परिवर्त्तन के लिए विवश नहीं किया। समकालीन नरेशों की भाँति वह भी शराब पीता था और भोग-विलास का प्रेमी था। परन्तु उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि किसी प्रकार भी राज्य-कार्य में बाधक न होती थी। यद्यपि वह स्वयं पढ़ा-लिखा न था, तथापि विद्वानों का आदर करता था और अपने राज्य में शिक्षा-प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहता था। इतिहास से उसे विशेष रुचि थी और उसे लिखाने के लिए वह प्रायः विद्वानों को धन-वचन से प्रोत्साहित करता था। वह प्रतिभाशाली व्यक्ति था और काल की गति को भली भाँति समझता था। वह अच्छी तरह जानता था कि अँगरेजों की अपेक्षा उसकी शक्ति दुर्बल है। अतः अपने स्वार्थों एवं अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए भी उसने उनसे कभी भी वैर न किया। यही कारण है कि सिन्ध और शतलज के पूर्व के राज्यों को हस्तगत करने की तीव्र इच्छा रखते हुए भी वह अँगरेजों के समक्ष दब गया।

शासन प्रबन्ध---रणजीतसिंह का शासन-प्रबन्ध अच्छा था। उसकी प्रजा सुखी थी। वह अपने किसानों एवं सैनिकों के सुख-दुख का विशेष ध्यान रखता था। सारी भूमि सरदारों में विभक्त थी। वे किसानों से उपज के अनुसार लगान वसूल कर राज्य को अपनी मालगुजारी देते थे। किसानों से उपज का $\frac{1}{3}$ भाग से $\frac{1}{2}$ भाग के बीच में लगान लिया जाता था। इसके अतिरिक्त राज्य को अन्य 'अब्वाब' (करों) से भी पर्याप्त आय थी। कर्दार नामक पदाधिकारी लगान वसूल करने का कार्य करते थे। उनकी सहायता के लिए मुकद्दम, पटवारी और कानूनगो नामक अन्य कर्मचारी भी थे। इन्हें निश्चित वेतन दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें कुल वसूली का ५वाँ अंश मिलता था। इन लोगों का कार्य-क्षेत्र अनेक गाँवों (मौजों) तक विस्तृत था। राज्य में लिखित कानून न थे। अतः गाँवों की पंचायत परम्परागत रीति-रिवाजों एवं सामाजिक प्रथाओं के अनुसार ही मुकदमों का फैसला करती थीं। शहरों में कर्दार न्यायाधीश का कार्य करते थे। भिन्न-भिन्न विभागों से सम्बन्धित मुकदमों का निर्णय स्वयं राज्य-

मन्त्री करते थे। राज्य का सबसे बड़ा न्यायाध्यक्ष स्वयं महाराजा था, जो लाहौर के अपने दरबार के अपीलें सुनता था। राज्य का दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। प्रायः लोगों को अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था। जुर्माना करना तो साधारण बात थी। घूस और भ्रष्टाचार के मामले स्वयं महाराजा के पास जाते थे और वह अभियुक्तों को कठोर दण्ड देता था। वह प्रायः अपने उच्च पदाधिकारियों को राज्य के विभिन्न भागों में दौरा करने के लिए भेजता था।

रणजीतसिंह निरंकुश शासक था। उसके आदेश के बिना राज्य का कोई भी कार्य न हो सकता था। वह स्वयं राज्य के प्रत्येक विभाग की देख-रेख रखता था। सैनिक शासन होने के कारण राज्य में उल्लेखनीय सुधार तो न हो सके; परन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था निश्चित हो गई।

रणजीतसिंह की सेना का संगठन बड़ा अच्छा था। फौज-ए-आम म पैदल, घुड़सवार और तोपखाना सम्मिलित थे। फौज-ए-खास का संगठन विशेषतया फ्रांसीसी सेनापति वेण्टुरा और एलार्ड की अध्यक्षता में हुआ था। सन् १८३८ मे लार्ड आकलैण्ड ने रणजीतसिंह के घुड़सवारों को देखा था और उनकी मुक्त-कण्ठ मे प्रशंसा की थी। सिक्ख स्वभाव से ही एक सैनिक जाति हो गये थे। अतः योग्य सैनिकों की भर्ती करने में कोई कठिनाई न पड़ती थी। सैनिकों को वेतन मिलता था, परन्तु उसकी कोई निश्चित प्रणाली न थी। सेना में लगभग ४०,००० सैनिक और इतने ही घुड़सवार थे। इस विशाल सेना के सुसज्जीकरण की आकलैण्ड ने बड़ी प्रशंसा की थी।

सामाजिक दशा—अधिकांश जनता गाँवों में रहती थी। वहाँ उन्हें प्रचुर रूप से सुख-साधन उपलब्ध थे। जीविकोपार्जन के लिए उन्हें विशेष कठिनाई न थी। कृषक वर्ग की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक थी। गाँवों में हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ शान्तिपूर्वक रहते थे। राज्य में ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव था। प्रत्येक कुटुम्ब में एक पुरोहित रहता था, जो विविध संस्कारों को कराता था। जनता निरंकुश शासन की अभ्यस्त थी। अतः उसके समक्ष अधिकारों और कर्त्तव्यों का बखेड़ा न था। स्त्रियों की दशा भी सन्तोषप्रद थी। वे स्वस्थ, सुन्दर एवं स्वतन्त्रता-प्रिय होती थी। गृहस्थी का काम वे प्रायः स्वयं करती थीं। प्रत्येक स्त्री प्रातःकाल उठकर नियमपूर्वक चक्की से आटा पीसती थी। उनके उप।

कालीन मधुर संगीत से सम्पूर्ण वातावरण प्रतिध्वनित हो उठता था। दिन भर के काम करने के पश्चात् तीसरे पहर जब उन्हें अवकाश मिलता था, तो वे सब भिन्न-भिन्न स्थानों में एकत्रित होतीं, बातें करतीं एवं साथ-साथ सूत कातती थीं। प्रायः मनुष्य एक ही विवाह करते थे। पुत्री का जन्म अशुभ समझा जाता था और बहुत से कुटुम्बों में तो वह उत्पन्न होते ही मार डाली जाती थी। समाज के उच्च वर्ग में सती की प्रथा प्रचलित थी। समाज में समय-समय पर अनेक उत्सव हुआ करते थे। लोग साधु-सन्तों एवं फकीरों को आदर की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन साधारणतया शान्त, सरल एवं सुखी था।

रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब की अवस्था---रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब में अव्यवस्था फैल गई। उसका शासन निरंकुश था। जब तक वह जीवित रहा, तब तक अपनी योग्यता से सारे राज्य को सुसंगठन के सूत्र में बाँधे रहा। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों में उसके समान योग्यता न थी। अतः राज्य में अस्तव्यस्तता होना स्वाभाविक ही था। पुनः, सिक्ख-जाति स्वभाव से युद्धप्रिय थी। उसे वश में रखना सरल कार्य न था। रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् खालसा के प्रमुख सरदारों में महत्त्वाकांक्षा के कारण आपस में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इन कारणों के अतिरिक्त जम्मू के डोगरा राजाओं और सिन्धनवाला नामक सिक्ख सरदारों की पारस्परिक कलह ने परिस्थिति और भी अधिक शोचनीय कर दी।

रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खड़गसिंह सिंहासन पर बैठा। उसकी मस्तिष्क-स्थिति ठीक न थी। उसने शासन-कार्य के संचालन के लिए ध्यानसिंह नामक जम्मू-सरदार को अपना मन्त्री बनाया। रणजीतसिंह के अन्य दो पुत्र शेरसिंह और नौनिहालसिंह स्वयं सिंहासन हस्तगत करना चाहते थे। अतः उन्होंने खड़गसिंह के विरुद्ध आपस में सन्धि कर ली। उन दोनों के षड्यन्त्र से खड़गसिंह के एक पक्षपाती व्यक्ति चैतसिंह की हत्या की गई। इसी समय सन् १८४० में खड़गसिंह की भी मृत्यु हो गई। उसके थोड़े दिनों बाद ही नौनिहाल-सिंह भी लाहौर किले के एक फाटक के गिर जाने से दबकर मर गया। अतः उत्तराधिकार का प्रश्न पुनः जटिल हो गया। बहुत वाद-विवाद एवं षड्यन्त्र के

पश्चात् यह निश्चित हुआ कि नौनिहालसिंह का उत्पन्न होनेवाला पुत्र महाराणा बनाया जाय। उसका संरक्षक-पद माईचन्द नामक सरदार को दिया जाय तथा ध्यानसिंह वजीर और शेरसिंह वायसराय बनाये जायँ। परन्तु शेरसिंह इस योजना से सन्तुष्ट न हुआ। उसने सिक्ख-सेना का कुछ भाग अपने पक्ष में कर लिया और जनवरी सन् १८४१ में स्वयं अपने महाराणा होने की घोषणा कर दी। सिन्धनवाला सिक्ख सरदारों ने पूर्वनिर्मित योजना का समर्थन किया और शेरसिंह का विरोध किया। शेरसिंह ने अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए अंगरेजों से मित्रता करने की चेष्टा की और अफ़गानिस्तान से वापस लौटते समय अँगरेजी सेना को पंजाब से मार्ग दे दिया। परन्तु उत्तराधिकार के झगड़े का अन्त न हो सका। जून, १८४२ में माईचन्द और सितम्बर १८४३ में शेरसिंह की हत्या कर दी गई। तत्पश्चात् ध्यानसिंह भी मार डाला गया। उसके पुत्र ने कुछ सेना एकत्रित की और उसकी सहायता से उसने अपने पिता के हत्यारे सिन्धनवाला सरदार अजीतसिंह और लहनासिंह को मार डाला। तत्पश्चात् उसने दिलीपसिंह नामक एक अल्पायु लड़के को महाराजा एवं उसकी माता झिण्डन को रानी घोषित किया और स्वयं राज्य का वजीर बन बैठा। दिलीपसिंह महाराजा रणजीतसिंह का पुत्र बताया गया, परन्तु यह बात विवाद एवं सन्देह से परे न थी। दिलीपसिंह को राजा बनाकर हीरासिंह ने शक्ति-संचय करना प्रारम्भ किया। उसने सिन्धनवाला सिक्ख सरदारों को षड्यन्त्रकारी अँगरेजों का मित्र एवं स्वजाति का शत्रु घोषित कर सिक्ख सेना को अपनी ओर मिला लिया। वास्तव में अधिकांश सिक्खों में यह धारणा हो गई थी कि राज्य के षड्यन्त्रों एवं हत्याओं में अँगरेजों का भी हाथ है। इससे जनमत धीरे-धीरे अँगरेजों के विरुद्ध हो रहा था। लुधियाना के अँगरेज रेजीडेण्ट मेजर ब्राडफुट (Major Broadfoot) के उग्र व्यवहार से यह विरोध और भी अधिक बढ़ गया। दिसम्बर, १८४४ में हीरासिंह मार डाला गया और राज्य की शक्ति रानी झिण्डन के भाई जवाहरसिंह और एक अन्य व्यक्ति लालसिंह के हाथ में चली गई। कहा जाता है कि लालसिंह रानी का प्रेमी था। अँगरेजों के साथ मिलकर षड्यन्त्र करने के सन्देह में सितम्बर, १८४५ में जवाहरसिंह भी गोली से मार दिया गया और उसके स्थान पर लालसिंह वजीर बन गया। पंजाब की इस अनिश्चित दशा में सिक्ख

सेना की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। इसका एक विशेष कारण था। महत्त्वाकांक्षी प्रत्येक पक्ष अपने प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध सेना की सहायता प्राप्त करना चाहता था। प्रत्येक दल सेना की सहानुभूति एवं सहायता से राज्य-शक्ति हस्तगत करना चाहता था। सेना के विरोध करने पर कोई भी दल अधिक समय तक न टिक सकता था। सेना अपने इस महत्त्व को जानती थी। अतः धीरे-धीरे वह उच्छृंखल हो चली। उसे वश में करना कठिन हो गया। रानी एवं अन्य सरदारों ने समझ लिया कि यदि उसे किसी काम में न लगाया गया तो वह राज्य में अशान्ति फैला देगी। अतः उन्होंने उसे अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध में प्रयुक्त करने का विचार किया। उन्होंने सोचा कि ऐसा करने से उसकी शक्ति बहुत-कुछ क्षीण हो जायगी और तत्पश्चात् वह देश में अव्यवस्था फैलाने में असमर्थ हो जायगी। पुनः, इस समय साधारणतया सिक्ख सेना अँगरेजों की षड्यन्त्रकारिता से क्षुब्ध हो उठी थी। अपने आन्तरिक मामलों में अँगरेजी कूटनीतिज्ञों का हस्तक्षेप उसे असह्य था। अतः निश्चित था कि अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा का वह स्वागत करेगी।

प्रथम सिक्ख-युद्ध—दिसम्बर १८४५—मार्च १८४६—उपर्युक्त कारणों से प्रेरित होकर रानी एवं अन्य सरदारों ने सेना को अँगरेजों के विरुद्ध भड़काया। उससे कहा गया कि अँगरेज सिक्ख-राज्य के प्रबल शत्रु हैं। उनके कारण ही उसका विस्तार सतलज के पूर्व में न हो सका; उन्होंने स्वयं तो सिन्ध को हस्तगत कर लिया, परन्तु रणजीतसिंह को उस दिशा में न बढ़ने दिया। इस समय लुधियाना और फिरोजपुर में बहुत बड़ी संख्या में अँगरेजी सेनायें एकत्रित थीं। अतः सेना को समझाया गया कि वास्तव में अँगरेज सिक्ख-राज्य पर आक्रमण करने की योजनाएँ बना रहे हैं। अतः उन्हें विफल करने के लिए सेना को पहले से ही उन पर आक्रमण कर देना चाहिए। अस्तु, इस प्रकार प्रोत्साहित किए जाने पर ११ दिसम्बर १८४५ में विशाल सिक्ख-सेना ने सतलज नदी पार की। उसका यह कार्य अँगरेजों के साथ की गई सन्धि के विरुद्ध था। अतः अँगरेज गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंज ने १३ दिसम्बर को सिक्खों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। यह सिक्ख-युद्ध भारतीय इतिहास में अपनी वीरता एवं षड्यन्त्रकारिता के लिए उल्लेखनीय है। सिक्ख-सेना साहस एवं शौर्य में किसी प्रकार भी अँगरेजी सेना से कम न थी। इस पर भी यदि उसकी पराजय हुई, तो उसका कारण उसके

पेशावर
अटक
रावलपिण्डी
श्रीनगर
कोहाट
बन्नू
चिलियाँवाला
गुजरात
जम्मू
स्यालकोट
कांगड़ा
झेलम नदी
चेनाब नदी
रावी नदी
देरा गाजीखाँ
लाहौर
अमृतसर
सोबराँव
व्यास
जालन्धर
शिमला
फीरोजपुर
फीरोजशाह
अलीवाल
लुधियाना
मुदकी
सिन्धु नदी
देरा इस्माइलखाँ
मुलतान
सतलज नदी
सिक्ख राज्य
अम्बाला
पटियाला
करनाल
पानीपत
मेरठ
यमुना नदी
गंगा नदी
दिल्ली
भा व ल पु र
सतलज के पार तथा अँगरेजी प्रदेश

रणजीतसिंह का राज्य

नेताओं का विश्वासघात एवं स्वार्थपरायणता थी। भारतीय इतिहास में यह एक दुःखद तथा अपमानजनक सत्य है कि बहुधा देश के पुत्रों ने स्वयं अपनी स्वार्थान्धता से अपने देश और राष्ट्र का महान् अहित किया है। लालसिंह और तेजसिंह नामक सिक्ख नेताओं को सिक्ख-सेना की पराजय से विजय अधिक भयावह लगती थी। प्रथम ने तो अपने राज्य के विरुद्ध फीरोजपुर के अँगरेज कप्तान निकोल्सन से सन्धि भी कर ली। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि सिक्ख-सेना फीरोजपुर में प्रविष्ट हो गई, तथापि अपने सेनानायक के आज्ञानुसार उसने अँगरेजी सेना को अछूता छोड़ दिया। यदि उसे आज्ञा होती, तो वह वहाँ की ७,००० अँगरेज सेना को सरलतापूर्वक परास्त कर छिन्न-भिन्न कर सकती थी। सिक्खों और अँगरेजों का प्रथम युद्ध दिसम्बर १८४५ को मुदकी नामक स्थान पर हुआ। अँगरेजी सेना का नेतृत्व सर ह्यू गफ कर रहा था। सिक्खों के प्रबल पराक्रम के समक्ष अँगरेजी सेना के पैर उखड़ गए और वह भागनेवाली ही थी, कि इतने में पूर्व-निर्मित योजना के अनुसार सिक्ख सेनापति लालसिंह अँगरेजों की ओर जा मिला। परिणाम यह हुआ कि सिक्ख जीती बाजी हार गए और उन्हें फीरोजपुर वापस लौटना पड़ा। वहाँ २१ दिसम्बर को उसे अँगरेजी सेना का सामना करना पड़ा। अँगरेजों के सहायतार्थ सर जान अपनी सेना लेकर आ गया था। परन्तु फिर भी सिक्खों का साहस न टूटा। उनके अदम्य साहस और प्रबल पराक्रम को देखकर अँगरेजी सेनापति सर ह्यू गफ ने लिखा था, 'उस भयावह रात्रि में हम लोग अत्यन्त संकटपूर्ण एवं विपत्तिग्रस्त स्थिति में थे।' पुनः सिक्ख सेनापति तेजसिंह का विश्वासघात अँगरेजों के काम आया। वह सेना का नेतृत्व छोड़कर भाग गया। नेतृत्वहीन सिक्ख सेना ने असंगठित रूप से युद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि निर्णय किसी के भी पक्ष में न हो सका।

फीरोजपुर के युद्ध के पश्चात् लगभग एक मास तक कोई महत्त्वपूर्ण युद्ध न हुआ। सिक्ख सेना के नेताओं ने उसके साथ विश्वासघात किया था। अतः इस समय वह नेतृत्वहीन थी। उधर अँगरेज उसकी शूरता को देखकर भयभीत हो गये थे। अतः अब वे निर्णयात्मक युद्ध के लिए अधिक सावधानी के साथ तैयारी कर रहे थे। अन्त में रणछोर नामक सेनापति की अध्यक्षता में सिक्ख-

सेना ने प्रबल वेग से सतलज पार की और लुधियाना की ओर बढ़ी। अँगरेजी सेनापति सर हैरी स्मिथ ने बुडीवल में उसका सामना किया। भयंकर संग्राम के पश्चात् सिक्खों ने उसे परास्त कर नगर के ऊपर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् किसी अज्ञात कारण से रणछोर ने बुडीवल छोड़ दिया। अतः सर हेरी स्मिथ ने पुनः उसे हस्तगत कर लिया। यहाँ अब उसकी सहायता के हेतु एक अन्य अँगरेज सेनापति ह्वीलर भी आ गया। दोनों की सम्मिलित सेनाओं से सिक्ख-सेना की अलीवाल नामक स्थान में मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में सिक्ख परास्त हुए और उनका सेनापति रणछोर भाग गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण युद्ध सोवराँव में हुआ। इसमें सिक्ख नेताओं का गर्हित विश्वासघात अपने नग्न रूप में सम्मुख आया। डोगरा सरदार गुलाबसिंह अँगरेजों से मिल गया था। उसने अँगरेजों को महत्त्वपूर्ण सहायता देने का वचन दिया। इसके बदले में अँगरेजों ने उसे काश्मीर देने की प्रतिज्ञा की। इधर लालसिंह और तेजसिंह भी गुप्त रीति से अँगरेजों की सहायता कर रहे थे। कहते हैं कि लालसिंह ने तो सोवराँव-युद्ध की सम्पूर्ण युद्ध-योजना ही अँगरेजी सेनापति कर्नल लारेंस के पास भेज दी थी। पुनः युद्ध प्रारम्भ होते ही तेजसिंह सिक्ख-सेना का साथ छोड़कर भाग गया। ऐसी दशा में बेचारी सिक्ख-सेना क्या करती? उसकी सारी शूरता अपने नेताओं के विश्वासघात के सामने व्यर्थ हो गई। सोवराँव-युद्ध में उसकी पूर्ण पराजय हुई। सिक्ख-सेना की शक्ति टूट गई। अतः अब राजा दिलीपसिंह एवं अन्य सिक्ख सरदारों ने लार्ड हार्डिंज के साथ सन्धि की वार्त्ता चलाई जिसके परिणामस्वरूप दोनों पक्षों में ९ मार्च को सन्धि हो गई।

अनेक अँगरेज उच्च पदाधिकारियों की इच्छा थी कि सम्पूर्ण पंजाब ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाय, परन्तु लार्ड हार्डिंज ने ऐसा न किया। इसके दो मुख्य कारण थे। प्रथम अफगानिस्तान और अँगरेजी राज्य के बीच में एक हिन्दू-राज्य होने से अँगरेजों की पश्चिमोत्तर सीमा बहुत-कुछ सुरक्षित हो जाती। द्वितीय, हार्डिज की नीति का लक्ष्य केवल सिक्ख-शक्ति को क्षीण करना था। पंजाब पर अधिकार करके वह व्यर्थ में झंझट मोल लेना नहीं चाहता था।
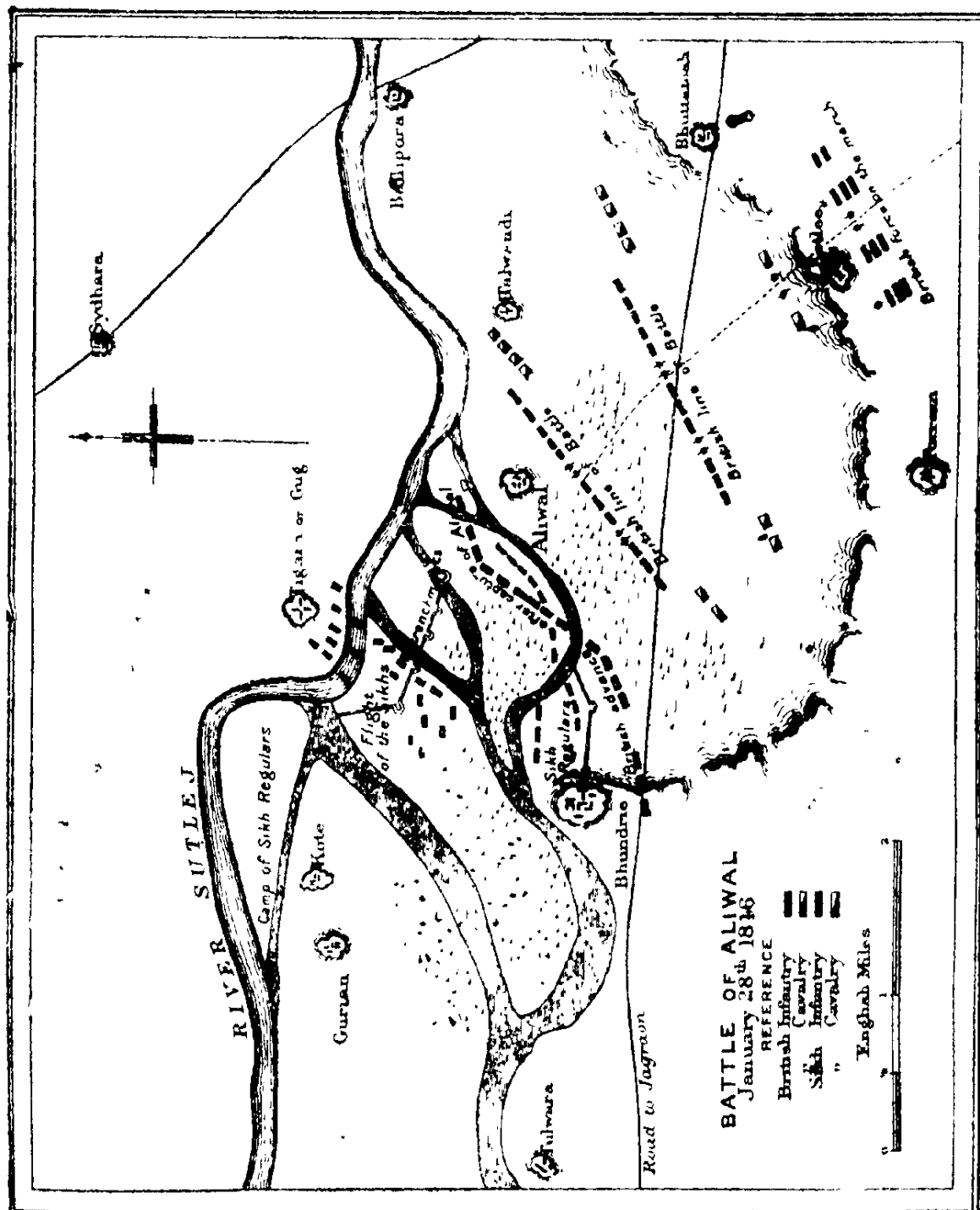
अलीवाल का युद्ध

लाहौर की सन्धि—मार्च १८४६—ऊपर बताया जा चुका है कि गुलाबसिंह और लालसिंह ने विगत सिक्ख-युद्ध में अँगरेजों की बड़ी सहायता की थी। अतः इस सन्धि में उन्हें पुरस्कृत करना अँगरेजों के लिए आवश्यक हो गया। युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए सिक्ख-राज्य पर १ करोड़ रुपया जुर्माना किया गया; परन्तु राज्य-कोष में इस समय ५० हजार रुपये से अधिक न था। अतः शेष धन के स्थान पर पंजाब से काश्मीर और व्यास एवं सिन्धु के बीच का भू-प्रदेश छीन लिया गया और वह गुलाबसिंह को जातीय विश्वासघात के लिए पुरस्कार-रूप में दे दिया गया। इस गर्हित व्यापार की वास्तविक रूप-रेखा को छिपाने के लिए ऊपर से यह घोषित किया गया कि यह सम्पूर्ण प्रदेश गुलाबसिंह को **पुरस्कार के रूप में दिया नहीं गया है, वरन् १ करोड़ रुपये में उसके हाथ बेचा गया** है। गुलाबसिंह के पास इतना धन कहाँ था कि वह इतना बड़ा सौदा कर सकता। अतः बाद को १ करोड़ का सौदा ७५ हजार में समाप्त किया गया और इस रुपये को चुकाने के लिए गुलाबसिंह को उसके भाई सुचेतसिंह की सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बना दिया गया। यह सारा व्यापार अँगरेजों की गर्हित रहस्यात्मकता एवं निकृष्ट कूटनीतिज्ञता का ज्वलन्त प्रमाण था। इस प्रकार विश्वासघाती गुलाबसिंह को सन्तुष्ट कर अँगरेजों ने जाति-द्रोही लालसिंह की ओर ध्यान दिया। उसे अल्पायु दलीपसिंह का मन्त्री बनाया गया। रानी झिण्डन उसकी संरक्षक बनी।

इस लाहौर-सन्धि के अनुसार अँगरेजों को सतलज के पूर्व का सम्पूर्ण सिक्ख-प्रदेश प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त जालन्धर का दोआब और हजारा भी उसके अधिकार में आ गये। सिक्ख-सेना की संख्या घटा दी गई। पुनः महाराजा ने वचन दिया कि वह अँगरेजों की आज्ञा के बिना किसी भी विदेशीय को अपने राज्य में न रक्खेगा। अँगरेजी सेना को पंजाब से होकर आने-जाने का अधिकार मिल गया। दिलीपसिंह सिक्ख-राज्य का महाराजा स्वीकृत हुआ। उसकी राजधानी लाहौर में एक वर्ष के लिए एक अँगरेजी सेना रक्खी गई। सर हेनरी लारेंस लाहौर में अँगरेज रेजीडेण्ट नियुक्त हुआ।

ऊपर बताया जा चुका है कि डोगरा सरदारों और पंजाब के सिक्ख सरदारों में पुराना द्वेष-भाव था। अतः जब काश्मीर का राज्य डोगरा गुलाबसिंह को

दिया गया तो पंजाब के सिक्ख सरदारों ने उसका घोर विरोध किया। स्वयं रानी झिण्डन और लालसिंह भी इस सौदे के विरुद्ध थे। उन सबके प्रोत्साहन से सिक्ख गवर्नर शेख इमामुद्दीन ने गुलाबसिंह को काश्मीर देना अस्वीकार कर दिया। अतः अँगरेजों को एक सेना भेजनी पड़ी। साधारण युद्ध के पश्चात् उस सेना ने बलात् गुलाबसिंह को राजा बना दिया। रानी झिण्डन और लालसिंह पर षड्यन्त्र का आरोप लगाया गया। अतः उन्हें पदच्युत कर दिया गया। लालसिंह बनारस भेज दिया गया। दिसम्बर, १८४६ में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार पंजाब की वास्तविक सत्ता अँगरेजों के हाथ में आ गई। शासन-कार्य चलाने के लिए अँगरेजों के पक्षपाती ८ सरदारों की एक कौंसिल बनाई गई। इसके ऊपर अंगरेज रेजीडेण्ट रहा। लाहौर में एक अँगरेजी सेना रक्खी गई जिसके खर्च के लिए सिक्ख-राज्य ने २२ लाख रुपया देने का वचन दिया। यह व्यवस्था दिलीपसिंह के बालिग होने तक के लिए की गई।

संधि के पश्चात्—उपर्युक्त सन्धि ने पंजाब में अँगरेजी का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उन्होंने अब आन्तरिक व्यवस्था पर अधिकार करने के लिए राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों पर अंगरेज अफसरों को भरना प्रारम्भ किया। उन्होंने जो शासन-सम्बन्धी परिवर्त्तन किए वे पूर्ण रूप से जन-मत के विरुद्ध थे। स्वतन्त्रता-अपहरण से सिक्ख तो वैसे ही चिढ़े हुए थे, अब अंगरेजों के आन्तरिक हस्तक्षेप ने अग्नि में घृत का काम किया। उनका क्षोभ पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उधर सिक्ख सैनिक भी अत्यधिक असन्तुष्ट थे, क्योंकि बहुत से तो सेना से निकाल दिये गये थे और जो शेष रहे थे उनका वेतन घटा दिया गया था। पुनः अँगरेजी गुरखे अफगानों से मिलकर सिक्खों के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे। सिक्ख-राज्य में मुसलमानों को अजान और गो-वध करने के जो नये अधिकार दिये गये, उन्होंने भी बहुमत की धार्मिक भावनाओं पर कुठाराघात किया। रानी झिण्डन अपने शक्ति-ह्रास को देखकर असन्तोष की ज्वाला में जल रही थी और अँगरेजों को पुनः पंजाब से निकालना चाहती थी। अँगरेजों को उसके इस मन्तव्य का पता चल गया। अतः उन्होंने उसे पकड़कर पहले शेखपूर और फिर चुनार भेज दिया। उसके इस निर्वासन से सिक्ख-जाति का घोर अपमान हुआ। सम्पूर्ण पंजाब प्रति-शोध के लिए विफल हो उठा। वास्तव में सिक्ख-जाति को अपने शौर्य पर अटूट

विश्वास था। उसने हृदय से हार न मानी थी। वह समझती थी और उसका यह समझना किसी सीमा तक सत्य भी था कि उसकी हार का कारण उसके नेताओं का विश्वासघात है, उसकी निर्बलता नहीं। ऐसी स्थिति में स्पष्ट हो गया कि अँगरेजों के हाथ द्वितीय युद्ध होना अनिवार्य है। उसके लिए किसी चिनगारी की आवश्यकता थी और वह चिनगारी शीघ्र ही मुलतान की ओर से आई।

सन् १८४४ में मुलतान के गवर्नर सावन्तमल की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसका पुत्र मूलराज गवर्नर-पद पर नियुक्त हुआ। लाहौर-राज्य ने उससे पूर्व प्रणाली के अनुसार उत्तराधिकार प्राप्ति के उपलक्ष में एक करोड़ रुपये का कर माँगा। यह धन बहुत अधिक था। अतः मूलराज के आपत्ति करने पर वह घटाकर १८ लाख कर दिया गया। परन्तु इसी बीच में प्रथम सिक्ख-युद्ध छिड़ गया। अतः मूलराज से वह धन वसूल न हो सका। परन्तु सन्धि के पश्चात् लाहौर-राज्य ने पुनः अपनी माँग की और उस धन को बढ़ाकर १९ लाख कर दिया। परन्तु मूलराज ने टालमटोल की। अतः लाहौर-राज्य ने धन-प्राप्ति के हेतु लालसिंह को ससैन्य मुलतान भेजा। परन्तु मूलराज ने उसे हरा दिया। इसी बीच में पंजाब की वास्तविक सत्ता अँगरेजों के हाथ में आ गई। उन्होंने भी मूलराज से वही माँग की, परन्तु बहुत बढ़ाकर। उससे २० लाख रुपया एवं राज्य का तिहाई भाग माँगा गया। इसके अतिरिक्त उसका वार्षिक कर १२ लाख से बढ़ाकर १८ लाख कर दिया गया। मूलराज के असन्तोष का एक और कारण था। रणजीतसिंह की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मुलतान अपने आन्तरिक शासन के क्षेत्र में स्वतन्त्र था। जब तक वह कर देता रहे, तब तक लाहौर-राज्य उसके आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप न करता था। परन्तु अँगरेजों ने उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना चाहा। उन्होंने मूल-राज पर कुशासन का आरोप लगाकर उसके शासन के लिए एक रीजेंसी के निर्माण का प्रस्ताव किया। अँगरेजों ने अपनी योजना कार्यान्वित करने के लिए मुलतान में अपने अफसरों को भेजा। उनकी धींगा-धींगी देखकर जन-मत विक्षुब्ध हो उठा और २० अप्रैल को उसने विद्रोह कर दिया और अँगरेज अफसरों को मार डाला। यह सत्य है कि मूलराज, भिडन और बड़े-बड़े सिक्ख सरदार पंजाब को अँगरेजों से मुक्त करना चाहते थे। इसके लिए वे संगठन एवं

प्रचार भी कर रहे थे; परन्तु अँगरेज अफसरों के वध में किसी प्रकार भी उन लोगों का हाथ न था। वह मुलतान के क्रुद्ध सैनिकों का कार्य था जो अँगरेजों की धींगा-धींगी से क्षुब्ध हो गये थे। उसमें किसी प्रकार की भी पूर्वनिर्मित योजना न थी।

लार्ड हार्डिंज के जाने के पश्चात् जनवरी, १८४८ में लार्ड डलहौजी भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल होकर आया। उसे मुलतान के विद्रोह की सूचना दी गई। अनेक अँगरेज अफसरों ने तत्काल कार्यवाही करने की सम्मति दी। परन्तु लार्ड डलहौजी एवं प्रधान सेनापति लार्ड गफ दोनों ही उदासीन रहे। उनकी उदासीनता का एक विशेष रहस्य था। वे चाहते थे कि मुलतान का विद्रोह बढ़कर सम्पूर्ण पंजाब में फैल जाय। उस समय उन्हें पंजाब का दमन करने एवं उसे जीतकर ब्रिटिश राज्य में मिलाने का एक बहाना मिल जायेगा। साम्राज्यवादी शासक प्रायः ऐसे ही बहानों का सहारा लेकर अपनी कुत्सित योजनाओं को कार्यान्वित करते हैं। परन्तु उनके हृदय का यह पाप तर्कपूर्ण मक्कारी से मिलकर और भी अधिक पंकिल हो उठता है और उनके मुख पर कालिमा के रूप में युगयुगान्तर तक चिपका रहता है।

इधर जब लार्ड डलहौजी अपनी गर्हित योजना को कार्यान्वित करने का अवसर ढूँढ़ रहा था तो उधर लेफ्टीनेण्ट इवर्ड (Lt. Edward) नामक एक अन्य अँगरेज अफसर ने एक सेना एकत्र कर मुलतान की ओर धावा बोला। मूलराज का अभी तक की घटनाओं में तनिक भी हाथ न था। वह अँगरेजी सेना के आगमन का समाचार पाकर अवाक् रह गया। अँगरेजी सेना ने उसे परास्त कर उसके राज्य का कुछ प्रदेश हस्तगत कर लिया। अब क्या था? सारे पंजाब में अग्नि भड़क उठी। मूलराज का विषय सारे पंजाब का विषय बन गया। उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न सम्पूर्ण सिक्ख-राज्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। मुलतान का विद्रोह द्वितीय सिक्ख-युद्ध बन गया।

द्वितीय सिक्ख-युद्ध—अगस्त १८४८ में अटक के गवर्नर छत्तरसिंह ने भी अँगरेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसका पुत्र शेरसिंह मूलराज के दमन के हेतु भेजा गया था। वह उलटे अपनी सेना सहित मूलराज से जा मिला। यह

सूचना पाकर अँगरेज अफसर एडवर्ड भयभीत हो गया और मुलतान छोड़कर सूरजकुंड भाग आया।

अब डलहौजी ने पंजाब पर आक्रमण करने का सुअवसर देखा। मूलराज की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। सम्पूर्ण सिक्ख जाति ने उसका सहयोग किया। अंगरेज देश में इतने अप्रिय थे कि दोस्त मुहम्मद के नेतृत्व में अफगानों ने भी उनके विरुद्ध सिक्खों को सहायता देना प्रारम्भ किया। अँगरेजों ने पहले तो कूटनीति से काम लिया। उन्होंने एक जाली पत्र भेजकर मूलराज और शेरसिंह में मतभेद उत्पन्न कर दिया। सन्देह के कारण शेरसिंह मूलराज का साथ छोड़कर चला गया जिससे उसकी सैनिक शक्ति कम हो गई। कूटनीति में सफल होने के पश्चात् अँगरेजों ने सैनिक कार्यवाही करना प्रारम्भ किया। १६ नवम्बर, १८४८ को अँगरेज सेनापति लार्ड गफ ने रावी नदी पार की। सिक्ख सेना ने २२ नवम्बर को रामनगर में उसका सामना किया। परन्तु परिणाम अनिश्चयात्मक रहा। दिसम्बर, १८४८ में मुलतान का घेरा प्रारम्भ हुआ। अकस्मात् बारूद में आग लग जाने के कारण मूलराज का सम्पूर्ण तोपखाना नष्ट हो गया और भयंकर युद्ध के पश्चात् मूलराज ने २२ जनवरी, १८४९ में अंगरेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इसके पूर्व १३ जनवरी को चिलियाँवाला के युद्ध में सिक्खों ने अपने अतुल पराक्रम को प्रदर्शित करते हुए अंगरेजों को गहरी पराजय दी। परन्तु मुलतान के निकल जाने से सिक्खों की शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचा। अँगरेजों की सैनिक-संख्या सिक्खों की अपेक्षा कहीं अधिक थी, परन्तु फिर भी सिक्खों ने हिम्मत न हारी। २१ फरवरी, १८४९ में गुजरात के युद्ध में उन्होंने अँगरेजों का सामना किया। यह 'तोपों का युद्ध' कहलाता है। अँगरेजों की बहुसंख्यक तोपों के समक्ष सिक्ख सेना की सराहनीय वीरता व्यर्थ सिद्ध हुई और अँगरेजों की विजय हुई। इस पराजय ने सिक्खों को हताश कर दिया और १३ मार्च को अंगरेजों के पाशविक बल के समक्ष उन्होंने हथियार डाल दिये। २९ मार्च, १८४९ को डलहौजी ने एक घोषणा-पत्र द्वारा सम्पूर्ण पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। महाराजा दिलीपसिंह सिंहासन-च्युत कर दिया गया। उसे ५० हजार पौण्ड वार्षिक पेंशन देकर राज्याधिकार से वंचित कर दिया गया। उसे महाराजा के स्थान पर राजकुमार की

उपाधि दी गई। कुछ काल बाद वह इँगलैंड चला गया। वहाँ उसने ईसाई-मत स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के परिणाम-स्वरूप कोहनूर का प्रसिद्ध हीरा अँगरेजों के अधिकार में आ गया। मूलराज पर हत्या का अभियोग लगाया गया और उसे प्राण-दण्ड दिया गया। इस प्रकार पंजाब-काण्ड समाप्त हुआ। अँगरेजों की कूटनीतिज्ञता पूर्ण रूप से सफल हुई।

पंजाब का शासन-प्रबन्ध--पंजाब के शासन-कार्य के लिए लार्ड डलहौजी ने ३ सदस्यों का एक बोर्ड बनाया। ये सदस्य सर हेनरी लारेंस (Sir Henry Lawrance) उसका भाई जान लारेंस (John Lawrence) एवं मैंसल (Mansel) थे। बोर्ड के अधीन केन्द्रीय शासन था जो लाहौर, झेलम, मुलतान और ल्यू नामक चार कमिश्नरियों में विभक्त किया गया। कमिश्नरों के अधीन डिप्टी कमिश्नर, तहसीलदार और नायब तहसीलदार नियुक्त किये गये।

पंजाब में शान्ति-सुरक्षा रखने के लिए सिक्ख-सेना भंग कर दी गई। प्रजा से भी अस्त्र-शस्त्र छीन लिये गए। सिक्ख-सरदारों की जागीरें जब्त कर ली गई। शान्ति-स्थापना के लिए देशी सेना का संगठन किया गया जिसके अध्यक्ष अँगरेज नियुक्त किये गये। इसमें गुप्तचर-विभाग भी रक्खा गया। गाँवों में चौकीदारों की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार न्याय-विभाग का भी संगठन किया गया। राज्य के पदाधिकारियों को न्याय करने का भी अधिकार दिया गया। कानून का सुधार हुआ। अंग-भंग करने का दण्ड तोड़ दिया गया। राज्य में सड़कें, पुल और नहरें बनवाई गई जिनसे उसकी आय बढ़े। शिक्षा का प्रचार किया गया। सिक्ख समाज में जो दोष तथा कुरीतियाँ प्रचलित थी, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया गया। सिक्खों को राज्य में नौकरियाँ दी गई और उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया। अपराधों के लिए कड़ी सजा देने का आयोजन हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण पंजाब में अँगरेजों की एक नई व्यवस्था फैल गई।

अध्याय २६

लार्ड डलहौजी

(Lord Dalhousie)

लार्ड डलहौजी—सन् १८४४ में लार्ड एलिनबरा वापस बुला लिया गया। उसके पश्चात् लर्ड हार्डिंज गवर्नर-जनरल होकर आया। उसके शासन-काल की प्रमुख घटना प्रथम सिक्ख-युद्ध थी जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यद्यपि इस युद्ध में वह पूर्ण रूप से सफल रहा, तथापि उसने पंजाब को ब्रिटिश राज्य में नहीं मिलाया। यह कार्य उसके उत्तराधिकारी लार्ड डलहौजी ने किया, जो सन् १८४८ में भारतवर्ष में गवर्नर-जनरल होकर आया। उसका अष्टवर्षीय (सन् १८४८-५६) शासन-काल अँगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस समय अँगरेजी साम्राज्यवाद की उग्र एवं आगामी तथा उससे भी भयंकर षड्यन्त्रकारी नीति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। लार्ड वेलेजली और लार्ड हेस्टिंग्ज ने जिस साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति का अवलम्ब किया था, उसका इस समय पूर्ण विकास हो गया। भारतवर्ष में आने पर लार्ड डलहौजी का प्रमुख लक्ष्य बना अँगरेजी साम्राज्य का विस्तार। इसकी पूर्त्ति के लिए उसने युद्ध किये, षड्यन्त्र किये, अनीति का अवलम्ब लिया और अत्याचार को प्रोत्साहन दिया। राजनीति से नैतिकता का बहिष्कार कर दिया गया और ध्येय की प्राप्ति के लिए निन्दनीय साधनों का आश्रय लिया गया। पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि किस प्रकार लार्ड डलहौजी ने द्वितीय सिक्ख-युद्ध में सिक्ख-राज्य को विध्वंस कर पंजाब को ब्रिटिश-राज्य में मिला लिया और इस प्रकार अपने राज्य की पश्चिमीय सीमा सुरक्षित की। अब उसका ध्यान पूर्वी सीमा की ओर गया।

द्वितीय ब्रह्मा-युद्ध (१८५२)—ब्रह्मा-सरकार और अँगरेजी सरकार का पारस्परिक सम्बन्ध याण्डबू की सन्धि (१८२६) के द्वारा निर्धारित हुई

थी। लार्ड एमहर्स्ट (Lord Amherst) ने प्रथम ब्रह्मा-युद्ध में विजय प्राप्त कर ब्रह्मा-राज्य का पर्याप्त प्रदेश ब्रिटिश राज्य में मिला लिया था। ब्रह्मा सरकार को अपनी राजधानी में एक अँगरेज रेजीडेण्ट भी रखना पड़ा था तथा उसे अँगरेजों को अनेक व्यापारिक सुविधाएँ देनी पड़ी थीं।

जिस समय लार्ड डलहौजी भारतवर्ष में आया उस समय इँगलैड तथा अमेरिका एवं फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्ध विद्वेष-पूर्ण थे। अँगरेजों को इन दोनों विदेशी शक्तियों से अपने पूर्वीय अधिकार-क्षेत्रों के लिए खतरा था। अतः लार्ड डलहौजी को भय हुआ कि कहीं ब्रह्मा-देश पर अमेरिका अथवा फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित न हो जाय। इसी समय भय के निराकरण के उद्देश्य से वह ब्रह्मा की ओर आकृष्ट हुआ। एक कुशल साम्राज्यवादी की भाँति वह उसी समय से उस देश की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर ढूँढ़ने लगा।

याण्डबू की सन्धि के पश्चात् बहुत से अँगरेज व्यापारी रंगून में जाकर बस गये थे। उन्हें वहाँ व्यापार करने से प्रचुर लाभ था। ब्रह्मा की सरकार व्यापारिक सुविधा के लिए उनसे कर लेती थी। परन्तु अँगरेज व्यापारी प्रायः उसे न देने की ही चालें सोचा करते थे। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा-सरकार को कुछ कठोरता से कार्य करना पड़ा। उसने कर-नियम के उल्लंघनकारियों को पकड़ना एवं उन पर जुर्माना करना प्रारम्भ किया। इस पर अँगरेज व्यापारियों ने हो-हल्ला मचाना आरम्भ किया। उन्होंने ब्रह्मा-सरकार पर अन्याय, अनीति एवं दमन के आरोप लगाये और इस प्रकार दोनों सरकारों के पारस्परिक वैमनस्य को बढ़ाने में योग दिया। डलहौजी वास्तविक स्थिति को भली भाँति जानता था। ब्रह्मा-सरकार ने अँगरेज व्यापारियों की नियमोल्लंघनकारिता के विषय में उसके पास अनेक बार शिकायतें भेजी थीं। परन्तु उसने जान-बूझकर उन पर ध्यान न दिया और सम्पूर्ण वातावरण को अधिकाधिक विस्फोटक होने दिया।

आवा-दरबार में स्थित अँगरेज रेजीडेण्ट बहुत पहले से ही ब्रह्मा-देश छोड़ चुका था। इस समय दोनों सरकारों की कूटनीतिक वार्ता टनासिरम में स्थित अँगरेज कमिश्नरों के द्वारा होती थी। ब्रिटिश रेजीडेण्ट ने स्वयं ब्रह्मा

छोड़ा अथवा ब्रह्मा-सरकार ने ही उसे अपने देश से निकाल दिया, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। हाँ, दो बातें अवश्य उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मा-सरकार चाहती थी कि उसके राज्य में जो अँगरेज राजदूत रक्खा जाय उसकी नियुक्ति इँगलैंड की सरकार के द्वारा हो। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को राजदूत-नियुक्ति का अधिकार देना उसे अपमानजनक प्रतीत होता था। दूसरे, सन् १८३७ में ब्रह्मा के सिंहासन पर नवीन राजा थेरावदी बैठा। उसने याण्डबू की सन्धि को अस्वीकार कर दिया। उसका यह कार्य ब्रह्मा के विधान के अनुसार पूर्ण रूप से उचित था। उस विधान के अनुसार सम्पूर्ण सन्धियाँ राजा के जीवन-काल तक होती रहती थीं। उसका उत्तराधिकारी उन्हें मानने के लिए बाध्य न था।

लार्ड डलहौजी ऐसे ही अवसरों की ताक में था। वास्तव में वह सम्पूर्ण ब्रह्मा को किसी न किसी बहाने अँगरेजी राज्य में मिलाना चाहता था। इसके लिए युद्ध आवश्यक था। अतः उसने युद्ध घोषित करने के लिए पर्याप्त कारणों को संगृहीत करना प्रारम्भ किया। उसका प्रोत्साहन पाकर सितम्बर, सन् १८५२ में ब्रह्मा के अँगरेज व्यापारियों ने उसके पास एक लम्बा आवेदन-पत्र भेजा। उसमें ब्रह्मा-सरकार के द्वारा किये गये सत्य, अर्धसत्य एवं अनृत्य दुर्व्यवहारों का सविस्तर वर्णन किया गया था। डलहौजी ने इस आवेदन-पत्र से पूरा लाभ उठाया। उसने घोषित किया कि ब्रह्मा ने याण्डबू की सन्धि को भंग भी किया है। अतः उसे अँगरेज व्यापारियों की क्षति-पूर्ति के लिए एक निश्चित धन देना चाहिए। धन वसूल करने के लिए उसने लैम्बर्ट (Lambert) नामक एक अँगरेज अफसर को तीन जहाज देकर ब्रह्मा भेजा। सन्धि-वार्ता के लिए युद्ध-पोतों को भेजना एक विचित्र ढंग था। इसका अर्थ स्पष्ट था कि लार्ड डलहौजी विचार-विनिमय के द्वारा नहीं, वरन् तलवार के द्वारा झगड़ों का निर्णय करना चाहता है।

लैम्बर्ट २५ नवम्बर को रंगून पहुँचा और उसने आवा के राजा को एक पत्र भेजा जिसका उत्तर ३ सप्ताह के भीतर माँगा गया। इस पत्र में अनेक आरोपों के साथ-साथ शेपर्ड (Sheppard) और लुईस (Lewis) के मामले भी थे। इन पर हत्या के अभियोग पर जुर्माना किया गया था। लार्ड डलहौजी

ने उचित-अनुचित का विचार किये बिना इन अँगरेजों का पक्ष लिया और इनकी क्षति-पूर्ति के लिए ब्रह्मा सरकार से ९,००० रुपया देने एवं दण्ड देनेवाले रंगून के गवर्नर को पदच्युत करने की माँग की।

युद्ध-पोतों के साथ अँगरेज अफसर के आगमन की सूचना पाकर आवा-नरेश सम्पूर्ण परिस्थिति को समझ गया। अँगरेजों की कुमन्त्रणा एवं कूटनीतिज्ञता से वह भली भाँति परिचित था। अतः आनेवाली विपत्ति से अपने देश को बचाने के लिए उसने यथासम्भव प्रयत्न किया। उसने तत्काल अपने एक उच्च पदाधिकारी को लैम्बर्ट के पास भेजकर रंगून के गवर्नर को हटा लेने, सम्पूर्ण मामले पर विचार करने एवं आवश्यकतानुसार क्षति-पूर्ति करने का वचन दिया।

सन्धि-वार्ता के बीच में लैम्बर्ट ने रंगून के गवर्नर से मिलने की इच्छा प्रकट की और अपने कुछ अफसरों को उसके पास भेजा। इन अफसरों के अनुचित एवं अवज्ञापूर्ण व्यवहार से क्षुब्ध होकर गवर्नर ने मिलने से इनकार कर दिया। लैम्बर्ट ने सम्पूर्ण घटना की जाँच किये बिना ही रंगून के गवर्नर को दोषी ठहराया, उससे क्षमा-प्रार्थना करने तथा क्षति-पूर्ति करने की पुनः माँग की। इसी के साथ-साथ उसने ब्रह्मा के जहाज 'यलोशिप' (Yellow Ship) को भी अपने अधिकार में कर लिया। अँगरेजों की यह धाँधली वास्तव में अपमानजनक थी। परन्तु ब्रह्मा-सरकार क्या करती? वह अपनी निर्बलता को समझती थी। लैम्बर्ट के कार्यों का प्रमुख ध्येय उसे उत्तेजित करना था। अभी तक वह इस ध्येय में असफल रहा था। अतः अब उसने एक ऐसा कार्य किया जिससे ब्रह्मा सरकार को उग्र कार्यवाही करने के लिए विवश होना पड़ा। सन्धि की सम्पूर्ण वार्ता को भंग कर उसने ब्रह्मा के 'येलोशिप' को स्वदेश ले जाने के लिए एक अँगरेजी युद्ध-पोत को आज्ञा दी। अनीति की यह पराकाष्ठा थी। इसने ब्रह्मा-सरकार के धैर्य को तोड़ दिया। अतः उसने अँगरेजी जहाज पर गोलाबारी करने की आज्ञा दी। अँगरेज तो युद्ध चाहते ही थे। उन्होंने गोले का उत्तर गोले से दिया और इस प्रकार द्वितीय ब्रह्मा-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

डलहौजी तत्काल कलकत्ता आया और उसने ब्रह्मा-सरकार के पास एक पत्र भेजकर क्षमा-प्रार्थना, क्षति-पूर्ति और १,००,००० पौण्ड के अर्थ-दण्ड की माँग

की। वह भली भाँति जानता था कि इतनी कठोर शर्तों को ब्रह्मा-सरकार कभी भी स्वीकार न करेगी। अतः उसने युद्ध की भी तैयारी प्रारम्भ कर दी। उसने अँगरेजी जनरल गाडविन (Godwin) को ससैन्य ब्रह्मा भेजा जिसने २ अप्रैल, सन् १८५२ मे सैनिक कार्यवाही करना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्र ही मर्तबान, रंगून और बेसीन पर अधिकार कर अँगरेजों ने समस्त पेगू समुद्र-तट को हस्तगत कर लिया। १ अक्टूबर को अँगरेजी सेना ने प्रोम पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार लोअर ब्रह्मा अँगरेजों के अधीन हो गया। वास्तव में लार्ड डलहौजी ब्रह्मा के इस प्रदेश पर अधिकार करना चाहता था। शेपर्ड और लुईश के मामले तो बहाना-मात्र था। अतः ब्रह्मा के एक विशाल भू-प्रदेश को अधिकृत कर उसने युद्ध की समाप्ति कर दी, परन्तु ब्रह्मा की सरकार के साथ उसने कोई सन्धि नही की। इसकी उसे आवश्यकता भी न थी। उसका ध्येय पूर्ण हो चुका था। और वह भली भाँति जानता था कि अधिकृत भू-प्रदेश पर अधिकार कायम रखने के लिए अँगरेजों को शक्ति की आवश्यकता है, न कि सन्धि को। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि से अन्त तक ब्रह्मा-युद्ध में अँगरेजों ने अत्यन्त अन्यायपूर्ण एवं अनीतिपूर्ण मार्ग का अवलम्ब लिया।

राज्य-विस्तार की नीति—जैसा कि पहले कहा गया है, लार्ड डलहौजी घोर साम्राज्यवादी था। उसके अष्टवर्षीय शासन-काल में उसका मुख्य ध्येय विभिन्न देशी राज्यों को हस्तगत कर ब्रिटिश राज्य की सीमाएँ बढ़ाना था। उसकी इस साम्राज्य विस्तारकारिणी नीति के दो मुख्य कारण थे। प्रथम उसके समय तक अँगरेज भारतवर्ष में सर्वशक्तिमान् हो चुके थे। अतः अब उनके लिए यह आवश्यक न था कि वे निर्बल देशी राजाओं के नाम पर शासन करें। उन राजाओं को सिंहासनस्थ रखने की आवश्यकता जाती रही थी। अतः लार्ड डलहौजी ने अनेक बहाने ढूँढ़-ढूँढ़ कर उनके राज्यों को ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित करना प्रारम्भ किया। द्वितीय, इँगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति से उसकी उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अब उसे अपने प्रचुर माल को खपाने के लिए विभिन्न बाजारों की आवश्यकता थी। इसके लिए भारत-वर्ष अत्यधिक उपयुक्त था। अँगरेजों ने सोचा कि यदि वह उनके हाथ में आ जाय तो वहाँ इँगलैंड-निर्मित वस्तुओं का खूब विक्रय हो सकता है। इन्हीं दो कारणों

से प्रेरित होकर लार्ड डलहौजी ने अनेक देशी राज्यों को ब्रिटिश-राज्य में मिलाया था।

पंजाब और ब्रह्मा के युद्धों के परिणामस्वरूप लार्ड डलहौजी ने जिस प्रकार अपने राज्य की पश्चिमीय एवं पूर्वीय सीमाओं का विस्तार किया था, उसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। अब हम अनेक छोटे-छोटे देशी राज्यों की स्वतन्त्रता-अपहरण का उल्लेख करेंगे।

राज्य हड़पने का सिद्धान्त—(Doctrine of Lapse) प्रत्येक साम्राज्यवादी अपने विचारों को कार्यान्वित करने एवं अपनी नीति का औचित्य सिद्ध करने के लिए कोई न कोई बहाना ढूँढ़ लेता है। यही हाल लार्ड डलहौजी का था। वह स्वभाव से साम्राज्यवादी था। पुनः, परिस्थिति ने उसके इस स्वभाव को और भी दृढ़ कर दिया था। अतः भारतवर्ष में उसका मुख्य ध्येय देशी राज्यों का अन्त करके अँगरेजी राज्य का विस्तार करना था। परन्तु देशी राज्यों को हस्तगत करने के लिए कोई कारण होना चाहिए था। इस कठिनाई का सामना करने के लिए उसने एक विचित्र नीति का अवलम्ब लिया जो इतिहास में 'लैप्स' के सिद्धान्त (Doctrine of Lapse) के नाम से विख्यात है। स्थूल रूप में इस नीति का यह अर्थ था कि कोई भी देशी नरेश ब्रिटिश सरकार की आज्ञा के बिना किसी को गोद नहीं ले सकता। पुनः अंगरेजों की स्वीकृति के बिना गोद लिया हुआ पुत्र देशी नरेश के राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। वास्तव में यह नीति कोई नई नीति न थी। सन् १८३४ से ही इँगलैंड के डाइरेक्टरों ने भारतवर्ष के गवर्नर-जनरलों के लिए यह सम्मति दे रक्खी थी कि वे गोद लेने का अधिकार अपवाद के रूप में दें नियम के रूप में नहीं। उनका आदेश था कि देशी नरेशों को गोद लेने का अधिकार कम से कम अवस्थाओं में दिया जाय और पुत्र-हीन होने पर उनके राज्यों को अँगरेजी राज्य में मिलाने की चेष्टा की जाय। परन्तु अभी तक इस नीति का अधिक उपयोग न किया गया था। लार्ड डलहौजी ने सर्वप्रथम इसका उपयोग अत्यधिक दृढ़ता एवं उग्रता से किया। उसके हाथों में पकड़कर यह नीति अनीति एवं अत्याचार का प्रमुख अस्त्र बन गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि लार्ड डलहौजी के समय तक अँगरेज भारतवर्ष में सबसे अधिक शक्ति-

शाली हो चुके थे। परन्तु यह कभी भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता कि केवल शक्ति के आधार पर उन्हें स्वतन्त्र, अर्धस्वतन्त्र अथवा परतन्त्र देशी राज्यों के उत्तराधिकार-निर्णय का अधिकार प्राप्त हो गया था। अनेक ऐसे राज्य थे जो निर्बल होते हुए भी अभी तक स्वतन्त्र थे। वे आखिर अपने उत्तराधिकार के विषय में अँगरेजों से राय क्यों लेते? उनके उत्तराधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप कर निश्चय ही लार्ड डलहौजी ने अनधिकारचेष्टा की थी। पुनः अपने-धर्म-शास्त्रों के अनुसार कोई भी हिन्दू किसी को भी गोद ले सकता था। उसका यह अधिकार सामाजिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वाभाविक चिन्ता होती है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति की उचित देख-रेख एवं उपभोग के लिए उसका कोई उपयुक्त उत्तराधिकारी हो। अतः औरस पुत्र न होने पर उसे किसी दूसरे को अपना दत्तक पुत्र बनाने का अधिकार मिला था। यह अधिकार धार्मिक महत्त्व भी रखता था। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक मृत हिन्दू की आत्मा को शान्ति-प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका पुत्र उसकी मृत्यु के पश्चात् यथा-समय कुछ धार्मिक क्रियाएँ करता रहे। अतः जिन लोगों के कोई अपना पुत्र न होता था उन्हें यह अधिकार था कि वे किसी को गोद लेकर अपना पुत्र बना लें। इस प्रकार हिन्दुओं में औरस पुत्र और दत्तक पुत्र की स्थिति समान है। उनमें कोई भेद नहीं माना जाता। अतः जब लार्ड डलहौजी ने गोद लेने के अधिकार को संकुचित करना प्रारम्भ किया तो समस्त हिन्दू-समाज क्षुब्ध हो गया। उनकी सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक भावना पर भीषण आघात हुआ। समस्त हिन्दू-नरेश सशंकित हो गये। बहुतों ने तो सोचा कि जब अँगरेज उनके दत्तक पुत्र को उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं करते हैं, तो सम्भव है कि भविष्य में वे उनके औरस पुत्र को भी स्वीकार न करें। इस प्रकार सारा वातावरण द्वेषमय हो गया जिसका दुष्परिणाम अँगरेजों को १८५७ की क्रान्ति में भुगतना पड़ा।

अपनी नीति के स्पष्टीकरण के लिए लार्ड डलहौजी ने भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया था। (१) स्वतन्त्र राज्य (Independent States) (२) आश्रित राज्य (Subordinate States) (३) अधीन

राज्य (Dependent States)। सैद्धान्तिक रूप से उसने प्रथम दो श्रेणियों को पुत्र गोद लेने का अधिकार दिया। परन्तु तृतीय श्रेणी को उससे वंचित कर दिया। परन्तु स्पष्ट व्याख्या से ज्ञात होता है कि उसका यह विभाजन एवं नियम अत्यन्त दोषपूर्ण था। यदि देखा जाय तो प्रथम श्रेणी का कोई भी देशी राय पूर्णरूप मे स्वतन्त्र न था। द्वितीय और तृतीय श्रेणियों का अस्पष्ट विभाजन तो और भी खलता है। अँगरेजी लेखों में कहीं भी 'आश्रित' एवं अधीन राज्यों का अन्तर स्पष्टतया नहीं बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि यह अस्पष्टता अँगरेजों ने जान-बूझकर रक्खी है। इससे डलहौजी की नीति अधिक बलवती हो गई। उसने स्वेच्छानुसार राज्यों का विभाजन किया और व्याख्या की और अस्पष्टता का लाभ उठाकर समय-समय पर उन्हें अँगरेजी राज्य में मिलाया। अब हम इस नीति के आधार पर अधिकृत देशी राज्यों का उल्लेख करेंगे।

सतारा—सन् १८४८—डलहौजी की नीति का सर्वप्रथम ग्रास सतारा-राज्य था। मन् १८४८ में उसका राजा मर गगा। उसके कोई पुत्र न था। अतः मृत्यु के पूर्व उसने हिन्दू शास्त्रों के अनुसार एक लड़के को गोद लिया। परन्तु डलहौजी ने उसके उत्तराधिकार को न माना, क्योंकि इसके लिए राजा ने पहले से अँगरेजों की स्वीकृति न ली थी। अतः सतारा अँगरेजी राज्य में मिला लिया गया।

बरार—सन् १८५३—निजाम-राज्य में अँगरेजों ने अपनी एक विशाल सेना रक्खी थी। इसका सम्पूर्ण व्यय निजाम को ही देना पड़ता था। राज्य की आर्थिक अवस्था शोचनीय होने का परिणाम यह हुआ कि निजाम इसके व्यय को चुकाने में असमर्थ हो गया और धीरे-धीरे उस पर अँगरेजों का ऋण चढ़ने लगा। सन् १,८०० की सन्धि के अनुसार निजाम ने अपने राज्य में एक सहायक मेना रखने का वचन दिया था। परन्तु यह सेना उस सहायक सेना के अतिरिक्त थी। अतः निजाम ने कई बार इस अतिरिक्त सेना को अपने राज्य मे हटाने की माँग की। परन्तु अँगरेजों की धमकी के सामने वह चुप हो गया। फलतः उस सेना के प्रचुर व्यय के कारण निजाम पर अँगरेजों का भारी ऋण हो गया। कुछ समय के पश्चात् यह ऋण ७,८०,००० पौंड हो गया। अतः

लार्ड डलहौजी ने सन् १८५३ में इस ऋण के बदले में निजाम-राज्य का बरार-प्रदेश लेकर ब्रिटिश-राज्य में मिला लिया।

झाँसी—सन् १८५३—सन् १८५३ में झाँसी के राजा गंगाधरराव की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था। अतः उसने आनन्दराव को गोद लिया और अँगरेजों को उसे उत्तराधिकारी स्वीकृत करने की प्रार्थना की। लार्ड हेस्टिंग्ज के साथ की गई सन्धि के अनुसार झाँसी-नरेश को अपना उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार दिया गया। परन्तु लार्ड डलहौजी ने उस सन्धि की अवहेलना कर झाँसी के उत्तराधिकार को अस्वीकृत कर सन् १८५३ में उसे अँगरेजी राज्य के अन्तर्गत कर दिया। उसका यह कार्य अत्यन्त अनीतिपूर्ण था। सन् १८५७ की क्रान्ति में झाँसी की वीर रानी ने इस अनीति एवं अपमान का बदला तलवार से लिया।

नागपुर—सन् १८५४—ऊपर बताया जा चुका है कि अँगरेजों ने सन् १८५३ में बरार पर अधिकार कर लिया था। नागपुर बरार के लिए एक विशिष्ट मुख-द्वार था। अतः डलहौजी ने अब उसे भी हस्तगत करने की योजना बनाना प्रारम्भ किया।

नागपुर के राजा राघोजी के कोई पुत्र न था। अतः उसने पुत्र गोद लेने के लिए अँगरेजों से आज्ञा माँगी। परन्तु अँगरेजों के उत्तर मिलने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। मरने के कुछ क्षण पूर्व उसने अपनी रानी को यशवन्तराव को गोद लेने की सम्मति दी। मृत पति की आज्ञानुसार विधवा रानी ने यशवन्तराव को अपना दत्तक पुत्र बनाया और अँगरेजों से उसके अनुमोदन की प्रार्थना की। परन्तु लार्ड डलहौजी का मन्तव्य तो कुछ दूसरा ही था। औचित्य और नीति के विचार को तिलाञ्जलि दे उसने यशवन्तराव के उत्तराधिकार को अस्वीकृत कर दिया और नागपुर को अँगरेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसके इस कार्य की जितनी भी निन्दा की जाय वह थोड़ी है।

अवध—सन् १८५६—डलहौजी का अन्तिम महत्त्वपूर्ण दृष्टिपात अवध पर हुआ। सन् १७६५ के बक्सर-युद्ध के पश्चात् अवध अँगरेजों के सम्पर्क एवं प्रभाव में आया। उस समय से लगातार वे उसके आर्थिक साधनों का अधिकाधिक प्रयोग करते रहे। जब कभी कम्पनी को धन का अभाव हुआ, तभी उसने

अवध के नवाब से किसी न किसी ढंग से उसे वसूल किया। प्रारम्भ में अँगरेज अवध के अस्तित्व को अक्षुण्ण रखना चाहते थे। अँगरेजी राज्य की पश्चिमीय सीमा अवध-राज्य द्वारा सुरक्षित रहती थी। परन्तु जब अँगरेजों ने पंजाब एवं अन्य पश्चिमीय देशीय राज्यों पर अधिकार कर लिया तो अवध की उपयोगिता जाती रही और वे उसे अपने राज्य में मिलाने का विचार करने लगे। परन्तु नवाब की स्वामिभक्ति के कारण उन्हें कोई अवसर न मिला।

परन्तु लार्ड डलहौजी जब अपनी सर्वविदित साम्राज्यवादिता को लेकर भारतवर्ष में आया तो उसे अवध के विरुद्ध पर्याप्त कारण ढूँढ़ने में देर न लगी। भाग्य से इँगलैंड के बोर्ड आफ कंट्रोल का तत्कालीन प्रेसीडेंट भी उसके पक्ष में था। सन् १८४९ में कर्नल स्लीमैन (Colonel Sleeman) नामक एक उग्र साम्राज्यवादी अँगरेज अवध में रेजीडेंट नियुक्त किया गया। उसने जाते ही अवध के विरुद्ध सामग्री एकत्रित करना प्रारम्भ कर दिया। उसने १८५१ ई० में जो रिपोर्ट प्रकाशित की उसमें अति व्यञ्जित रूप से अवध के नवाब के वैयक्तिक दुर्गुणों, शासन की कुव्यवस्था, सेना की निर्बलता एवं आर्थिक दुरवस्था का कुत्सित चित्र खींचा गया। १८५४ में कर्नल आउट्रम (Colonel Outram) उसका उत्तराधिकारी बनकर रेजीडेंट के रूप में अवध आया। उसने भी स्लीमैन के विचारों का समर्थन किया। इस प्रकार आवश्यक भूमिका तैयार कर लार्ड डलहौजी ने अँगरेज रेजीडेंट आउट्रम को लिखा कि नवाब से नई सन्धि की जाय और अवध-राज्य को अँगरेजी राज्य में मिला लिया जाय। नवाब वाजिदअली शाह ने ऐसी अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया जिसके अनुसार उसे १२ लाख रुपया वार्षिक की पेंशन देकर उसके राज्य के अपहरण की व्यवस्था की गई थी। अतः लार्ड डलहौजी ने अब बल-प्रयोग करने का निश्चय किया। अँगरेजी सेनाएँ लखनऊ भेजी गई और उनकी संगीनों के नीचे अवध-राज्य को ब्रिटिश-राज्य में मिलाने की घोषणा की गई। अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करते हुए १३ फरवरी, सन् १८५६ को लार्ड डलहौजी ने घोषणा की कि 'अँगरेज सरकार ईश्वर और मनुष्य-जाति के समक्ष अपराधी सिद्ध होगी यदि उसने एक ऐसे शासन के कायम रखने में योग दिया जो सहस्रों मनुष्यों के दुःख का कारण है।' परन्तु उसकी घोषणा का

तथ्य उस समय समझ में आया जब उन्हीं सहस्रों दुःखी मनुष्यों का विशाल समूह अपने नवाब के सिंहासन और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए लखनऊ की ओर टूट पड़ा। यदि नवाब ने उस क्रुद्ध एवं क्षुब्ध जन-समूह को शान्त न किया होता तो कदाचित् लार्ड डलहौजी का वह घोषणा-पत्र रक्त-रंजित हो उठता।

वास्तव में लार्ड डलहौजी का यह कार्य अत्यन्त गर्हित था। अवध-राज्य को हस्तगत करने के लिए उसने जिस अनीति और अत्याचार का प्रदर्शन किया उसकी समता इतिहास में बहुत कम मिलेगी। अवध का नवाब पूर्ण रूप से अँगरेजों के प्रति स्वामिभक्त था। उसने सदैव उनकी धन-जन से सहायता की थी। इतना होते हुए भी असत्य एवं अर्धसत्य आरोपों को लगाकर जब लार्ड डलहौजी ने पूर्वनिर्मित सन्धियों को भंग कर उसके राज्य को बलात् ब्रिटिश राज्य में मिला लिया तो कोई भी निष्पक्ष उसके इस उग्र एवं गर्हित कार्य का समर्थन न कर सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवाब वाजिदअली शाह का शासन-प्रबन्ध सराहनीय नहीं था, तथापि यदि जन-मत लिया जाता तो अवध की प्रजा अँगरेजों की अपेक्षा अपने नवाब की ही छत्रछाया में रहना अधिक पसन्द करती। परन्तु साम्राज्यवाद का प्रेत जन-मत की अपेक्षा नहीं करता। वह अपने कार्य के औचित्य को तलवार की धार से प्रमाणित करता है। सन् १८५६ की परिस्थिति अँगरेजों के अनुकूल थी। अतः अवध के राजाओं, ताल्लुकदारों और प्रजा ने यह अपमान रक्त के घूँट की भाँति पी लिया। परन्तु एक वर्ष पश्चात् वायु की दिशा बदली। देश में साम्राज्यवादी प्रेत के विरुद्ध क्रान्ति हुई और उस समय अवध ने अपने अपमान का बदला जी भरकर लिया।

इसी प्रकार साम्राज्यवादी डलहौजी ने जैतपुर, सम्भलपुर, बाघट एवं उदयपुर के छोटे-छोटे राज्यों को भी अँगरेजी राज्य में मिला लिया। वह करौली के राज्य को भी हस्तगत करना चाहता था, परन्तु इँगलैंड के डाइरेक्टरों के हस्तक्षेप से वह ऐसा न कर सका।

पदों और पेंशनों की समाप्ति--अनेक राज्यों को हस्तगत करने के पश्चात् लार्ड डलहौजी ने अपना ध्यान देशी राजाओं के पदों एवं उनकी पेंशनों की ओर दिया। उसने घोषित किया कि उपाधि और पेंशन व्यक्तिगत होती है।

यदि वे एक राजा को दी गई तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे उसके उत्तराधिकारी को भी दी जायेंगी। राजा के मरने के पश्चात् वे बन्द की जा सकती हैं। इस छलपूर्ण तर्क को सामने रखकर उसने देशी राजाओं को अपमानित करना प्रारम्भ किया।

सर्वप्रथम धोंधूपन्त अथवा नाना साहब इस परिवर्तित नीति का शिकार हुआ। वह विगत पेशवा बाजीराव द्वितीय का दत्तक पुत्र था। मराठा-युद्ध के पश्चात् लार्ड हेस्टिंग्ज ने बाजीराव के लिए ८ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन एवं विठूर का नगर स्वीकृत किया था। सन् १८५२ में बाजीराव मर गया और उसके दत्तक पुत्र नाना साहब ने अपने उत्तराधिकार की स्वीकृति के लिए लार्ड डलहौजी से प्रार्थना की। परन्तु वह अस्वीकृत कर दी गई। इस अन्याय का बदला नाना साहब ने १८५७ की क्रान्ति में लिया।

इसी प्रकार कर्नाटक और तंजौर के नये नरेशों की उपाधियाँ छीन ली गईं। इन सब कार्यों का परिणाम अन्ततोगत्वा अच्छा न हुआ। डलहौजी के समय तो शान्ति रही; परन्तु वह शान्ति आगामी तूफान की सूचना दे रही थी। उसके जाते ही विस्फोट हुआ जिसने ब्रिटिश राज्य की नींव हिला दी।

कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र (सन् १८५३)—सन् १८५३ में कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र दिया गया। इससे उसका अस्तित्व तो कायम रहा, परन्तु उसकी शक्ति बहुत कुछ ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में चली गई। कम्पनी के हाथ से व्यापार करने का अधिकार छीन लिया गया। डाइरेक्टरों की संख्या २४ से घटाकर १८ कर दी गई। भविष्य में इनमें से ६ का चुनाव ब्रिटिश सम्राट्-द्वारा करने की व्यवस्था बनाई गई। डाइरेक्टरों के अनेक अधिकार बोर्ड आफ कण्ट्रोल को हस्तान्तरित कर दिये गये। अभी तक भारतवर्ष के उच्च पदों की नियुक्ति डाइरेक्टर ही करते थे। इन पदों पर वे प्रायः अपने सम्बन्धी एवं मित्रों को ही भेजते थे। परिणाम यह हुआ कि शासन-कार्य के लिए योग्य मनुष्यों का अभाव हो गया। सर्वत्र अयोग्य एवं भ्रष्ट अफसर ही नियुक्त होने लगे। इस दोष को दूर करने के लिए इस ऐक्ट ने पदों के लिए प्रार्थियों की परीक्षा की व्यवस्था की। पुनः, इस ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल के अधिकारों को बढ़ा दिया। अब कानून बनाने के पूर्व उसकी स्वीकृति अनिवार्य हो गई।

देश में अँगरेजी भाषा का भी अधिक प्रसार न हो सका था। अतः अब डलहौजी ने शिक्षा की व्यवस्था की। १८५७ के ऐक्ट के द्वारा बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये। देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया गया।

डलहौजी के कार्य--जैसा कि पहले बताया जा चुका है, डलहौजी एक घोर साम्राज्यवादी था। उसके अष्टवर्षीय शासन ने भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य का खूब विस्तार किया। इस विस्तार-कार्य के लिए उसने युद्ध किये, षड्यन्त्र किये और बहुधा अत्यन्त अनीतपूर्ण साधनों का अवलम्ब लिया। परिणाम यह हुआ कि देश में चतुर्दिक असन्तोष व्याप्त हो गया जिसने १८५७ की क्रान्ति को जन्म लेने में योग दिया।

डलहौजी के अन्य शासन-सुधार भी अँगरेजी राज्य को दृढ़तर करने की दृष्टि से ही किये गये थे। उसमें भारतीय जनता के प्रति हितैषिता की भावना न थी। रेल, तार, डाकखाना, शिक्षा आदि के विभागों में जो नई व्यवस्था की गई, उससे अप्रत्यक्ष रूप से भारतवासियों को अवश्य लाभ हुआ, परन्तु उसका मुख्य लक्ष्य अँगरेजी यातायात को सुविधाजनक बनाना एवं अँगरेजी शासन को लोकप्रिय दिखाने का स्वाँग रचना था। डलहौजी की व्यापारिक व्यवस्था ने देश का अधिकांश व्यापार अँगरेजों के हाथ में दे दिया। भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी और उसका धन इंगलैंड की ओर बहने लगा।

अध्याय २७

१८५७ की क्रान्ति

लार्ड कैनिंग—लार्ड डलहौजी के पश्चात् फरवरी सन् १८५६ में लार्ड कैनिंग भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल होकर आया। वह एक कुशल एवं सहृदय शासक था। इँगलैंड में वह अपनी विद्वत्ता एवं बुद्धि-कुशाग्रता के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। गवर्नर-जनरल के पद पर आने के पूर्व वह पोस्टमास्टर जनरल रह चुका था जिससे उसमें कार्यक्षमता एवं शासन-निपुणता के गुणों का समावेश हो चुका था। आशा की जा सकती थी कि ऐसे गवर्नर-जनरल का शासन अवश्य ही भारतवर्ष के लिए सुखद एवं शान्तिप्रिय सिद्ध होगा। परन्तु हुआ कुछ दूसरा ही। वह ऐसे समय में भारतवर्ष आया जब यहाँ का सम्पूर्ण वातावरण असन्तोष एवं अशान्ति से व्याप्त था। डलहौजी के अनीतिपूर्ण कार्यों और जघन्य अन्यायों ने भारतवासियों को अँगरेजी शासन का कट्टर शत्रु बना दिया था। उसकी साम्राज्य-विस्तार-कारिणी उग्र नीति से समस्त देशी नरेश-मण्डल विक्षुब्ध हो चुका था। इस चतुर्दिक् असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि सन् १८५७ में विस्फोट हुआ जिसने अँगरेजी शासन की जड़ें हिला दीं। अब हम इस विस्फोट के कारणों का सविस्तार वर्णन करेंगे।

यद्यपि इस क्रान्ति के विषय में साहित्य तो बहुत मिलता है, परन्तु वह अधिकांश में अँगरेज इतिहासकारों द्वारा लिखा गया है। अतः उसमें निष्पक्षता का अभाव है। भारतीय विद्वानों ने इस दिशा में जो कुछ भी अन्वेषण-कार्य किया है, वह अभी तक अपर्याप्त एवं असन्तोषजनक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस क्रान्ति का मुख्य उद्देश्य अँगरेजी शासन का मूलोच्छेदन करना था। परन्तु अनेक कारणों से यह क्रान्ति केवल उत्तर भारतवर्ष में ही सीमित रही; दक्षिण ने उसमें योग न दिया। पुनः, उत्तर में भी पंजाब एवं अनेक अन्य देशी राज्य थे जिन्होंने न केवल इस क्रान्ति से असहयोग किया, वरन् इसका दमन करने में

अँगरेजों की पूर्ण सहायता की। अतः इन कारणों के विद्यमान रहते हुए इस स्वतन्त्रता-संग्राम को राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता।

सन् १७५७ के प्लासी के युद्ध ने भारतवर्ष में अँगरेजी शासन का श्रीगणेश किया और सन् १८५७ की क्रान्ति ने उस शासन का मूलोच्छेदन करने का सर्व-प्रथम उल्लेखनीय प्रयास किया। अतः इस क्रान्ति के कारणों को जानने के लिए हमें इन १०० वर्षों (१७५७-१८५८ ई०) के इतिहास का सिंहावलोकन करना चाहिए। केवल चर्बी के कारतूस इतनी बड़ी क्रान्ति के कारण न हो सकते थे। उन्होंने तो केवल दियासलाई का कार्य किया था। वास्तव में विस्फोटक पदार्थ तो पहले से ही अन्य राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक तथा सैनिक कारणों से एकत्रित हो चुका था। उन कारणों का उल्लेख न करके अँगरेज इतिहासकार क्रान्ति के वास्तविक महत्व को छिपाना चाहते हैं। वे इसे स्वतन्त्रता-संग्राम का रूप नहीं देना चाहते। उनकी दृष्टि में तो यह क्रान्ति धर्मान्धिता एवं रूढ़िवादिता का परिणाम थी। यही कारण है कि वे इसे केवल सैनिक-विद्रोह कहते हैं। परन्तु हम देखेंगे कि यह केवल सैनिक विद्रोह न था, वरन् इसके तल में अनेक देशी राजाओं, नवाबों और देश-भक्तों के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग तथा सहानुभूति की अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह स्वतन्त्रता-प्राप्ति का एक प्रबल प्रयास था, परन्तु अभाग्यवश अनेक कारणों से यह प्रयास सम्पूर्ण देश का सहयोग न पा सका और इसी से राष्ट्रीय न हो सका।

राजनीतिक कारण—मुगल-सत्ता के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी दिल्ली के मुगल-सम्राट् की प्रतिष्ठा नष्ट न हुई थी। उसके पश्चात् भी वह बहुत दिनों तक सैद्धान्तिक रूप से सम्पूर्ण भारतवर्ष का बादशाह माना जाता था। आसफजाह, मराठा, नवाब-वजीर और स्वयं अँगरेजों ने भी सम्राट् के सैद्धान्तिक प्रभुत्व का कभी भी विरोध न किया था। प्रत्येक दल उसी के नाम पर शासन करता था। अँगरेजों ने यद्यपि भारतवर्ष में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी तथापि वे अपने को मुगल-सम्राट् के अधीन ही समझते थे। कम्पनी की मुहरों में गवर्नर-जनरल का नाम सम्राट् के सेवक के रूप में अंकित किया जाता था। प्रत्येक अँगरेज पदाधिकारी (स्वयं गवर्नर-जनरल भी) जब कभी दिल्ली दरबार

जाता था तो सम्राट् को पूर्व निर्धारित प्रथा के अनुसार, झुककर सादर सलाम करता था और उसे 'नजर' भेंट करता था। उसका यह कार्य अधीनता-सूचक होता था। सन् १७७८ से सन् १८३५ तक के समस्त कम्पनी के सिक्के सम्राट् शाह आलम के नाम पर ही ढाले गये थे। सिंधिया को पराजित करने के पश्चात् वेलेजली ने सम्राट् को आश्वासन दिया था कि अँगरेजों की प्रभुता के कारण सम्राट् की प्रतिष्ठा को किसी प्रकार का आघात न पहुँचेगा। परन्तु जैसे-जैसे अँगरेजों की शक्ति का विस्तार होता गया वैसे ही वैसे सम्राट् के प्रति उनके व्यवहार में परिवर्तन होने लगा। उन्होंने उसे 'नजर' एवं सम्मान, प्रदर्शित करना बन्द कर दिया। १८३५ के पश्चात् से अँगरेजी सिक्के पर से उसका नाम हटा दिया गया और उसके स्थान पर अँगरेज सम्राट् का नाम अंकित किया जाने लगा। परन्तु उनके इन कार्यों से भारतीय जनता में बड़ा असन्तोष फैला। मुगल-सम्राट् चाहे जितना निर्बल रहा हो, लोक-मत उसका आदर करता था। अतः जब अँगरेजों ने उनके सम्राट् की अवहेलना करना प्रारम्भ किया तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। उनका यह असन्तोष धीरे-धीरे बढ़ता गया। अन्त में सन् १८५७ में उसी मुगल-सम्राट् की पताका के नीचे क्रान्ति का बिगुल बजाकर उन्होंने अँगरेजों से चिर-संचित अपमानों का बदला लिया।

इसी प्रकार अवध के नवाब और झाँसी की रानी के प्रति किये गये अँगरेजों के दुर्व्यवहार ने जनता को क्षुब्ध कर दिया। उसने क्रान्ति के समय उन्हीं को अपना नेता बनाया और अँगरेजों की शासन-सत्ता का कुछ समय के लिए निराकरण कर दिया। लार्ड डलहौजी की देशी राज्यों के प्रति जो उग्र नीति थी, वह भारतीय जनता को महान् अपमानकर प्रतीत हुई। अपनी आँखों के समक्ष एक विदेशी शक्ति-द्वारा अपने नरेशों को अपमानित एवं सिंहासन-च्युत होते देख वह व्यथित हो उठी। इसी व्यथा ने क्रान्ति के समय भीषण प्रतिरोध का रूप धारण किया जिसके समक्ष अँगरेजों की शक्ति कुछ समय के लिए पंगु हो गई।

आर्थिक कारण—अँगरेजों के आगमन के पूर्व भी देश में अनेक बार राजनीतिक उथल-पुथल हुई थी। भारतवर्ष में अनेक शासकों का उदय और अन्त हुआ। दिल्ली-सिंहासन पर अनेक सम्राट् आसीन एवं च्युत हुए। परन्तु इन

राजनीतिक परिवर्तनों ने देश की आर्थिक व्यवस्था पर अधिक प्रभाव न डाला। वह न्यूनाधिक रूप में पूर्ववत् ही बनी रही। इसका एक विशेष कारण था। देश में कोई भी राज्य करे, परन्तु उसका समस्त धन एवं उसके सम्पूर्ण साधनों का उपयोग देश के भीतर ही होता था। देश की सम्पत्ति उसकी सीमाओं के बाहर न जाती थी। परन्तु कम्पनी के राजसत्ता पाने पर परिस्थिति बदल गई। वह इँगलैंड के आश्रित थी। अत: इँगलैंड का हित सदैव उसके लिए सर्वोपरि था। ऐसी दशा में स्वाभाविक था कि वह भारतीय स्वार्थों की अपेक्षा स्वदेशीय स्वार्थों का अधिक ध्यान रखती। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष का धन विदेश जाने लगा। उसका आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का बनाया जाने लगा कि वह अधिकाधिक रूप में इँगलैंड की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। १९वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इँगलैंड संसार का एक कारखाना बन गया था। उसके उत्पादन के लिए कच्चे माल की आवश्यकता थी और बने हुए माल के लिए बाजार की। अत: भारतवर्ष में अँगरेजी नीति का निर्धारण इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु हुआ। अँगरेजों की अन्याय-पूर्ण नीति के परिणाम-स्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे लुप्त होने लगे। अत: अब देश की जीविका का मुख्य साधन कृषि-कर्म रह गया। भारतवर्ष का कच्चा माल प्रचुर परिमाण में इँगलैंड जाने लगा और उसके बदले में यहाँ इँगलैंड-निर्मित वस्तुएँ आने लगीं। भारतवर्ष उस पयस्विनी गौ के समान था जिसका समस्त दूध उसके बछड़ों से छीनकर दूसरों को दिया जाने लगा। अत: स्पष्ट है कि देश की आर्थिक स्थिति धीरे-धीरे शोचनीय होने लगी।

अँगरेजी शासन के अन्तर्गत बहुसंख्यक पुराने जमींदारों एवं ताल्लुकदारों के भूमि-अधिकार छीन लिये गये थे। इससे देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा। जनता ने इस परिवर्तन का कभी भी स्वागत न किया। अँगरेजी शासन की अपेक्षा देशीय जमींदारों एवं ताल्लुकदारों का शासन उसे रुचिकर था। परिणाम यह हुआ कि १८५७ की क्रान्ति में जब इन ताल्लुकदारों एवं जमींदारों ने अँगरेजों के विरुद्ध विद्रोह किया तो जनता ने भी उसमें योग दिया।

सामाजिक एवं धार्मिक कारण——भारतवर्ष की हिन्दू सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। वास्तव में हिन्दू-समाज का प्रत्येक नियम——उत्तराधिकार, विवाह, सम्पत्ति-अधिकार आदि के नियम——कतिपय धार्मिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं। फलत: उनमें कोई परिवर्तन करने का अर्थ हिन्दू-धर्म में हस्तक्षेप करना है। धर्म के समान हिन्दू को कोई भी वस्तु प्रिय नहीं। जन्म से मरण तक उसका समस्त जीवन धार्मिक संस्कारों में ही व्यतीत होता है। यही क्यों, मृत्यु के पश्चात् भी उसके नाम पर अनेकों प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ जारी रहती हैं। हिन्दू जीवन का प्रमुख ध्येय मुक्ति है। वह वर्तमान की उपेक्षा करता हुआ सदैव अपने भविष्य के निर्माण का सतत प्रयत्न करता है।

अँगरेज हिन्दू-जीवन के मूलभूत धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। उन्होंने उन्हें समझने का प्रयत्न भी नहीं किया। अपनी शक्ति का सहारा लेकर उन्होंने समस्त भारतवर्ष को पदाक्रान्त कर डाला था। अपने विजय-गर्व में अब उन्होंने भारतीय समाज का काया-पलट करना प्रारम्भ किया। उन्होंने यहाँ के उत्तराधिकारी, विवाह, सम्पत्ति, अधिकार आदि के नियमों को पाश्चात्य-रूप देने का निश्चय किया। पुन: अँगरेजों ने भारतीय समाज में धर्म-परिवर्तन करने का भी संगठित प्रयास किया। हिन्दू-समाज में धर्म-परिवर्तन का कोई स्थान नहीं। जन्म से जो हिन्दू नहीं है, वह हिन्दू नहीं हो सकता। सर्व-प्रथम पुर्तगालियों ने धर्मपरिवर्तन को अपनी राजनीति में स्थान दिया था। उन्हीं से अँगरेजों ने इसे ग्रहण किया। अँगरेजों ने यह कार्य बड़े कूटनीतिक ढंग से किया। ईसाई धर्म का प्रचार-कार्य प्राय: मिशनरी एवं व्यक्ति-विशेष करते थे। बहिर्दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता था कि सरकार को इन मिशनरियों एवं व्यक्तियों से कोई सरोकार नहीं। परन्तु गुप्त रीति से अँगरेजी सरकार सदैव इन्हें आर्थिक सहायता एवं प्रोत्साहन देती रहती थी। बहुत से तो अँग-रेज सेना में इसीलिए गये थे कि वहाँ भारतीय सिपाहियों के बीच वे अपने धर्म का प्रचार सुगमतापूर्वक कर सकेंगे। इस घृणित कार्य में प्रोत्साहन, प्रचार, प्रलोभन एवं आतंक और भय का उपयोग किया गया। धर्म-परिवर्तन करनेवाले भारतीय सिपाहियों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये जाने लगे। जो लोग इस प्रकार के

परिवर्तन का विरोध करते थे, उनकी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता था। परिणाम यह हुआ कि सेना में उत्तरोत्तर असन्तोष बढ़ता गया।

भारतवर्ष सदैव से धर्म-सहिष्णु देश रहा है। अतः वह अँगरेजों के धर्म-प्रचार का विरोध न करता था, वह तो उन घृणित साधनों का विरोध करता था जिन्हें अँगरेज अपनी कार्य-सिद्धि के लिए उपयुक्त करते थे। ईसाई पादरी घूम-घूमकर स्वेच्छानुसार अपनी धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार कर सकते थे, कोई भी व्यक्ति उनके इस कार्य में बाधा न उपस्थित करता था। परन्तु अपने धर्म-प्रचार के समय जब वे हिन्दू एवं इस्लाम धर्म के लिए अनुचित एवं अवज्ञापूर्ण शब्दों का प्रयोग करते थे, तो भारतीय जनता विक्षुब्ध हो जाती थी। उनके इस कार्य में जब स्वयं सरकार योग देती थी, तो उसके असन्तोष की सीमा न रहती थी। वह अंगरेजी सरकार की नीति को शंकापूर्ण दृष्टि से देखने लगी। लार्ड डलहौजी की गोद न लेने देने की नीति ने अग्नि में घृत का कार्य किया। इससे हिन्दू-भावना को बड़ा आघात पहुँचा।

सैनिक कारण—स्वदेशीय सैनिकों के अभाव के कारण कम्पनी को अपनी सेनाओं में भारतीयों को भर्ती करना पड़ा था। यह प्रणाली भी उन्होंने पुर्तगालियों से ही सीखी थी। वास्तव में अँगरेजों ने भारतवर्ष न जीता था, परन्तु भारतीय सैनिकों ने ही उनके लिए अपने देश को गुलाम बना दिया था। भारतीयों ने अपने देशवासियों के विरुद्ध यह सैनिक-वृत्ति क्यों स्वीकार की, इसके कई कारण थे। इनमें प्रमुख राष्ट्रीयता की भावना का अभाव और धन-लोलुपता ही थे।

कम्पनी की सम्पूर्ण सेना बंगाल, बम्बई एवं मद्रास की प्रेसीडेंसियों के अन्तर्गत विभक्त थी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बंगाल की सेना थी। इस सेना में उच्च वर्ण के ब्राह्मण और क्षत्रिय सम्मिलित थे। अँगरेजों के विरुद्ध व्याप्त चतुर्दिक् सामाजिक असन्तोष से ये अप्रभावित न रह सके। सेना के भीतर और बाहर होनेवाले अँगरेजो के कुत्सित धर्म-प्रचार ने इन्हें क्षुब्ध कर दिया था। अवध के नवाब एवं अन्य देशी राज्यो के साथ जो अनीति और अत्याचार के कार्य हुए थे, उनसे भारतीय जनता तो व्यथित थी ही सैनिक-वर्ग भी उनसे कम सहानुभूति न रखता था। अवध को अपने राज्य में मिलाकर अँगरेजों ने उसकी

देशी सेना को भंग कर दिया था। ये समस्त वृत्तिहीन सैनिक अँगरेजों के कट्टर शत्रु बन गये थे। यही दशा अन्य देशी राज्यों के पदच्युत सैनिकों की थी।

वास्तव में अँगरेजों के अधीनस्थ समस्त देशी सैनिक-वर्ग अँगरेजों के विश्वास-घात, छल-छद्म एवं गर्हित कूटनीतिज्ञता से परिचित हो गया था। उसे धीरे-धीरे आभास हो गया था कि धन का लोभ देकर अँगरेजों ने उसे अपने ही देश के विरुद्ध शस्त्र पकड़ाये हैं। अँगरेज पदाधिकारियों को भी विदित हो गया था कि अब भारतीय सैनिक में वह स्वामिभक्ति नहीं जिसके लिए वह भूतकाल में बड़े-बड़े अँगरेज सेनापतियों की प्रशंसा-पात्र बन चुकी थी। अतः उन्होंने अब अपनी सैनिक व्यवस्था में गोरखों और सिक्खों को अधिक संख्या में रखना प्रारम्भ किया। उनके इस कार्य से देशी सैनिकों में और अधिक शंका बढ़ गई। उन्होंने समझा कि कदाचित् अँगरेज उन्हें नौकरी से निकालना चाहते हैं।

नये गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग को कतिपय सैनिक-आज्ञाओं ने उनके असन्तोष की और भी वृद्धि की। उसने एक नया आदेश निकाला जिसका आशय यह था कि भविष्य में वही व्यक्ति सेना में भर्ती किये जायँ जो प्रत्येक स्थान पर आने-जाने के लिए प्रस्तुत रहें। इस आज्ञा के अनुसार अब वे समुद्र-पार विदेशों में भी भेजे जा सकते थे। परन्तु विदेश-यात्रा का अर्थ था सामाजिक बहिष्कार। अतः सैनिकों ने इसे अपने धर्म के ऊपर एक अन्य आघात समझा। इसी प्रकार एक दूसरी आज्ञा निकाली गई जिसके अनुसार सैनिकों को भी अपने पत्रों के लिए टिकट के रूप में महसूल देने के लिए बाध्य किया गया। इसके पूर्व उनके पत्र निःशुल्क जाया करते थे। अतः सैनिकों को यह नई व्यवस्था बहुत खली। पुनः, एक तृतीय आदेश निकालकर घोषित किया गया कि जो सैनिक विदेश में नौकरी करने के अनुपयुक्त पाया जायगा उसे अवकाश प्राप्त होने पर पेंशन न मिलेगी, वरन् छावनी के कार्य में नियुक्त किया जायगा। इस आज्ञा से सैनिकों को विश्वास हो गया कि अँगरेज उनके हितों पर कुठाराघात कर रहे हैं। अतः अब वे असन्तोष मे जल उठे।

नये कारतूस—इस चतुर्दिक् व्याप्त असन्तोष में नये कारतूसों ने चिनगारी का काम किया। सन् १८५३ के लगभग एक नये प्रकार के कारतूस जारी किये गये जिसमें गाय और सुअर की चर्बी प्रयुक्त की गई थी। प्रयुक्त करने के

प्रथम सैनिकों को इन्हें मुँह से काटना पड़ता था। प्रारम्भ में न्यून संख्या में होने के कारण ये नये कारतूस केवल कतिपय रेजीमेण्टों को प्रयोगार्थ दिये गये थे। पुनः भारतीय सैनिकों को ज्ञात भी न था कि इनमें गाय और सुअर की चर्बी लगी हुई है। अतः कुछ दिनों तक वे उनका प्रयोग करते रहे। परन्तु जैसे-जैसे नये कारतूसों का प्रयोग बढ़ता गया वैसे ही वैसे लोगों को उनमें प्रयुक्त चर्बी का ज्ञान भी होता गया। इस सत्य ने उनकी धार्मिक भावना को बड़ा आघात पहुँचाया और वे विक्षोभ से जल उठे।

दमदम की दुर्घटना—जनवरी १८५७—जनवरी मास, १८५७ में एक दिन एक ब्राह्मण एक लोटा लिये बैरेक की ओर जा रहा था। मार्ग में कुछ सैनिकों ने पानी पीने के लिए उससे लोटा माँगा, परन्तु ब्राह्मण ने अपवित्र होने के भय से अपना लोटा देने से इनकार कर दिया। इस पर वे सैनिक बोले कि अब ब्राह्मणों को अपनी उच्चता और पवित्रता पर गर्व करने का अधिक अवसर न मिलेगा। शीघ्र ही सेना में गाय और सुअर की चर्बीवाले कारतूस जारी किये जानेवाले हैं। ये अब भारतीयों को समान रूप से धर्म-भ्रष्ट कर देंगे। यह सुनकर ब्राह्मण अवाक् रह गया। उसकी ग्लानि की सीमा न रही। वह शीघ्र ही अपने बैरेक में आया और उसने सारा समाचार अपने साथी सैनिकों से कहा। फलतः शीघ्र ही हिन्दू-मुसलमान सब सैनिकों में असन्तोष फैल गया। उन्होंने समझा कि अब अँगरेज उन सबको समूह-रूप में ईसाई बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अँगरेज पदाधिकारियों ने उन्हें समझाना चाहा, परन्तु कुछ परिणाम न हुआ। थोड़े ही समय में असन्तोष देशव्यापी हो गया और चारों ओर प्रतिशोध की पुकार होने लगी। अन्त में असह्य क्रोध और क्षोभ के वशीभूत होकर एक दिन मंगल पाण्डेय नामक ब्राह्मण सैनिक ने उस भीषण असन्तोष में दीपशलाका लगा दी और १८५७ की क्रान्ति धधक उठी।

क्रान्ति का संगठन—क्रान्ति के नेताओं के लिए यह कारतूसों की घटना अहितकर सिद्ध हुई क्योंकि इसने पूर्व निर्धारित तिथि के पूर्व ही विस्फोट करके उनकी सम्पूर्ण योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया। देश के नेता बहुत दिनों से अँगरेजी शासन की समाप्ति के लिए उद्योग कर रहे थे। चतुर्दिक् अशान्ति और असन्तोष का लाभ उठाकर उन्होंने सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनाई थी।

इस क्रान्ति की तिथि ३१ मई, सन् १८५७ निश्चित की गई थी। उसी दिन चारों ओर एक साथ विद्रोह करना निश्चित हुआ था। विगत बाजीराव पेशवा का दत्तक पुत्र नाना साहब (धुंधू पन्त) और उसका वकील अजीमुल्ला इस क्रान्ति के सर्वप्रमुख संगठनकर्ता थे। पहले बताया जा चुका है कि डलहौजी ने बाजीराव पेशवा की मृत्यु के पश्चात् नाना साहब को पेंशन देना बन्द कर दिया था। तभी से वह अँगरेजों का कट्टर शत्रु बन गया था। उसका वकील अजीमुल्ला उसके पक्ष को लेकर इँगलैंड के पदाधिकारियों से मिलने भी गया था, परन्तु उसका कोई परिणाम न हुआ। इँगलैंड में अजीमुल्ला की भेंट सतारा के राजा के वकील रंग बापू से हुई। रंग बापू भी अपने स्वामी के पक्ष को लेकर इँगलैंड आया था और उसे भी असफलता रही थी। दोनों ही वकील अँगरेजों के विश्वासघात एवं छल-छद्म से क्रुद्ध थे। अतः उन दोनों ने अँगरेजी शासन के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति करने की एक योजना बनाई। इसके लिए उन दोनों ने अन्य देशी एवं विदेशी राज्यों से भी सम्पर्क स्थापित करना प्रारम्भ किया। रंग बापू देशी राज्यों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए भारतवर्ष चला आया और अजीमुल्ला ने सहानुभूति-प्राप्ति के लिए रूस, मिस्र, इटली और टर्की की यात्रा की। इस यात्रा का निश्चत फल तो ज्ञात नहीं, हाँ इतना अवश्य था कि १८५७–५८ की क्रान्ति के समय सर्वसाधारण को यह विश्वास था कि शीघ्र ही इटली का गैरीबाल्डी और रूस का जार भारतवासियों का पक्ष लेकर अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध घोषित करनेवाले हैं।

अपनी विदेश यात्रा समाप्त करने के पश्चात् अजीमुल्ला भारतवर्ष वापस लौटा और नाना साहब के साथ क्रान्ति की योजना बनाने में तत्पर हो गया। वेश बदल कर नाना के दूतों ने क्रान्ति की योजना दूर-दूर तक फैला दी। उन्होंने भारतीय सैनिकों से भी सम्पर्क स्थापित किया और उन्हें अपने पक्ष में कर लिया। अनेक देशी राज्यों ने इस योजना को सफल बनाने की प्रतिज्ञा की। निश्चित हुआ कि यह सशस्त्र क्रान्ति दिल्ली-सम्राट् बहादुरशाह के नाम पर ३१ मई सन् १८५७ को की जाय और अँगरेजों से भारवर्ष को स्वतन्त्र करने के पश्चात् उसी को सम्राट् बनाया जाय। इस विद्रोह की रूप-रेखा निश्चित करने के लिए दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले में गुप्त सभाएँ होने

लगीं। बहादुरशाह एवं बुद्धिमती बेगम जीनत महल ने इस योजना के साथ पूरी सहानुभूति एवं सहयोग-भावना दिखाई। अवध के सिंहासन-च्युत नवाब वाजिदअली शाह, उसकी बेगम हजरत महल और उसका वजीर अली-नकी खाँ भी योजना-निर्माताओं में आ मिले। इनके दूतों ने साधुओं और पीरों का वेश बनाकर सम्पूर्ण देश का दौरा किया। ये सेनाओं के हिन्दू-मुसलमान सैनिकों एवं दफ्तरों के कर्मचारियों से मिले। उन सबने गंगा और कुरान की शपथ खाकर उनकी योजना में सक्रिय भाग लेने का वचन दिया। उधर मौलवी अहमदशाह ने लखनऊ, फैजाबाद और आगरा में अपनी अद्भुत वाक्शक्ति द्वारा देशवासियों को अँगरेजी अनीति और अत्याचार के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए उत्तेजित करना प्रारम्भ किया। चारों ओर का वातावरण भारतीय स्वतन्त्रता के आगामी संग्राम के उत्साह से भर गया। परन्तु यह सब कार्य इस विचित्र एवं गुप्त रीति से हुआ था कि अँगरेजों के कान में भनक तक न पड़ी। भारतीय क्रान्ति के नेताओं की कार्यक्षमता का यह अभूतपूर्व प्रमाण था जिसको सुनकर बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ आज भी आश्चर्य में मौन हो नत मस्तक हो जाते हैं।

कमल का फूल और चपाती—नेताओं ने कमल के फूल और चपाती को क्रान्तिसूचक चिह्न निर्धारित किया। कमल क्रान्तिकारिणी सेना एवं चपाती क्रान्तिकारिणी जनता का चिह्न था। ये दोनों चिह्न छावनी-छावनी और गाँव-गाँव घमाये गये और इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्ष आनेवाले विस्फोट से अवगत हो गया।

नाना साहब की तीर्थ यात्रा—योजना को अन्तिम रूप देने एवं संगठन का पर्यवेक्षण करने के लिए नाना साहब ने अपने वकील अजीमुल्ला और भाई बाला साहब के साथ तीर्थ-यात्रा के बहाने देश का दौरा करना प्रारम्भ किया। मार्च, सन् १८५७ को वह बिठूर से चला। सर्वप्रथम वह दिल्ली गया और वहाँ उसने मुगल-सम्राट् बहादुरशाह से अन्तिम परामर्श किया। तत्पश्चात् वह लखनऊ, अम्बाला आदि उत्तर भारतवर्ष के प्रमुख नगरों के क्रान्तिकारियों से मिला। सबसे परामर्श करने के पश्चात् उसने ३१ मई, सन् १८५७ सशस्त्र क्रान्ति की तिथि निश्चित की।

मगल पाण्डेय—दमदम की घटना—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जनवरी, सन् १८५७ को दमदम में कारतूसों की चर्बी की सत्यता सैनिकों को ज्ञात हो गई। कुछ सप्ताह ही में यह सूचना समस्त बंगाल की सेना में फैल गई। सैनिकों का धैर्य जाता रहा। वे प्रतिशोध के लिए विकल हो उठे। परन्तु क्रान्ति की तिथि ३१ मई निश्चित हुई थी। अतः देशी नेताओ ने उन्हें शान्त करने चेष्टा की, परन्तु वे असफल रहे। वीरकर्मा सैनिकों के धैर्य का बाँध टूट चुका था। अँगरेज अभी तक सो रहे थे। उन्हें कुछ पता ही न था। अपनी पाशविक शक्ति पर गर्वित इन अँगरेजों को भारतीय कार्यक्षमता का अभी अनुमान न था। अतः उन्होंने आज्ञोल्लघनकारी प्रत्येक भारतीय सैनिक के साथ कठोरता का व्यवहार करने का निश्चय किया। अतः फरवरी, सन् १८५७ को जब बरहामपुर की सेना ने नये कारतूसों का प्रयोग करने से इनकार किया, तो अभिमानी अँगरेज पदाधिकारियों ने उन्हें दण्डित करने के लिए सम्पूर्ण सेना को भंग करने का निश्चय किया। इसे सुनकर चारों ओर सैनिक में क्रोध उमड़ पड़ा। २९ मार्च सन् १८५७ को मंगल पाण्डेय नामक एक ब्राह्मण सैनिक ने खुली परेड में समस्त सैनिकों को अँगरेजी अत्याचारों के प्रति आकर्षित किया। अँगरेज सर्जेण्ट मेजर हसन (Major Husson) ने उसके इस उग्र कार्य के लिए उसे बन्दी बनाने की आज्ञा दी। परन्तु कोई भी देशी सैनिक आगे न बढ़ा। स्पष्ट था कि सम्पूर्ण सेना मंगल पाण्डेय के विचारों से सहमत थी और आगामी क्रान्ति में सहयोगकारिणी थी। अब क्षुब्ध होकर मंगल पाण्डेय ने अभिमानी मेजर हसन को अपनी गोली का निशाना बनाया। हत्याकारी भारतीय सैनिक को दंड देने के लिए एक अन्य अँगरेज अफसर ने घोड़ा बढ़ाया परन्तु मंगल पाण्डेय की दूसरी गोली ने उसका भी काम समाप्त कर दिया। अब कर्नल ह्वीलर (Colonel Wheeler) ने मंगल पाण्डेय को कैद करने की आज्ञा दी, परन्तु समस्त भारतीय सेना ने इनकार कर दिया। अतः शीघ्र ही अँगरेजी सेना बुलाई गई। अन्त में घायल अवस्था में मंगल पाण्डेय गिरफ्तार हुआ। उस पर मुकदमा चलाया गया और उसे फाँसी का दण्ड दिया गया। भारतीय सेनाओं के १९वें और ३४वें रेजीमेंट भंग कर दिये गये। यह सूचना आग की चिनगारी की भाँति चारों ओर फैल गई। ३१ मई

तक प्रतीक्षा करना असम्भव हो गया और लखनऊ, मेरठ और अम्बाला में विद्रोह हो गया और अँगरेजों के घर फूँके जाने लगे।

मेरठ—मेरठ में भी चर्बी के कारतूस बांटे गये। जब सैनिकों ने उनका प्रयोग करने से इनकार किया, तो उनका कोर्ट मार्शल किया गया और प्रत्येक को आठ से दस वर्ष तक के कठिन श्रम का दण्ड दिया गया। अभियुक्त सम्पूर्ण सैनिकों के सामने घुमाये और अपमानित किये गये। यह समाचार सुनकर सारा नगर प्रतिहिंसा की आग से जल उठा। कहा जाता है कि जब कुछ सैनिक मेरठ नगर की सड़कों पर घूम रहे थे तो वहाँ की भद्र महिलाओं ने उनकी अकर्मण्यता पर उन्हें ताने दिये और कहा कि उनके भाई तो अपमानित हो रहे हैं और वे विषादहीन इतस्ततः घूम रहे हैं। भारतीय सैनिक उनके इस कठोर व्यंग को न सह सके। उन्होंने जाकर अपने साथियों को तैयार किया और दूसरे ही दिन १० मई को सम्पूर्ण नगर 'दीन-दीन' और 'हर-हर महादेव' के उद्घोष से गूँज उठा। मेरठ में विद्रोह प्रारम्भ हो गया। जेल तोड़ दिये गये और अभियुक्त मुक्त कर दिये गये। जहाँ कहीं योरपीय स्त्री-पुरुष दिखाई पड़े, उनका वध कर डाला गया और उनके घर भस्मीभूत कर दिये गये। इस प्रकार अपमान का बदला लेकर क्रान्तिकारियों ने उसी रात को दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।

क्रान्ति का विस्तार—मेरठ के क्रान्तिकारी 'बहादुरशाह की जय' के नारे लगाते हुए ११ मई को दिल्ली में प्रविष्ट हुए। दो दिन के भीतर उन्होंने दिल्ली को अँगरेजों से स्वतन्त्र कर लिया। बहादुरशाह दिल्ली का सम्राट् घोषित किया गया और उसकी विजयिनी पताका नगर में इतस्ततः फहराने लगी। १६ मई तक नगर में अँगरेजों का वध होता रहा। परन्तु क्रान्तिकारियों ने अँगरेजी महिलाओं के साथ बड़ी सभ्यता का व्यवहार किया। उन्होंने एक भी अँगरेजी महिला का न तो वध किया और न अन्य प्रकार से अपमानित किया।

दिल्ली-क्रान्ति का समाचार सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गया और अनेक स्थानों पर अँगरेजों के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। स्थान-स्थान पर बहादुरशाह का हरा झंडा अभिमानपूर्वक फहराने लगा। २४ मई तक अलीगढ़, इटावा मनपुरी तथा दिल्ली के समीपस्थ प्रदेश स्वतन्त्र हो गये। सम्पूर्ण रुहेलखण्ड ने अपने नेता खाँ बहादुर खाँ के नेतृत्व में क्रान्ति में भाग लिया। उन्होंने अपने

प्रदेश में सब अँगरेजों को मार डाला तथा खजाने पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार जून तक समस्त भारतवर्ष में क्रान्ति फैल गई। नगर एवं ग्राम की जनता ने भी सैनिकों को सहायता दी और अँगरेजी राज्य के मिटाने में सराहनीय योग दिया।

अँगरेजी विरोध---चतुर्दिक् क्रान्ति का समाचार पाकर अँगरेजों के होश उड़ गये। जब लार्ड कैनिंग ने सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय किया। उस समय उसके पास सेना की कमी थी। अतः इस अभाव की पूर्ति के लिए उसने बम्बई और मद्रास की प्रेसीडेंसियों से सेनाएँ मँगाई। चीन की ओर जानेवाली अँगरेजी सेना को भी उसने वापस बुला लिया। वास्तव में लार्ड कैनिंग ने इस कठिन परिस्थिति का बड़ी ही दृढ़ता एवं कुशलता से सामना किया। क्रान्ति के दमन करने में उसने राज्य के समस्त साधन जुटा दिये। उसने अँगरेज उच्च पदाधिकारियों की कार्यक्षमता पर पूर्ण विश्वास किया और उन्हें परिस्थिति के अनुसार स्वयं कार्य-निर्णय करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी। अवध में हेनरी और पंजाब में जान लारेंस को उचित कार्यवाही करने का असीमित अधिकार दिया गया। जहाँ कहीं सम्भव हुआ, भारतीय सेनाएँ शीघ्रातिशीघ्र भंग कर दी गईं। समस्त भारतवर्ष में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। घूस और अन्यान्य प्रलोभनों से क्रान्तिकारियों की शक्ति क्षीण करने की चेष्टा की गई। उनमें मतभेद उत्पन्न हो गये। हिन्दुओं से कहा कि मुसलमान बहादुरशाह के नेतृत्व में भारतवर्ष में अपना शासन स्थापित किया गया। इसी प्रकार मुसलमानों को सम्भावित मराठा-राज्य का हौवा दिखलाया गया। लार्ड कैनिंग ने अपनी कूटनीतिज्ञता से भारतीय राज्यों को अपने पक्ष में कर लिया। राज्यापहरण के भय से देशी राजाओं ने धन-जन से अँगरेजों की सहायता की। इन राज्यों में हैदराबाद, ग्वालियर, पटियाला, नाभा, झींद, राजपूताना और बड़ौदा के राज्य प्रमुख थे। भारतीय इतिहास की यह एक दुःखद घटना है कि इन राज्यों ने अपने ही देश एवं देशवासियों के विरुद्ध विदेशी सत्ता को अक्षुण्ण करने में यथाशक्ति योग दिया। पंजाब और नैपाल से अँगरेजों को उल्लेखनीय सैनिक सहायता प्राप्त हुई। औरंगजेब की धार्मिक नीति ने पंजाब के सिक्खों को मुसलमानों का कट्टर शत्रु बना दिया था। इस समय

मुसलमानों द्वारा किये गये अपने प्रति अपमान और अत्याचार का बदला लेने के लिए सिक्खों ने बहादुरशाह के विरुद्ध अँगरेजों का साथ दिया। इसी प्रकार नैपाल के गोरखे अवध से असन्तुष्ट थे। सन् १८१६ के नैपाल-युद्ध ने अवध में अँगरेजों का साथ दिया था। अतः उसका बदला लेने के लिए अब १८५७ में गोरखों ने अवध के विरुद्ध अँगरेजों का साथ दिया। इस प्रकार देशी राज्यों की सहायता से अँगरेजों ने क्रान्ति का दमन करना प्रारम्भ किया। यह दमन-कार्य बड़ी ही बर्बरतापूर्वक किया गया। अँगरेजी सेनाओं के क्रूर कृत्यों एवं भीषण अत्याचारों से चारों ओर आतंक फैलने लगा। अँगरेजों की प्रतिशोध-भावना को प्रज्वलित करने के हेतु नाना प्रकार की असत्य कथाएँ गढ़ी गई। उनसे कहा गया कि भारतीय सैनिकों ने अँगरेज महिलाओं को अपमानित किया है, उनके अबोध बालकों का क्रूरतापूर्वक वध किया है तथा उनकी प्रचुर सम्पत्ति को स्वाहा कर दिया है। परन्तु यह ऐतिहासिक सत्य है कि इन कल्पित एवं अतिव्यंजित भारतवासियों के अत्याचार भी वास्तविक अँगरेजी अत्याचारों के समक्ष मन्द पड़ जाते हैं। दमन-कार्य में अँगरेजों ने सारी शिष्टता, भद्रता एवं मनुष्यता का परित्याग कर दिया। उनकी पाशविक प्रवृत्ति पूर्ण रूप से जाग्रत हो गई। जनरल नील और हैवलाक की सेनाओं के निर्मम कृत्यों को पढ़कर बरबस चंगेज खाँ और हलाकू की क्रूर गाथा का स्मरण हो आता है।

दिल्ली का घेरा और जनरल नील का प्रस्थान—ऊपर बताया जा चुका है कि समस्त उत्तर भारतवर्ष की क्रान्तिकारिणी सेनाएँ बहादुरशाह के पताका की रक्षा के लिए दिल्ली में एकत्रित हो गई थीं। दिल्ली पर उनके अधिकार की सूचना पाकर लार्ड कैनिंग ने प्रधान सेनापति अनसन (Anson) को उस ओर भेजा। इधर बनारस, इलाहाबाद तथा अन्यान्य निकटवर्ती जिलों पर पुनराधिकार करने के हेतु जनरल नील भेजा गया।

दिल्ली की पुर्नविजय में पंजाब ने अँगरेजों की भारी सहायता की। वहाँ के चीफ कमिश्नर सर जान लारेंस ने अपने कुशल शासन से पंजाब को पूर्णतया अँगरेजों के पक्ष में कर लिया था। मुसलमानों के विरुद्ध सिक्खों एवं अन्य हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध पंजाबियों में कुत्सित प्रचार किया गया। पंजाब में स्थान-स्थान पर बहादुरशाह के नाम पर जाली फरमान लगा दिये गये जिनका

बहादुरशाह

आशय था कि भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य की पुनः स्थापना के पश्चात् समस्त सिक्खों का वध कर डाला जायेगा। मेटकाफ के कथन से अँगरेजों के इस प्रचार की पूर्ण असत्यता सिद्ध हो जाती है। वह लिखता है कि सम्राट् बहादुरशाह दिल्ली की सड़कों पर घूम-घूम कर जनता को समझा रहा था कि यह युद्ध अँगरेजों के विरुद्ध है, न कि किसी जाति अथवा सम्प्रदाय के विरुद्ध। इस प्रकार सैनिक सहायता प्राप्त कर लारेंस ने पंजाब से धन वसूल करना आरम्भ किया। प्रान्त में ६) के ऋण की व्यवस्था चालू की गई। इस सरकारी ऋण के लिए जनता से बलात् धन लिया गया। पंजाब की क्रान्ति के विरुद्ध देखकर बहादुरशाह ने उसे समझाने का प्रयत्न किया। अपने पटियाला, नाभा और झींद के राज्य-दरबारों में अपने विशेष दूत ताजुद्दीन को भेजा, परन्तु इसका कोई परिणाम न हुआ। यदि पंजाब ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया होता तो कदाचित् भारतवर्ष का इतिहास कुछ दूसरा ही होता, परन्तु ऐसा न होना था। अँगरेजों की विभाजन-नीति पंजाब में पूर्ण रूप से सफल हुई। पंजाब से एक विशाल सेना संगृहीत कर अनसन का उत्तराधिकारी कमाण्डर-इन-चीफ सर हेनरी बर्नर्ड (Sir Henry Bernard) दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में ब्रिगेडियर विल्सन (Brigadier Wilson) की सेनाएँ भी आकर उसमे मिल गईं। अब क्रान्तिकारियों और दमनकारियों में भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ। बहादुरशाह की सेनाओं ने अँगरेजों को अनेक बार पराजित किया, उन्हें भारी क्षति पहुँचाई, परन्तु उन्हें छिन्न-भिन्न न कर सकीं। अँगरेज सराहनीय दृढ़ता के साथ दिल्ली के बाहर जमे रहे। परन्तु शीघ्र ही परिस्थिति में परिवर्तन होने लगा। दिल्ली के क्रान्तिकारियों के साधन क्षीण होने लगे। उनके पास कोई कुशल नेता न था। बहादुरशाह वृद्ध हो चुका था। युद्ध-भूमि में सेनाओं के कुशल संचालन का कार्य उससे सफलतापूर्वक न हो सकता था। पुनः क्रान्तिकारियों में पारस्परिक मतभेद उत्पन्न हो गया। बहादुरशाह के पुत्र मिर्जा मुगल दिल्ली का प्रधान सेनानायक था। उसमें इतनी योग्यता न थी कि वह सैनिक संगठन को सुदृढ़ रखता। दिल्ली के शासन में धीरे-धीरे अव्यवस्था फैलने लगी। इसे दूर करने के लिए बहादुरशाह ने सूबेदार बख्त खाँ नामक वीर बुन्देला-सरदार को दिल्ली का गवर्नर नियुक्त किया। उसने पुनः

शासन-संगठन करना प्रारम्भ किया और अँगरेजों से मोर्चा लेने की तैयारी की।

जनरल नील की बर्बरता—इधर अभी दिल्ली का घेरा चल ही रहा था कि उधर बनारस की ओर बढ़ते हुए जनरल नील की क्रूर एवं जघन्य बर्बरता से समस्त उत्तर भारत आतंकित हो गया। सर्वप्रथम बनारस में दमन-कार्य प्रारम्भ हुआ। उसने स्थान-स्थान पर सामूहिक गिरफ्तारियाँ करना प्रारम्भ किया। गाँव के गाँव जला दिये गये। निरीह स्त्री-पुरुष या तो गोली के शिकार हुए या पेड़ों पर लटका दिये गये। किसानों की फसलें नष्ट कर दी गई। ऐसा कहा जाता है कि लगातार तीन मास तक गाड़ियाँ नगर की सड़कों से शवों को एकत्रित करने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल से सायंकाल तक घूमा करती थीं।

बनारस से जनरल नील इलाहाबाद की ओर बढ़ा। मार्ग में समस्त घर जला दिये गये। उसके इन अत्याचारों से समस्त चंगेज खाँ के अत्याचार भी धूमिल पड़ गये। आग उगलती हुई अँगरेज सेनाएँ ११ जून, १९५७ को इलाहबाद में प्रविष्ट हुई। वहाँ क्रान्तिकारियों के पास धन-जन का पूर्ण अभाव था। अतः शीघ्र ही इलाहाबाद पर अँगरेजों का आधिपत्य हो गया। वहाँ भी अँगरेजी बर्बरता और जघन्यता का नग्न नृत्य आरम्भ हुआ। चौक में स्थित नीम के तीन पेड़ अब भी अँगरजों की क्रूर कहानी कह रहे हैं। इन पेड़ों की शाखाओं पर बहुसंख्यक भारतीय लटकाये गये थे।

इलाहाबाद पर अधिकार करके नील कानपुर की ओर बढ़ा। कानपुर और निकटवर्ती प्रदेश पर नाना साहब का अधिकार था। तीव्र प्रतिरोध के पश्चात् २६ जून को कानपुर के किले पर नाना साहब का अधिकार हो गया। वहाँ के अँगरेज सेनापति ह्वीलर ने आत्म-समर्पण कर दिया। नाना साहब ने उसे आश्वासन दिया कि हम किले के अँगरेजों के साथ कोई दुर्व्यवहार न करेंगे। वे लोग गंगा नदी के पार निकल जायें और नगर खाली कर दें। अतः नावों का प्रबन्ध किया गया। परन्तु जब सब अँगरेज जाने के लिए एकत्रित हुए तो क्रुद्ध भारतीय सेना ने उन पर आक्रमण कर दिया। नाना साहब को इस आक्रमण की कोई सूचना न थी। अतः जब उसे इस आक्रमण का समाचार मिला तो उसने हस्तक्षेप किया। अँगरेज महिलाएँ तो बचा ली गई, परन्तु ४ को छोड़ कर पुरुष-वर्ग

में कोई जीता न छुट सका। सब तलवार के घाट उतार दिये गये। इस प्रकार २८ जून, सन् १८५७ तक नाना साहब का कानपुर पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। उसने अब पेशवा की उपाधि धारण की।

झाँसी की रानी—पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि लार्ड डलहौजी ने गोद लेने के अधिकार को अस्वीकृत कर झाँसी के राज्य को अँगरेजी राज्य में मिला लिया था। उसकी विधवा रानी लक्ष्मीबाई को ५,००० रुपया मासिक पेंशन देने की व्यवस्था की गई। परन्तु स्वाभिमानी रानी ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। उसी समय से वह अँगरेजों की कट्टर शत्रु बन गई थी। वह बड़ी ही योग्य महिला थी। बिठूर के राज्य में उसने अस्त्र-शस्त्र की सम्पूर्ण शिक्षा पाई थी। अतः सन् १८५७ की क्रान्ति में उसने स्वयं नेतृत्व ग्रहण किया। उसने शीघ्र ही झाँसी पर अधिकार कर लिया और अपने अल्पायु पुत्र दामोदर को सिंहासन पर बैठाया। समस्त झाँसी राज्य में सम्राट् बहादुरशाह की पताका फहराने लगी।

अवध—अवध में क्रान्तिकारियों का संगठन बड़ा दृढ़ था। वाजिदअली शाह, उसकी बेगम, फैजाबाद के मौलवी मुहम्मद शाह, शाहगंज के ताल्लुकदार राजा मानसिंह और सुल्तानपुर के राजा हनुमतसिंह उनके नेता थे। ३० मई, १८५७ की रात्रि से वहाँ क्रान्ति प्रारम्भ हुई। शीघ्र ही अँगरेजों की हत्या की जाने लगी, उनके घर फूँके जाने लगे। क्रान्ति की ज्वाला सम्पूर्ण अवध में धधक उठी और केवल १० दिन के भीतर उस पर क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया। हेनरी लारेंस ने अँगरेजी सेनाओं को लेकर लखनऊ की रेजीडेंसी में शरण ली। देखते-देखते स्वप्न की भाँति अवध से अँगरेजी शासन लुप्त हो गया।

स्थिति में परिवर्तन—इलाहाबाद पर अधिकार कर लेने के पश्चात् लार्ड कैनिंग ने सैनिक कार्यवाही के लिए उसी नगर को अपना केन्द्र बनाया। अब उसने जनरल हैवलाक् और जनरल रेनर्ड की अध्यक्षता में दो सेनाएँ कानपुर की ओर भेजीं। मार्ग में इन सेनाओं ने निरीह भारतवासियों के साथ रोमांचकारी बर्बरता दिखाई। बहुसंख्यक भारतीय मार डाले गये, उनके घर फूँक दिये गये और उनकी फसलें नष्ट कर दी गई। अनाथ और असहाय होकर वे सब

कानपुर में शरण लेने के लिए भागे। उनकी दुःख-गाथाओं का समाचार सुनकर क्रान्तिकारी विक्षोभ से जल उठे।

अँगरेजी सेनाएँ आगे बढ़ीं और उन्होंने फतहपुर पर अधिकार कर लिया। नगर में खूब लूट मची और तत्पश्चात् वह जलाकर राख कर दिया गया। अँगरेजों के इन अत्याचारों को सुनकर भारतीय क्रान्तिकारियों का धैर्य जाता रहा। वे प्रतिहिंसा के लिए विकल हो उठे। कहा जाता है कि उन्होंने बीबीगढ़ में बन्दी १२५ अँगरेज स्त्री-बालकों पर आक्रमण किया और उन्हें काटकर एक कूएँ में फेंक दिया। इस घटना में कितनी ऐतिहासिकता है कहा नहीं जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि यदि ऐसी घटना हुई भी हो, तो भी उसमें नाना साहब अथवा किसी उत्तरदायी क्रान्तिकारी का हाथ न था।

नाना साहब से भीषण मोर्चा लेने के पश्चात् १७ जुलाई, १८५७ को हैवलाक (Havelock) की सेनाएँ कानपुर में प्रविष्ट हुईं। नगर में लूट-मार मच गई। झुण्ड के झुण्ड क्रान्तिकारी फाँसी पर लटका दिये गये। तत्पश्चात् हैवलाक लखनऊ की ओर बढ़ा। लखनऊ की रेजीडेंसी को छोड़कर समस्त अवध क्रान्तिकारियों के हाथ में था। रेजीडेंसी भी क्रान्तिकारियों ने घेर रक्खी थी। उसके उद्धार के लिए हैवलाक अपनी सेना को लेकर नगर में प्रविष्ट हुआ। अवध में हैवलाक को तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा। उसे प्रतिइंच भूमि के लिए युद्ध करना पड़ा। अवध-निवासियों की दृढ़ता एवं वीरता ने उसका हौसला पस्त कर दिया। उसकी परिस्थिति बड़ी भयावह थी। उधर उसे समाचार मिला कि नाना साहब ने पुनः अपनी सेनाओं का संगठन कर कानपुर पर आक्रमण कर दिया है। कानपुर के अंगरेज सेनापति ने सुरक्षा का अन्य उपाय न देखकर हैवलाक से सहायता की प्रार्थना की। नाना साहब ने इस समय तक बिठूर पर अधिकार कर लिया था। अतः हैवलाक को लखनऊ छोड़कर कानपुर आना पड़ा। परन्तु नाना के सैनिक संगठन को देखकर वह घबड़ा गया और उसने कलकत्ता से अधिक सेना भेजने की प्रार्थना की।

दिल्ली पर अधिकार––इधर जब हैवलाक अँगरेजी सहायक सेनाओं की कानपुर में प्रतीक्षा कर रहा था, तो उधर दिल्ली में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हो रही थीं। ऊपर बताया जा चुका है कि यद्यपि क्रान्तिकारियों ने अनेक बार

दिल्ली में अँगरेजों को परास्त किया था, तथापि वे उन्हें छिन्न-भिन्न न कर सके थे। अँगरेज दिल्ली के बाहर जमे रहे। इधर बहादुरशाह की सेनाओं में धीरे-धीरे मतभेद बढ़ने लगा। अँगरेजों ने इस स्थिति से लाभ उठाया। उन्होंने अपने गुप्तचरों एवं षड्यन्त्रों तथा प्रलोभनों के द्वारा इस मतभेद को और अधिक बढ़ा दिया। फलतः भारतीय प्रतिशोध क्षीण होने लगा। इस समय तक ११,००० अँगरेज सैनिक दिल्ली पर अधिकार करने के लिए एकत्रित हो गये थे। इस विशाल वाहिनी ने चार दिशाओं से दिल्ली पर आक्रमण किया। घोर युद्ध हुआ। भारतीयों ने प्रतिइंच के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। परन्तु संगठनहीनता एवं कुशल नेतृत्व के अभाव में उनकी वीरता विफल रही। वे पराजित हुए। दिल्ली का काश्मीरी दरवाजा बारूद से उड़ा दिया गया और आग उगलती हुई अंगरेजी सेनाएँ राजधानी में प्रविष्ट हुई। अपने एक सम्बन्धी इलाहीबख्श के विश्वासघात से बहादुरशाह पकड़ा गया और दिल्ली के लाल किले में बन्द कर दिया गया। उसके पुत्र भी बन्दी बनाये गये। उन्हें दिल्ली की सड़कों पर घुमाया गया और तत्पश्चात् नंगा कर गोली से मार दिया गया। बवर अँगरेज इस पर भी शान्त न हुए। उन्होंने उन पुत्रों के सिरों को काट कर बन्दी बहादुरशाह के पास भेजा। निर्दयता और नीचता की पराकाष्ठा थी। बन्दी बहादुरशाह ने उन्हें देखकर शान्तिभाव से कहा था—'तैमूर की ओलाद ऐसी ही सुर्ख रूह होकर बाप के सामने आया करती थी।'

अँगरेजी सेनापति हडसन इससे भी सन्तुष्ट न हुआ। उसने उन लड़कों के सिर एवं मृत शरीर को जनता के प्रदर्शन-हेतु मार्ग में लटका दिया। उसके इस कुत्सित व्यवहार को देखकर आदिम निवासी की पाशविकता का स्मरण हो आता है। विद्रोह एवं हत्या के अपराध में बहादुरशाह को आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। वह रंगून भेज दिया गया जहाँ सन् १८६३ में उसकी मृत्यु हो गई।

दिल्ली हत्याकांड—दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् वहाँ अँगरेजों ने जो लूट-पाट एवं रक्तपात किया उसके सामने नादिरशाह के क्रूर कर्म भी मात हो गये। तीन दिन तक कम्पनी की सेनाओं को खुलकर लूट-मार करने की छूट दे दी गई। सैकड़ों मनुष्य बे-घर-बार हो गये। उनकी सम्पत्ति लूट ली गई।

नगर के मन्दिर और मस्जिद तोड़ डाले गये। बहुसंख्यक मुसलमान सुअर की खाल में सिलवाकर मार डाले गये। अनेकों के शरीर की चर्बी लगाकर अपवित्र किये गये और तत्पश्चात् जला दिये गये। कुछ ही दिनों में राजधानी श्मशान की-सी नीरवता छा गई। दिल्ली के पतन के पश्चात् क्रान्ति का दमन निश्चित हो गया। क्रान्तिकारियों की आशाओं पर तुषार-पात हो गया।

लखनऊ पर अधिकार--अब अँगरेजों ने लखनऊ रेजीडेंसी के उद्धार का प्रयत्न किया। २० सितम्बर को हैवलाक एक विशाल सेना लेकर लखनऊ की ओर बढ़ा। २३ सितम्बर को वह आलमबाग पहुँचा। आलमबाग में क्रान्तिकारियों ने उसे पराजित किया। अतः उसे वापस लौटना पड़ा और घूमकर रेजोडेंसी की ओर जाना पड़ा। मार्ग में उसे पुनः क्रान्तिकारियों से युद्ध करना पड़ा जिसमें अँगरेजी सेनापति नील की मृत्यु हो गई। रेजीडेंसी के उद्धार के लिए अब अँगरेजी प्रधान सेनापति कैम्पबेल भी हैवलाक के सहायतार्थ आ गया। तत्पश्चात् इंच-इंच के लिए भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ। लखनऊ की सड़कों पर शहीदों का रक्त बहने लगे। अन्त में तीव्र प्रतिरोध के पश्चात् क्रान्तिकारियों को रेजीडेंसी से हटना पड़ा। परन्तु अब भी लखनऊ के अधिकतर भाग पर उनका अधिकार था। २४ नवम्बर को हैवलाक की मृत्यु हो गई। इसी समय कैम्पबेल (Campbell) को समाचार मिला कि तात्या टोपे अपनी सेना के साथ कानपुर की ओर आ रहा है। तात्या नाना साहब का एक अत्यन्त कुशल सहायक सेनापति था। उसके आगमन का समाचार सुनकर अँगरेजों में खलबली मच गई। अतः लखनऊ में सैनिक कार्यवाही छोड़कर कैम्पबेल को कानपुर की ओर जाना पड़ा।

तात्या टोपे--क्रान्ति के समस्त नेताओं में कोई भी व्यक्ति द्रुत कार्यशीलता में तात्या टोपे की समता नहीं कर सकता। वह एक अत्यन्त कुशल सेनानायक था। अपने शत्रु की दुर्बलता को समझने के लिए उसमें अद्‌भुत क्षमता थी। वीरता के साथ-साथ उसकी आशावादिता भी अदम्य थी। हैवलाक द्वारा पराजित होने के पश्चात् नाना साहब बिठूर छोड़कर फतहपुर चला गया था और वहीं से उसने पुनः कानपुर पर अधिकार करने की योजना बनाना प्रारम्भ किया था। इस कार्य में उसे तात्या टोपे से बड़ी सहायता मिली। तात्या टोपे ने

एक सेना संगठित की और बिठूर पर अधिकार कर लिया। हैवलाक ने यह समाचार पाकर अपनी लखनऊ की सैनिक कार्यवाही स्थगित कर दी और तात्या टोपे पर आक्रमण किया और भयानक युद्ध के पश्चात् १६ अगस्त को उसे पराजित किया। परन्तु तात्या हताश न हुआ। वह शीघ्र फतहपुर की ओर चला गया। वहाँ उसने पुनः सेना का संगठन किया। उसे वहीं छोड़कर वह ग्वालियर पहुँचा। वहाँ की सारी भारतीय सेना उसकी ओर आ मिली। उसकी सहायता से तात्या ने कालपी के दुर्ग पर आक्रमण किया। यहाँ नाना साहब की सेनाएँ उससे आकर मिल गई। दोनों ने कानपुर पर आक्रमण किया और ३ दिन के भयंकर युद्ध के पश्चात् उस पर अधिकार कर लिया।

कानपुर पर अधिकार---इस समाचार को पाकर कैम्पबेल को लखनऊ छोड़कर कानपुर की ओर प्रस्थान करना पड़ा। तात्या टोपे और नाना साहब ने सम्मिलित रूप से उसका सामना किया। १ दिसम्बर से ६ दिसम्बर तक घोर युद्ध हुआ। अपनी शक्ति को क्षीण होते देख तात्या टोपे कालपी की ओर चला गया और कानपुर के ऊपर कैम्पबेल का अधिकार हो गया।

लखनऊ पर अधिकार---अब कैम्पबेल ने लखनऊ पर आधिपत्य करने की योजना बनाई। इस समय उसकी सहायता के लिए जंगबहादुर के नेतृत्व में गोरखों की सेना भी आ गई। अतः २२,००० सैनिकों और १३८ तोपों के साथ कैम्पबेल ने २३ फरवरी, सन् १८५८ को लखनऊ की ओर प्रस्थान किया। जनरल फैंक्स और आउट्रम भी लखनऊ-आक्रमण के लिए अपनी-अपनी सेनाओं के साथ तैयार हो गये। इधर लखनऊ के क्रान्तिकारियों में पारस्परिक मतभेद उत्पन्न हो गये थे। अतः उनकी शक्ति क्षीण पड़ गई। अन्त में लखनऊ का युद्ध आरम्भ हुआ। बेगम हजरत महल के साथ भद्र महिलाओं ने भी इस युद्ध में सक्रिय भाग लिया। परन्तु अँगरेजी सेनाएँ बहुसंख्यक थीं, पुनः उनमें एकता एवं कुशल नेतृत्व था। अतः भारतीयों की वीरता और आत्मोत्सर्ग विफल रहे। मार्च सन् १८५८ में लखनऊ पर अँगरेजों का अधिकार हो गया। और वहाँ भी जन-हत्या आरम्भ हुई।

अहमदशाह और नाना साहब---लखनऊ के पतन के पश्चात् क्रान्तिकारी हताश हो गये। अब उन्होंने अपनी युद्ध-प्रणाली परिवर्तित कर दी। खुले युद्ध के

स्थान पर उन्होंने गुरीला-युद्ध का आश्रय लिया। लखनऊ का सुयोग्य नेता अहमदशाह और कानपुर के नाना साहब शाहजहाँपुर में आ गये । इन दोनों को पकड़ने के लिए कैम्पबेल ने शाहजहाँपुर को घेर लिया। परन्तु दोनों क्रान्तिकारी उसकी योजना को विफल करते हुए रुहेलखण्ड की राजधानी बरेली की ओर चले गये। यह प्रदेश अभी तक स्वतन्त्र था। अतः अहमदशाह, नान साहब, वेगम हजरत महल आदि क्रान्तिकारी नेता अपने भविष्य का कार्य-क्रम बनाने के लिए यहीं एकत्रित हुए। जब कैम्पबेल को यह समाचार मिला तब उसने बरेली का घेरा डाला। भीषण संग्राम के पश्चात् बरेली पर उसने अधिकार कर लिया, परन्तु पुनः क्रान्तिकारी बचकर निकल गये।

अभी कैम्पबेल बरेली ही में था कि इतने में अहमदशाह ने पुनः सेना का संगठन करके शाहजहाँपुर पर धावा किया और देखते ही देखते उस पर अधिकार कर लिया। कैम्पबेल को पुनः शाहजहाँपुर भागना पड़ा। अहमदशाह घिर गया। उसकी सहायता के लिए नाना साहब एवं अन्य क्रान्तिकारी नेता दौड़कर शाहजहाँपुर आये। तीन दिन तक युद्ध होता रहा। शाहजहाँपुर पर अँगरेजों का अधिकार हो गया, परन्तु अहमदशाह को वे न पकड़ सके। वह पुनः निकल गया और इस बार अवध पहुँचा। परन्तु वहाँ पावन के राजा जगन्नाथ-सिंह के भाई ने धोखा देकर जून सन् १८५८ में उसकी हत्या कर डाली। इस प्रकार एक देशभक्त ने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर युद्ध करते हुए अपने प्राणों की आहुति चढा दी।

इस विश्वासघातपूर्ण हत्या से सम्पूर्ण अवध क्षुब्ध हो उठा। वहाँ पुनः विद्रोह की ज्वाला धधक उठी। नाना साहब, बाला साहब, अली खाँ मेवाती, बेगम हजरत महल आदि समस्त क्रान्तिकारी वहाँ एकत्रित हो गये और उन्होंने पुनः अपनी-अपनी तलवारें खींच लीं। अवध की जनता भी उनके साथ उठ खड़ी हुई। इस पुनर्जीवन ने अँगरेजों को भयभीत कर दिया। अतः उन्होंने जनरल ग्राण्ड (Grant) को क्रान्ति के दमन-हेतु लखनऊ भेजा। यद्यपि भारतीय देशभक्त परास्त हुए, तथापि उनकी वीरतापूर्ण दृढ़ता इतिहास में अमर रहेगी। हताश होकर नाना साहब, हजरत महल, बाला साहब और कुछ अन्य क्रान्तिकारी नैपाल भाग गये। उसके पश्चात् स्वतन्त्रता के इन महान्

पुजारियों का क्या हुआ, इसे कोई नहीं जानता। कदाचित् नैपाल के निर्जन वनों एवं पर्वतमालाओं में उनका प्राणोत्सर्ग हुआ। भारतीय इतिहास में ये महान् आत्माएँ अपनी उत्कट देशभक्ति एवं अदम्य साहस के लिए चिरस्मरणीय रहेंगी।

लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे—झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई अन्त तक अँगरेजों से लोहा लेती रही। उसका दमन करने के लिए मार्च सन् १८५८ में सर ह्यूरोज झाँसी की ओर बढ़ा। रानी ने उसका सामना करने की तैयारी की। उसने स्वयं अपनी अध्यक्षता में सेना का संगठन किया। २४ मार्च को दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हुआ। निरन्तर आठ दिन तक भीषण संग्राम हुआ। लक्ष्मीबाई ने ग्वालियर में तात्या टोपे के पास सैनिक सहायता के लिए एक पत्र भेजा। वह देशभक्त पत्र पाते ही अपनी छोटी-सी सेना लेकर उस वीर रमणी की सहायता के लिए चल पड़ा। परन्तु १ अप्रैल, सन् १८५८ को सर ह्यूरोज (Sir Hugh Rose) ने उसे पराजित कर दिया। रानी लक्ष्मीबाई की स्थिति चिन्ताजनक हो गई। ३ अप्रैल को अँगरेजी सेनापति ने अपनी समस्त शक्ति से झाँसी पर आक्रमण किया। परन्तु झाँसी की वीरांगना ने भारी क्षति के साथ आक्रमणकारियों को मार भगाया। अश्वारोहिणी, खड्गहस्ता 'झाँसी की जोन' के सम्मुख अँगरेजी सेनापति रोज की एक न चली। अतः अब उसने छल-छद्म से काम लिया। उन्होंने झाँसी-राज्य के कुछ विश्वासघातियों को अपनी ओर मिला लिया। जिस समय दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हो रहा था, उसी समय इन देश-द्रोहियों ने दक्षिण का फाटक खोल दिया। फिर क्या था? अँगरेजी सेना झाँसी में घुस गई और उसने निरीह जनता का वध करना प्रारम्भ कर दिया। अपनी प्यारी प्रजा की निगम हत्या होते देखकर वीरांगना क्रोध से उबल पड़ी। १,००० सैनिकों को लेकर वह घायल सिंहनी की भाँति अँगरेजी सेना पर टूट पड़ी। भीषण खड्ग-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसी समय ज्ञात हुआ कि नगर का दूसरा फाटक भी टूट गया है, और अँगरेजी सेना दूसरी ओर से भी प्रविष्ट हो रही है। सुरक्षा की कोई आशा न रही। अतः अपने पुत्र को कमर से बाँधे हुए वीरवेशधारिणी लक्ष्मीबाई बहुसंख्यक अँगरेजी सेनाओं के आक्रमणों का भीषण उपहास करती हुई, उनके सशस्त्र दलों को चीरती हुई विद्युत्-तरंग की भाँति झाँसी से निकल गई। अँगरेजों ने उसका पीछा किया, परन्तु लक्ष्मीबाई

ने उन्हें मार्ग में ही तलवार के घाट उतार दिया। इस प्रकार ४८ घंटे में १०२ मील की निरन्तर यात्रा करते हुए वह अपने कुछ विश्वासपात्र सहायकों के साथ कालपी पहुँची। कालपी में अन्य भारतीय क्रान्तिकारी तात्या टोपे, बाँदा-नवाब, बाणपुर और शाहगढ़ के राजा आदि एकत्रित हुए थे। सर ह्यू रोज ने अब कालपी पर आक्रमण किया और भीषण युद्ध के पश्चात् उसे अधिगत कर लिया। परन्तु उसकी समस्त योजनाओं पर तुषार-पात करती हुई रानी पुनः कालपी से भाग निकली।

अदम्य साहस के साथ लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे ने युद्ध जारी रक्खा। ग्वालियर का सिंधिया अँगरेजों का सहायक था। अतः इन दोनों नेताओं ने उस पर आक्रमण किया। सिंधिया को देशभक्त सेनाएँ क्रान्तिकारियों से आ मिलीं और इस प्रकार जून सन् १८५८ में तात्या और लक्ष्मीबाई का ग्वालियर पर अधिकार हो गया। उनकी सफलता को देखकर अँगरेज पुनः भयभीत हो गये। उन्हें भय था कि कहीं अन्य देशी राज्य भी क्रान्तिकारियों की सहायता न करने लगें। अतः सर ह्यू रोज ने निर्वासित सिंधिया को लेकर शीघ्र ग्वालियर पर आक्रमण किया परन्तु लक्ष्मीबाई ने उसे बुरी तरह पराजित किया।

दूसरे दिन जनरल स्मिथ और रोज की सम्मिलित सेनाओं ने पुनः आक्रमण किया। अँगरेजी सेना की संख्या अत्यधिक थी। रानी लक्ष्मीबाई ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया, परन्तु वह चारों ओर से घिर गई। पकड़ जाने के डर से वह भागी। परन्तु उसका घोड़ा अभाग्यवश मार्ग के एक नाले में गिर गया। इतने ही में कुछ अँगरेज सैनिकों ने उसे बुरी तरह घायल कर दिया। मृत्यु के पूर्व उस वीरांगना ने असीम साहस दिखाया। उसने उन आक्रमणकारियों पर प्रहार किया और उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। परन्तु थोड़ी ही देर में क्षत-विक्षत उस वीर नारी के प्राण-पखेरू उड़ गये। रामचन्द्रराव देशमुख नामक उसका एक विश्वासपात्र नौकर उस पवित्र शरीर को गुप्त रीति से बचाकर ले आया और उसी ने उसका अन्तिम संस्कार किया। इस प्रकार उस स्वतन्त्रता-पुजारिणी ने अपने वीर-कृत्यों से अमरत्व प्राप्त किया। उसका नाम भारतीय इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। सर ह्यू रोज ने भी रानी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

तात्या टोपे का अन्त--अब केवल तात्या टोपे ही एक प्रमुख क्रान्तिकारी शेष रहा। उसके पास अब न पर्याप्त सेना थी और न धन। परन्तु फिर भी उसने साहस न खोया। वह क्रान्ति के सन्देश को लेकर किसी प्रकार दक्षिण भारतवर्ष में पहुँचना चाहता था। अँगरेज इस खतरे से परिचित थे। अतः उन्होंने उसे चारों ओर से घेर लिया। परन्तु तात्या उनकी योजनाओं को विफल करता हुआ किसी प्रकार अक्टूबर सन् १८५८ को नागपुर पहुँच गया। परन्तु अँगरेजों की निर्दयता ने नागपुर-निवासियों को इतना आतंकित कर दिया था कि उन्होंने तात्या ऐसे आत्मोत्सर्गकारी निस्स्वार्थ नेता का भी साथ न दिया। शीघ्र ही अँगरेजों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। परन्तु द्रुतगामी तात्या ने पुनः उन्हें विफल कर दिया। वह उदयपुर पहुँचा। अँगरेजों ने यहाँ भी उसका पीछा किया। इस प्रकार ९ अप्रैल सन् १८५९ तक पीछा होता रहा। परन्तु उसी दिन तात्या टोपे मानसिंह नामक एक सरदार के विश्वासघात से आधी रात को अलवर में गिरफ्तार कर लिया गया। उसे १८ अप्रैल को मृत्यु-दण्ड दिया गया। इस प्रकार उस वीर नेता ने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने जीवन की बलि दे दी। परन्तु भारतीय इतिहास में वह वीर-रत्न अमर हो गया।

क्रान्ति की विफलता के कारण--इस प्रकार सन् १८५७ का भारतीय क्रान्ति का अन्त हो गया। अदम्य वीरता, उत्साह एवं त्याग के होते हुए भी क्रान्तिकारी अपने लक्ष्य में सफल न हुए, इसके अनेक कारण थे। यह क्रान्ति केवल उत्तर भारतवर्ष में ही सीमित रही। दक्षिण ने उसमें योग न दिया। उत्तर में भी पंजाब, राजपूताना, ग्वालियर एवं इन्दौर के राज्यों ने क्रान्तिकारियों का साथ न दिया। इस प्रकार भारतीयों के पारस्परिक असहयोग ने क्रान्ति की शक्ति को बहुत-कुछ क्षीण कर दिया। इन देशी राज्यों ने भारतीय क्रान्ति के साथ असहयोग ही नहीं किया, वरन् उसके दमन में अँगरेजों का साथ भी दिया।

स्वयं क्रान्तिकारियों में भी मतैक्य न था। प्रायः उनमें भी मतभेद और अविश्वास उत्पन्न हो जाता था। बहुधा नेताओं ने व्यक्तिगत रूप से अलग अलग युद्ध किया। उन्होंने संगठित होकर किसी सुव्यवस्थित योजना के अनुसार कार्य न किया। क्रान्तिकारियों के पक्ष में कोई अत्यन्त कुशल सैनिक संगठनकर्ता न था। बहादुरशाह वृद्ध था। सूबेदार बख्त खाँ एवं तात्या टोपे

करने का नियम बना। अब भविष्य में भारतीय शासन की वार्षिक रिपोर्ट सेक्रेटरी आफ स्टेट को पार्लियामेंट के सम्मुख रखना अनिवार्य हो गया।

गवर्नर-जनरल एवं प्रेसीडेंसियों के गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार ब्रिटिश क्राउन को रहा। परन्तु लेफ्टीनेंट गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया।

भारतवर्ष की समस्त जल, स्थल एवं सामुद्रिक सेना पर क्राउन का अधिकार घोषित किया गया।

महारानी का घोषणा-पत्र—कम्पनी के अन्त और क्राउन के सत्ता-धारण की घोषणा करने के लिए लार्ड कैनिंग (Lord Canning) ने पहली नवम्बर सन् १८५८ को इलाहाबाद में एक दरबार किया जहाँ महारानी का घोषणा पत्र पढ़कर सुनाया गया। यह महारानी की उदारता, दयालुता और धार्मिक सहिष्णुता की भवना का द्योतक था। महारानी ने भारतीय जनता को विश्वास दिलाया कि अँगरेजी शासन उनके कल्याण के लिए सदैव सचेष्ट रहेगा। वह जनता के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप न करेगा। धर्म अथवा जाति के आधार पर किसी के साथ भेद-भाव न किया जायेगा। अँगरेजी राज्य देशी राज्यों के साथ की गई समस्त सन्धियों का सत्यतापूर्वक पालन करेगा। वह उनके गोद लेने के अधिकार को भी स्वीकार करेगा। उस घोषणा-पत्र के द्वारा महारानी ने पुनः घोषित किया कि भविष्य में अँगरेज भारतवर्ष में और अधिक राज्य-विस्तार न करेंगे।

इस प्रकार इस घोषणा-पत्र ने भारतवासियों की अनेक शंकाओं का निवारण कर दिया। भारतीय राजाओं के राज्य संरक्षित हो गये। लार्ड डलहौजी की साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति का अन्त हो गया। अब देशी नरेशों को गोद लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। भारतीय जनता को अपने धर्म का स्वतन्त्रतापूर्वक अनुसरण करने का अधिकार मिल गया। भविष्य में उन्हें शासन में उच्च पद प्राप्त करने की आशा हो गई। इस दिशा में अब वर्ण, जाति अथवा धर्म अब बाधक न रहा।

अँगरेज सिपाहियों का विद्रोह—इन उद्देश्यों के प्रचार के लिए लार्ड कैनिंग ने देश में दौरा किया और भिन्न-भिन्न स्थानों पर दरबार करके जनता

को शंकाओं का समाधान किया। परन्तु शीघ्र ही उसे एक नई विपत्ति का सामना करना पड़ा। कम्पनी के बहुसंख्यक सैनिकों ने इलाहाबाद, मेरठ एवं अन्य महत्त्वपूर्ण छावनियों में विद्रोह कर दिया। इसका कारण यह था कि वे कम्पनी की अधीनता को छोड़कर क्राउन की अधीनता स्वीकार न करना चाहते थे। ऐसा करने के लिए उन्होंने अतिरिक्त वेतन की माँग की। विवश होकर कैनिंग को असन्तुष्ट अँगरेज सैनिकों एवं अफसरों को पद-च्युत कर देना पड़ा। फलतः कम्पनी की सेना की संख्या लगभग १०,००० घट गई।

सेना का संगठन—क्रान्ति के पश्चात् अँगरेज़ी सेना का पुनःसंगठन आवश्यक हो गया। अधिकारियों को अनुभव हुआ कि साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतवर्ष में पर्याप्त अँगरेजी सेना का होना आवश्यक है। अतः उन्होंने भारतीय एवं अँगरेज सैनिकों की संख्या का अनुपात २ : १ रक्खा। इसके अतिरिक्त भारतीयों के हाथ से तोपखाना छीन लिया गया।

आर्थिक सुधार—भारतीय क्रान्ति के दमन में अँगरेजों की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई। अतः लार्ड कैनिंग ने उसे सुधारने की चेष्टा की। उसके सहायतार्थ इँगलैंड से विलसन (Wilson) नामक एक कुशल अर्थनीतिज्ञ अँगरेज भारतवर्ष आया। उसने देखा कि राज्य के बजट में बड़ा भारी घाटा हो गया है। आय से व्यय कहीं अधिक हो गया था। अतः स्थिति-सुधार के लिए उसने तीन प्रस्ताव रक्खे (१) ५०० रु० से अधिक आय पर आय-कर (Income tax) लगाना, (२) व्यापार एवं व्यवसाय पर लाइसेंस-कर लगाना, (३) भारतीय तम्बाकू पर कर लगाना। इसके अतिरिक्त उसने आयात-वस्तुओं पर १० प्रतिशत और निर्यात-वस्तुओं पर ४ प्रतिशत कर लगाने की भी व्यवस्था की। पुनः नमक पर लगा हुआ कर और अधिक बढ़ा दिया गया। विलसन के इन सुधारों ने राज्य की आय पर्याप्त रूप से बढ़ा दी। अब उसने व्यय को कम करने की चेष्टा की। उसने फौजी और दीवानी दोनों विभागों के व्यय को कम किया। उसके उत्तराधिकारी सैम्युअल लैंग (Samuel Lang) ने भी उसकी नीति को जारी रक्खा। इन सुधारों के परिणामस्वरूप राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत कुछ सुधर गई।

शिक्षा——कैनिंग एक उदार शासक था। वह देश के शिक्षा-अभाव से असंतुष्ट था। अतः राज्य की आय का कुछ धन वह शिक्षा-प्रसार में व्यय करना चाहता था। अतः नई व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त में एक डायरेक्टर के अन्तर्गत एक शिक्षा-विभाग खोला गया। उसके अधीन बहुत से निरीक्षक एवं अध्यापक रक्खे गये जिनके निरीक्षण एवं अध्यापन के द्वारा प्रान्तों में शिक्षा-प्रसार की योजना बनाई गई। उच्च शिक्षा के साथ-साथ प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु धनाभाव के कारण लार्ड कैनिंग की व्यवस्था अधिक सफल न हो सकी।

कानून-व्यवस्था——न्याय-विभाग में सबसे अधिक अव्यवस्था फैली हुई थी। इसका मुख्य कारण किसी सुनिश्चित कानून की व्यवस्था का अभाव था। अतः कैनिंग ने इस दोष को दूर करने के लिए सन् १८६० में भारतीय दण्डविधान (Indian Penal Code) की रूप-रेखा निर्धारित कराई। पुनः सन् १८६१ में फौजदारी का कानून (Criminal Procedure Code) भी पास हो गया।

सन् १८६१ में इंडियन हाईकोर्ट ऐक्ट पास किया गया। इसके द्वारा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में हाईकोर्टों की स्थापना की गई। इस कानून ने इन हाईकोर्टों का विधान भी निश्चित कर दिया। सन् १८६१ में प्रेसीडेंसियों के सुप्रीम कोर्ट और कम्पनी की सदर अदालतें तोड़ दी गई।

सन् १८६१ के एक अन्य ऐक्ट के द्वारा पुलिस-विभाग का संगठन किया गया। प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत पुलिस-विभाग स्थापित किये गये। उनका कार्य एक प्रान्तीय इंस्पेक्टर-जनरल के निरीक्षण में होता था। प्रत्येक जिले में एक-एक सुपरिण्टेण्डेण्ट नियुक्त किया गया। पुनः जिले के कई भाग कर दिये गये। प्रत्येक भाग में शान्ति-व्यवस्था के लिए कतिपय सिपाहियों के साथ डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट नियुक्त किये गये।

बंगाल का भूमि-प्रबन्ध——अभी तक बंगाल में मालगुजारी का स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) चल रहा था। परन्तु इस प्रबन्ध के दोष स्पष्ट हो गये थे। इसके अन्तर्गत जमींदारों को तो अत्यधिक लाभ था, परन्तु किसानों का बड़ा अहित होता था। जमींदार बिना पर्याप्त कारणों

के उन पर लगान बढ़ा सकता था तथा उन्हें भूमि-अधिकार से वंचित कर सकता था। अतः इस दोष के दूरीकरण के हेतु सन् १८५९ में एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार उन किसानों का भूमि-अधिकार जो बारह वर्षो से खेत जोत रहे थे, पैतृक एवं स्थायी कर दिया गया। अब वे उस समय तक बेदखल नहीं किये जा सकते थे जब तक वे लगान देते रहें। जमींदारों के लगान बढ़ाने के अधिकार को भी सीमित कर दिया गया। ऐक्ट में उन शर्तों का उल्लेख कर दिया गया जिसके अनुसार लगान बढ़ाया जा सकता था। इन शर्तों के अतिरिक्त किसी अन्य कारण से लगान न बढ़ाया जा सकता था।

कैनिंग के अन्य कार्य—लार्ड कैनिंग सदैव जनता के हित का ध्यान रखता था। उसने अनेक ऐसे कार्य किये जिनसे जनता की सुख-सुविधा में वृद्धि हुई। सन् १८६२ में इलाहाबाद तक ईस्ट इंडिया रेलवे स्थापित की गई। इसी प्रकार बम्बई से ४०० मील दूर तक जी० आई० पी० की लाइन खोली गई। देश के भिन्न-भिन्न भागों में पक्की सड़कें तैयार की गईं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण ग्राण्ड ट्रंक रोड थी जो कलकत्ता से पेशावर तक बनाकर पूर्ण की गई। राज्य के वनों की रक्षा की गई तथा देश में चाय, नील और सिनकोना की खेती की उन्नति करने का प्रयत्न किया गया।

लार्ड कैनिंग का इस्तीफा—पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण लार्ड कैनिंग सन् १८६२ में पद-त्याग करके स्वदेश चला गया। वह बड़ा ही योग्य एवं उदार शासक था। उसने १८५७ की महान् क्रान्ति का दमन करके अपनी कार्यक्षमता का परिचय दिया। परन्तु स्वभाव से सौम्य एवं उदार होने के कारण उसने इस दमन-कार्य में कभी भी अत्यधिक कठोरता एवं निर्दयता से कार्य करने की सम्मति न दी। इससे बहुत से अँगरेज पदाधिकारी उससे असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने उसे 'क्लीमेंसी कैनिंग' (Clemency Canning) अर्थात् दयावान् कैनिंग की उपाधि दी।

कैनिंग के शासन-सुधारों ने क्रान्ति के पश्चात् भारतवर्ष में पुनः सुव्यवस्था स्थापित की। इन सुधारों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनसे जनता में सुख, सन्तोष एवं विश्वास की वृद्धि हुई।

अध्याय २६

सीमास्थ राज्यों के प्रति अँगरेजी नीति

(१८५८–१९०५)

प्रथम वाइसराय—सन् १८५८ के ऐक्ट के अनुसार क्रान्ति के पश्चात् भारतवर्ष का गवर्नर-जनरल वाइसराय (Viceroy) कहलाने लगा। कम्पनी के राज्य का अन्त हो चुका था। अब ब्रिटिश भारत का शासन इँगलैंड के शासक के अधीन हो गया। भारतवर्ष का वाइसराय उसी का प्रतिनिधि होता था। लार्ड कैनिंग भारतवर्ष का प्रथम वाइसराय था। उसके जाने के पश्चात् लार्ड एलगिन (Elgin) उसका उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। परन्तु अपनी नियुक्ति के एक वर्ष पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई। उसके उपरान्त सर जान लारेंस (Sir John Lawrence) ब्रिटिश भारतवर्ष का वाइसराय बनाया गया। उसने सन् १८६४ से १८६९ तक शासन किया।

अफगानिस्तान—पंजाब और सिन्ध पर अँगरेजों का अधिकार स्थापित हो जाने से उनकी पश्चिमीय राज्य-सीमा अफगानिस्तान की राज्य-सीमा से मिल गई थी। अतः अब वे उस देश की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। अफगानिस्तान के प्रति अँगरेजी नीति सदैव इँगलैंड के साम्राज्यवादी हितों को अग्रसर करने के ध्येय से निर्धारित की गई थी। योरप महाद्वीप में इँगलैंड और रूस में प्रायः शत्रुता रहती थी। चूँकि रूस की दक्षिणी सीमा अफगानिस्तान से मिलती थी, इससे अँगरेजों को अपने भारतीय साम्राज्य के लिए उत्तर-पश्चिमोत्तर दिशा से सदैव भय रहता था। ब्रिटिश भारत और रूस के बीच अफगानिस्तान का स्वतन्त्र राज्य था। अतः दोनों ही देश अपनी स्थिति दृढ़ करने के हेतु वहाँ अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त कुछ उग्र साम्राज्यवादी अँगरेज राजनीतिज्ञ हिन्दूकुश को भारतवर्ष की स्वाभाविक राज्य-सीमा मानते थे। अतः वे

अफगानिस्तान को भी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत करना चाहते थे। इन्हीं लक्ष्यों से प्रेरित होकर अफगानिस्तान के प्रति अँगरेजों की नीति निर्धारित होती रही।

लार्ड लारेंस—सन् १८६३ में अफगानिस्तान का अमीर दोस्त मुहम्मद मर गया। उसने मृत्यु के पूर्व अपने तीसरे पुत्र शेरअली को अपना उत्तराधिकारी चुना था। अतः वही अब गद्दी पर बैठा। परन्तु उसके अन्य ११ भाइयों ने उसका विरोध किया। इनमें अफजल खाँ और आजम खाँ प्रमुख थे। इन्होंने मिलकर शेरअली के विरुद्ध विद्रोह करना प्रारम्भ किया। दोनों पक्षों ने भारतीय सरकार से सहायता माँगी। परन्तु तत्कालीन वाइसराय लार्ड लारेंस तटस्थता का अनुयायी था। अतः उसने अफगानिस्तान के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया और एक ऐसी नीति का अनुसरण किया जो इतिहास में 'महान् अकर्मण्यता' (Masterly Inactivity) के नाम से प्रख्यात है। १७ अप्रैल, सन् १८६६ में उसने एक पत्र में घोषित किया कि हम अफगानिस्तान की आन्तरिक कलह में किसी भी पक्ष का विरोध या मदद न करेंगे। अफगानों को अपना उत्तराधिकार स्वयं निश्चित करना चाहिए। हम तो उसी व्यक्ति को अमीर स्वीकार कर लेंगे और उसी के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहेंगे, जो अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठा दिखाई देगा, चाहे वह किसी भी पक्ष का हो। वास्तव में लार्ड लारेंस चाहता था कि अफगानिस्तान में आन्तरिक कलह जारी रहे और अन्त में वह विरोधी पक्षों में विभक्त होकर अशक्त हो जाय। परन्तु अग्रगामी नीति (Forward Policy) के अनुयायी ऐसी नीति के विपक्ष में थे। उनका विचार था कि विभक्त और अशक्त अफगानिस्तान से अँगरेजी भारत के लिए खतरा बढ़ जायेगा। यदि वह निर्बल रहा तो कभी भी रूसी आक्रमण का विरोध न कर सकेगा।

अस्तु, सन् १८६७ में अफजल खाँ काबुल का अमीर बन गया और लार्ड लारेंस ने उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु आन्तरिक कलह चलती रही और सितम्बर, सन् १८६८ में शेरअली ने सिंहासन हस्तगत कर लिया। लार्ड लारेंस ने तत्काल उसके सिंहासनारोहण के उपलक्ष में उसे बधाई-पत्र भेजा और उसे अफगानिस्तान का अमीर मान लिया।

परन्तु इस बीच में मध्य-एशिया में रूसियों की शक्ति बहुत बढ़ गई। उन्होंने अपना साम्राज्य-विस्तार करना प्रारम्भ किया। सन् १८६८ में उन्होंने ताशकन्द और बुखारा जीत लिया। इससे अँगरेजों को विशेष चिन्ता हुई। लार्ड लारेंस ने अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप तो न किया, परन्तु उसके अमीर शेरअली को ६,००० पौण्ड और कुछ युद्ध-सामग्री भेजकर अपने पक्ष में करने का निर्बल प्रयत्न किया था।

लार्ड मेयो (Lord Mayo)—जनवरी सन् १८६९ में लार्ड लारेंस के पश्चात् लार्ड मेयो भारतवर्ष का वाइसराय होकर आया। उसने रूसियों के विरुद्ध अफगानिस्तान को अपने पक्ष में करने के ध्येय से शेरअली को अम्बाला-दरबार में आमन्त्रित किया। शेरअली आया और उसने अँगरेज वाइसराय के समक्ष कुछ माँगें प्रस्तुत कीं। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित थीं।

(१) एक सरकार दूसरी सरकार के शत्रु को अपना शत्रु समझे।

(२) आवश्यकतानुसार दोनों सरकारें पारस्परिक सहायता करें।

(३) अँगरेजी सरकार प्रतिवर्ष अफगानिस्तान की सरकार को कुछ धन दे।

(४) अँगरेजी सरकार शेरअली के पुत्र अब्दुल्लाजान को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर ले।

लार्ड मेयो भी तटस्थता की नीति का अनुयायी था। अतः उसने शेरअली को मैत्रीपूर्ण व्यवहार का आश्वासन तो दिया, परन्तु उसके साथ निश्चित रूप से कोई सन्धि न की। उसके इस अनिश्चित रुख को देखकर शेरअली अँगरेजों से असन्तुष्ट हो गया। परन्तु इस समय उसे रूसियों से विशेष भय था। अतः उसने अँगरेजी नीति का दृढ़तापूर्वक विरोध न किया।

लार्ड नार्थब्रुक (Lord Northbrook)—लार्ड मेयो के पश्चात् सन् १८७२ में लार्ड नार्थब्रुक भारतवर्ष का वाइसराय नियुक्त किया गया। उसने भी अकर्मण्यता की नीति का अनुसरण किया। अतः उसने भी अमीर की उपयुक्त माँगों को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। अतः शेरअली अत्यधिक क्षुब्ध हो गया। उसे अँगरेजों पर विश्वास न रहा। अब उसने रूस की ओर झुकना प्रारम्भ किया। यह देखकर इँगलैंड का पर-

राष्ट्र मन्त्री (Foreign Secretary) लार्ड सैलिसबरी भयभीत हो गया। उसने लार्ड नार्थब्रुक को अफगानिस्तान को अपने पक्ष में लेने एवं किसी प्रकार वहाँ अँगरेज राजदूत रखने के लिए चेष्टा करने के लिए कहा। लार्ड नार्थब्रुक प्रथम अफगान-युद्ध के कारणों और परिणामों से भली भाँति परिचित था। वह जानता था कि अफगान अपने राज्य में ब्रिटिश राजदूत रखने के लिए सहमत न होंगे। अतः वह तटस्थ रहा। परन्तु जब सैलिसबरी ने उसे हस्तक्षेप करने के लिए विवश करना प्रारम्भ किया तो उसने पद-त्याग कर दिया और अपने स्वदेश के परराष्ट्र मंत्री को चेतावनी दी कि हस्तक्षेप करने का परिणाम होगा द्वितीय अफगान-युद्ध। इससे अँगरेजों को अफगानिस्तान के प्रति हस्तक्षेप-हीन नीति का अवलम्ब लेना चाहिए।

लार्ड लिटन (Lord Lytton)—लार्ड नार्थब्रुक के पद-त्याग के पश्चात् सन् १८७६ में लार्ड लिटन भारतवर्ष का वायसराय नियुक्त हुआ। उसने तटस्थता की नीति को छोड़कर अग्रगामी नीति का अवलम्ब लिया। वह शेरअली की उपर्युक्त शर्तों को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया बशर्ते कि अमीर अपने राज्य में अँगरेज राजदूत रख ले। परन्तु शेरअली ने लिटन की शर्त अस्वीकार कर दी और उसे उत्तर दिया कि यदि मै अपने राज्य में ब्रिटिश राजदूत रक्खूँ तो मुझे रूसी दूत भी रखना पड़ेगा।

लार्ड लिटन अमीर के इस उत्तर से अप्रसन्न हो गया। अब उसने अपनी गृह-सरकार को भड़काकर अफगानिस्तान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का अवसर ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। उसने सैलिसबरी को लिखा कि अफगानिस्तान की सरकार उत्तरोत्तर रूसी सरकार के प्रति अधिकाधिक सहानुभूतिपूर्ण होती जाती है। अतः आवश्यक है कि भारतीय सरकार अफ़गान-सरकार को अपनी राजधानी में अँगरेज राजदूत रखने के लिए विवश करे।

रूस की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। उसने जोर डालकर अमीर को अपने राज्य में एक रूसी दूत रखने के लिए विवश किया। इस पर लिटन और भी सशंकित हो गया। उसने अमीर से अँगरेजी दूत रखने के लिए पुनः कहा। इसी बीच में अमीर शेरअली के पुत्र अब्दुल्लाजान की मृत्यु हो गई। अतः वह लार्ड लिटन को कोई उत्तर न दे सका। अँगरेज वायसराय ने इस व्यवहार को

अमित्रतापूर्ण समझा और काबुल में अँगरेजी दूतावास की स्थापना के हेतु और भी दृढ़ हो गया। उसने नैविल चैम्बरलेन (Neville Chamberlain) को राजदूत बनाकर अफगानिस्तान भेजा, परन्तु उसे खैबर दर्रे से प्रविष्ट होने की आज्ञा न मिली। इस कार्य के लिए अमीर को दोष नहीं दिया जा सकता। लार्ड लिटन उसकी इच्छा के विरुद्ध अपना राजदूत भेज रहा था। उसके अफगानिस्तान में पहुँचने से अव्यवस्था एवं अशान्ति का भय था। परन्तु लार्ड लिटन उसकी कठिनाइयों के प्रति उदासीन था। वह अपनी इच्छा की पूर्ति चाहता था। ऐसा होते न देखकर उसका धैर्य टूट गया। उसने निश्चित रूप से समझ लिया कि यदि अफगान-सरकार के प्रति उग्र नीति का अनुसरण न किया गया तो वह पूर्ण रूप से रूसी प्रभाव में आ जायगी। अतः २१ नवम्बर सन् १८७८ को उसने अफगानिस्तान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी।

द्वितीय अफगान-युद्ध--अँगरेजी सेनाएँ खैबर, कुर्रम और बोलान दर्रों से होकर अफगानिस्तान में प्रविष्ट हुई। शेरअली अपनी निर्बलता को जानता था। उसने रूस से सहायता माँगी, परन्तु असफल रहा। अतः वह अफगानिस्तान छोड़कर भाग गया। फरवरी सन् १८७९ में मजर शरीफ में उसकी मृत्यु हो गई। अन्त में उसके पुत्र याकूब खाँ ने सन् १८७९ में अँगरेजों के साथ सन्धि कर ली।

गण्डमक की सन्धि--इस सन्धि के द्वारा याकूब खाँ को अँगरेजों ने अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया। नये अमीर ने अपने राज्य में अँगरेज दूत रखना एवं अपनी वैदेशिक नीति में अँगरेजों की सम्मति देना स्वीकार कर लिया। अँगरेजों को उसने कुर्रम का दर्रा देना भी स्वीकृत कर लिया। इन लाभों के बदले में अँगरेजों ने अमीर को ६ लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया।

तृतीय अफगान-युद्ध--परन्तु यह सन्धि अस्थायी सिद्ध हुई। अँगरेजो ने प्रथम अफगान-युद्ध की गलती को फिर दोहराया। अफगान स्वतन्त्रताप्रिय जाति थी। वह अपने शासन-कार्य में अँगरेजों का हस्तक्षेप सहन न कर सकती थी। विदेशी संगीनों के बल पर टिका हुआ उसे स्वदेशी शासन भी अप्रिय था।

काबुल में अँगरेजी राजदूत का अस्तित्व उसके लिए परतन्त्रता का द्योतक था। अतः शीघ्र ही पुनः विस्फोट हुआ। अँगरेजी राजदूत सर लुई कैवेगनरी (Sir Louis Cavagnari) की हत्या कर डाली गई। अभियोगी को दण्डित करने के लिए अँगरेज सेनापति जनरल राबर्ट्स (General Roberts) अफगानिस्तान में प्रविष्ट हुआ। उसने काबुल और कन्धार पर अधिकार कर लिया। हत्यारा पकड़ा गया और उसे दण्ड दिया गया। याकूब खाँ ने भयभीत होकर आत्मसमर्पण कर दिया। कहा जाता है कि निरन्तर उपस्थित भय और अशान्ति से घबड़ाकर उसने कहा था कि मैं अफगानिस्तान के अमीर से घसियारा होना अधिक पसन्द करूँगा। अतः अँगरेजों ने पेंशन देकर उसे देहरादून में भेज दिया। वहीं वह रहने लगा। सन् १९२३ में उसकी मृत्यु हो गई।

लार्ड रिपन (Lord Ripon)—इँगलैंड के नये चुनाव में उदार दल (Liberal Party) की विजय हुई। अतः सन् १८८० में लार्ड लिटन पद-त्याग कर स्वदेश चला गया। उसके स्थान पर लार्ड रिपन की नियुक्ति हुई। वह एक शान्तिप्रिय शासक था। उसने दोस्तमुहम्मद के भतीजे अब्दुर्रहमान को अमीर मानकर अफगानिस्तान से सन्धि कर ली। नये अमीर ने गण्डमक की सन्धि स्वीकार कर ली। अफगानिस्तान की विदेशी नीति पर अंगरेजों का नियन्त्रण स्थापित हो गया। परन्तु अभी सम्पूर्ण अफगानिस्तान पर अब्दुर्रहमान का शासन स्थापित न हो सका था। शेरअली के पुत्र आयूब खाँ ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और हिरात पर अपना स्वतन्त्र आधिपत्य घोषित किया। मैवन्द के युद्ध में उसने अब्दुर्रहमान की सेना को पराजित किया और वह कन्धार की ओर बढ़ा। अब्दुर्रहमान ने अँगरेजी सहायता के लिए प्रार्थना की। अतः जनरल राबर्ट्स पुनः अफगानिस्तान भेजा गया। उसकी सहायता से अब्दुर्रहमान ने अपने विपक्षी को पूर्ण रूप से पराजित किया। परिणामस्वरूप वह सम्पूर्ण अफगानिस्तान का अमीर बन गया। व्यवस्था स्थापित हो जाने पर सन् १८८१ में अँगरेजी सेनाएँ अफगानिस्तान से वापस बुला ली गईं।

लार्ड डफरिन (Lord Dufferin)—रिपन के पश्चात् सन् १८८४ में लार्ड डफरिन भारतवर्ष का वायसराय होकर आया। इस समय अफगानिस्तान और रूस में सीमा के प्रश्न पर झगड़ा चल रहा था। रूसियों ने आक्सस

नदी के दक्षिण-पश्चिम में स्थित मर्व नामक नगर पर अधिकार कर लिया था। अब वे और आगे पंजदेह नामक गाँव की ओर बढ़े। इस गाँव पर अफगानों का अधिकार था। उन्होंने रूसियों का विरोध किया, परन्तु असफल रहे। सशस्त्र रूसियों ने उस ग्राम पर बलपूर्वक अपना अधिकार स्थापित कर लिया। स्थिति बड़ी भयंकर हो गई। रूसियों के सीमा-विस्तार से अँगरेजी राज्य के लिए भय उत्पन्न हो गया। पुनः अफगान-राज्य की रक्षा के लिए भी अँगरेज वचन-बद्ध थे। ऐसी दशा में अँगरेज-रूसी युद्ध निश्चित-सा प्रतीत होने लगा। परन्तु अन्त में तीनों पक्षों ने धैर्य एवं विवेक से काम लिया। रूसी पंजदेह से हट गये। रूस और अफगानिस्तान की सीमा-निर्धारण का कार्य एक कमीशन के सुपुर्द किया गया। अन्त में आक्सस (आमू) नदी दोनों राज्यों के बीच की सीमा स्वीकृत हुई।

इस प्रकार अफगानिस्तान पर पुनः अँगरेजी प्रभाव स्थापित हो गया। फिर भी अमीर ने अपने राज्य में अँगरेजी सेना रखने से इनकार कर दिया। दोनों सरकारों की मैत्री को दृढ़ करने के लिए लार्ड डफरिन ने सन् १८८५ में रावलपिण्डी के दरबार में अमीर का सम्मान किया। इसका परिणाम हितकर हुआ। दोनों सरकारों का मैत्री-सम्बन्ध दृढ़ हो गया।

लार्ड लैंसडाउन (Lord Lansdowne)—डफरिन के पश्चात् सन् १८८८ में लार्ड लैंसडाउन वायसराय के पद पर नियुक्त हुआ। अपनी पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा के लिए उसने खैबर रेलवे का निर्माण करना चाहा। परन्तु ऐसा करने से अमीर को अपने राज्य के कुछ भू-प्रदेश से हाथ धोना पड़ा। पुनः, पश्चिमोत्तर प्रदेश की जातियों पर से उसका प्रभाव भी उठ जाता। इन कारणों से अमीर ने रेलवे बनाने की आज्ञा न दी। इससे दोनों सरकारों के बीच में फिर मनमुटाव उत्पन्न हो गया। परन्तु अन्त में दोनों ने नम्रता से काम लिया। वार्ता के पश्चात् सन् १८९३ में ड्यूरेण्ड (Durand) अँगरेजी और अफगान राज्यों के बीच की सीमा निर्धारित की गई। सीमाप्रान्त की जातियाँ अँगरेजी प्रभाव में आ गई। अमीर ने चमन, वजीरिस्तान, अफ्रीदी प्रदेश, कुर्रम, स्वात आदि प्रदेशों मे अपना अधिकार छोड़ दिया। चित्राल से पेशावर तक रेलवे

बनाने की भी आज्ञा मिल गई। इन सब लाभों के बदले में अँगरेजों ने अमीर को १८ लाख रुपया देना स्वीकार किया।

लार्ड कर्जन (Lord Curzon)--सन् १९०१ में अफगानिस्तान के अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् हबीबुल्ला अमीर हुआ। इसी समय लार्ड कर्जन भारतवर्ष के वाइसराय के पद पर नियुक्त हुआ। वह अग्रगामी नीति का समर्थक था। उसने अमीर से नई एवं अधिक सुविधा-जनक सन्धि करने की चेष्टा की। वह खैबर दर्रे तक रेलवे का विस्तार करना चाहता था। इसके लिए अमीर सहमत न हुआ। वह अपने पिता के समय की सन्धि के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार की सन्धि के लिए तैयार न हुआ। कर्जन उसके इस उत्तर से असन्तुष्ट हो गया। सम्भव था कि वह अफगानिस्तान के विरुद्ध उग्र कार्यवाही करता, परन्तु गृह-सरकार के हस्तक्षेप के कारण वह चुप हो गया। परन्तु अँगरेजी सरकार और अफगान-सरकार के सम्बन्ध पुनः द्वेष-पूर्ण हो गये। लार्ड कर्जन ने अपने राज्य की सुरक्षा के लिए पश्चिमोत्तर प्रान्त का एक नवीन प्रान्त बनाया और वहाँ का सैनिक संगठन दृढ़ किया।

चितराल का उपद्रव---चितराल हिन्दूकुश के दक्षिण में एक पर्वतीय राज्य था। सन् १८९३ की ड्यूरेण्ड (Durand) की सन्धि द्वारा वह अँगरेजी प्रभाव के अन्तर्गत आया था। लार्ड एलगिन द्वितीय (सन् १८९४-९९) के शासन-काल में वहाँ उपद्रव हो गया। सन् १८९५ में कुछ सरदारों के उत्तेजित करने से चितराल के मेहतर की हत्या कर दी गई। जब अँगरेज प्रतिनिधि उपद्रव का दमन करने के हेतु वहाँ गया तो विद्रोहियों ने उसे घेर लिया। अन्त में उसके उद्धार के लिए एक अँगरेज सेना भेजी गई। जिसने वहाँ के विद्रोह का दमन किया। सुव्यवस्था के लिए चितराल से लेकर अँगरेजी राज्य तक एक सड़क बनवाई गई और उस पर बहुसंख्यक सैनिक नियुक्त किये गये। परन्तु अँगरेजों के इस कार्य से सीमाप्रान्तीय जातियों में अशान्ति फैल गई। स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए, परन्तु अँगरेजी सेना ने सबका दमन कर दिया।

उत्तरी ब्रह्मा पर अधिकार---सन् १८२७ और सन् १८५२ में ब्रह्मा की दोनों लड़ाइयों में ब्रह्मा की समस्त किनारे की लाइन अँगरेजों के अधिकार में चली गई थी। उत्तरी ब्रह्मा (Upper Burma) की राजधानी, जो शेष रह

राजदूत भी रखना पड़ा। उन्होंने वचन दिया कि वे किसी को भी भारत जाने के लिए अपने राज्य से मार्ग न देंगे। इन सब सुविधाओं के बदले अँगरेजों ने उन्हें ५०,००० रुपया प्रतिवर्ष देने का वचन दिया।

तिब्बत—तिब्बत का शासक लासा का दलाईलामा होता था। प्रारम्भ में दोनों सरकारों के बीच में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। परन्तु नैपाल-युद्ध के पश्चात् तिब्बत-निवासी अँगरेजों की कूट-नीतिज्ञता से असन्तुष्ट हो गये। वे उनसे पूर्ण रूप से घृणा करने लगे। सन् १८८७ में उन्होंने शिकम पर आक्रमण कर दिया, परन्तु अँगरेजों ने उन्हें पराजित करके भगा दिया। दोनों सरकारों में विद्वेष जारी रहा। सन् १८९९ में जब लार्ड कर्जन भारतवर्ष का वाइसराय होकर आया तो उसने तिब्बत की ओर विशेष ध्यान दिया। इस समय तिब्बत-राज्य पर रूसियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। यह बात उग्र नीति के समर्थक लार्ड कर्जन को बहुत खली। सन्धि-वार्ता की कोई उपयोगिता न देखकर उसने सन् १९०३ में तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। इसी समय चीन और रूस की सरकारें भी तिब्बत की राजनीति की ओर आकृष्ट हुईं। अतः अँगरेजों को तिब्बत की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर न मिल सका और उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहा।

अध्याय ३०

आन्तरिक शासन-प्रबन्ध

(सन् १८६२-६६)

राष्ट्रीय चेतना––सन् १८६२ से १८९९ तक का काल भारतीय शासन-पद्धति के विकास का काल है। १८१० ईसवी में लाल-सागर-केबुल (Red Sea Cable) का निर्माण हुआ और तब से इँगलेंड की सरकार भारतीय सरकार के निकट सम्पर्क में हो गई। अब कतिपय मिनटों में ही एक स्थान से दूसरे स्थान को समाचार पहुँचाया जा सकता था। भारतीय विषयों में सेक्रेटरी आफ स्टेट का अधिकार बढ़ गया था। परिणाम यह हुआ कि भारतीय शासन-नीति इँगलैंड के हितों की आवश्यकता के अनुसार विकसित की गई। भारतवर्ष कच्चे माल के लिए इँगलैंड का गोदाम और बने हुए माल के लिए उसका सर्व-प्रमुख बाजार बन गया। औद्योगिक इँगलैंड के कारखानों का बना हुआ सामान प्रचुर संख्या एवं मात्रा में भारतवर्ष आने लगा।

१८५७ की असफल क्रान्ति के पश्चात् कुछ समय के लिए तो भारतवर्ष में निराशा के बादल छाये रहे परन्तु तत्पश्चात् वे धीरे-धीरे दूर होने लगे। पाश्चात्य विद्या-विज्ञान के सम्पर्क में आकर भारतीयों का दृष्टिकोण विस्तृत होने लगा। उनमें राष्ट्रीय चेतना बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वे शासन-सम्बन्धी विषयों से परिचित होने लगे और उनमें स्वाधिकार-रक्षण की भावना जाग्रत होने लगी। इस अनेकमुखी राष्ट्रीय चेतना का परिणाम सन् १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में प्रकट हुआ।

वैधानिक विकास––सन् १८६१ से ९९ तक जो वैधानिक विकास हुआ उससे कार्यकारिणी एवं व्यवस्थापिका सभाओं दोनों की ही रूप-रेखा बदलती गई। सन् १७८६ और १७९३ के ऐक्टों के अनुसार गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह आवश्यकता पड़ने पर अपनी कौंसिल के बहुमत के निर्णय

के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है। अब सन् १८७० के ऐक्ट के अनुसार उसका अधिकार-क्षेत्र और अधिक विस्तृत कर दिया गया। इसके अनुसार गवर्नर-जनरल आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत रूप से ही कानून बना सकता था। यही अधिकार प्रान्तों के गवर्नर, लेफ्टीनेंट गवर्नर एवं चीफ कमिश्नर को भी दिया गया। अब उन्हें व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख अपने प्रस्ताव रखने की आवश्यकता न थी। ब्रिटिश राज्य के हितों के संरक्षण के लिए गवर्नर-जनरल को कौंसिल का बहुमत की उपेक्षा करने का भी अधिकार पूर्ववत् अक्षुण्ण रक्खा गया।

१८७४ का इंडियन कौंसिल्स ऐक्ट—सन् १८७४ के ऐक्ट के द्वारा वाइसराय की कार्यकारिणी का विस्तार कर दिया गया। उसमें सार्वजनिक कार्यों (Public Works) के लिए भी एक सदस्य की नियुक्ति हुई। परन्तु सेक्रेटरी आफ स्टेट को यह अधिकार दे दिया गया कि यदि वह चाहे तो कौंसिल के सदस्यों की संख्या घटा भी सकता था।

व्यवस्थापिका-सभा में परिवर्तन—सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। उस समय लार्ड डफरिन भारतवर्ष का वाइसराय था। कांग्रेस ने १८६१ के सुधारों के प्रति असन्तोष प्रकट किया और उसने व्यवस्थापिका सभाओं के विस्तार की माँग की। उसका मत था कि उनके कुछ सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किये जायँ। सभा के सदस्यों को बजट पर विवाद करने एवं प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया जाय। अतः लार्ड डफरिन ने इस प्रश्न पर विचार करने के हेतु एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने सुधारों की आवश्यकता के पक्ष में सिफारिश की। सुधार की आवश्यकता का अनुभव करके ब्रिटिश पार्लियामेंट ने सन् १८९२ में एक ऐक्ट पास किया। इसने जो सुधार किये वे इतने सीमित एवं संकुचित थे कि उनसे जनता का परितोष न हो सका। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों को बजट पर विवाद करने एवं अन्य प्रश्न करने का अधिकार दे दिया गया। परन्तु यह अधिकार केन्द्र एवं प्रान्तों के बनाये हुए नियमों के अन्तर्गत ही होना चाहिए। इस अन्तिम वाक्य ने सुधारों के वास्तविक महत्त्व का लोप कर दिया। केन्द्र और प्रान्त ने ऐसे नियम बनाये जिनसे सदस्य के वाद-विवाद का अधिकार अत्यधिक संकुचित हो गया।

इस ऐक्ट ने केन्द्र और प्रान्त व्यवस्थापिका-सभाओं का भी विस्तार किया। अब उनमें गैर-सरकारी सदस्य भी हो सकते थे। वे सदस्य प्रायः कार्पोरेशन, विश्वविद्यालय अथवा स्थानीय बोर्ड के सदस्य होते थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह एक्ट पूर्णरूप से असन्तोषजनक था। २-४ सदस्यों की संख्या बढ़ाकर केन्द्र के शासन में कोई मौलिक परिवर्तन न हुआ। लार्ड कर्जन ने सदस्यों की कम संख्या का कारण समझाते हुए कहा था कि सभाओं में सदस्यों की अधिक संख्या हो जाने पर शासन-कार्य बिगड़ जाता है, अधिक समय केवल व्यर्थ वाद-विवाद में ही व्यय होता है। परन्तु आश्चर्य है कि लार्ड कर्जन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन क ी इँगलैंड में नहीं किया जिसकी पार्लियामेंट के सदस्यों की संख्या ६०० से भी अधिक है। सदस्यों को बजट पर वाद-विवाद करने एवं अन्य प्रश्न पूछने का अधिकार मिला, परन्तु केन्द्रीय नियमों के द्वारा वह सीमित कर दिया गया। सदस्य पूर्ण बजट पर ही विवाद कर सकता था, उसके प्रत्यंग पर नहीं। पुनः प्रेसीडेंट को अधिकार मिला कि वह सभा में किसी भी प्रश्न को अस्वीकार कर सकता है।

आर्थिक नीति—सन् १८३३ मे भारतीय सरकार की आर्थिक नीति केन्द्रीकरण की ओर बढ़ रही थी। १८३३ के ऐक्ट ने प्रान्तीय सरकारों से कर लगाने और स्वेच्छानुसार धन व्यय करने के अधिकार को छीन लिया। अतः प्रान्तीय सरकारें बहुत-कुछ केन्द्र के विभागों की भाँति हो गई। अतः अनेक प्रान्तीय सरकारें अपने वार्षिक व्यय के लिए पूर्णतया केन्द्रीय सरकार पर निर्भर हो गई। यह व्यवस्था अत्यधिक दोषपूर्ण थी। लाभ के स्थान पर इससे हानि हो रही थी। प्रान्तीय सरकारें केन्द्र से अधिक से अधिक धन वसूल करने की चेष्टा करती थीं। परिणाम यह होता था कि वे कभी भी मितव्ययिता पर ध्यान न देती थीं। इस दोष को दूर करने के लिए लार्ड मेयो ने सन् १८७० में एक योजना चालू की। इसके अनुसार जेल, पुलिस, रजिस्ट्रेशन शिक्षा, सड़कें आदि कुछ विभागों का व्यय प्रान्तीय सरकारों के सुपुर्द कर दिया गया। उन्हें केन्द्रीय सरकार से एक निश्चित वार्षिक रकम भी दी जाने लगी। परन्तु इस योजना में यह दोष था कि केन्द्रीय सरकार से मिलनेवाला धन अपर्याप्त था। उससे शासन के कार्यों का विकास न हो सकता था।

इस दोष को दूर करने के लिए सन् १८७७ में एक नई योजना बनी जिसके अन्तर्गत मालगुजारी, चुंगी आदि के कार्य प्रान्तीय सरकार के सुपुर्द कर दिये गये। इनसे धन एकत्रित करने के बदले उन्हें कुछ ब्याज दिया जाने लगा। परन्तु अभी तक कर लगाने, नई-नई योजनाएँ बनाने अथवा किसी विभाग का व्यय कम करने का अधिकार प्रान्तों को प्राप्त न हो सका था।

सन् १८८२ में लार्ड रिपन ने ५ वर्ष के लिए एक नई व्यवस्था की। इसके अनुसार प्रान्तीय सरकार को मिलनेवाली आर्थिक सहायता स्थगित कर दी गई। समस्त आर्थिक साधनों को साम्राज्य-सम्बन्धी (Imperial), प्रान्तीय (Provincial) और उभयनिष्ठ (Divided) तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया। साम्राज्य-सम्बन्धी श्रेणी के अन्तर्गत अफीम, नमक, चुंगी आदि के साधन आते थे। इनकी समस्त आय केन्द्रीय सरकार के अधीन होती थी। प्रान्तीय श्रेणी के अन्तर्गत सिविल विभाग (Civil Departments) सार्वजनिक कार्य (Public Works) आदि आते थे। इनकी आय प्रान्त को प्राप्त होती थी। अधिकांश साधन उभयनिष्ठ श्रेणी के अन्तर्गत आते थे। इनकी आय दोनों सरकारों—केन्द्रीय एवं प्रान्तीय—को मिलती थी। केन्द्र ने प्रान्तों को दी जानेवाली आर्थिक सहायता तो स्थगित कर दी, परन्तु उसके स्थान पर उसे मालगुजारी का एक अंश दे दिया।

सन् १८८२ में युद्ध और दुर्भिक्ष के व्यय का उत्तरदायित्व भी केन्द्र और प्रान्त में विभक्त कर दिया गया। अत्यधिक व्ययकारक युद्ध के अतिरिक्त केन्द्र अब प्रान्त से उसके लिए धन न माँग सकता था। दुर्भिक्ष यदि अधिक भयावह हो जाय तो केन्द्र प्रान्त की सहायता करेगा। प्रान्त अब दुर्भिक्ष के निवारण एवं सहायता-वितरण के लिए कोई स्थायी कोष न रक्खेगा क्योंकि केन्द्र ने स्वयं एक 'फेमिन रिलीफ एण्ड इंश्योरेंस फंड' (Famine Relief and Insurance Fund) खोल दिया। वह उसमें प्रतिवर्ष १५,००,००० पौंड जमा करने लगा।

स्थानीय स्वराज्य का आरम्भ—अँगरेजी शासन-काल में सर्वप्रथम स्थानीय स्वराज्य (Local Self Government) का आरम्भ लार्ड मेयो के समय से होता है। उसका यह कार्य आर्थिक सुधार की योजना के अन्तर्गत हुआ था। स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन एकत्रित करने का कार्य उसने

स्थानीय बोर्डों के अधीन कर दिया था। इस योजना के अनुसार सन् १८११ से '१४ तक विभिन्न प्रान्तों में म्यूनिसिपल ऐक्ट पास किये गये जिनके अनुसार बोर्डों के अधिकार बढ़ा दिये गये। उनके सदस्यों के निर्वाचन की भी व्यवस्था की गई।

सन् १८७० से ८२ तक म्यूनिसिपल बोर्डों की संख्या एवं उनकी आय बढ़ गई। परन्तु उनकी विशेष उन्नति लार्ड रिपन के शासन-काल में हुई। उसके पूर्व स्थानीय संस्थाएँ आर्थिक दृष्टिकोण से बनाई गई थीं। परन्तु लार्ड रिपन ने उनका निर्माण राजनीतिक ध्येय से किया था। वह भारतीयों को शासन-कार्यों में भाग लेने के लिए शिक्षित करना चाहता था। सन् १८८२ में स्थानीय स्वराज्य विषयक प्रस्ताव पास हुआ। इसके अनुसार स्थान-स्थान पर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एवं लोकल बोर्ड की स्थापना की गई। म्यूनिसिपल बोर्डों को अपना चेयरमैन चुनने का भी अधिकार दिया गया। स्वास्थ्य, शिक्षा आदि स्थानीय कार्यों को करने के लिए बोर्डों के लिए कुछ धन की भी व्यवस्था की गई। कुछ समय बाद बोर्डों के सदस्यों का निर्वाचन भी होने लगा। यद्यपि बोर्डों का सम्पूर्ण कार्य सरकार के निरीक्षण में होता था, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने भारतीयों को शासन-कार्यों में भाग लेने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहित किया।

दुर्भिक्ष——सन् १८६१ से ९९ तक भारतवर्ष के निम्नलिखित स्थानों में ६-७ दुर्भिक्ष पड़े——

(१) १८६० में पश्चिमोत्तर प्रान्त एवं अलवर आदि कतिपय देशी राज्यों में।

(२) १८६६-६७ में उड़ीसा एवं कलकत्ता से लेकर मद्रास तक सम्पूर्ण पूर्वी समुद्र-तट में।

(३) १८६८-६९ में पश्चिमोत्तर प्रान्त, पंजाब और राजपूताना में।

(४) १८७३ में विहार में।

(५) १८७६-७८ में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, पश्चिमोत्तरप्रान्त और अवध में।

(६) १८८०-९६ में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में साधारण रूप में।

(७) १८९६-९७ में पश्चिमोत्तर प्रदेश, अवध, बिहार, मध्य-भारत, मद्रास, बम्बई, पंजाब एवं बरार में।

समय-समय पर पड़नेवाले इन दुर्भिक्षों से अँगरेजी सरकार ने पर्याप्त अनुभव प्राप्त किया और उसके आधार पर एक निश्चित दुर्भिक्ष-नीति विकसित की। यह नीति भिन्न-भिन्न दुर्भिक्षों के अवसर पर नियुक्त कमीशनों की रिपोर्ट के आधार पर बनाई गई थी। इस प्रकार की सर्वप्रथम रिपोर्ट सन् १८६० में कर्नल बेअर्ड स्मिथ (Colonel Baird Smith) ने तैयार की थी। सन् १८६६-६७ के उड़ीसा-दुर्भिक्ष के पश्चात् भी सर जार्ज कैम्पवेल (Sir George Campbell) की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त हुआ। सन् १९४४ के बंगाल-दुर्भिक्ष की भाँति यह उड़ीसा का दुर्भिक्ष भी प्रान्तीय सरकार की अकर्मण्यता एवं उदासीनता के परिणाम-स्वरूप हुआ था। अभी तक केन्द्रीय सरकार कुछ वृद्धों और अशक्तों की जीवन-रक्षा के सिवा और किसी की भी जीवन-रक्षा करना अपना कर्त्तव्य न समझती थी परन्तु सर्वप्रथम इस उड़ीसा-दुर्भिक्ष के समय वाइसराय लारेंस ने आदेश निकाला कि जिलाधीश प्रत्येक जीवन की यथाशक्ति रक्षा के लिए उत्तरदायी है। कैम्पबेल की रिपोर्ट ने दुर्भिक्ष-निवारणार्थ यातायात के साधनोंको सुधारने एवं अन्न की उत्पत्ति का लेखा रखने पर जोर दिया।

लार्ड लिटन के समय में भी अकाल (१८७६-७८) पड़ा। उस समय भी जनरल रिचर्ड स्ट्रैची (General Richard Strachey) की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया। इसकी रिपोर्ट सन् १८८० में प्रकाशित हुई। इसने दुर्भिक्ष-निवारण एवं जीवन-रक्षा दोनों के सिद्धान्तों का विकास किया। कृषि-विषयक सम्पूर्ण ब्योरे को रखना, सशक्त व्यक्तियों को श्रम के बदले में सहायता देना, पर्याप्त वेतन देना, बच्चों को भत्ता देना, स्थान-स्थान पर निःशुल्क भोजन-सामग्री का वितरण करना, कृषकों को ऋण देना, पशुओं को दुर्भिक्ष-ग्रसित स्थानों से हटाना आदि नियम इस रिपोर्ट के प्रमुख अंग थे।

इस कमीशन की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार ने 'फेमीन रिलीफ ऐण्ड इंश्योरेंस' में १,५०,०० ००० रु० देने का निश्चय किया। इसी समय से केन्द्र एवं प्रान्त में 'फेमिन कोड' (Famine Code) भी बनने लगे। इस प्रकार अधिकाधिक अनुभवों से दुर्भिक्ष-नीति का विकास होता गया। सन् १८८०

से '९६ के बीच में पड़नेवाले दुर्भिक्षों एवं १८९६-९७ के दुर्भिक्ष के समय उपर्युक्त नियमों की परीक्षा हुई और उनमें यथासम्भव सुधार किये गये। सन् १८९८-९९ के दुर्भिक्ष का उल्लेख लार्ड कर्जन के अध्याय में किया जायगा।

कृषि एवं उद्योग-धंधे––भारतवर्ष की कृषि एवं उसके उद्योग-धंधे दोनों ही अनवरत दशा में हैं। आधुनिक काल में इनकी अवनति का कारण इँगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति एवं पूँजीवादिनी नीति का अनुसरण है। औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप इँगलैंड की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ गई। इसके दो फल हुए। प्रथम उसे कच्चे माल के आयात की आवश्यकता हुई। द्वितीय उसे अपने मिलों और कारखानों में बने माल के निर्यात की। भारतवर्ष उसके अधीन था। अतः यहाँ की व्यापारिक नीति इँगलैंड की इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु निर्धारित हुई। भारतवर्ष का अधिकाधिक कच्चा माल इँगलैंड जाने लगा और वहाँ का बना हुआ माल यहाँ प्रचुर संख्या एवं मात्रा में आने लगा। फलतः भारतवर्ष के उद्योग-धंधे नष्ट हो गये। लोग उन्हें छोड़कर खेती की ओर झुके। कालान्तर मे प्रत्येक पृथ्वी के टुकड़े पर इतने अधिक मनुष्य आश्रित हो गये कि उसकी उपज उनके लिए पूर्णरूप से अपर्याप्त हो गई। भूमि की उत्पादन-शक्ति की सीमा होती है। एक निश्चित संख्या से अधिक मनुष्यों के लिए वह काफी नहीं हो सकता। अतः यदि भूमि-खण्ड के ऊपर उस संख्या से अधिक मनुष्य आश्रित हो जाते है तो उसका स्वाभाविक परिणाम दुर्भिक्ष होना है।

इसके अतिरिक्त भारतीय कृषकों की निर्धनता, कृषि का प्राचीनतम ढंग, उत्तम खाद और बीजों का अभाव, बाजारों की अव्यवस्था भी भारतीय कृषि की अवनति के कारण हैं।

सन् १८८० के दुर्भिक्ष-कमीशन की रिपोर्ट एवं १८९१ की जनगणना से ज्ञात हुआ कि भूमि पर लगभग ६१% मनुष्य निर्भर हैं परन्तु भूमि की उत्पादन-शक्ति इतने अधिक मनुष्यों के भरण-पोषण के लिए पूर्ण रूप से अपर्याप्त है। उस समय से लेकर अभी तक कृषि-निर्भर मनुष्यों की संख्या बढती ही गई है, परन्तु भूमि की उत्पादन-शक्ति के बढ़ाने की कोई उल्लेखनीय

चेष्टा न की गई। फलतः समय-समय पर अकाल पड़े जिनसे बहुसंख्यक मनुष्य पीड़ित हुए।

नौकरियों का भारतीयकरण—अँगरेजी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ शिक्षित भारतीयों की राज्य के उच्च पदों पर कार्य करने की इच्छा भी बढ़ती गई। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में जिस समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ उसने भारतीयों की आशा-अभिलाषा को और भी बढ़ा दिया। परन्तु बहुत दिनों तक उनकी यह आशा उचित रूप से पूर्ण न हुई। भारतीय शासन में नौकरी-वितरण कार्नवालिस के सिद्धान्त के आधार पर होता था। वह भारतीयों का घोर अविश्वास करता था। अतः उसने उन्हें उच्च पदों पर न रखने की नीति का अवलम्ब लिया। वही नीति बहुत दिनों तक चलती रही। भारतीय क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप अँगरेज भारतीयों का और भी अधिक अविश्वास करने लगे। अतः महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के प्रकाशित होते हुए भी उन्हें उच्च पदों से वंचित करने की यथाशक्ति चेष्टा की जाने लगी।

सन् १८६१ के ऐक्ट के अनुसार सम्पूर्ण उच्च पद कवेनैण्टेड सिविल सर्विस (Covenanted Civil Service) के सदस्यों के लिए खोल दिये गये। इस सर्विस की परीक्षा प्रतिवर्ष इँगलैंड में होती थी। नियमतः भारतीय भी इस परीक्षा में बैठ सकते थे, परन्तु अत्यधिक दूरी, शिक्षा, सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण उनके लिए यह प्रायः असम्भव था। पुनः परीक्षार्थियों की अधिक से अधिक आयु सन् १८६१ में २२ वर्ष और सन् १८७१ में २१ वर्ष कर दी गई। इससे भारतीयों की असुविधा और भी बढ़ गई। फल यह हुआ कि भारतीयों के लिए केवल निम्नतर पद ही बच रहे। अतः धीरे-धीरे शिक्षित भारतीयों में असन्तोष बढ़ने लगा। अविश्वास ने अविश्वास को जन्म दिया। भारतवासी भी विदेशी अँगरेजों के वचनों एवं प्रतिज्ञाओं को अविश्वास एवं सन्देह की दृष्टि से देखने लगे।

लार्ड लारेंस ने इस असन्तोष को दूर करने का प्रयत्न किया। कवेनैण्टेड सर्विस के लिए इँगलैंड में शिक्षा-प्राप्ति के हेतु उसने शिक्षित भारतीयों के लिए २०० पौण्ड वार्षिक की ९ छात्रवृत्तियाँ देने का प्रस्ताव रक्खा। ये तीन

वर्ष के लिए दी जातीं। परन्तु सेक्रेटरी आफ स्टेट ने उसके इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया।

सन् १८६८ में ग्लैडस्टन के हाथ में इँगलैंड की सत्ता आई। उसने भारतीयों के असन्तोष को दूर करने के लिए सन् १८७० में एक ऐक्ट पास किया जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह योग्य भारतीयों को आवश्यकतानुसार सिविल सर्विस में नियुक्त कर सकता है। इसके लिए इँगलैंड की परीक्षा का पास करना आवश्यक न रहा। परन्तु भारतीय सरकार ने इस ऐक्ट का सत्यतापूर्वक पालन न किया।

लार्ड लिटन ने सन् १८१८ में भारतीयों के लिए इँगलैंड की परीक्षा उत्तीर्ण करने के नियम को भंग कर देने का प्रस्ताव किया, परन्तु सेक्रेटरी आफ स्टेट ने उसे अस्वीकार कर दिया।

सन् १८७९ में एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार प्रतिवर्ष कुछ उच्चवर्गीय योग्य भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करने का गवर्नर-जनरल को अधिकार दे दिया गया। परन्तु इंगलैंड की परीक्षा के लिए आयु घटाकर १९ वर्ष कर दी गई। भारतीयों ने इसका घोर विरोध किया। राष्ट्रीय नेता एस० एन० बनर्जी ने सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण किया और भारतवर्ष में भी सिविल सर्विस की परीक्षा करने के हेतु आन्दोलन किया। सम्पूर्ण देश में उत्तेजना फैल गई। लार्ड डफरिन इस आन्दोलन से प्रभावित हुआ और उसने सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन करने के हेतु एक कमीशन नियुक्त किया। इसने सम्पूर्ण पदों को साम्राज्य-सम्बन्धी (Imperial), प्रान्तीय (Provincial), और आश्रित (Subordinate), तीन भागों में विभक्त किया। सब महत्त्वपूर्ण पद साम्राज्य-सम्बन्धी श्रेणी के अन्तर्गत रक्खे गये जो केवल अँगरेजों के लिए ही थे। प्रान्तीय एवं आश्रित श्रेणी के पद भारतीयों के लिए खुले थे, परन्तु उनमें भी भाँति-भाँति के प्रतिबन्ध लगाये गये। सिविल सर्विस की परीक्षा की आयु २३ वर्ष कर दी गई।

कमीशन की सम्पूर्ण रिपोर्ट से भारतीयों का असन्तोष दूर न हो सका। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। उसने पदों के भारतीयकरण एवं

सिविल सर्विस परीक्षा का केन्द्र इँगलैंड के साथ भारतवर्ष में भी बनाने के आशय के प्रस्ताव पास किये।

सन् १८९३ में दादाभाई नौरोजी के प्रयत्न से इँगलैंड की पार्लियामेंट ने भारतवर्ष में भी परीक्षा-केन्द्र खोलने के लिए एक ऐक्ट पास किया। परन्तु भारतीय सरकार ने उसे कार्यान्वित न किया।

प्रेस--सन् १८७० तक प्रेस को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। इसका कारण यह था कि उस समय तक पत्रकारिता उन्नत न हुई थी। लोगों में आलोचनात्मक लेख लिखने की योग्यता भी न आई थी। पुनः यातायात के साधनों के अभाव में प्रायः सूचना स्थानीय ही हुआ करती थी। परिणाम यह होता था कि देशीय समाचार-पत्रों में जो सूचनाएँ अथवा लेख निकलते थे, वे प्रायः विदेशी सत्ता के लिए विशेष हानिकर न होते थे। परन्तु जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता गया, वैसे ही वैसे राष्ट्रीय चेतना विकसित होती गई। भारतीय अपने अधिकारों एवं अँगरेजी अनीति के प्रति जागरूक हो गये। अब वे शासन की आलोचना भी करने लगे। यातायात के साधनों के उन्नत हो जाने के कारण सूचनाएँ भी महत्वपूर्ण होने लगीं। साधारणतया देश में और विशेषतया बंगाल में लौकिक भाषाओं में भी समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे। उनकी कटु आलोचना से अँगरेज सरकार सशंकित हो गई। अतः सन् १८७० में पेनल कोड (Penal Code) के नवीन संस्करण ने उनकी स्वतन्त्रता को बहुत-कुछ संकुचित कर दिया। फिर भी समाचार-पत्रों का कार्य बन्द न हुआ। सन् १८७० में ब्रिटिश भारतवर्ष में लगभग ६४४ समाचार-पत्र निकलते थे। इनमें से ४०० से अधिक लौकिक भाषाओं में निकलते थे। जनता उत्तरोत्तर इनकी ओर आकृष्ट होती जाती थी।

पत्रकारिता की अनवरत उन्नति देखकर भारतीय सरकार भयभीत हो गई। सन् १८७२ में लार्ड नार्थब्रुक ने 'सोम प्रकाश' नामक एक बंगाली पत्र की कटु आलोचना से क्षुब्ध होकर उसे कठिन चेतावनी दी। सन् १८७५ में सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड सैलिसबरी ने भारतीय सरकार का ध्यान कुछ लौकिक भारतीय पत्रों की ओर आकर्षित किया और कहा कि इस प्रकार के पत्र अँगरेजी राज्य के हितों के लिए हानिकारक हैं। अतः उन पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए।

लार्ड लिटन ने सन् १८७८ में एक वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास कराया। इसकी कठोरता के कारण लोगों ने इसे 'गैगिंग ऐक्ट' (Gagging Act) का नाम दिया। इस ऐक्ट ने स्वतन्त्र आलोचना का मुँह बन्द कर दिया। चारों ओर असन्तोष उमड़ने लगा। यह ऐक्ट केवल लौकिक भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले पत्रों के ही सम्बन्ध में था। अतः इससे विरोध और भी बढ़ा। 'अमृतबाजार पत्रिका' ने इस ऐक्ट से बचने के लिए बँगला का परित्याग कर अँगरेजी भाषा का चोला पहना।

सन् १८७८ के उपर्युक्त वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के अन्तर्गत मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया गया कि वह आवश्यकता पड़ने पर प्रकाशक और मुद्रक से सीक्योरिटी जमा कराये, अथवा उनसे लिखित वचन ले कि 'विद्रोहात्मक' विषय न छापेंगे अथवा प्रकाशन के पूर्व अपने समाचार के प्रूफ सेंसर आफिसर को दिखा दें और अस्वीकृत होने पर उन्हें प्रकाशित न करें। परन्तु यह ऐक्ट दीर्घजीवी न हो सका। उदार वायसराय लार्ड रिपन ने उसे रद्द कर दिया।

जैसे-जैसे समय बीतता गया और राष्ट्रीयता बलवती होती गई, वैसे ही वैसे समाचार-पत्रों की उन्नति होती गई और अँगरेजी शासन के प्रति उनकी आलोचना भी अधिक कटु होती गई। अब पत्रकारिता ने देश-भक्ति का जामा पहना। उसकी पंक्तियों से विद्रोह-भावना उद्वेलित होने लगी। अनेक पत्रों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रान्ति के विचार को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया। उनके उत्तेजनात्मक लेखों का परिणाम यह हुआ कि सन् १८९७ में पूना के रैण्ड और एअर्स्ट (Messrs. Rand and Ayerst) की हत्या कर दी गई। बंगाली समाचार-पत्र 'बंग-बासी' ने अँगरेजी शासन के प्रति भीषण उद्‌गार करना प्रारम्भ किया। वह बंगाल ही का क्या, सारे भारतवर्ष की भावनाओं का सूचक हो गया।

इल्बर्ट बिल (Ilbert Bill)—सन् १८६१ से १८९९ तक का काल अँगरेजों के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीयता के सबल होने का था। इसके कई कारण थे। अगरेजों की अनीति, भारतीय हितों के प्रति उनका उपेक्षा-भाव, भारतीयों को उच्च पदों से वंचित करने के सफल प्रयत्न, सिविल सर्विस के लिए आयु कम करना, भारतीय प्रेस को अपंगु बनाने के गर्हित प्रयत्न—सब

के विरुद्ध था। वह मिलेटरी मेम्बर को अपने अधीन कर समस्त अधिकार अपने हाथ में लेना चाहता था। उसका विचार था कि ऐसा करने से सैनिक-व्यवस्था निश्चित, उत्तरदायी एवं दृढ़ हो जायगी। लार्ड कर्जन ने इसका विरोध किया। उसके विचार से सम्पूर्ण सैनिक कार्य एक व्यक्ति सफलता-पूर्वक न कर सकता था। पुनः वह लार्ड किचनर की शक्ति से डरता था। उसे भय था कि सम्पूर्ण अधिकार पाकर कमाण्डर-इन-चीफ उसकी शासन-नीति को प्रभावित कर सकेगा। परन्तु गृह-सरकार ने लार्ड किचनर का पक्ष लिया और विरोध-स्वरूप अगस्त, १९०५ में कर्जन ने पद-त्याग कर दिया।

लार्ड कर्जन का चरित्र—लार्ड कर्जन बड़ा ही योग्य व्यक्ति था। उसमें अद्‌भुत् कार्य-क्षमता थी। अपनी तीव्र बुद्धि के द्वारा वह जटिल प्रश्नों को बड़ी जल्दी हल कर लेता था। उसकी वाक्‌शक्ति सराहनीय थी। अपने भाषण-प्रवाह में वह बड़े-बड़े विरोधों को भी डुबो देने की क्षमता रखता था। परन्तु इतने गुणों के होते हुए भी वह एक सफल वायसराय न हो सका। जिस समय वह भारतवर्ष आया था, उस समय उसकी चतुर्दिक् योग्यता की चर्चा सुनकर जनता ने उसका स्वगत किया, परन्तु कतिपय वर्षों में ही जनता को विदित हुआ कि उसने कर्जन को समझने में भारी भूल की थी। उसके शासन के सुधारों एवं कार्यों से जनता में भीषण विक्षोभ उत्पन्न हो गया और जब लार्ड कर्जन भारतवर्ष से वापस गया तो किसी को तनिक भी दुःख न हुआ। लोगों ने संतोष की साँस ली।

लार्ड कर्जन की लोकअप्रियता के अनेक कारण थे। वह बड़ा ही हठी स्वभाव का व्यक्ति था। वह अपने विपक्षी के विरोध को न सह सकता था। अहंमन्यता का अंश उसमें इतना अधिक था कि वह अपने विचार एवं कथन को ब्रह्म-वाक्य समझता था। स्वभाव से ही वह महत्त्वाकांक्षी था। सत्ता-प्राप्ति के लिए वह लालायित रहता था। सम्पूर्ण शासन के केन्द्रीकरण के द्वारा वह प्रत्येक विभाग के ऊपर दृढ़ नियंत्रण रखना चाहता था। परन्तु समय इसके विरुद्ध था। देश में राष्ट्रीय चेतना जागृत हो चुकी थी। अब वह अधिकार-प्राप्ति के लिए विकल था। अतः लार्ड कर्जन और जनता में संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। बंगाल के विभाजन ने इस संघर्ष को और भी अधिक कटु बना दिया। सारा देश उसे राष्ट्रीय हितों का कट्टर विरोधी समझने लगा।

अध्याय ३२

दमन और सुधार

(सन् १९०५—२०)

जनता में असंतोष——सन् १९०५ से १९१९ का काल भारतीय इतिहास में दमन एवं सुधार का काल है। इस काल में अँगरेजी शासन के विरुद्ध सबल राष्ट्रीयता का विकास हुआ। जनता ने अपने अधिकारों की माँग की और उनके न मिलने पर विदेशी सत्ता के विरुद्ध संगठित रूप से मोर्चा लेने का निश्चय किया। अँगरेजों ने उसका दमन करना चाहा, परन्तु परिणाम उलटा हुआ। दमन से असंतोष और अधिक बढ़ गया, भारतीय राष्ट्रीयता और अधिक बलवती हो गई और अँगरेजी सत्ता को विवश होकर कुछ न कुछ सुधार करने पड़े।

कर्जन के जाने के समय भारतीय स्थिति——जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, लार्ड कर्जन ने अपने हठधर्म से भारतीय जनता को क्षुब्ध कर दिया। सारा भारतवर्ष अँगरेजी शासन का घोर विरोधी हो गया। वैधानिक शासनों के द्वारा काम चलते न देखकर लोगों ने उग्र एवं हिंसात्मक नीति का भी आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया। अभी तक योरपीय अजेय समझे जाते थे। परन्तु जब सन् १९०५ में एक एशियाई देश जापान ने रूस ऐसे विशाल योरपीय देश को पूर्णरूप से पराजित कर दिया तो एशिया के अन्य परतन्त्र देशों की आशा बलवती हो गई। भारतवर्ष ने भी अपने उद्धार के लिए अँगरेजी सत्ता से संघष करने का निश्चय किया। एक ओर तो वैधानिक प्रणाली से कार्य लिया गया और दूसरी ओर उग्र नीति से। उग्र नीतिवादी देशभक्तों का विचार था कि भारतवर्ष को अँगरेजों ने तलवार के बल से जीता है। अतः अब वे तलवार के बल से ही निकाले जा सकते हैं।

लार्ड मिण्टो——सन् १९०५ में कर्जन पद-त्याग कर भारतवर्ष से चला गया। उसके स्थान पर लार्ड मिण्टो की नियुक्ति हुई। वह सैनिक प्रवृत्ति का

मनुष्य था। इसके पूर्व वह कनाडा का गवर्नर-जनरल रह चुका था। भारतवर्ष में आते ही उसने समझ लिया कि कर्जन की केन्द्रीकरण की नीति एंव भारतीय असहयोग से काम नहीं चल सकता। देश की पुकार सुधार है। उसे स्वीकार न करने का अर्थ दीवार से टकराना है। भाग्य से तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड मार्ले भी सुधारों के द्वारा भारतीय असन्तोष को शान्त करना चाहता था।

अतः इन दोनों से भारतीयों को बड़ी आशा थी। भारतीय नेता लाला लाजपतराय और श्री गोखले अपने देश की दशा को समझाने एवं सुधारों की आवश्यकता बताने के लिए इँगलैंड गये। परन्तु इसका कुछ विशेष परिणाम न हुआ। अंगरेजों का दृष्टिकोण बड़ा सकुचित था। अतः निश्चित था कि यदि उन्होंनें सुधार किये भी तो वे भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकेंगे।

दमन और सुधार

जनता में असंतोष--कर्जन की अहंमन्यता, अभिमान एवं बंगाल-विभाजन की चेष्टा से देश में असन्तोष की लहर फैल गई। अफ्रीका, इँगलैंड आदि विदेशों में रहनेवाले भारतीयों को जिस उपेक्षा एवं अनादर का सामना करना पड़ रहा था, उससे भारतीय जनता क्षुब्ध हो रही थी। उसने भली भाँति समझ लिया था कि परतन्त्र भारतवर्ष का संसार के किसी भी कोने में सम्मान नहीं हो सकता। इधर, अँगरेजी शासन के प्रसाद-स्वरूप देश में भीषण प्लेग, दुर्भिक्ष एवं निर्धनता फैल रही थी। अँगरेजी व्यापारिक नीति ने भारतवर्ष का खूब शोषण किया था। यहाँ का अधिकांश कच्चा माल इँगलैंड में भेज दिया जाता था और वहाँ का बना हुआ माल भारतीय बाजारों में ठूँसा जाता था। परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये और भारतवर्ष अपनी आवश्यकताओं के लिए इँगलैंड पर निर्भर हो गया। यही दुर्दशा भारतीय कृषि की थी। बेचारा भारतीय किसान दिन-रात परिश्रम करता था, परन्तु लगान और ऋण के भार से दबा आ वह अपने कुटुम्ब की उदर-पूर्ति भी न कर पाता था। अँगरेजी शिक्षालय क्लर्क-उत्पादन के कारखाने थे। शिक्षित व्यक्तियों को वर्ण-भेद के आधार पर राज्य में उच्च पद न दिये जाते थे। इन सब कारणों से भारतीयों को विश्वास हो गया कि

उनके समस्त दुःखों का कारण अँगरेजी शासन है। अतः उसके उन्मूलन के लिए वे व्यग्र हो उठे। उनके समक्ष फ्रांस, अमेरिका, इटली, जर्मनी और आयरलैंड के दृष्टान्त उपस्थित थे। इन देशों ने अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उग्र नीति का अवलम्बन लिया था। अतः भारतीयों को भी उग्र नीति अधिकाधिक आकर्षित करने लगी। आवेदन-पत्रों, प्रार्थनाओं एवं प्रस्तावों पर से उसका विश्वास उठने लगा। कुछ समय के लिए ऐसा ज्ञात होने लगा कि भारतीय राष्ट्रीयता सशस्त्र क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रही है। चारों ओर विरोध एवं विद्रोह की भावना व्याप्त होने लगी। पहले तो सरकार ने उसका दमन करना चाहा, परन्तु इस दमन-नीति ने अग्नि में घृत का कार्य किया। अपनी दमन-नीति को असफल होते देखकर अँगरेजी सरकार नीचे झुकी और उसने इस चतुर्दिक असन्तोष को सुधार-द्वारा शान्त करने की चेष्टा की।

मार्ले-मिण्टो सुधार (Morley-Minto Reform of 1909)—ऊपर बताया जा चुका है कि भारत-सचिव (Secretary of State) मार्ले और वायसराय मिण्टो दोनों ने सुधार की आवश्यकता समझ ली थी। उन्होंने भली भाँति जान लिया था कि यदि सुधार न किये गये तो भारतीय राष्ट्रीयता अवश्य सशस्त्र क्रान्ति की ओर अग्रसर हो जायगी और भारतवर्ष में शीघ्र ही एक भीषण विस्फोट होगा जिसके परिणामस्वरूप अँगरेजी सत्ता का भविष्य अनिश्चित हो जायगा। अतः उग्र नीति को शिथिल करने के हेतु एवं भारतीय असन्तोष को शान्त करने के लिए उन्होंने सन् १९०९ में कुछ सुधार किये। वे सुधार इतिहास में मार्ले-मिण्टो सुधार (Morley-Minto Reform) के नाम से विख्यात हुए। यदि यही सुधार १९०५ में हुए होते तो कदाचित् जनता को सन्तोष होता। परन्तु १९०९ में परिस्थिति बदल चुकी थी। इस समय तक राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत सबल हो गया था। भारतवर्ष ने १९०९ के सुधारों को अँगरेजों की निर्बलता का सूचक समझा। उसने सोचा कि हमारे आन्दोलन से भयभीत होकर ही अँगरेज सरकार इतनी झुकी है और यदि इस आन्दोलन को अधिक उग्र किया जाय तो उसे और अधिक झुकाया जा सकता है। इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर शीघ्र ही नये वायसराय लार्ड हार्डिंज के ऊपर बम फेंका गया और पुनः आन्दोलन उग्रतर हो गया।

सन् १९०९ में 'गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट' पास हुआ। इसके अनुसार केंद्रीय एवं प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। वायसराय की धारा-सभा के सदस्यों की संख्या ६० कर दी गई। इनमें से ३३ मनोनीत और २७ जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। पंजाब और ब्रह्मा की धारा-सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ३० कर दी गई और अन्य पाँच प्रान्तों के सदस्यों की ५०। इनमें भी मनोनीत और निर्वाचित सदस्य थे। वायसराय की कार्य-कारिणी समिति में एक भारतीय रक्खा गया। बम्बई और मद्रास की समितियों में भी भारतीय सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। आय-व्यय के अतिरिक्त समस्त विषयों पर विवाद करने एवं प्रश्न पूछने का अधिकार सदस्यों को दिया गया। वे इन विषयों पर प्रस्ताव रख सकते थे। परन्तु सरकार को अधिकार था कि वह बिना कारण बताये उन पर विवाद की आज्ञा न दे।

सन् १९०९ के ऐक्ट ने विस्तृत आधार पर निर्वाचन-प्रणाली को स्वीकार किया। अब कौंसिलों के गैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन-द्वारा होने की व्यवस्था की गई। यह निर्वाचन प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूप से था। परन्तु इस ऐक्ट का सबसे बड़ा दोष पृथक् निर्वाचन-प्रणाली की स्वीकृति थी। सन् १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई थी। वह मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए पृथक् निर्वाचन-प्रणाली की माँग कर रही थी। आगाखाँ उसके नेता थे। यद्यपि भारतीय राष्ट्रीय नेता इस हिन्दू-मुस्लिम विभाजन की नीति का विरोध कर रहे थे, तथापि लार्ड मिन्टो ने इसे स्वीकार किया। भारतीय राष्ट्रीयता की प्रगतिशील धारा को अवरुद्ध करने की यह अँगरेजों की सफल चेष्टा थी। पृथक् निर्वाचन-प्रणाली स्वीकृत हुई और उसी दिन से भारतवर्ष में साम्प्र-दायिकता का विष-बीज अंकुरित होने लगा।

मार्ले-मिण्टो ऐक्ट से जनता सन्तुष्ट न हुई। पृथक् निर्वाचन-प्रणाली एवं परिमित मताधिकार देश को अप्रिय लगे। वास्तव में इस ऐक्ट ने जनता को केवल शासन-सम्बन्धी प्रश्न पूछने का अधिकार दिया। वह शासन-नीति को विशेष रूप से प्रभावित न कर सकती थी, उसके निर्धारण में कोई महत्त्वपूर्ण भाग भी न ले सकती थी। अतः देश में पुनः असन्तोष फैलने लगा। कांग्रेस ने पुनः आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसके परिणामस्वरूप १९१९ में पुनः सुधार हुए।

नवम्बर, १९१० में मिण्टो भारतवर्ष से चला गया और उसके स्थान पर लार्ड हार्डिज (१९१०-१६) वायसराय बनकर आया। उसकी शासन-कालीन घटनाओं का वर्णन करने से पूर्व हम सन् १९०६ से १९१९ तक के अन्य शासन-सुधारों का वर्णन करेंगे।

शासन-सुधार (१९०६-१९)

विकेन्द्रीकरण की नीति (Decentralisation)——लार्ड कर्जन ने केन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया था। उसने राज्य के समस्त विभागों के शासन-सूत्रों को अपने हाथ में धारण कर लिया था। समस्त नीति केन्द्र से निर्धारित होती थी। अन्य विभाग तो मशीन के पुर्जों की भाँति उसे निरन्तर कार्यान्वित किया करते थे। प्रत्येक पदाधिकारी को अपने कार्य के लिए अपने अफसर की अपेक्षा करनी पड़ती थी। उसका स्वयं कोई अस्तित्व न था। इस कठोर केन्द्रीकरण की नीति ने उच्च पदाधिकारियों एवं विभिन्न विभागों की कार्यक्षमता का हरण कर लिया। अपने ऊपर की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते-करते उनका विवेक कुण्ठित हो गया। वे स्वयं किसी स्वतन्त्र नीति का निर्धारण करने के अयोग्य हो गये।

इस केन्द्रीकरण की नीति का जनता ने विरोध किया। वह स्वयं अधिकाधिक शासनाधिकार चाहती थी, देश के शासन-कार्य में भाग लेना चाहती थी। परन्तु कर्जन की नीति के रहते हुए यह सम्भव न था। अतः धीरे-धीरे असन्तोष बढ़ने लगा। लार्ड मार्ले इस बढ़ते हुए राष्ट्रीय असन्तोष को देखकर भयभीत हो गया। उसने सम्पूर्ण प्रश्न पर विचार करने के हेतु सन् १९०७ में एक रायल कमीशन (Royal Commission) नियुक्त किया। इस कमीशन ने शासन-सत्ता के केन्द्रीकरण की सिफारिश की। यह प्रस्तावित विकेन्द्रीकरण देश की अर्थ-नीति, प्रान्तीय शासन एवं स्थानीय शासन से सम्बद्ध था।

अर्थ-नीति——लार्ड कर्जन द्वारा निर्धारित अर्थ-नीति में अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। कमीशन ने उनकी जाँच की जिसके परिणामस्वरूप मई १९१२ का प्रस्ताव पास हुआ। इसमें निम्नलिखित सुधारों की व्यवस्था की गई थी:——

(१) आय के कुछ साधन पूर्ण से रूप से अथवा आंशिक रूप से प्रान्तीय कर दिये गये। इससे प्रान्तों को कुछ अधिक आय और स्वतन्त्रता मिल गई।

(२) यद्यपि कर लगाने का विस्तृत अधिकार केन्द्र को ही रहा, तथापि अब प्रान्तों की सम्मति लेकर कर-नीति-निर्धारण का उल्लेख किया गया।

(३) एक ही साधन से प्राप्त आय अब विभिन्न प्रान्तों में आवश्यकतानुसार विभिन्न विषयों पर व्यय की जा सकती थी।

प्रान्तीय शासन––कमीशन ने प्रस्ताव किया कि बड़े-बड़े प्रान्तों में केवल एक ही लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के हाथ में सम्पूर्ण शासन न हो। उसके स्थान पर एक गवर्नर एवं एक समिति (जिसमें कुछ भारतीय) की नियुक्ति होनी चाहिए। कमीशन ने जिला के कलेक्टर के अधिकारों की वृद्धि करने की सिफारिश की। यह प्रस्ताव भारतीय माँग के विरुद्ध था। जनता कलेक्टर के अधिकारों में कमी चाहती थी। गोखले कलेक्टर के सहयोग के लिए एक जिला सहयोग-समिति (District Advisory Council) का निर्माण चाहते थे। परन्तु उनकी यह माँग स्वीकृत न हुई। कमीशन के उपर्युक्त प्रस्ताव मान लिये गये और कालान्तर में कार्यान्वित किये गये।

स्थानीय स्वराज्य––कमीशन ने स्थानीय स्वराज्य के सम्पूर्ण विषय पर विचार किया और उसमें और अधिक विकास की आवश्यकता बताई। अभी तक स्थानीय शासन लार्ड रिपन के १८८२ के प्रस्ताव के आधार पर चल रहा था। लार्ड रिपन उदार वायसराय था। वह भारतीयों को शासन-कार्य में भाग लेने के लिए उत्साहित करना चाहता था। इसी ध्येय से उसने स्थानीय स्वराज्य का प्रतिपादन किया था। परन्तु उसकी व्यवस्था सन्तोषजनक सिद्ध न हो सकी। स्थानीय संस्थाओं में राज्य के कर्मचारियों का अत्यधिक हस्तक्षेप था। उनके सदस्यों का निर्वाचन अत्यधिक परिमित मताधिकार (Limited Franchise) के आधार पर होता था। पुनः उनके पास न तो पर्याप्त धन था, न कार्य-कुशल व्यक्ति। इन परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् मई, सन् १९१८ में एक नवीन प्रस्ताव पास किया गया। इसने स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप को अवांछनीय बताया। इसे दूर करने के लिए संस्थाओं के कार्यों को अलग-अलग दो भागों

में विभक्त करने की सिफारिश की गई--एक सरकार के लिए और दूसरे स्थानीय संस्थाओं के लिए।

कमीशन ने उल्लेख किया कि स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों का बहुमत जनता द्वारा निर्वाचित होना चाहिए। परन्तु अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधि एवं कतिपय दक्ष व्यक्ति (Experts) मनोनीत किये जायँ। मनोनीत सदस्यों की संख्या कुल संख्या की चौथाई से अधिक न होनी चाहिए। इनमें मताधिकार को विस्तृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में एक्जीक्यूटिव अफसर होने चाहिए।

स्थानीय संस्थाओं को नियमोल्लिखित कर लगाने एवं उन्हें आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन्हें अपने बजट को निर्मित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इन सिफारिशों के अतिरिक्त कमीशन ने गाँवों में पंचायतों के निर्माण की भी सिफारिश की।

नौकरियों का भारतीकरण--पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि अँगरेजी सरकार ने भारतीयों को उच्च पदों से सदैव दूर रक्खा था। उसने सिविल-सर्विस-परीक्षा के लिए इँगलैंड के साथ-साथ भारतवर्ष में भी केन्द्र स्थापित करने की माँग की सदैव उपेक्षा की थी। जनता उसके इन कार्यों से बड़ी असन्तुष्ट थी। उसने उनके विरुद्ध आन्दोलन किया। कांग्रेस ने जनता की माँग को अपनी माँग बताया। राष्ट्रीय नेता दादाभाई नौरोजी इँगलैंड गये। उनके प्रयास से सन् १८९३ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारतवर्ष में भी परीक्षा-केन्द्र बनाने और भारतीयों को योग्यतानुसार उच्च पद देने के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया। परन्तु तत्कालीन वायसराय लार्ड लैंसडाउन ने कतिपय बहानों के आधार पर इसे कार्यान्वित न किया। लार्ड कर्जन ने यद्यपि अनेक शासन-सुधार किये, तथापि वह भी उच्च पदों के भारतीयकरण के विपक्ष में रहा। अन्त में सन् १९१२ में अँगरेजी सरकार ने सम्पूर्ण प्रश्न पर विचार करने के हेतु एक पब्लिक सर्विस कमीशन की नियुक्ति की। इसमें दो भारतीय सदस्य--जस्टिस अब्दुर्रहीम और चौबल--भी रक्खे गये। २ वर्ष के परिश्रम और २० लाख रुपया के व्यय के पश्चात् कमीशन ने अपनी रिपोर्ट तैयार की, परन्तु महायुद्ध के छिड़ जाने के कारण

उसका प्रकाशन जनवरी १९१७ में हुआ। इस कमीशन के प्रस्ताव भारतीय हितों को अहितकर थे। अतः दो भारतीय सदस्यों ने उनका विरोध किया था।

कमीशन ने भारतवर्ष में सिविल-सर्विस की परीक्षा करने का विरोध किया। परन्तु भारतीय आन्दोलन को शान्त करने के ध्येय से यह प्रस्तावित किया कि सिविल-सर्विस के २५ प्रतिशत पदों पर योग्य भारतीय बिना परीक्षा उत्तीर्ण किये ही मनोनीत किये जायँ। पुनः कमीशन ने समस्त नौकरियों को तीन भागों में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी के सर्वोच्च राजकीय पदों के लिए (उदाहरणार्थ कमिश्नर) केवल अँगरेजों की द्वितीय श्रेणी के नीति निर्धारणकारी उच्च पदों के लिए दोनों अँगरेज और भारतीयों की तथा तृतीय श्रेणी के कृषि, फैक्टरी, वन आदि विभागों के लिए भारतीयों की नियुक्ति की सिफारिश की।

कमीशन की रिपोर्ट से भारतवर्ष में महान् असन्तोष छा गया। उसने रिपोर्ट को अपमानजनक समझा और उसके विरुद्ध आन्दोलन जारी रक्खा। फलस्वरूप १९१९ के ऐक्ट के द्वारा परिस्थिति में मौलिक सुधार किये गये। इस ऐक्ट ने भारत-सचिव को अधिकार दिया कि वह सिविल-सर्विस में भारतीयों की नियुक्ति के लिए नियम बनाये। इससे भारतवर्ष में भी उसके परीक्षा-केन्द्र खोलने की व्यवस्था की गई।

दमन—अँगरेजी सत्ता के विरुद्ध देश में असन्तोष बढ़ रहा था। परन्तु उसके विरुद्ध युद्ध करने के लिए किस प्रणाली का अनुसरण किया जाय, इस प्रश्न को लेकर कांग्रेस में विभाजन हो गया। गरम और नरम दलवालों के मतभेद की खाई बहुत बढ़ गई। लार्ड हार्डिज ने इसका लाभ उठाया और दमन-नीति के द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता की प्रगति को रोकना चाहा। सन् १९११ में गोखले के तीव्र विरोध करने पर भी राजविद्रोह को रोकने के लिए *'प्रीवेंशन आफ सिडिशस मीटिंग्ज ऐक्ट'* नामक कानून पास किया गया और सन् १९१३ में *'क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट ऐक्ट'*। इन दोनों ने विद्रोह और षड्यन्त्र की बड़ी विस्तृत व्याख्या की और सरकारी नीति की आलोचना करना भी अपराध घोषित किया। परन्तु इस दमन-नीति का परिणाम उलटा ही हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन और बढ़ गया। उसकी शक्ति का परिचय हमें १९ दिसम्बर, सन् १९१२ को मिला, जब बंगाल-विभाजन रद कर दिया गया।

इस समय योरप में महायुद्ध की तैयारी हो रही थी। कैसर के नेतृत्व में जर्मनी उत्तरोत्तर शक्ति-संचय करता जा रहा था। वह अँगरेजी प्रभुता का ईर्ष्यालु था और उसकी भाँति स्वयं अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार करना 'चाहता था। इस सम्भावित युद्ध का परिणाम यह हुआ कि इँगलैंड को अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए भारतवर्ष में अपनी दमन-नीति का त्याग करना पड़ा।

दिल्ली-दरबार (१९१२)—मई सन् १९१० को एडवर्ड सप्तम की मृत्यु हो गई। उनके पश्चात् उनके पुत्र जार्ज पंचम सिंहासन पर बैठे। सिंहासनासीन होने के पश्चात् दिसम्बर, १९१२ को साम्राज्ञी सहित वे भारतवर्ष में आये। उनके स्वागत में भारतीय सरकार ने १२ दिसम्बर को दिल्ली में दरबार किया। इस अवसर पर कतिपय महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ हुई। भारतीय नरेश सिंहासनारोहण के समय अँगरेजी पदाधिकारियों को दिये जानेवाले नजराने से मुक्त कर दिये गये। जन-साधारण में शिक्षा-प्रसार के लिए ५० लाख रुपया स्वीकृत किया गया। भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली कर दी गई। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण घोषणा वंग-विच्छेद के निराकरण की हुई। अविभाजित बंगाल एक सम्पूर्ण प्रान्त घोषित किया गया और आसाम पुनः एक चीफ कमिश्नर के अधीन कर दिया गया। बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर एक प्रान्त में सम्मिलित किया गया, जिसका शासन एक गवर्नर के अधीन किया गया। पटना इस प्रान्त की राजधानी हुई। सम्राट् की उपर्युक्त घोषणाओं को नियमबद्ध करने के लिए १९१२ का गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया।

महायुद्ध और भारतवर्ष—सन् १९१४ में योरपीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। भारतवर्ष अँगरेजों का अधीनस्थ देश था। अतः उसे भी इस महायुद्ध में अँगरेजों का पक्ष ग्रहण करना पड़ा। अगरेजों ने युद्ध के पश्चात् भारतीयों को शासनाधिकार देने का आश्वासन दिया। उन्होंने स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और नागरिक अधिकार-रक्षा को इस युद्ध के उद्देश्य घोषित किये। इन आशाओं से प्रोत्साहित होकर कांग्रेस ने अँगरेजों के विरुद्ध अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया। महात्मा गांधी ने उन्हें तन-मन-धन से सहायता देने की

देश को सलाह दी। भारतीय सेनाएँ मिस्र, सूडान, फिलीस्तीन, सैलोनिका, मेसोपोटामिया, अदन, सुमालीलैंड, फ्रांस, बेल्जियम, अफ्रीका, फारस और चीन में लड़ीं। युद्ध के पश्चात् सारे संसार ने उसकी वीरता की प्रशंसा की। परन्तु अपने महान् त्याग और बलिदान के होते हुए भी उसे युद्ध के अनन्तर कुछ न मिला। इँगलैंड और मित्रराष्ट्रों की विजय हुई। परन्तु स्वतन्त्रता और जन-तन्त्र की स्थापना की घोषणाएँ केवल पत्र-बद्ध ही रह गईं। परिणाम यह हुआ कि भारतीय कांग्रेस को पुनः अपना स्वतन्त्रता-आन्दोलन चलाना पड़ा।

मुस्लिम लीग—आगाखाँ आदि मुस्लिम नेताओं के प्रयत्न से सन् १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई थी। अँगरेजों ने उसे प्रोत्साहित किया। इसका विशेष कारण था। उत्तरोत्तर कांग्रेस की शक्ति को बढ़ते देख अँगरेज भयभीत हो गये। उन्होंने सोचा कि यदि समस्त देश कांग्रेसी झण्डे के नीचे खड़े होकर एक स्वर से स्वतन्त्रता की माँग करेगा, तो उसका विरोध करना बड़ा कठिन कार्य हो जायेगा। अतः उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव उत्पन्न कर भारतीय राष्ट्रीयता को क्षीण करना चाहा। उनकी यह नीति सफल हुई और देश में मुस्लिम लीग नामक एक साम्प्रदायिक संस्था का आविर्भाव हुआ। जिस समय सम्पूर्ण राष्ट्र बंगाल-विभाजन के प्रश्न पर जीवन-मरण के संघर्ष में तल्लीन था और अपने विरोध-प्रदर्शन के हेतु विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर रहा था, उस समय मुस्लिम लीग ने घोर अराष्ट्रीयता के कार्य किये। उसने बंगाल विभाजन का समर्थन किया और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के विरोध में प्रस्ताव पास किया। उसने पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व एवं संरक्षण के नारे लगाना आरम्भ किया। सन् १९०९ के सुधारों पर सारा देश असन्तुष्ट था, परन्तु मुस्लिम लीग ने उनका स्वागत किया। आगाखाँ की अध्यक्षता में हुए मुस्लिम लीग के १९१० के दिल्ली-अधिवेशन में उन सुधारों के लिए सन्तोष प्रकट किया गया और अँगरेजी नीति की सराहना की गई। परन्तु शीघ्र ही मुस्लिम लीग और अँगरेजों में वैमनस्य के कारण उत्पन्न हो गये। मुस्लिम लीग की इच्छा के विरुद्ध भी सन् १९११ में बंगाल पुनः एक कर दिया गया। उधर सन् १९१४ के युद्ध में प्रधान मुस्लिम राज्य खलीफा के देश टर्की ने अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। अतः मुस्लिम

लीग अँगरेजों से खिंचकर कांग्रेस की ओर आने लगी। कतिपय मुसलमान विद्वानों नें उसकी साम्प्रदायिकता की निन्दा की और मुसलमानों से स्वतन्त्रता-संग्राम में कांग्रेस का साथ देने के लिए कहा। उधर कांग्रेस ने टर्की का पक्ष लिया। अतः मुस्लिम लीग उसकी ओर विशेष आकर्षित हुई और १९१३ के लखनऊ-अधिवेशन में उसने स्वराज्य को अपना उद्देश्य घोषित किया। इस प्रकार कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उद्देश्य एक हो गये और स्वतन्त्रता-आन्दोलन में पारस्परिक सहयोग सम्भव दिखाई देने लगा। परिणामस्वरूप दिसम्बर, सन् १९१५ में दोनों दलों का अधिवेशन बम्बई ही में हुआ। सन् १९१६ में कांग्रेस और लीग में मेल हुआ, परन्तु कांग्रेस को बहुत दबना पड़ा। यहीं से कांग्रेस की मुस्लिम लीग के प्रति सन्तुष्टीकरण (Appeasement Policy) का प्रादुर्भाव हुआ। यह नीति भारतीय हित के लिए अनिष्ट-कर सिद्ध हुई। इसका परिणाम आगे चलकर भुगतना पड़ा।

लखनऊ पैक्ट के अनुसार कांग्रेस ने मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन एवं हिन्दू बहुमत प्रान्तों में उनके संरक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। पुनः यह भी निश्चय हुआ कि किसी भी केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सभा का प्रस्ताव तब तक न अग्रसर किया जाय, जब तक दोनों जातियों--हिन्दू और मुसलमान--के $\frac{3}{4}$ सदस्य उससे सहमत न हों।

खिलाफत आन्दोलन--टर्की का खलीफा सैद्धान्तिक दृष्टि से मुसलमानों का धार्मिक अध्यक्ष समझा जाता था। सम्पूर्ण संसार के मुसलमान उसका आदर करते थे। भारतीय मुसलमान भी उसके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। सन् १९१२ के बाल्कन-युद्ध के समय डाक्टर एम० ए० अंसारी के नेतृत्व में एक मेडिकल मिशन टर्की गया था और मौलाना जफरअली ने कुस्तुन्तुनिया में जाकर भारतीय मुसलमानों की ओर से टर्की के प्रति श्रद्धा एवं सहानुभूति के प्रदर्शनार्थ वजीर को रुपयों की एक थैली भेंट की थी। १९१४-१८ के युद्ध में टर्की और अँगरेज एक-दूसरे के विपक्ष में थे। अतः भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति निरन्तर टर्की के ही साथ रही। अँगरेजों की विजय और टर्की की पराजय से वे और भी सशंकित हो गये। पुनः जब अँगरेजों ने गैर-तुर्की जनता को भड़काकर औटोमन-साम्राज्य (Ottoman Empire) को नष्ट-

भ्रष्ट करना चाहा, तो वे अत्यधिक क्षुब्ध हो उठे। खलीफा की शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने अँगरेजों एवं मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। महात्मा गांधी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने भी इसमें सहयोग दिया। यह कार्य हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने के लिए ही किया गया था, अन्यथा एक अभारतीय प्रश्न पर राष्ट्रीय कांग्रेस का इस प्रकार आन्दोलन करना बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। इस प्रबल आन्दोलन से वायसराय लार्ड रीडिंग भयभीत हो गया। उसने भारत-सचिव माण्टेग्यू से उग्र परिस्थिति को शान्त करने की सम्मति दी।

जिस समय यह खिलाफत-आन्दोलन चल रहा था, उसी समय शिमला और व्हाइट हाल (White Hall) भारतवर्ष में सुधारों की आवश्यकता पर विचार-विनिमय हो रहा था। इसके परिणामस्वरूप १९१९ का ऐक्ट पास हुआ जो भारतीय इतिहास में माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार के नाम से भी प्रख्यात है। इन सुधारों से भारतवर्ष में घोर असन्तोष फैल गया। उनसे जनता की आशा पर पानी पड़ गया। देश ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए पुनः आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। खिलाफत आन्दोलन के साथ-साथ भारतीय स्वराज्य का प्रश्न भी मिल गया और चारों ओर असन्तोष और अशान्ति फैल गई जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

१९१९ का ऐक्ट—भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करने के लिए भारत-सचिव माण्टेग्यू नवम्बर, सन १९१७ में भारतवर्ष आये। उन्होंने कांग्रेस की तात्कालिक होम रूल की माँग को तो अस्वीकार कर दिया, परन्तु प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना के लिए सहमत हो गये। वायसराय एवं अन्य कतिपय पदाधिकारियों से विचार-विनिमय के पश्चात् उन्होंने सुधारों की रूप-रेखा तैयार की जिससे प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई। माण्टेग्यू की रिपोर्ट के आधार पर इँगलैंड की पार्लियामेंट में एक बिल रक्खा गया जो पास होने के पश्चात् १९१९ का ऐक्ट कहलाया। उसने भारतीय शासन में कतिपय परिवर्तन अवश्य किये, परन्तु उनसे जनता का परितोष न हुआ। वे उसकी आशा से बहुत कम थे।

केन्द्रीय सरकार—इस ऐक्ट के द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या अवश्य बढ़ गई, परन्तु इससे कोई मौलिक परिवर्तन न हुआ, क्योंकि वे जनता के प्रतिनिधि न थे। गवर्नर-जनरल अपनी इच्छा-नुसार उन्हें मनोनीत करता था। अतः वे प्रायः उसी के पक्षपाती होते थे। यद्यपि गवर्नर-जनरल से आशा की जाती थी कि वह अपनी कार्यकारिणी की सम्मति एवं उनके परामर्श से शासन करेगा, तथापि वह उसकी राय मानने के लिए विवश न था। इस प्रकार ऐक्ट ने गवर्नर-जनरल की निरंकुश सत्ता को अक्षुण्ण रक्खा। वह अपने कार्यों के लिए केवल भारत-सचिव के प्रति उत्तरदायी था। उस पर भारतीय जनमत का प्रभाव लेशमात्र भी न था।

पुरानी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के स्थान पर दो सभाएँ—कौंसिल आफ स्टेट और लेजिस्लेटिव असेम्बली—बनाई गईं। कौंसिल आफ स्टेट में ५९ सदस्य रक्खे गये जिनमें ३३ निर्वाचित और २६ मनोनीत थे। मनोनीत सदस्यों में १९ अफसर रक्खे गये। लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्यों की संख्या १४३ रक्खी गई। इनमें १०३ निर्वाचित और ४० मनोनीत थे। मनोनीत सदस्यों में २५ अफसर रक्खे गये। इस प्रकार दोनों सभाओं में निर्वाचित सदस्य बहुमत में थे। इन सभाओं के सदस्य जनसंख्या के आधार पर प्रत्येक प्रान्त से आते थे। परन्तु इन सभाओं का अधिकार सीमित रक्खा गया। ये इँगलैंड की पार्लियामेंट में पास हुए किसी भी कानून के विरुद्ध कोई कानून न बना सकती थीं। कर, विदेशीय ऋण, विदेशी नीति आदि कुछ ऐसे विषय थे, जिन पर ये सभाएँ गवर्नर-जनरल की पूर्वाज्ञा के बिना कोई बिल उपस्थित न कर सकती थीं। कानून बनने के पूर्व बिल के लिए यह आवश्यक होता था कि वह दोनों सभाओं से पास होकर गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त करे। गवर्नर-जनरल को यह विशेषाधिकार था कि वह व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा पास किये हुए बिलों को अस्वीकृत कर दे अथवा उनकी इच्छा के विरुद्ध कानून बना दे। शासन का बजट वायसराय की कार्यकारिणी में बनता था। इसके दो भाग थे। एक पर सदस्यों से वोट लिया जाता था, जिसे वोटेबुल (Voiable) भाग कहते थे। दूसरे भाग (Non-Votable) पर उन्हें वोट देने का अधिकार न था। अँगरेज राज-

नीतिज्ञों ने लगभग ६० प्रतिशत बजट द्वितीय भाग में रक्खा था। इस भाग में उच्चाधिकारियों का वेतन, मिलिटरी का आय-व्यय आदि महत्त्वपूर्ण विषय थे। इन विषयों पर सदस्य केवल वाद-विवाद कर सकते थे, परन्तु वोट न दे सकते थे। जिस भाग पर वोट दिये भी जाते थे, उसे गवर्नर-जनरल अपने विशेषाधिकार द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत कर सकता था। इस प्रकार केन्द्र में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का पूर्ण अभाव था।

प्रान्तीय सरकार---१९१९ के ऐक्ट ने प्रान्त में द्वैध-शासन की स्थापना की। प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी गवर्नर था जो अपनी कार्यकारिणी की सहायता से शासन करता था। उसके अतिरिक्त प्रान्त में एक व्यवस्थापिक समिति (Legislative Council) बनाई गई जिसमें सदस्यों का बहुमत निर्वाचित होता था। प्रान्तीय शासन के सम्पूर्ण विषय दो भागों में बाँट दिये गये---(१) संरक्षित (Reserved) (२) हस्तान्तरित (Transferred)। प्रथम भाग गवर्नर एवं उसकी कार्यकारिणी के अधीन रहे। उन पर व्यवस्थापिका समिति के मन्त्रियों का कुछ भी अधिकार न था। द्वितीय भाग के विषय व्यवस्थापिका समिति के अधीन कर दिये गये। परन्तु गवर्नर न तो अपनी कार्यकारिणी के परामर्शदाताओं की सम्मति स्वीकार करने के लिए विवश था और न व्यवस्थापिका समिति के मन्त्रियों की। उसका अधिकार असीमित था। गवर्नर के परामर्शदाता गैर-सरकारी होते थे जिन्हें गवर्नर चुनता था। परन्तु मन्त्री प्रान्तीय व्यवस्थापिका समिति के बहुमत दल के सदस्य होते थे। इन मन्त्रियों में इँगलैंड की कैबिनेट की भाँति सम्मिलित उत्तरदायित्व (Collective Responsibility) न था। वे केवल अपने-अपने विभाग (Portfolios) के लिए उत्तरदायी होते थे।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका समिति में बहुमत जनता द्वारा निर्वाचित होता था। इनके अतिरिक्त कुछ सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत होते थे। प्रत्येक प्रान्त की व्यवस्थापिका समिति में सदस्यों की संख्या वहाँ की जन-संख्या के आधार पर भिन्न-भिन्न थी। इस ऐक्ट ने विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों के पृथक् अस्तिव को मानकर उन्हें पृथक् निर्वाचन एवं संरक्षण प्रदान किया। मुसलमानों के अतिरिक्त पंजाब में सिक्खों, मद्रास में ब्राह्मणेतरों (Non-

Brahmanas), बम्बई में मराठों को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व देकर भारतीय राष्ट्रीयता को क्षीण करने का कुत्सित प्रयत्न किया गया। इसी प्रकार जमींदारों, श्रमजीवियों, विश्वविद्यालयों एवं कार्पोरेशनों का पृथक् अस्तित्व मानकर उन्हें प्रतिनिधित्व दिया गया। मताधिकार प्रत्येक प्रान्त की आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न आधारों पर रक्खा गया।

इस ऐक्ट ने इँगलैंड की गृह-सरकार में भी कुछ परिवर्तन किया। यद्यपि भारत-सचिव की कौंसिल (India Council) भंग नहीं की गई तथापि उसके भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। कौंसिल के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक १२ और कम से कम ८ रक्खी हैंई। इनकी कार्यविधि ५ वर्ष रक्खी गई।

१९४५ का ऐक्ट—कुछ ही वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन के सबल हो जाने पर अँगरेजी सरकार के लिए सुधार करना आवश्यक हो गया। अतः बहुत विचार-विनिमय के पश्चात् १९३५ में एक ऐक्ट के द्वारा भारतवर्ष में संघ-शासन की स्थापना की व्यवस्था की गई, जिसमें विभिन्न प्रान्त एवं देशी राज्य सम्मिलित होते। अपने क्षेत्र में ये प्रान्त एवं देशी राज्य स्वतन्त्र होते। केवल कुछ विषय वे केन्द्रीय सरकार के हाथ में दे देते। प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों के पारस्परिक झगड़े के निर्णय करने के लिए एक संघ-न्यायालय की व्यवस्था की गई। संघ में सम्मिलित होना अथवा न होना प्रत्येक देशी राज्य की इच्छा पर छोड़ दिया गया।

केन्द्रीय सरकार के लिए संघीय कार्यकारिणी एवं संघीय व्यवस्थापिका सभा की व्यवस्था की गई। केन्द्रीय सरकार का सर्वोच्च अधिकारी गवर्नर-जनरल था, जो अपनी कार्यकारिणी की सहायता से शासन करता। कार्यकारिणी के सदस्य स्वयं गवर्नर-जनरल चुनता। इनकी संख्या १० से अधिक न होती। गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी की सम्मति मानने के लिए बाध्य न था। केन्द्रीय व्यवस्था के लिए दो सभाओं—कौंसिल आफ स्टेट और फेडरल असेम्बली का निर्माण किया गया। कौंसिल आफ स्टेट में ब्रिटिश भारतवर्ष के १५६ सदस्य और देशी राज्यों के १०४ सदस्य रक्खे गये। फेडरल असेम्बली में ३७५ सदस्य रक्खे गये। इनमें से १२५ देशी राज्यों के सदस्य थे। कौंसिल आफ स्टेट एक स्थायी मण्डल था। उसके एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष

अवकाश ग्रहण करते। फेडरल असेम्बली की कार्यावधि ५ वर्ष रक्खी गई। कौंसिल आफ स्टेट के लिए प्रत्यक्ष एवं फेडरल असेम्बली के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली की व्यवस्था की गई। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव राजाओं के अधिकार में कर दिया गया।

गवर्नर-जनरल के अधिकार---१९३५ के ऐक्ट ने प्रान्त में तो द्वैध शासन का अन्त कर दिया, परन्तु केन्द्र में उसे प्रचलित कर दिया। केन्द्रीय विषयों के दो भाग किये गये (१) संरक्षित और (२) हस्तान्तरित। प्रथम के अंतर्गत रक्षा, विदेशी नीति आदि महत्त्वपूर्ण विषय रक्खे गये। इनके ऊपर गवर्नर-जनरल का पूर्ण अधिकार था। द्वितीय श्रेणी के विषय व्यवस्थापिका सभाओं के अधीन कर दिये गये। परन्तु व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा पास किया कोई भी बिल तब तक कानून नहीं बन सकता था, जब तक कि गवर्नर-जनरल उसे स्वीकृत न कर ले। उसे अधिकार था कि वह किसी भी बिल को संशोधित अथवा रद्द कर दे। सभाओं की सम्मति के बिना भी वह कानून बना सकता था।

प्रान्तीय सरकार---प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी गवर्नर रक्खा गया। उसे सलाह देने के लिए एक मन्त्रियों की कौंसिल की व्यवस्था की गई। ये मंत्री गवर्नर-जनरल ही मनोनीत करता था। उनकी कार्यावधि भी गवर्नर की इच्छा पर निर्भर थी। गवर्नर अपने परामर्शदाता मन्त्रियों की सम्मति मानने के लिए बाध्य न था। गवर्नर को कुछ विशेषधिकार प्राप्त थे। व्यवस्थापिका सभाओं से पास किया हुआ कोई भी बिल उसकी स्वीकृति के बिना कानून न बन सकता था। परिस्थिति विशेष में वह स्वयं भी कानून बना सकता था।

मद्रास, बम्बई, बंगाल, उत्तरप्रदेश, बिहार और आसाम में दो धारा-सभाएँ रक्खी गईं---लेजिस्लेटिव कौंसिल और लेजिस्लेटिव असेम्बली। अन्य प्रान्तों में केवल एक असेम्बली रक्खी गई। लेजिस्लेटिव कौंसिल स्थायी समिति थी। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते थे। लेजिस्लेटिव असेम्बली की कार्यावधि पाँच साल की रक्खी गई। प्रत्येक सभा के सदस्यों का निर्वाचन साम्प्रदायिकता निर्णय के आधार पर रक्खा गया। सभाओं को स्वयं अपना अध्यक्ष चुनने का अधिकार प्राप्त था।

इस ऐक्ट में अनेक दोष थे। राज्यों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन का चुनाव जनता को न देकर उनके राजाओं को दिया गया। यह सिद्धान्त जननन्त्रात्मक शासन के नितान्त विरुद्ध था। पुनः गवर्नर-जनरल एवं गवर्नरों के विशेषाधिकार इतने अधिक थे कि वे जनता के प्रतिनिधियों की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात को ठुकरा सकते थे। वास्तव में उनके अधिकारों ने उन्हें बहुत-कुछ निरंकुश बना दिया था। साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Awrd) के आधार पर सभाओं के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके अँगरेजी सरकार ने साम्प्रदायिकता को और भी अधिक बलवती बना दिया। इसका दुष्परिणाम भारतवर्ष को भुगतना पड़ा।

योरपीय महायुद्ध के आरम्भ हो जाने से संघीय शासन की व्यवस्था कार्यान्वित न हो सकी। हाँ, प्रान्तीय शासन की व्यवस्था सन् १९३७ से आरम्भ की गई।

अध्याय ३३

राष्ट्रीयता का विकास और स्वतन्त्रता-संग्राम

(१८८५-१९१०)

अँगरेजी राज्य की प्रतिक्रिया--आधुनिक भारत में एक ओर तो अँगरेजी राज्य की स्थापना हुई, उसका विस्तार और संगठन हुआ और दूसरी ओर उसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई, जिसके फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ, राजनीतिक जागृति हुई, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष हुआ और अन्त में विदेशी सत्ता का अन्त हुआ। भारत में अँगरेज व्यापारियों ने किस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया, किस प्रकार अपनी राजनीतिक सत्ता को सुस्थापित किया और भारतीय शासकों ने, व्यक्तिगत अथवा संयुक्त रूप से, स्वरक्षा अथवा स्वतंत्रता की भावना से, अँगरेजों और उनके समर्थकों का किस प्रकार सशस्त्र किन्तु असफल विरोध किया, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इस संबंध में केवल दो बातों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि आरंभ से अँगरेजी सत्ता का विरोध केवल राजकीय स्तर पर हुआ; उसमें सर्वसाधारण का सहयोग नगण्य था; भारतीय जनता इतिहास के प्रवाह से अनभिज्ञ थी। यद्यपि सन् १८५७ तक, अँगरेजी राज्य के विरुद्ध भारत-वासियों का तीखापन बहुत बढ़ गया था; किन्तु विदेशी सत्ता को दूर करने के लिए, भारतीय जनता ने अपने आपको साधारणतया दूर ही रक्खा था। दूसरी बात यह है कि देश को ब्रिटिश चंगुल से छुड़ाने के लिए, १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम, भारतीय शासकों का अन्तिम प्रयत्न था।

वैधानिक आन्दोलन का बीज--पराधीनता के कलंक, राजनीतिक निरंकुशता, जातीय अपमान एवं आर्थिक शोषण के प्रति भारतीय जीवन में धीरे धीरे चेतना आई और विदेशी शासकों के विरुद्ध कटुता बढ़ने लगी। किन्तु अनु-शासन, साहस, आत्म-विश्वास और कार्यक्रम के अभाव में इन भावनाओं की

कोई सामूहिक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। अस्तु, आधुनिक भारत के सर्वप्रथम महापुरुष, राजा राममोहन राय ने देश की तत्कालीन परिस्थियों में राजनीतिक उत्थान की ही दृष्टि से धर्म, शिक्षा और समाज के क्षेत्र में सुधारों का प्रतिपादन किया और स्वयं 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। राजा राममोहन राय, अँगरेजी शिक्षा और अँगरेजी सम्पर्क के प्रबल समर्थक थे और उस युग में उनका राजनीतिक लक्ष्य शासन तथा न्याय में सुधार और सरकारी ढाँचे में भारतवासियों की पदोन्नति तक ही सीमित था। राजनीतिक प्रगति के लिए, वे वैधानिक आन्दोलन का मार्ग अपनाने के पक्षपाती थे।

सार्वजनिक संस्थाओं का आरंभ--धीरे धीरे पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हुआ; राजनीतिक विचार प्रकट होने लगे और अन्त में राष्ट्रीय संगठन की ओर पहला पग बढ़ाया गया। एक एक करके देश के विभिन्न भागों में प्रादेशिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १८५१ के लगभग बंगाल में 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' की और बम्बई प्रेसीडेन्सी में 'बाम्बे एसोसिएशन' की स्थापना हुई।

'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' के संस्थापकों में प्रसन्नकुमार ठाकुर, डा० राजेन्द्रलाल मित्र, रामगोपाल घोष, राजा दिगम्बर मित्र और भारतीय पत्रकारिता के अग्रणी हरिश्चन्द्र मुकर्जी के नाम उल्लेखनीय हैं। इस संस्था को संगठित करने और उसे प्रभावशाली तथा उपयोगी बनाने का श्रेय क्रिस्टोदास पाल को है।

'बाम्बे एसोसिएशन' की स्थापना जगन्नाथ शंकर सेठ और दादा भाई नौरोजी ने की थी। सर मंगलदास नाथूभाई और नौरोजी फर्दुनजी ने उसके संगठन के लिए विशेष परिश्रम किया किन्तु यह संस्था दस वर्ष तक भी न चल सकी। सन् १८७० के लगभग उसमें फिर प्राणों का संचार करने का प्रयत्न किया गया किन्तु उन्हीं दिनों 'ईस्ट इंडिया एसोसियशन' की स्थापना हो जाने के कारण 'बाम्बे एसोसियेशन' सदा के लिए लुप्त हो गया। सन् १८८० के लगभग 'ईस्ट इंडिया एसोसियेशन' भी मृतप्राय हो गया।

बंगाल और बम्बई की अपेक्षा मद्रास प्रेसीडेन्सी का सार्वजनिक जीवन पिछड़ा हुआ था। वहाँ पर 'मद्रास नेटिव एसोसियेशन' नाम की एक संस्था अस्तित्व

में आई किन्तु वह कुछ सरकारी कर्मचारियों तक ही सीमित रही। मद्रास के सार्वजनिक जीवन की पहली उल्लेखनीय अभिव्यक्ति सन् १८७८ में 'हिन्दू' नामक समाचार-पत्र की स्थापना द्वारा हुई। 'हिन्दू' को अस्तित्व में लाने का श्रेय आनन्द चार्लू वीर राघवाचार्य, रंगिआ नायडू, सुब्रह्मण्य ऐयर और जी० सुब्रह्मण्य ऐयर को है।

सन् १८७५ के लगभग पूना में 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना हुई जिसका श्रेय राव बहादुर कृष्णजी लक्ष्मण नूलकर और सीताराम हरी चिपलुंकर को दिया जाता है।

आरंभिक संस्थाओं का कार्य और उनका महत्त्व--उपर्युक्त संस्थाओं का कार्यक्षेत्र और दृष्टिकोण बहुत सीमित था। वे संस्थाएं केवल अपने प्रादेशिक हितों से ही संबंधित थीं और जब तक अपने प्रान्त के महत्त्वपूर्ण प्रशंसनीय एवं विधानीय प्रस्तावों की आलोचना करके सन्तुष्ट रहती थीं। उनके पास न तो कोई रचनात्मक योजना ही थी और न देश की राजनीतिक प्रगति के लिए उनका कोई अपना कार्यक्रम ही था। इन संस्थाओं के लक्ष्य से स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और अखिल भारतीय हितों के विचार बहुत दूर थे। उनकी भाषा दुर्बल और अस्पष्ट थी। किन्तु भारतीय राष्ट्रीयता के विकास और राजनीतिक जाग्रति के इतिहास में उन संस्थाओं का मूल्यांकन करने के समय तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यातायात की कठिनाइयों के कारण भारत के विभिन्न प्रदेशवासियों का पारस्परिक सम्पर्क अत्यल्प था। सारा देश विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के कारण बिखरा हुआ था। उस समय परस्पर विचार-विनिमय करने के लिए अँगरेजी भाषा का ही एकमात्र माध्यम था और उसे जाननेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी। भारतीय समाचार-पत्रों की संख्या तो बहुत थी और उन्होंने देश की राजनीतिक जाग्रति की दिशा में बहुत बड़ा काम भी किया परन्तु राष्ट्रीयता के विचार की दृष्टि से ये समाचार-पत्र बहुत पिछड़े हुए थे। अन्त में सबसे बड़ी बात यह थी कि सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात्, अँगरेजों की नीति के कारण सारे देश में आतंक छा गया था। ऐसे वातावरण में उन संस्थाओं की स्थापना और उनके कार्य का महत्त्व कुछ कम नहीं था।

भारतीय समाचार-पत्र--भारत का सबसे पहला समाचार-पत्र था 'बंगाल गजट' जो सन् १७८० में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ; किन्तु 'बंगाल गजट' अँगरेजों और अँगरेजी हितों का मुख पत्र था। लौकिक भाषाओं तथा अँग-रेजी के अन्य पत्र बहुत बाद में प्रकाशित हुए किन्तु सन् १७९९ से सन् १८३४ तक निरीक्षक (सेन्सर) के कठोर नियंत्रण के कारण भारतीय समाचार-पत्र कोई प्रगति नहीं कर सके। वस्तुतः यह नियंत्रण अँगरेजी पत्रों और सम्पादकों के लिए था जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की तीव्र आलोचना करते रहते थे। सन् १८३४ से १८७० तक प्रेस को पर्याप्त स्वतंत्रता मिली और भारतीय पत्रों की संख्या बढ़नें लगी। सम्पादन कला की दृष्टि से ये पत्र बहुत पिछड़े हुए थे। इसका कारण यह था कि उस समय तक भारतीय पत्रकारिता उन्नत न हुई थी। लोगों में आलोचनात्मक लेख लिखने की योग्यता भी न आई थी। पुनः यातायात के साधनों के अभाव में प्रायः सूचना स्थानीय ही हुआ करती थी। इस प्रकार देशी समाचार-पत्रों की सूचनाएं अथवा उनके लेख विदेशी सत्ता के लिए विशेष हानिकर न होते थे। परन्तु जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता गया वैसे ही वैसे राष्ट्रीय चेतना विकसित होती गई। भारतीय अपने अधिकारों एवं अँगरेजी अनीति के प्रति जागरूक होते गये। अब वे शासन की आलोचना भी करने लगे। यातायात के साधनों के उन्नत हो जाने के कारण सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण होने लगीं और उन पत्रों की संख्या और उनके प्रचार में विशेष वृद्धि होने लगी। सन् १८७० में ब्रिटिश भारत में लगभग ६४४ समाचार-पत्र निकलते थे। इनमें से ६०० से अधिक लौकिक भाषाओं में निकलते थे। बहुत से सस्ते और केवल एक पृष्ठ के होते थे किन्तु उन्होंने जन-साधारण तक राजनीतिक विचार पहुँचाने में बहुत बड़ा काम किया। ये पत्र देश की राज-नीतिक जाग्रति के द्योतक एवं संदेशवाहक थे और जनता उत्तरोत्तर इनकी ओर आकृष्ट होती जाती थी।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है इन पत्रों की वृद्धि और कटु आलोचना से अँगरेजी सरकार सशंकित हुई। अतः सन् १८७० में पीनल कोड (penal Code) के नवीन संस्करण ने उनकी स्वतंत्रता को बहुत कुछ संकुचित कर दिया। फिर भी समाचार-पत्रों का कार्य बन्द न हुआ। पत्रकारिता की

अनवरत उन्नति देखकर भारत-सरकार भयभीत हो गई। अतः लार्ड लिटन ने सन् १८७८ में एक वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट पास कराया। इसकी कठोरता के कारण लोगों ने इसे गैगिंग एक्ट (Gagging Act) का नाम दिया। इस ऐक्ट के अन्तर्गत मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया गया कि वह आवश्यकता पड़ने पर प्रकाशक और मुद्रक से जमानत जमा कराये अथवा उनसे लिखित वचन ले ले कि वे 'विद्रोहात्मक' लेख न छापेंगे अथवा प्रकाशन के पूर्व अपने समाचार के प्रूफ सरकारी अधिकारी को दिखा देंगे और अस्वीकृत होने पर उन्हें प्रकाशित न करेंगे। परन्तु यह ऐक्ट दीर्घजीवी न हो सका। उदार वाइसराय लार्ड रिपन ने उसे रद कर दिया। इस प्रकार भारतीय समाचार-पत्र फिर यथावत निकलने लगे। देश की राजनीतिक शिक्षा के क्षेत्र में उनका कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सन् १८८५ से पूर्व के युग में निम्नलिखित पत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है—'हिन्दूपैट्रियट', 'दि इंडियन मिरर', 'अमृत बाजार पत्रिका', 'ब्राह्मो पब्लिक ओपीनिनन', 'सोम प्रकाश', 'सुलभ समाचार', 'बम्बई समाचार', 'इन्दुप्रकाश', 'ज्ञान प्रकाश', 'मरहठा', 'केसरी', 'हिन्दू', 'दि स्टैण्डर्ड', 'स्वदेश मित्रम', 'ट्रिब्यून', 'हेराल्ड', 'एडवोकेट'।

पाश्चात्य शिक्षा और विश्वविद्यालय—भारत की राजनीतिक जाग्रति की दिशा म पश्चिमी शिक्षा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शासकों की दृष्टि से उस शिक्षा का मौलिक उद्देश्य चाहे जो रहा हो किन्तु उस शिक्षा ने भारतवासियों का पश्चिमी लेखकों के विचारों से सम्पर्क स्थापित कर दिया। भारतवासियों को पश्चिमी साहित्य से—मिल्टन, बर्क, मिल, मैकाले आदि के ग्रंथों से—स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और स्वशासन के विचारों की प्रेरणा मिली। इन विचारों ने भारतीय मस्तिष्क को उद्वेलित किया और उसे राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर किया।

इस शिक्षा की भारतीयों के लिए सबसे बड़ी देन थी अंगरेजी भाषा। भारत के विभिन्न प्रदेशवासियों के लिए अँगरेजी पारस्परिक सम्पर्क का माध्यम बन गई। राज्यभाषा होने के साथ ही साथ वह राष्ट्रभाषा बन गई और उसने भारत के सार्वजनिक जीवन को राष्ट्रीय सूत्र में बाँधने में बड़ी सहायता दी।

यद्यपि भारत में पश्चिमी ढंग की शिक्षा अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ही आरंभ हो गई थी किन्तु उसका प्रसार द्रुत गति से नहीं हुआ था। सन् १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के विश्वविद्यालयों का जन्म हुआ। अगली दो शताब्दियों के अन्दर ही भारतीय शिक्षित वर्ग राष्ट्रीयता के विचारों की ओर काफी आगे बढ़ गया।

इसी संदर्भ में यह बता देना उचित होगा कि शिक्षा के संबंध में भारतीय नवयुवकों की इंगलैंड और यूरोप यात्रा का भी राष्ट्रीयता के विकास पर हितकर प्रभाव हुआ। उन नवयुवकों ने इंगलैंड और अन्य देशों में स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं का कार्यक्रम देखा और स्वतंत्रता के वातावरण का अनुभव किया। भारत लौटने पर उन्हें पराधीनता का वातावरण असह्य प्रतीत होने लगा और उनकी प्रतिक्रिया राष्ट्रीयता के विकास के लिए सहायक सिद्ध हुई।

धार्मिक पुनरुत्थान—विदेशी राज्य ने भारतीय जन-जीवन में आत्म-दैन्य और हीनता की भावना भर दी थी। उस भावना को दूर करने और भारत-वासियों में आत्म-विश्वास भरनें का काम विगत शताब्दी के धार्मिक पुनरु-त्थान ने किया। राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज को इस दिशा में अग्रणी कहा जा सकता है। बम्बई प्रेसीडेंसी में न्यायमूर्ति रानाडे, सर आर० जी० भंडारकर आदि नें प्रार्थना समाज के माध्यम से वही काम किया। इन दोनों संस्थाओं की अपेक्षा, आर्यसमाज ने स्वदेश प्रेम और स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न करने और फैलाने में और भी अधिक सफलतापूर्वक काम किया। परमहंस रामकृष्ण और बाद में उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द का कार्य भी राष्ट्रीय आत्म-विश्वास की दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय है। ये सब सुधार आन्दोलन धार्मिक होते हुए भी राष्ट्रीय थे और उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति फिर से श्रद्धा उत्पन्न करने के साथ ही साथ भारतवासियों में एक नया साहस और विश्वास भर दिया जिनके सहारे से वे बाद में विदेशियों का सामना करने को उद्यत हो सके।

इसी दिशा में मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स आदि प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वानों का कार्य भी विशेष महत्त्व का था। इसी प्रकार थियोसोफिकल सोसाइटी के माध्यम से कर्नल आलकाट, मैडम ब्लैवेटस्की और बाद में एनी बीसेण्ट नें भारत-

वासियों के मस्तिष्क से हीनता की भावना को दूर किया और परोक्ष रूप से राष्ट्रीय विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी कार्य किया।

सन् १८८५ का वातावरण—सन् १८८५ तक देश में यातायात की स्थिति बहुत कुछ सुविधाजनक हो गई थी और उसने भारत के विभिन्न प्रदेशवासियों को एक दूसरे के अधिक निकट ला दिया था। अँगरेजों ने उनको अपने परि-वादों और कष्टों के संबंध में विचार-विनिमय करने के लिए एक भाषा का माध्यम प्रदान कर दिया था। धार्मिक पुनरुत्थान ने उनको आत्म-विश्वास की एक अमूल्य देन दे दी थी। पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से शिक्षित वर्ग स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और स्वशासन के विचारों से परिचित हो गया था। भारतीय पत्रों नें राजनीतिक विचारों को चारों ओर फैला दिया था। अँगरेजी राज्य के अखिल भारतीय संगठन ने शिक्षित भारतीयों में राजनीतिक ऐक्य के विचारों को जगा दिया था। भारतीय पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में पराधीनता खलने लगी थी। विदेशी शासकों की आर्थिक शोषण एवं जातीय भेदभाव की नीति का विगत अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है। मुक्त व्यापार की नीति के नाम पर ब्रिटिश हितों के लिए भारतीय हितों का बलिदान किया जा रहा था। शिक्षित भारतीयों की उन्नति के लिए द्वार बन्द थे। न्याय-व्यवस्था में जातीय भेदभाव विशेष रूप वे अपमानजनक था। इल्बर्ट-बिल-संबंधी विवाद ने संगठन की शक्ति एवं उपयोगिता को प्रदर्शित कर दिया था। अस्तु, उपर्युक्त सभी कारणों के प्रभाव से भारतीय मस्तिष्क में प्रतिनिधिपूर्ण शासन-व्यवस्था, निष्पक्ष न्याय और समानाधिकार के निमित्त वैधानिक आन्दोलन करने के लिए राष्ट्रीय आधार पर संगठन करने का संकल्प अंकुरित हुआ।

सन् १८७६ में कलकत्ते में 'इण्डियन एसोसियशन' की स्थापना हो गई थी। इसके अधिवेशन में राष्ट्रीय नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारतीयों के संगठन-कार्य के लिए एक देश-व्यापी संस्था के निर्माण की आवश्यकता बताई। सन् १८७७-७८ में सिविल सर्विस परीक्षा की आयु घटाने के विरोध में भारत में पहला संगठित वैधानिक आन्दोलन हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सारे देश का भ्रमण किया और राष्ट्रीय एकता के लिए लोगों से प्रार्थना की। इसके अतिरिक्त सन् १८७७ के दिल्ली-दरबार को देखकर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर

मंगलदास नाथूभाई और नौरोजी फर्दुनजी को सार्वजनिक जीवन और राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रमुख कार्यकर्ताओं का अखिल भारतीय सम्मेलन करने का विचार सूझा। मद्रास में 'हिन्दू' के संस्थापकों ने ही सन् १८८४ में महाजन सभा की स्थापना की और इंडियन एसोसियेशन की भाँति उस संस्था ने भी राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रारम्भ किया। इन दोनों संस्थाओं की प्रतिध्वनि वम्बई के प्रेसी-डेन्सी एसोसियशन में भी हुई। भारतीय पत्रों ने भी इस जाग्रति में योग दिया और उसने सम्पूर्ण देश के लिए एक राजनैतिक संस्था के निर्माण की आवश्यकता बताई।

इन्हीं दिनों मिस्टर ए० ओ० ह्यूम नामक सिविलियन ने भारत के सार्व-जनिक एवं राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया। मि० ह्यूम भारत के एक निवृत्त ब्रिटिश अधिकारी थे। उन्होंने १ मार्च सन् १८८३ को कलकत्ता विश्वविद्या-लय के स्नातकों के नाम एक खुला पत्र भेजा और उनसे राष्ट्रीय सेवा के लिए अपना उत्सर्ग करने की प्रार्थना की। साथ ही उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया कि आत्म-बलिदान और निस्वार्थ सेवा ही स्वतंत्रता का एकमात्र मार्ग है। उस पत्र का सभी शिक्षित भारतीयों पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे एक राष्ट्रीय संगठन की तैयारी करने लगे।

इस प्रकार सन् १८८५ का वातावरण एक अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था के जन्म के लिए पूरी तरह तैयार हो चुका था।

कांग्रेस का जन्म—समस्त भारत के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के एक सम्मे-लन का आयोजन करने के उद्देश्य से दिसम्बर १८८४ में एक इंडियन नेशनल यूनियन बनाई गई। मार्च १८८५ में इस यूनियन ने आगामी बड़े दिन के अवसर पर वांछित सम्मेलन करने का निश्चय प्रकट किया। इस सम्मेलन का स्थान पूना निश्चित किया गया था। किन्तु पूना में हैजा फैल जाने के कारण सम्मेलन का स्थान बम्बई नियत कर दिया गया। सम्मेलन की व्यवस्था करने में मिस्टर ह्यूम ने बड़ी दौड़-धूप की। उन्होंने स्वयं वाइसराय से मिलकर सम्मेलन करने की स्वीकृति ली।

इस प्रकार २८ दिसम्बर १८८५ को इंडियन नेशनल कांग्रेस नाम से सुपरिचित राष्ट्रीय संगठन का जन्म हुआ। कांग्रेस का यह पहला अधिवेशन २८

दिसम्बर से ३० दिसम्बर तक बम्बई के गोकुलदास तेजपाल भवन में हुआ था। श्री व्योमेशचन्द्र बनर्जी इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे।

कांग्रेस जीवन के पहले बीस वर्ष—कांग्रेस ने पहले अधिवेशन से ही वैधानिक शासन और पदों के भारतीयकरण की माँग की। आरंभ में तो कांग्रेस संगठन के प्रति अँगरेजी सरकार सहानुभूतिपूर्ण रही परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी माँग बढ़ने लगी, त्यों-त्यों सरकार सशंकित होती गई। सन् १८८८ के इलाहाबाद अधिवेशन के समय सरकार ने उसके कार्य में अनेक प्रकार की अड़चनें लगाईं। सन् १८९० में उसने समस्त सरकारी कर्मचारियों को उसके अधिवेशनों में भाग लेने से मना कर दिया। परन्तु जैसे-जैसे सरकार का विरोध बढ़ता गया वैसे ही वैसे कांग्रेस अधिकाधिक लोकप्रिय होती गई। संक्षेप में, कांग्रेस जीवन के पहले बीस वर्षों में सरकार ने उसके प्रति कठोर उपेक्षा की नीति का अनुसरण किया।

इन बीस वर्षों में स्वयं कांग्रेस की नीति नरम दल (Liberals) से प्रभावित थी। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले और पं० मदनमोहन मालवीय आदि इस दल के नेता थे। इनके नेतृत्व में कांग्रेस वैधानिक ढंग से अँगरेजी शासन के अन्तर्गत भारतवासियों के लिए अधिकाधिक अधिकारों की माँग करती थी। इसके लिए कांग्रेस समय समय पर आवेदन-पत्र भेजती थी, प्रस्ताव पास करती थी और भारत-सरकार, सम्राट् सरकार तथा ब्रिटिश जनता के समक्ष प्रतिनिधि मंडल भेजती थी। दूसरी ओर नरमदली नेतागण धारा-सभाओं में अपनी वक्तृताओं द्वारा सुधार की आवश्यकता बताते थे और समय समय पर प्रस्ताव पास करते थे। यद्यपि इन प्रयत्नों का कोई परिणाम न होता था तथापि विचाराधीन युग में कांग्रेस की नीति यथावत् रही। इस प्रकार अपने जीवन के पहले बीस वर्षों में कांग्रेस किसी भी रूप में लड़ाकू राजनीतिक संस्था नहीं थी। उसके लक्ष्य में स्वशासन अथवा स्वतंत्रता का कोई उल्लेख नहीं था। राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से उसका कार्य उपयोगी था। उसके अनुभव से तरुण एवं उग्र वर्ग का यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा था कि सुशासन के

लिए स्वशासन अनिवार्य है और स्वशासन प्राप्त करने के लिए संघर्ष ही एक-मात्र उपाय है।

इन दो दशाब्दियों में कांग्रेस की सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई। पहले अधिवेशन में ७२ प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। दूसरे अधिवेशन में ४५० सदस्य उपस्थित हुए। एक के बाद दूसरे अधिवेशन में प्रतिनिधियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और कांग्रेस का प्रभाव अधिकाधिक व्यापक होता गया। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी कांग्रस केवल शिक्षित वर्ग की ही संस्था थी; साधारण जनता राष्ट्रीय संगठन का अंग नहीं बन पाई थी।

दूसरी ओर कांग्रेस का स्वरूप आरंभ से ही राष्ट्रीय था। सूरत विच्छेद के समय तक लगभग सभी प्रमुख भारतीय उसके अधिवेशनों में भाग लेते थे। इन लोगों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी यहाँ तक कि अँगरेज भी सम्मिलित थे। किन्तु यह भी सच है कि सर सैयद अहमद को राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा जातीय इस्लामी हितों ने अधिक आकर्षित किया और वे आरंभ से ही कांग्रेस से दूर रहे। केवल यही नहीं वरन् उन्होंने भारतीय मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखने का प्रयत्न भी किया। अस्तु, कांग्रेस में भाग लेनेवाले मुसलमानों का अनुपात अपेक्षाकृत कम था।

देश में राजनैतिक अशान्ति का आरंभ—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन का अग्रणी था महाराष्ट्र। लोकमान्य तिलक के साहस-पूर्ण नेतृत्व ने महाराष्ट्र में राजनीतिक आन्दोलन को वस्तुत: जन-आन्दोलन बना दिया था। तिलक ने सन् १८९३ से गणपति उत्सव और १८९५ में शिवाजी उत्सव मनाने की परम्परा का उद्घाटन किया और उनके द्वारा सर्वसाधारण तक देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना को सफल रूप में पहुँचाया। सन् १८९७ में दुर्भिक्ष पड़ा और उसके बाद बम्बई प्रेसीडेंसी में प्लेग का प्रकोप हुआ। स्थिति का सामना करने के लिए सरकारी उपाय अत्यन्त लोक-अप्रिय थे। इस समय तक राष्ट्रीयता के सबल हो जाने के कारण अँगरेजी शासन के प्रति सामाचार-पत्रों की आलोचना अधिक कटु हो गई थी। कुछ पत्रों की पंक्तियों से विद्रोह-भावना उद्वेलित होने लगी थी। अनेक पत्रों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रान्ति के विचारों को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया था।

इस वातावरण का यह प्रभाव हुआ कि २२ जून १८९७ को पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड और उसके सहायक एअर्स्ट की हत्या कर दी गई। कुछ उत्तेजनात्मक लेखों के संबंध में केसरी के सम्पादक लोकमान्य तिलक पर अभियोग चलाया गया और उनको १८ महीने का कारावास दंड दिया गया।

सन् १९०५ की पृष्ठभूमि—जैसा एक विगत अध्याय में बताया जा चुका है, लार्ड कर्जन की अहंमन्यता और हठधर्मी की नीति ने भारतीय जनता को क्षुब्ध कर दिया था। उसके प्रत्येक कृत्य से—कलकत्ता कार्पोरेशन ऐक्ट (सन १८९९), इंडियन यूनिवर्सिटीज ऐक्ट (१९०४), और बंग-भंग (१९०५) से देश में विरोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इस समय तक भारतवर्ष में राजनीतिक चेतना बहुत बढ़ गई थी। अब स्वतंत्रता की इच्छा केवल कतिपय शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं थी वरन् अब वह जन-साधारण में भी द्रुतगति से फैलती जा रही थी। अँगरेजों के राजनीतिक कुचक्र को अधिकाधिक जनता समझती जा रही थी और इस प्रकार राजनीतिक संघर्ष के लिए दृढ़ आधार तैयार होता जा रहा था।

संघर्ष की दिशा में भारतीयों को उत्तेजित करने में कुछ अन्य घटनाओं ने भी योग दिया। अफ्रीका, इँगलैंड आदि विदेशों में रहनेवाले भारतीयों को जिस उपेक्षा एवं अनादर का सामना करना पड़ रहा था उससे भारतीय जनता का क्षोभ बढ़ रहा था। उसने भली भाँति समझ लिया था कि परतंत्र भारतवर्ष का संसार के किसी भी कोने में सम्मान नहीं हो सकता। दूसरी ओर अँगरेजी व्यापारिक नीति भारत का बराबर शोषण कर रही थी; भारतीय उद्योग-धंधे लुप्त हो गये थे; कृषि की दशा दयनीय थी; शिक्षित व्यक्तियों को वर्णभेद के आधार पर राज्य में उच्च पद न दिये जाते थे। इस आर्थिक शोषण का अन्त भी केवल स्वतंत्रता द्वारा ही हो सकता था। अस्तु, भारतवासियों को सभी क्षेत्रों की समस्याओं का हल स्वतंत्रता में दिखाई देने लगा। इस प्रकार सन् १९०५ तक भारतीय मस्तिष्क में राजनीतिक जीवन के सुनिश्चित लक्ष्य का उदय हो गया था किन्तु अभी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के मंच से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले दस वर्षों में और वर्तमान शताब्दी के आरंभिक वर्षों में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के सामने यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि स्वशासन प्राप्त करने के लिए किस प्रकार संघर्ष किया जाय। वैधानिक प्रणाली का ही समर्थन किया जाय अथवा उग्र नीति को अपनाया जाय। बहुत से लोगों ने वैधानिक साधनों से काम न चलते देखकर उग्र एवं हिंसात्मक नीति का भी आश्रय लेना आरंभ कर दिया। सन् १८९७ में रैण्ड एवं एअर्स्ट की हत्या में उग्र नीति का सर्वप्रथम प्रदर्शन हुआ और धीरे-धीरे उसका प्रसार होता गया। उग्र नीतिवादी देशभक्तों के समक्ष फ्रांस, अमेरिका, इटली, जर्मनी और आयरलैंड के दृष्टांत उपस्थित थे। इन देशों ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए उग्र नीति का अवलंब लिया था। अतः भारतीयों को उग्र नीति अधिकाधिक आकर्षित करने लगी।

सन् १८९६ में अबीसीनिया ने इटली को परास्त किया और सन् १९०५ में जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की। उससे पहले यूरोपीय अजय समझे जाते थे। अस्तु, उपर्युक्त दोनों घटनाओं से भारतीयों में सशस्त्र संघर्ष के लिए आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता की भावना अधिकाधिक बलवती होती गई। इस प्रकार सन् १९०५ तक क्रान्तिकारी नीति के विकास के लिए भी उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया था।

पहला जन-आन्दोलन और सरकारी दमन—भारत का पहला जन-आन्दोलन बंग-भंग के विरोध में हुआ। तत्कालीन बंगाल प्रान्त और उसमें बिहार उड़ीसा और आसाम सभी सम्मिलित थे। प्रकटतः बंगाल का विभाजन प्रशासनीय सुविधा के नाम पर किया जा रहा था किन्तु विभाजन के ढंग से विदेशी शासकों की कुटिलता स्पष्ट हो गई। बंगाल की जनता ने विभाजन को देश की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता और राजनीतिक जाग्रति पर एक प्रबल आघात समझा। जब उसे इस योजना का पता लगा तो उसके क्षोभ की पराकाष्ठा न रही। जैसा कि एक विगत अध्याय में लार्ड कर्जन के शासन के संबंध में बताया जा चुका है बंगाल के नये विभाजित प्रान्तों से केवल बंगाल की राजनीतिक एकता ही विच्छिन्न नहीं होती थी वरन् हिन्दू-मुस्लिम एकता

भी भंग होती थी। इस प्रकार योजना के कुत्सित ध्येय को समझकर समस्त भारतवर्ष में विद्रोह की भावना धधक उठी।

परन्तु लार्ड कर्जन ने इस भीषण विरोध की ओर ध्यान न दिया। दूसरी ओर सम्पूर्ण बंगाल एक व्यक्ति की भाँति उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। स्थान-स्थान पर विरोध सभाएँ हुईं। उसका कार्यालय विरोध-सूचक पत्रों से भर गया। परन्तु कर्जन दृढ़ रहा। उसने समस्त विरोध की हठपूर्वक उपेक्षा की। विरोध को क्षीण करने के लिए उसने पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को अपने पक्ष में लेने का प्रयत्न किया और उन्हें विभाजन के लाभों को समझाया। उसके इन साम्प्रदायिक भाषणों ने जनता में और भी असन्तोष उत्पन्न कर दिया।

भीषण विरोध के होते हुए भी १९ जुलाई सन् १९०५ को बंग-विभाजन की सविस्तर योजना प्रकाशित की गई। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि "यह घोषणा एक बम के गोले की भाँति गिरी। हमें ऐसा लगा कि हम अपमानित, उपेक्षित और प्रवंचित किये गये हैं।"

जब सभाओं और प्रस्ताओं का सरकार पर प्रभाव न पड़ा तो भारतीयों ने अधिक उग्र साधनों से काम लिया। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन चलाया और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया। १६ अक्टूबर विभाजन दिवस था। बंगाली जनता के लिए वह शोक-दिवस बन गया। लोगों ने दिन भर अनशन किया, गंगा स्नान किया और वन्दे मातरम् के गगनभेदी उद्घोष के साथ एक दूसरे के हाथों में राखी बाँधकर समस्त बंगाल की एकता बनाये रखने का दृढ़ संकल्प किया।

उत्तरोत्तर बढ़नेवाले विरोध को देखकर सरकार भयभीत हो गई। सरकार ने दमन-नीति की शरण ली। राजनीतिक क्षेत्र में सरकारी दमन-नीति का आरंभ महाराष्ट्र में रैण्ड (Rand) हत्या के समय ही हो गया था---किन्तु उस समय दमन की परिधि संकुचित थी। अब व्यापक रूप से दमन का उपयोग किया गया। सरकार ने धमकी दी कि जिन स्कूलों और कालिजों के विद्यार्थी आन्दोलन में भाग लेंगे उनकी आर्थिक सहायता स्थगित कर दी जायगी। वन्दे मातरम् का उद्घोष गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

इस विवरण को पूरा करने के लिए इस स्थल पर ही यह बता देना उचित होगा कि अँगरेजी दमन-नीति जनता के दृढ़ निश्चय की शिला से टकराकर चूर चूर हो गई। दिसम्बर १९११ में अँगरेजी सरकार झुकी और विभाजित बंगाल पुनः एक कर दिया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन की यह सर्वप्रथम उल्लेखनीय सफलता थी।

नरम दल और उग्र दल—ऊपर बताया जा चुका है कि सन् १९०५ में भारतीय जनता में अँगरेजी राज्य के विरुद्ध व्यापक असन्तोष था और उस समय तक तरुण वर्ग का पुरानी वैधानिक नीति की उपयोगिता में से विश्वास उठ गया था। वे एक कठोरतर नीति अपनाने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त दोनों दलों के उद्देश्य में भी अन्तर था। नरम दल, ब्रिटिश सत्ता के अन्तर्गत स्वशासन के पक्ष में था। उग्र दल के अनुसार स्वशासन का आदर्श अपर्याप्त था। वह पूर्ण स्वतंत्रता चाहता था। नरम दल की दृष्टि में स्वशासन का आदर्श भी सुदूर था किन्तु उग्र दल इस संबंध में अधिक आशावादी था।

सन् १९०५ की तात्कालिक समस्या उद्देश्य की अपेक्षा उसके साधनों से अधिक संबंधित थी। नरम दल का यह विश्वास था कि प्रस्तावों, समाचार-पत्रों और शिष्ट मंडलों द्वारा इँगलैंड और भारत में जनमत जाग्रत करने से उसे सफलता मिल जायगी। नरम दल अँगरेजी सरकार से संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। उसकी नीति में साहस और बलिदान का अभाव था। दूसरी ओर उग्र दल के समर्थक अँगरेजी सरकार के विरुद्ध मोर्चा लेने के पक्ष में थे। उनका कार्यक्रम था—विदेशी वस्तुओं और संस्थाओं का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार, राष्ट्रीय आधार पर स्कूलों और पंचायतों आदि की स्थापना और अँगरेजी सरकार के विरुद्ध संघर्ष।

नरम दल के नेता थे गोपाल कृष्ण गोखले, फीरोजशाह मेहता और सुरेन्द्र-नाथ बनर्जी। उग्र दल के नेता थे बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल। सन् १९०५ में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में 'बाल लाल पाल' के नेतृत्व में कांग्रेस के अन्तर्गत नये राष्ट्रीय दल का संगठन हुआ।

सूरत विच्छेद—उग्र विचारधारा के समर्थकों ने कांग्रेस के लक्ष्य और उसकी नीति को अपनी वांछित दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया।

नरम दल भी कांग्रेस पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील था। अस्तु, राष्ट्रीय संगठन में फूट के लक्षण दिखाई देने लगे।

सन् १९०६ में दादाभाई नौरोजी को कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया और उन्होंने अध्यक्षपद से कांग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज्य' घोषित किया। दादाभाई वयोवृद्ध थे; सब उनका आदर करते थे। उन्होंने अध्यक्षपद से राष्ट्रीय ऐक्य और दोनों दलों में सहयोग बनाये रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। उनके प्रभाव से कांग्रेस ने उग्र पक्ष के कार्यक्रम--स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के समर्थन में कई प्रस्ताव स्वीकार किये। इस प्रकार १९०६ में दोनों दलों का विच्छेद टल गया।

सन् १९०७ के अधिवेशन के समय तक दोनों दलों के बीच की खाई फिर बढ़ गई। नरम दल के समर्थक सन् १९०६ के प्रस्तावों से पीछे हटते हुए दिखाई दिये। दूसरी ओर उग्र दलवाले और भी आगे बढ़ना चाहते थे। फलतः सूरत अधिवेशन के समय अशोभनीय व्यवहार के वातावरण में दोनों दल पृथक् हो गये। इंडियन नेशनल कांग्रेस, नरम दलवालों के हाथों में बनी रही। उग्र नीति के समर्थकों ने अपनी कोई पृथक् संस्था नहीं बनाई। किन्तु तिलक के 'केसरी' और पाल के 'न्यू इंडिया' के माध्यम से उनकी नीति का प्रचार होता रहा। देश का तरुण वर्ग इस नीति की ओर अधिकाधिक झुकता गया।

आतंकवाद की अभिव्यक्ति--बंग-भंग विरोधी आन्दोलन में सरकार ने व्यापक दमन-नीति का आश्रय लिया। भारतीय राजनीति में उसकी प्रतिक्रिया आतंकवाद और क्रान्तिकारी संगठन के रूप में हुई। आतंकवाद के जन्म के अन्य कई कारण थे। पर भारतीय राजनीति को गुप्त धाराओं में ढकेलने का बहुत बड़ा दायित्व सरकारी दमन-नीति पर था।

उग्र नीतिवादी देशभक्तों की भाँति आतंकवादी भी भारतीय स्थिति से अत्यन्त असंतुष्ट थे। इटली-एबीसीनिया और रूस-जापान युद्ध के परिणामों ने उनमें अँगरेजों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का साहस भर दिया था। राजनीतिक आन्दोलन की ओर सरकारी नीति की पृष्ठभूमि में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि अँगरेजी सैन्य-शक्ति के सामने किसी प्रकार का वैधानिक संघर्ष सफल नहीं

हो सकता। उनका विचार था कि भारतवर्ष को अँगरेजों ने तलवार के बल से जीता है; अतः अब वे तलवार के बल से ही निकाले जा सकते हैं।

जब सरकारी दमन के कारण प्रकट रूप से वैधानिक राजनीति में भाग लेना भी असंभव हो गया तो आतंकवादी धारणाएँ दृढ़तर हो गईं। अप्रैल १९०६ में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन ने बारीसाल में अपना अधिवेशन करने का आयोजन किया। अधिवेशन के समय उपस्थित प्रतिनिधियों पर पुलिस ने प्रहार किया। इस घटना से प्रकट रूप में कुछ काम करने की रही-सही आशा भी लुप्त हो गई। फलतः बहुत से नवयुवक आतंकवादी विचारधारा में बह गये।

इस विचारधारा के नेता थे बारीन्द्रकुमार घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त। ये लोग पश्चिमी क्रान्तिकारी उपायों, विशेषकर पिस्तौल और बम की सहायता से राजनीतिक हत्याओं और डकैतियों के पक्षपाती थे। पूर्ण स्वतंत्रता इन लोगों का लक्ष्य था और उसका साधन था आतंकवाद।

इस दल के लोगों ने ६ दिसम्बर १९०७ को तत्कालीन पूर्वी बंगाल के उप-गवर्नर की रेल को बम से उड़ा देने का प्रयत्न किया। २३ दिसम्बर १९०७ को ढाका के भूतपूर्व जिलाधीश मि० ऐलेन पर गोली चलाई गई। ३० अप्रैल १९०८ को मुजफ्फरपुर के जज किंग्सफोर्ड की हत्या के प्रयत्न में दो अँगरेज महिलाओं की हत्या हुई। २ मई को कलकत्ते में एक क्रांतिकारी षड्यन्त्र का पता लगा। उस संबंध में ३९ व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। बाबू अरविन्द घोष भी उनमें से एक थे। बाद में वे छोड़ दिये गये। सितम्बर १९०८ में गोसांई नामक मुखबिर की हत्या की गई। ो महीने बाद मुजफ्फरपुर हत्या-काण्ड के अपराधी खुदीराम बोस को गिरफ्तार करनेवाले थानेदार नन्दलाल की हत्या की गई। इस प्रकार सरकारी दमन-नीति के साथ-साथ आतंकवाद का क्रम बढ़ता ही गया।

इसी संदर्भ में यह बता देना उचित होगा कि क्रान्तिकारियों का काम अन्य प्रान्तों में भी गुप्त रूप से चल रहा था। इन प्रान्तों में महाराष्ट्र प्रमुख था। रैण्ड हत्या के बाद प्रकटतः वहाँ शान्ति थी किन्तु गुप्त रूप से क्रान्तिकारी तैयारियाँ बराबर हो रही थीं। इस दल के नेता थे श्यामजी कृष्ण वर्मा, गणेश सावरकर और विनायक सावरकर। श्यामजी कृष्ण वर्मा भारत से

भागकर लन्दन में वस गये थे और वहाँ से शस्त्र, क्रान्तिकारी साहित्य आदि की सहायता करते थे। महाराष्ट्र का क्रान्तिकारी दल 'अभिनव भारत सोसाइटी' के नाम से काम करता था। इसके संगठन में सावरकर बंधुओं ने बड़ा श्रम किया।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास--भारतीय मुसलमानों को साम्प्रदायिकता की ओर प्रेरित एवं प्रोत्साहित करने का दायित्व सर सैयद अहमद खां पर है। यह सच है कि सर सैयद ने कई बार राष्ट्रीयता के विचार प्रकट किये और हिन्दू-मुस्लिम हितों के ऐक्य का प्रतिपादन किया किन्तु व्यवहार में सर सैयद ने सदैव ही जातिभक्ति के लिए देशभक्ति का बलिदान किया और राजभक्ति के लिए राष्ट्रीयता का विरोध किया।

यह बताया जा चुका है कि सर सैयद आरम्भ से ही कांग्रेस से दूर रहे और उन्होंने मुसलमानों को उस राष्ट्रीय संगठन से दूर रखने का पूरा प्रयत्न किया। कांग्रेस के जन्म के एक वर्ष बाद ही उन्होंने 'मुस्लिम एजुकेशन कान्फरेंस' की स्थापना की। इसका सम्मेलन, कांग्रेस अधिवेशन के ही दिनों में किया जाता था ताकि मुसलमान कांग्रेस में भाग न ले सकें। सन् १८९३ में उन्होंने मुस्लिम हितों के संरक्षण के लिए एक राजनीतिक संस्था स्थापित की। इसका नाम था 'मुहम्मडन डिफेंस एसोसियेशन आव अपर इंडिया'। फूट डालकर राज्य करने की नीति के प्रबल समर्थक और भारतीय राष्ट्रीयता के कट्टर विरोधी, तत्कालीन अलीगढ़ मुस्लिम कालेज के अँगरेज प्रिंसिपल बेक को उस संस्था का मंत्री बनाया गया। यह संस्था राजनीतिक क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं कर पाई परन्तु सर सैयद ने अपने ही जीवन-काल में साम्प्रदायिकता की नींव तैयार कर दी थी।

सन् १९०१ में सर मुहम्मद शफी ने समाचार-पत्रों में लेखों द्वारा 'इंडियन मुस्लिम लीग' की स्थापना के विचार का प्रतिपादन किया। परन्तु इस दिशा में कई वर्षों तक कोई विशेष बात नहीं हुई।

१ अक्टूबर १९०६ को श्री आगाखाँ के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्ट मंडल शिमला में वाइसराय से मिला। इस शिष्ट मंडल ने प्रस्तावित सुधारों में मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों और अतिरिक्त स्थानों की माँग की। इस बात के प्रमाण हैं इस शिष्ट मंडल के सुझाव और उसके संगठन

में अँगरेजी शासकों का हाथ था। अस्तु, वाइसराय ने उस शिष्ट मंडल को प्रोत्साहन दिया और बिना भारत-मंत्री की सहमति के, भारत-सरकार को पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के सिद्धान्त के पक्ष में वचनबद्ध कर दिया। भारत मंत्री इस सिद्धान्त के विरुद्ध थे किन्तु वाइसराय ने उनकी अनभिज्ञता में ही भारत-सरकार को साम्प्रदायिकता के चंगुल में जान-बूझकर फँसा दिया था।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है दिसंम्बर १९०६ में उसी शिष्ट मंडल के सदस्यों ने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की। इस संस्था ने मुस्लिम साम्प्रदायिक हितों के लिए राजभक्ति की नीति से अपना जीवन आरंभ किया। जिस समय सम्पूर्ण राष्ट्र बंगाल-विभाजन के प्रश्न पर एक अभूतपूर्व संघर्ष में तल्लीन था और अपने विरोध प्रदर्शन के हेतु विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर रहा था, उस समय मुस्लिम लीग ने घोर अराष्ट्रीयता के कार्य किये। उसने बंगाल-विभाजन का समर्थन किया और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के विरोध में प्रस्ताव पास किया। उसने प्रस्तावित सुधारों में अपने लिए पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व और संरक्षण के नारे लगाना आरंभ किया। इस प्रकार मुस्लिम लीग के लक्ष्य में स्वतंत्रता का, उसकी नीति में संघर्ष एवं सार्वजनिक हितों का और उसके नेताओं में साहस, बलिदान और देश-प्रेम का नितान्त अभाव था। मुस्लिम लीग की स्थापना के साथ भविष्य के लिए दुष्परिणामों का बीजारोपण हो गया था।

भारतीय राजनीति (सन् १९०६ से सन् १९१४ तक)—सन् १९०६ में एक ओर तो कांग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज्य' घोषित हुआ और दूसरी ओर मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। बंगाल में विभाजन-विरोधी आन्दोलन सबल होता जा रहा था और पंजाब में सन् १९०६-७ में कृषि की अत्यन्त असन्तोषजनक स्थिति थी और पंजाब-सरकार की अनुपयुक्त नीति के कारण खेतिहर आन्दोलन बहुत जोर पकड़ गया था। इस संबंध में सरकार ने सन् १८१८ के विनियम नं० ३ के अन्तर्गत सरकार अजीतसिंह और लाला लाजपतराय को देश-निर्वासित कर दिया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सरकार के ऐसे कृत्यों ने आतंक-वादियों को उनकी विचारधारा में दृढ़तर कर दिया और राजनीतिक हत्याओं

का क्रम आरंभ हो गया। सन् १९०७ में ही दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने वहाँ बसे हुए भारतवासियों के नागरिक आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए अपना सर्वप्रथम 'सत्याग्रह आन्दोलन' आरंभ किया। गांधीजी और उनके साथियों के साहसपूर्ण विरोध के समाचारों से राष्ट्रीय विचारधारा के सभी भारतीयों को विशेष प्रोत्साहन मिला।

राजनीतिक अशान्ति बराबर बढ़ती जा रही थी और तरुणवर्ग उग्र नीति की ओर झुकता जा रहा था। उसका सामना करने के लिए सरकार ने कठोरतर दमन-नीति को अपनाने का निश्चय किया। राजद्रोहात्मक सभाओं को रोकने के उद्देश्य से १ नवम्बर १९०७ को 'सिडीशस मीटिंग्स ऐक्ट' पास किया गया। सरकार ने अपनी दमन-नीति में उग्र पक्ष और आतंकवादियों में कोई भेद नहीं किया। अराजकतापूर्ण अपराधों को दबाने के लिए सरकार ने सन् १९०८ में क्रिमिनल लॉ (एमेण्डमेण्ट) 'ऐक्ट' और पास किया।

जन-साधारण में तीखापन बढ़ाने का दायित्व मुख्यतः समाचार-पत्रों पर था। उनको कुचलने के लिए सरकार ने ८ जून १९०८ को 'न्यूजपेपर्स (इनसाइट-मेण्ट टु आफेन्सेज) ऐक्ट' पास किया। इस ऐक्ट के अन्तर्गत सरकारी कार्य-वाही के फलस्वरूप 'वन्दे मातरम्', 'युगान्तर', 'संध्या' आदि बहुत से पत्र बन्द हो गये। इस ऐक्ट के अतिरिक्त इंडियन पेनल कोड की धारा नं० १२४ ए और धारा नं० १५३ ए के अन्तर्गत समाचार-पत्रों के विरुद्ध राजद्रोहात्मक प्रचार के नाम पर अभियोग चलाया जा सकता था। किन्तु सरकार को इतने से ही सन्तोष न हुआ। फलतः सन् १९१० में इंडियन प्रेस ऐक्ट बनाया गया। इस विवरण को समाप्त कर देने के लिए यह बता देना उचित होगा कि अपने जीवन के पहले कुछ ही वर्षों में इस ऐक्ट ने ४ लाख रु० से अधिक की जमानतें लीं, ५०० प्रकाशन जब्त किये और ३०० समाचार-पत्रों तथा ३०० से अधिक छापेखानों को दंड दिया।

सूरत विच्छेद के बाद कांग्रेस अपने नरमदली कार्यक्रम से चिपकी रही और उग्र पक्ष समाचार-पत्रों द्वारा अपनी नीति का प्रचार करता रहा। फल यह हुआ कि सन् १९०८ के 'न्यूजपेपर्स ऐक्ट' के अन्तर्गत सरकार ने 'केसरी' के सम्पादक लोकमान्य तिलक के विरुद्ध अभियोग चलाया और उन पर १००० रु०

जुर्माना किया गया और उनको ६ वर्ष के लिए देश-निर्वासित किया गया। इस समाचार का पता लगते ही बम्बई के बाजार बन्द हो गये, स्कूल और कालेज खाली हो गये, कारखानों में हड़ताल हुई और सारे देश में तीखापन बढ़ गया।

व्यापक असन्तोष के वातावरण में मार्ले-मिण्टो सुधार भारतीय जनता के सामने आये। सुधार योजना पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ पर उसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया को स्पष्ट कर देना ही पर्याप्त होगा। सुधारों के पीछे सरकार का उद्देश्य, भारतीय राजनीति में फूट डालना था। इस उद्देश्य में सरकार को सफलता मिली। उग्र पक्ष की दृष्टि में ये सुधार नितांत रूप से अपर्याप्त और असन्तोषजनक थे। नरम दल ने पृथक निर्वाचन-प्रणाली और परिमित मताधिकार की आलोचना की परन्तु सुधारों का स्वागत किया। मुस्लिम लीग को सुधारों से सन्तोष था; वस्तुतः मार्ले-मिण्टो योजना मुस्लिम लीग की ही विजय थी।

सरकार ने यह समझा था कि सुधारों से उसको देश की अधिकांश जनता का——नरम दल और मुस्लिम लीग का प्रबल समर्थन मिलेगा और उग्र आतंक-वादी पक्ष शिथिल पड़ जावेगा परन्तु इस संबंध में सरकार की आशा पूर्ण नहीं हुई। उग्र आतंकवादी पक्ष ने सुधारों का यह अर्थ लगाया कि सरकार उनके आन्दोलन से भयभीत होकर इतनी झुकी है। अस्तु, उसने यह सोचा कि आतंकवाद को उग्रतर करने से सरकार को और अधिक झुकाया जा सकता है। इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर नये वाइसराय लार्ड हार्डिंज पर बम फेंका गया और पुनः आन्दोलन उग्रतर हो गया। दमनकारी कानूनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

दूसरी ओर मार्ले-मिण्टो सुधारों के व्यवहार में आने पर नरम दलवालों की भी आँखें खुलने लगीं। नई धारा सभाएँ बिलकुल निरर्थक प्रतीत होने लगीं। वे शासन नीति को विशेष रूप से प्रभावित न कर सकती थीं और उसके निर्धारण में कोई महत्वपूर्ण भाग भी न ले सकती थीं। अस्तु, कांग्रेस ने भी सन्तोषजनक सुधारों के लिए माँग करना आरंभ कर दिया। इस प्रकार जनता में फिर असन्तोष बढ़ने लगा।

सरकार ने दमन नीति का आश्रय लिया और सन् १९११ में गोखले के तीव्र विरोध करने पर भी राजविद्रोह को रोकने के नाम पर 'प्रिवेंशन ऑव सिडीशस मीटिंग्स ऐक्ट को पुनः जीवनदान दिया और सन् १९१३ में 'क्रिमिनल लॉ एमेण्ड-मेण्ड ऐक्ट' को। इन दोनों ने विद्रोह और षड्यंत्र की बड़ी विस्तृत व्याख्या की और सरकारी नीति की आलोचना करना भी अपराध घोषित कर दिया।

इन्हीं वर्षों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि मुस्लिम लीग और अँगरेजों में वैमनस्य के कारण उत्पन्न हो गये। मुस्लिम लीग की इच्छा के विरुद्ध सन् १९११ में बंगाल पुनः एक कर दिया गया। दूसरी ओर कतिपय मुसलमान विद्वानों ने उसकी साम्प्रदायिकता की निन्दा की और मुसलमानों से स्वतंत्रता-संग्राम में साथ देने को कहा। मुस्लिम तरुण वर्ग ने यह अनुभव किया कि मुस्लिम हित समान रूप से अनिवार्य हैं। उनके प्रयत्नों का फल यह हुआ कि सन् १९१३ में मुस्लिम लीग ने स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया। मुस्लिम हितों के संरक्षण का उद्देश्य भी साथ साथ बना रहा। सन् १९१४ के युद्ध में खलीफा के देश एवं प्रधान मुस्लिम राज्य टर्की ने अँगरेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। कांग्रेस ने टर्की का पक्ष लिया। अतः मुस्लिम लीग उसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुई। इस प्रकार सन् १९१४ के वातावरण में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में स्वतंत्रता-आन्दोलन के लिए पारस्परिक सहयोग संभव दिखाई देने लगा।

विचाराधीन युग की भारतीय राजनीति का संक्षिप्त विवरण समाप्त करने से पहले सन् १९१४ में कांग्रेस संगठन की स्थिति की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा। सन् १९०७ में विच्छेद के बाद कांग्रेस की प्रतिष्ठा घट गई थी और उसका प्रभाव बहुत कम हो गया था। किन्तु उग्र पक्ष ने किसी प्रतियोगी संस्था की स्थापना नहीं की थी और कुछ ही समय बाद लोकमान्य तिलक का देश-निर्वासन हो गया था। प्रेरक नेतृत्व और संस्था के अभाव में कुछ ही वर्षों में भारतीय जनता पथ-प्रदर्शन के लिए फिर कांग्रेस की ओर देखने लगी। दूसरी ओर भारतीय सार्वजनिक जीवन के सभी प्रसिद्ध नेतागण कांग्रेस संगठन के अन्तर्गत थे। अस्तु, सन् १९१४ तक कांग्रेस ने अपनी पूर्व प्रतिष्ठा को फिर प्राप्त कर लिया था।

नरम दल और उग्र दल का पुनर्मिलन—जून १९१४ में लोकमान्य तिलक का निर्वासन समाप्त हुआ और उन्होंने फिर भारतीय राजनीति में पदार्पण किया। प्रथम महायुद्ध आरंभ होने पर तिलक ने राजभक्ति के रूप में अँगरेजों का साथ देने का विचार प्रकट किया। बहुत से देशभक्त दोनों दलों में ऐक्य स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। तिलक की घोषणा से उन्हें बड़ी सहायता मिली। श्रीमती एनी बीसेण्ट ने इसी दिशा में विशेष प्रयत्न किया और सन् १९१५ में दोनों दलों में समझौता हो गया। सन् १९१६ के अधिवेशन में लोकमान्य तिलक और उनके समर्थकों ने पूरी तरह से भाग लिया।

कांग्रेस लीग का लखनऊ पैक्ट—यह बताया जा चुका है कि सन् १९१३ में मुस्लिम लीग ने ब्रिटिश सत्ता के अर्न्तगत स्वशासन के लक्ष्य को स्वीकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील शक्तियाँ लीग और कांग्रेस के पारस्परिक सहयोग के लिए प्रयत्नशील थीं। फल यह हुआ कि लीग ने अपना अधिवेशन भी कांग्रेस के साथ उसी स्थान पर करने का निश्चय किया। दिसम्बर १९१५ में दोनों संस्थाओं के अधिवेशन बम्बई में हुए। दोनों संस्थाओं ने युद्धोत्तर काल के लिए मिलकर सुधार योजना बनाने का निश्चय किया। इस काम के लिए कमेटियाँ नियुक्त की गईं और उन्होंने एक सुधार योजना तैयार की। सन् १९१६ में कांग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुए और दोनों संस्थाओं ने उस योजना का पूर्ण समर्थन किया।

इस प्रकार सन् १९१६ में एक ओर तो नरम और उग्र दल में ऐक्य हुआ और दूसरी ओर कांग्रेस और लीग में ऐक्य हुआ। प्रगतिशील शक्तियों की यह एक बहुत बड़ी जीत थी। वस्तुतः राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत भारतीय जनता एक हो गई थी। किन्तु ऐतिहासिक विवेचन के लिए यह कहना आवश्यक है कि कांग्रेस-लीग पैक्ट का आधार गलत था। इस समझौते द्वारा कांग्रेस ने विशेष प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को स्वीकार किया। यद्यपि दोनों दलों में समझौता तो हो गया तथापि भारतीय राष्ट्रीयता के लिए यह कालान्तर में अहितकर सिद्ध हुआ। यहीं मुस्लिम लीग के प्रति कांग्रेस की सन्तुष्टीकरण की नीति (Policy of Appeasement) का प्रादुर्भाव

हुआ। यह घातक नीति चलती रही और अन्त में भारत को विभाजन का दुष्परिणाम भुगतना पड़ा।

लखनऊ पैक्ट के अनुसार कांग्रेस ने मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन एवं हिन्दू बहुमत प्रान्तों में उनके संरक्षण के सिद्धांत को मान्यता दी। पुनः यह भी निश्चय हुआ कि किसी भी केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सभा का प्रस्ताव तब तक अग्रसर न किया जावे जब तक दोनों जातियों—हिन्दू और मुसलमान के—$\frac{3}{4}$ सदस्य उससे सहमत न हों।

प्रथम महायुद्ध के उद्देश्यों की प्रतिक्रिया—सन् १९१४ में योरोपीय महायुद्ध आरंभ हो जाने पर अँगरेजों ने और उनके साथी राष्ट्रों ने युद्ध के उद्देश्य घोषित किये। कहा गया कि यह युद्ध स्वतंत्रता, जनतंत्र और नागरिक अधिकार रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। अँगरेजों ने युद्ध के पश्चात् भारतीयों को शासनाधिकार देने का आश्वासन भी दिया था। इन आशाओं से प्रोत्साहित होकर कांग्रेस ने अँगरेजों के विरुद्ध अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया। महात्मा गांधी ने देश को तन-मन-धन से अँगरेजों की सहायता करने की सलाह दी और देश ने धन तथा जन से यथाशक्ति सहायता भी की थी।

भारतीय समाचार-पत्रों ने युद्ध के उद्देश्यों का प्रचार किया। राजनीतिक नेताओं ने उन उद्देश्यों को अपने व्याख्यानों में पूरा-पूरा उपयोग किया। इस प्रकार महायुद्ध ने भारत में सार्वजनिक जाग्रति को और जन-साधारण की आशाओं को बहुत आगे बढ़ा दिया।

होम रूल आन्दोलन—युद्ध आरंभ होने पर लार्ड हार्डिंज ने भारतीय राजनीतिज्ञों से सहयोग की अपील की और राजनीतिक नेताओं ने प्रत्युत्तर में आन्दोलन स्थगित कर दिया। परन्तु जब युद्ध के शीघ्र समाप्त होने के लक्षण दिखाई नहीं दिये तो राजनीतिक क्षेत्रों में अधैर्य बढ़ा और सुधारों के लिए फिर आन्दोलन होने लगा। इस आन्दोलन के लिए कांग्रेस तो आगे नहीं बढ़ी परन्तु सन् १९१६ में लोकमान्य तिलक ने बम्बई प्रान्त में और श्रीमती एनी बीसेण्ट ने मद्रास प्रान्त में होम रूल (स्वराज्य) लीग की स्थापना की। लोकमान्य तिलक ने अपने पत्र 'केसरी' और 'मरहठा' की सहायता से बम्बई होम रूल लीग की स्थापना के लिए आधार तैयार कर लिया था। इसी

प्रकार मद्रास में श्रीमती बीसेण्ट ने अपने 'कामनवील' (Common Weal) और न्यू इंडिया (New India) नामक पत्रों की सहायता से उपयुक्त वातावरण बना दिया था। मद्रास और बम्बई में इस स्वराज्य आन्दोलन का इतना प्रबल प्रचार हुआ कि सरकार घबरा गई। मद्रास के गवर्नर लार्ड पेण्टलैंड (Lord Pentland) की आज्ञा से श्रीमती बीसेण्ट और उनके दो सहयोगियों—बी० पी० वादिया और जी० एस० एरण्डेल (G. S. Arundale)—को नजरबन्द कर लिया गया। तिलक से जमानत माँगी गई। बाद में हाईकोर्ट में अपील करने से जमानतों की माँग रद्द कर दी गई। श्रीमती बीसेण्ट की नजरबन्दी के बाद स्वराज्य आन्दोलन और भी ज्यादा जोर पकड़ गया। इन्हीं दिनों मि० माण्टेग्यू भारत-मंत्री नियुक्त हुए और उनकी २० अगस्त १९१७ की ऐतिहासिक घोषणा का स्वराज्य आन्दोलन पर भी प्रभाव पड़ा। श्रीमती बीसेण्ट और उनके सहयोगियों को मुक्त कर दिया गया और होम रूल लीग संगठन ने भारतीय आकांक्षाओं के संबंध में भारत और इँगलैंड में जनमत जाग्रत करने की ओर ध्यान दिया।

क्रान्तिकारी प्रयत्न—सरकार की दमन और सुधार की नीति का भारतीय क्रान्तिकारियों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। राजनीतिक हत्याओं और डकैतियों का क्रम यथावत् चलता रहा। प्रथम महायुद्ध आरंभ होने पर क्रान्तिकारियों ने जर्मनी से सम्पर्क स्थापित किया। विदेशों में रहनेवाले भारतीय क्रान्तिकारियों ने जर्मनी में इंडियन नेशनल पार्टी स्थापित की। इस संस्था के प्रमुख सदस्य थे पिलाई हरदयाल और बरकतुल्ला। इन लोगों ने बंगाल और पंजाब में समकालिक व्यापक व्युत्थान की योजना बनाई। बंगाल के क्रान्तिकारी जितेन्द्र मुकर्जी और नरेन्द्र भट्टाचार्य के नेतृत्व में काम कर रहे थे। किन्तु भारत-सरकार को सारे षड्यंत्र का पता लग जाने से वह साकार न हो सकी।

महायुद्ध के इन दिनों में क्रान्तिकारियों का दूसरा केन्द्र था पंजाब। वहाँ के क्रान्तिकारी दल के नेता थे रासबिहारी बोस और पिंगले। इन लोगों को 'कामगाटा मारू' काण्ड से चिढ़े हुए सिक्खों का हार्दिक सहयोग मिला। ये सिक्ख अपना सब कुछ बेचकर 'कामगाटा मारू' नामक जहाज से कनाडा में बसने

के लिए गये थे और उन्होंने कनाडा सरकार की सारी शर्तों को पूरा भी किया था। किन्तु इन लोगों को कनाडा की भूमि पर पैर भी नहीं रखने दिया गया और उन्हें अत्यन्त दयरीय स्थिति में भारत लौटना पड़ा। भारत लौटने पर उन्हें सरकारी प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ा। इस व्यवहार से कनाडा से लौटे हुए सिक्ख अत्यन्त क्षुब्ध हो गये और उनका क्षोभ पंजाबी जनता के लिए संक्रामक सिद्ध हुआ। इस तीखेपन को बढ़ाने में अन्य देशों से लौटे हुए भारतीयों--मुख्यत: सिक्खों ने जिनकी संख्या कई हजार थी--ने बहुत बड़ा काम किया। इनमें में बहुत से लोग स्वयं ही क्रान्तिकारी थे। अस्तु, 'लाहौर षड्यंत्र' नाम से प्रसिद्ध, रासबिहारी बोस और पिंगले की क्रान्तिकारी योजनाओं का सरकार को पता लग गया और प्रस्तावित व्युत्थान साकार न हो सका।

पंजाब में क्रान्ति कराने के लिए, इन्हीं दिनों, एक प्रयत्न और किया गया। इस षड्यंत्र का केन्द्र काबुल में था। इसके नेता थे महेन्द्रप्रताप और बरकतुल्ला। इन लोगों में "पैन इस्लामिस्ट पार्टी' के माध्यम से काम लिया। इस षड्यंत्र में उत्तरी-पश्चिमी मीमा से भारत पर आक्रमण करने की और सारे देश में समकालिक मुस्लिम व्यत्थान कराने की योजना थी। इस योजना के संबंध में काबुल के नेताओं ने अपने भारतीय सहयोगियों के पास रेशमी कपड़े पर पत्र लिख कर कुछ सूचनाएँ भेजीं। यह पत्र पकड़ा गया और सरकार ने उपयुक्त कार्यवाही द्वारा उस योजना का अन्त कर दिया।

गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा और उसके बाद--यह बताया जा चुका है कि मार्ले-मिण्टो सुधार कार्यान्वित होने पर नरम दल को भी अत्यन्त अपर्याप्त प्रतीत हुए। युद्धकाल में उनके प्रति असन्तोष और भी अधिक हो गया। सरकार को राजनीतिक सुधारों के प्रश्न पर फिर ध्यान देने की आवश्यकता हुई और बम्बई के तत्कालीन गवर्नर लार्ड विलिंगडन (Willingdon) ने गोखले से एक योजना बनाने के लिए कहा। गोखले ने सुधार-योजना बनाई किन्तु कुछ ही समय बाद उनका देहान्त हो गया। यह योजना गोखले के राजनीतिक वसीयतनामे के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में अत्यन्त संकुचित अर्थों में, प्रान्तीय स्वाधीनता का प्रतिपादन किया

गया था। सन् १९१५ की यह योजना सन् १९१८ के वातावरण में बहुत पिछड़ी हुई थी और सन् १९१९ के माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

दूसरी ओर सन् १९१६ में वाइसराय और भारत-मंत्री में सुधारों के प्रश्न पर पत्र-व्यवहार हो रहा था। लार्ड चेम्सफोर्ड ने सुधार संबंधी अपने प्रस्तावों को ब्रिटिश सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत किया। राजनीतिक क्षेत्रों को पता लगा कि उक्त प्रस्ताव असन्तोषप्रद है। इस पृष्ठभूमि में भारतीय धारा-सभा के १९ निर्वाचित सदस्यों ने युद्धोत्तर सुधारों के लिए अपने प्रस्तावों का ज्ञापन (Memorandum of the Nineteen) भारत-सरकार के समक्ष रखा। इस ज्ञापन में यह माँग की गई कि सरकार, देश के शासन में, भारतवासियों को वास्तविक रूप में हाथ बँटाने का अवसर दे। सन् १९१६ की कांग्रेस-लीग योजना भी मुख्यतः इसी ज्ञापन पर अवलंबित थी।

२० अगस्त १९१७ को भारत सचिव ने पार्लियामेण्ट में एक घोषणा की और सुधारों के संबंध में सरकारी नीति स्पष्ट की। इस नीति का लक्ष्य भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना बताया गया। इस घोषणा में यह भी कहा गया कि उत्तरदायी शासन की दिशा में कब और कितनी प्रगति की जाय यह निश्चित करने का दायित्व, ब्रिटिश एवं भारतीय सरकार पर है। सन् १९१९ के माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा इसी दिशा में अगला कदम उठाया गया। सन् १९१९ के सुधार मुख्यतः राउण्ड टेब्ल ग्रूप द्वारा प्रस्तावित द्वैध शासन की योजना पर अवलंबित थे।

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना ने फिर नरम और उग्रदल में फूट डाल दी। इस बार नरम दल कांग्रेस से अलग हुआ और उसने अपने लिए एक नई संस्था—माडरेट पार्टी की स्थापना की। दूसरी ओर इन्हीं दिनों कुछ साम्प्रदायिक दंगे हुए और यदि खिलाफत के प्रश्न पर हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ सक्रिय सहानुभूति न दिखाई होती तो हिन्दू-मुस्लिम एकता का उसी समय अन्त हो गया होता। इसके अतिरिक्त अन्य अल्पसंख्यक समुदाय अपने अपने लिए पृथक् निर्वाचन और विशेष प्रतिनिधित्व की माँग की दिशा में आगे बढ़ रहे थे।

रॉलेट ऐक्ट और अमृतसर का हत्याकाण्ड—विभिन्न कारणों से सन् १९१९

में अँगरेजों के विरुद्ध भारतवासियों में असन्तोष अपने शिखर पर पहुँच गया था। युद्ध के दिनों में राजकीय कर बढ़ गये थे, चीजें महँगी हो गई थीं और आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। क्रान्तिकारी प्रयत्नों और राजनीतिक आन्दोलन का सामना करने के लिए सरकार कठोर दमन-नीति से काम ले रही थी। इस उग्र दमन की प्रतिक्रिया व्यापक असन्तोष में हुई। यह बताया जा चुका है कि युद्ध के उद्देश्यों ने भारतवासियों की आशाओं को बहुत ऊपर उठा दिया था। स्वतंत्रता की आशा में भारत ने युद्ध के लिए धन और जनका अपूर्व बलिदान किया था। किन्तु सरकारी नीति बराबर तीखापन बढ़ाती रही। सर माइकेल ओडायर (Sir Michael O'Dwyer) के शासन से पंजाब की जनता अत्यन्त क्षुब्ध हो गई थी। दूसरी ओर विदेशों में लड़नेवाले भारतीय सैनिक स्वदेश लौटने पर स्वाधीनता के उपयुक्त वातावरण की आशा लगाये हुए थे। किन्तु सरकार ने उनका स्वागत रॉलेट ऐक्ट से करने का निश्चय किया। ये ऐक्ट मुख्यत: सैनिकों के लिए ही बनाये जा रहे थे। अराजकतापूर्ण एवं क्रान्तिकारी कार्यों को रोकने के लिए कार्यकारिणी को ऐसे अधिकार दिये जा रहे थे जिनसे देश के सारे राजनीतिक जीवन को कुचला जा सकता था। धारासभा के निर्वाचित सदस्यों ने इस रॉलेट विधेयकों का विरोध किया। पत्रों और विरोध सभाओं ने जनता की भावनाओं को व्यक्त किया, किन्तु सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस समय गांधी जी आगे बढ़े और उन्होंने देश को सत्याग्रह का आश्रय लेने के लिए कहा। दमनकारी रौलेट ऐक्ट के विरोध में हड़ताल की गई और सरकार ने उनका उत्तर दमन-नीति से ही दिया।

६ अप्रैल १९१९ को सत्याग्रह आन्दोलन आरंभ करने का निश्चय किया गया। हजारों देशभक्तों ने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा कर अँगरेजी सत्ता के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारंभ किया। चारों ओर उत्साह और आत्मोत्सर्ग की भावना व्याप्त हो गई। परन्तु कहीं कहीं इस उत्साह ने क्रोध से मिश्रित होकर हिंसा का रूप भी धारण कर लिया। वास्तव में इतने तीव्र असन्तोष के होते हुए इस देशव्यापी आन्दोलन को पूर्णरूपेण अहिंसात्मक रखना असंभव था। परिणामस्वरूप दिल्ली, पंजाब, अहमदाबाद आदि स्थानों पर भयंकर हिंसात्मक विद्रोह हो गये। अँगरेजों ने इन दुर्घटनाओं से लाभ उठाया और

जनता का बर्बरतापूर्वक दमन करना आरंभ कर दिया। नौकरशाही की निर्मम पाशविकता जागकर नग्न नृत्य करने लगी।

अमृतसर में इस दमन ने अत्यन्त भयानक रूप धारण किया। आन्दोलन के सबंधं में अँगरेजी सरकार ने अमृतसर के दो नेताओं—डा० सत्यपाल और डा० किचलू को गिरफ्तार कर लिया। जब नागरिकों को उनकी गिरफ्तारी का पता चला तो वे अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर के बँगले की ओर आवेदनार्थ चल पड़े। मार्ग में उन्हें सशस्त्र मिलिटरी ने घेर लिया। उग्र स्थिति में संघर्ष अवश्यम्भावी था। अँगरेजों ने गोली चलाई। इस पर क्रुद्ध जनता भी हिंसा कार्य में प्रवृत्त हुई। इस पर अँगरेजों ने सम्पूर्ण नगर में जनरल डायर का सैनिक शासन स्थापित कर दिया।

अँगरेजों की दमन-नीति का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध करने के लिए अमृतसर के निवासी जालियानवाले बाग में एकत्रित हुए। जनरल डायर को जब इस सभा की सूचना मिली तो उसने सशस्त्र सैनिकों से सारे बाग को घेर लिया और बिना चेतावनी दिये निर्ममतापूर्वक गोली चलाना प्रारंभ कर दिया। बाग में एक ही फाटक था और उसे सैनिक घेरे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य वहाँ से भाग भी न सके। बराबर गोली चलती रही, जब तक कि कारतूस समाप्त न हुए। इस बर्बर हत्या का समाचार बिजली की भाँति सारे देश में फैल गया। सारे पंजाब में स्थिति का सामना करने के लिए सैनिक शासन (Martial Law) घोषित कर दिया गया।

परन्तु भारतीय अँगरेजी दमन से भयभीत न हुए। अँगरेजी शासन के विरुद्ध युद्ध करने का उनका निश्चय दृढ़तर हो गया। चारों ओर घोर असन्तोष फैल गया। अमृतसर के हत्याकांड के विरोध में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी। सरकार इस चतुर्दिक अशान्ति से भयभीत हो गई। इधर कांग्रेस ने भी एक कमेटी नियुक्त की। उनकी रिपोर्ट से अँगरेजों के विरुद्ध आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया। इस समय तक गांधी जी राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुके थे और उनके प्रेरक नेतृत्व में देश का गांधी-युग आरंभ हुआ।

———

प्रारंभ हो गया। तकली और चरखा, भारतीय राष्ट्रीयता के मूल मंत्र और सत्य एवं अहिंसा उसके प्रमुख अस्त्र बने। यहीं से भारतवर्ष में गांधी-युग (Gandhian Era) का आविर्भाव हुआ।

इस आन्दोलन में खिलाफत के प्रश्न के कारण मुस्लिम लीग भी कांग्रेस के साथ थी। अँगरेजी सत्ता ने दमन-नीति से काम लिया। समस्त भारतवर्ष के बड़े-बड़े नेता एवं अन्य देशभक्त हजारों की संख्या में गिरफ्तार हुए। इनमें अली भाई, अबुल कलाम आजाद, पं० मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय प्रमुख थे। चौरीचौरा एवं अन्य स्थानों के भीषण हत्याकाण्डों से क्षुब्ध होकर महात्मा गांधी ने फरवरी सन् १९२२ में अपना असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। सरकार ने इस स्थिति का लाभ उठाया और महात्मा गांधी को १० मार्च १९२२ को गिरफ्तार कर ६ वर्ष का कारावास दिया।

स्वराज्य पार्टी—इस समय तक कांग्रेस में तीव्र मतभेद हो गया था। अनेक बड़े बड़े भारतीय नेता महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन के स्थान पर अन्य पद्धति से सरकार का विरोध करने की सोचने लगे थे। देशबंधु चितरंजन-दास और पं० मोतीलाल को धारा-सभाओं और कौंसिलों में जाकर काम करना अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ। अस्तु, इन लोगों ने 'स्वराज्य पार्टी' नामक एक भिन्न दल बनाया। किन्तु यह दल कांग्रेस संगठन के ही अन्तर्गत था। इस दल के सदस्यों को निर्वाचन में सफलता मिली और उन्होंने धारा-सभाओं में पहुँचकर वैधानिक प्रगति की माँग पर जोर दिया।

इन्हीं दिनों महात्मा गांधी जेल में बीमार पड़ गये। अतः सरकार ने उन्हें बिना शर्त के छोड़ दिया। परन्तु दोनों पक्षों के विचार-विनिमय करने के पश्चात् भी स्वराज्य पार्टी के नेताओं तथा गांधीवादियों में समझौता न हो सका। स्वराज्य पार्टी के लोग कौंसिलों के सदस्य बने रहे। केवल यही नहीं वरन् इन दिनों राष्ट्रीय क्षेत्र में देशवासियों की दृष्टि भी स्वराज्य पार्टी पर केन्द्रित हो गई।

फरवरी १९२४ में भारतीय धारा-सभा में वैधानिक प्रगति पर एक प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ। स्वराज्य दल के नेता पं० मोतीवलाल नेहरू ने भवन के समक्ष एक संशोधन रखा और सपरिषद् गवर्नर-जनरल पर इस बात का जोर

दिया कि भारत में जल्दी ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना की जावे; सन् १९१९ के ऐक्ट में उपयुक्त सुधार किया जाय और इस उद्देश्य के लिए एक गोलमेज परिषद् की आयोजना की जावे। सारे निर्वाचित सदस्यों ने इस संशोधन का समर्थन किया और वह पास हो गया। इस प्रस्ताव और संशोधन के फलस्वरूप सन् १९२४ में भारत-सरकार के गृह-सदस्य सर एलेक्जेण्डर मुडीमैन की अध्यक्षता में एक सुधार कमेटी नियुक्त हुई। इसमें श्री तेजबहादुर सप्रू, श्री मुहम्मद अली जिन्ना आदि भारतीय सदस्य थे। इन भारतीय सदस्यों ने उत्तरदायी शासन की माँग की। परन्तु उसका तात्कालिक परिणाम कुछ न हुआ। किन्तु सन् १९२५ में जब उस कमेटी की रिपोर्ट पर भारतीय धारा-सभा में विचार किया गया तो पं० मोतीलाल नेहरू ने फिर एक संशोधन प्रस्तुत किया और वह भी भारी बहुमत से स्वीकार हुआ। उस संशोधन में द्वैध शासन-प्रणाली को पूर्ण रूप से अव्यवहार्य बताया गया।

मुस्लिम लीग की नीति में परिवर्तन—महात्मा गांधी के राजनीतिक मंच पर आने के बाद बहुत से नेताओं के लिए कांग्रेस में रहना असंभव हो गया था। कांग्रेस का रूप-रंग बदल रहा था और उन नेताओं में संघर्ष के लिए पर्याप्त साहस का अभाव था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस संगठन में जन-साधारण का प्रवेश हो रहा था; कुछ नेताओं को यह बात भी रुचिकर नहीं हुई। श्री मुहम्मद अली जिन्ना इन्हीं नेताओं में से एक थे। वे बड़े ठाठ से रहनवाले व्यक्तियों में से थे और वे नई कांग्रेस में खद्दरधारियों की भीड़ में देहातियों के साथ काम करते हुए जेल-यात्रा करने को तैयार नहीं थे। अस्तु, महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से असन्तुष्ट होकर उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी थी और वे मुस्लिम लीग का संगठन करने लगे थे। देश में साम्प्रदायिकता बढ़ने लगी। असहयोग आन्दोलन समाप्त हो जाने पर खिलाफत आन्दोलन भी ठंडा पड़ गया था और साम्प्रदायिकता के प्रभाव मे मुस्लिम वर्ग कांग्रेस से दूर होने लगा था। पृथक् निर्वाचन-प्रणाली ने इस साम्प्रदायिकता को और भी उग्र कर दिया। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ता गया और परिणामस्वरूप स्थान स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। महात्मा गांधी को इन साम्प्रदायिक हत्याकाण्डों से बड़ा दुःख हुआ। [अतः सन् १९२४ में

प्रारंभ हो गया। तकली और चरखा, भारतीय राष्ट्रीयता के मूल मंत्र और सत्य एवं अहिंसा उसके प्रमुख अस्त्र बने। यहीं से भारतवर्ष में गांधी-युग (Gandhian Era) का आविर्भाव हुआ।

इस आन्दोलन में खिलाफत के प्रश्न के कारण मुस्लिम लीग भी कांग्रेस के साथ थी। अँगरेजी सत्ता ने दमन-नीति से काम लिया। समस्त भारतवर्ष के बड़े-बड़े नेता एवं अन्य देशभक्त हजारों की संख्या में गिरफ्तार हुए। इनमें अली भाई, अबुल कलाम आजाद, पं० मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय प्रमुख थे। चौरीचौरा एवं अन्य स्थानों के भीषण हत्याकाण्डों से क्षुब्ध होकर महात्मा गांधी ने फरवरी सन् १९२२ में अपना असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। सरकार ने इस स्थिति का लाभ उठाया और महात्मा गांधी को १० मार्च १९२२ को गिरफ्तार कर ६ वर्ष का कारावास दिया।

स्वराज्य पार्टी—इस समय तक कांग्रेस में तीव्र मतभेद हो गया था। अनेक बड़े बड़े भारतीय नेता महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन के स्थान पर अन्य पद्धति से सरकार का विरोध करने की सोचने लगे थे। देशबंधु चितरंजन-दास और पं० मोतीलाल को धारा-सभाओं और कौंसिलों में जाकर काम करना अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ। अस्तु, इन लोगों ने 'स्वराज्य पार्टी' नामक एक भिन्न दल बनाया। किन्तु यह दल कांग्रेस संगठन के ही अन्तर्गत था। इस दल के सदस्यों को निर्वाचन में सफलता मिली और उन्होंने धारा-सभाओं में पहुँचकर वैधानिक प्रगति की माँग पर जोर दिया।

इन्हीं दिनों महात्मा गांधी जेल में बीमार पड़ गये। अतः सरकार ने उन्हें बिना शर्त के छोड़ दिया। परन्तु दोनों पक्षों के विचार-विनिमय करने के पश्चात् भी स्वराज्य पार्टी के नेताओं तथा गांधीवादियों में समझौता न हो सका। स्वराज्य पार्टी के लोग कौंसिलों के सदस्य बने रहे। केवल यही नहीं वरन् इन दिनों राष्ट्रीय क्षेत्र में देशवासियों की दृष्टि भी स्वराज्य पार्टी पर केन्द्रित हो गई।

फरवरी १९२४ में भारतीय धारा-सभा में वैधानिक प्रगति पर एक प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ। स्वराज्य दल के नेता पं० मोतीवलाल नेहरू ने भवन के समक्ष एक संशोधन रखा और सपरिषद् गवर्नर-जनरल पर इस बात का जोर

दिया कि भारत में जल्दी ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना की जावे; सन् १९१९ के ऐक्ट में उपयुक्त सुधार किया जाय और इस उद्देश्य के लिए एक गोलमेज परिषद् की आयोजना की जावे। सारे निर्वाचित सदस्यों ने इस संशोधन का समर्थन किया और वह पास हो गया। इस प्रस्ताव और संशोधन के फलस्वरूप सन् १९२४ में भारत-सरकार के गृह-सदस्य सर एलेक्जेण्डर मुडीमैन की अध्यक्षता में एक सुधार कमेटी नियुक्त हुई। इसमें श्री तेजबहादुर सप्रू, श्री मुहम्मद अली जिन्ना आदि भारतीय सदस्य थे। इन भारतीय सदस्यों ने उत्तरदायी शासन की माँग की। परन्तु उसका तात्कालिक परिणाम कुछ न हुआ। किन्तु सन् १९२५ में जब उस कमेटी की रिपोर्ट पर भारतीय धारा-सभा में विचार किया गया तो पं० मोतीलाल नेहरू ने फिर एक संशोधन प्रस्तुत किया और वह भी भारी बहुमत से स्वीकार हुआ। उस संशोधन में द्वैध शासन-प्रणाली को पूर्ण रूप से अव्यवहार्य बताया गया।

मुस्लिम लीग की नीति में परिवर्तन—महात्मा गांधी के राजनीतिक मंच पर आने के बाद बहुत से नेताओं के लिए कांग्रेस में रहना असंभव हो गया था। कांग्रेस का रूप-रंग बदल रहा था और उन नेताओं में संघर्ष के लिए पर्याप्त साहस का अभाव था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस संगठन में जन-साधारण का प्रवेश हो रहा था; कुछ नेताओं को यह बात भी रुचिकर नहीं हुई। श्री मुहम्मद अली जिन्ना इन्हीं नेताओं में से एक थे। वे बड़े ठाठ से रहनवाले व्यक्तियों में से थे और वे नई कांग्रेस में खद्दरधारियों की भीड़ में देहातियों के साथ काम करते हुए जेल-यात्रा करने को तैयार नहीं थे। अस्तु, महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से असन्तुष्ट होकर उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी थी और वे मुस्लिम लीग का संगठन करने लगे थे। देश में साम्प्रदायिकता बढ़ने लगी। असहयोग आन्दोलन समाप्त हो जाने पर खिलाफत आन्दोलन भी ठंडा पड़ गया था और साम्प्रदायिकता के प्रभाव मे मुस्लिम वर्ग कांग्रेस से दूर होने लगा था। पृथक् निर्वाचन-प्रणाली ने इस साम्प्रदायिकता को और भी उग्र कर दिया। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ता गया और परिणाम-स्वरूप स्थान स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। महात्मा गांधी को इन साम्प्रदायिक हत्याकाण्डों से बड़ा दुःख हुआ। [अतः सन् १९२४ में

कारागार से मुक्त होने पर उन्होंने उन दंगों के विरोध में २१ दिन का अनशन किया। परन्तु उसका कुछ विशेष परिणाम न हुआ। सन् १९२६ में शुद्धि-आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द की एक धर्मान्ध मुसलमान ने हत्या कर डाली, जिसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक वैमनस्य और अधिक बढ़ गया।

साइमन कमीशन—सुधारों की माँगों को बढ़ते हुए देखकर ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करने के हेतु सन् १९२७ में सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया। इसमें एक भी भारतीय सदस्य न था। भारत के सभी राजनैतिक दलों मे कांग्रेस, मुस्लिम लीग यहाँ तक कि नरम दलवालों ने भी इस कमीशन की सदस्यता का विरोध किया और इन दलों ने कमीशन के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। सारे देश ने उसका बहिष्कार किया। अतः जब यह कमीशन ३ फरवरी १९२८ को बम्बई में उतरा तो भारतीयों ने 'साइमन वापस जाओ' आदि के नारों से उसका स्वागत किया। स्थान स्थान पर उसे काले झंडे दिखाये गये। अँगरेजी सरकार ने इस शान्त प्रदर्शन को दबाने के लिए कठोर दमन नीति का आश्रय लिया। स्थान स्थान पर भारतीय गिरफ्तार किये गये और उन पर लाठी चार्ज किया गया। लाहौर में पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय लाठियों से पीटे गये जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में उनकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार अँगरेजी बर्बरता ने देश में असन्तोष और भी बढ़ा दिया। इसी संदर्भ में यह बता देना उचित होगा कि सन् १९३० में जब साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो भारत के सभी राजनीतिक दलों नें उस रिपोर्ट के अत्यन्त असंतोषजनक प्रस्तावों की घोर निन्दा की और तीव्र आलोचना की।

सर्वदल-सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट—जिस समय साइमन कमीशन का स्वागत काले झण्डों से हो रहा था, उसी समय भारतवर्ष की माँगों को व्यवस्थित रूप देने के लिए फरवरी सन् १९२८ में दिल्ली में एक सर्वदल-सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने भारतवर्ष का भावी विधान बनाने के ध्येय से पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जो इतिहास में नेहरू-रिपोर्ट के नाम

से प्रख्यात हुई। इसने भारतवर्ष को एक असाम्प्रदायिक राज्य घोषित किया। इस रिपोर्ट में संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली पर जोर दिया गया, किन्तु अल्पसंख्यक जातियों के लिए स्थान संरक्षित करने की व्यवस्था को स्वीकार किया गया। इस रिपोर्ट ने औपनिवेशिक स्वराज्य को भारतवर्ष की राजनीतिक माँग बताया था। परन्तु जिन्ना की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग ने इस रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया। मुसलमानों के असहयोग से रिपोर्ट का महत्त्व जाता रहा। भारतीयों के असहयोग से यही हाल साइमन रिपोर्ट का हुआ।

क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ--देश में एक ओर तो असहयोग आन्दोलन समाप्त हुआ और दूसरी ओर राजनीतिक एकता समाप्त हो गई। अस्तु, कुछ काल के लिए भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण में अनिश्चयात्मकता छा गई। देश का नवयुवक समुदाय कांग्रेस-नीति की असफलता से क्षुब्ध होकर फिर हिंसात्मक नीति की ओर आकर्षित होने लगा। सरकारी दमन-नीति ने तरुण रक्त को उत्तेजित किया और स्थान स्थान पर बम और पिस्तौलें बनने लगीं। लोग सशस्त्र क्रान्ति के लिए देश को तैयार करने लगे। इस आतंकवादी संगठन में चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव और बी० के० दत्त आदि का प्रमुख स्थान था। अँगरेजों की अनीति एवं अन्याय प्रदर्शन के हेतु भगतसिंह और दत्त ने एसेम्बली में बम फेंका। लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिए पुलिस कप्तान सौण्डर्स की हत्या की गई। क्रान्तिकारियों ने स्थान-स्थान पर आतंक फैला दिया। मेरठ और लाहौर के षड्यंत्र उनकी वीरता एवं असीम साहस के ज्वलंत प्रमाण हैं। मेरठ षड्यंत्र में साम्यवादी प्रवृत्तियाँ भी काम कर रही थीं। इसी कारण इस षड्यंत्र के सिलसिले में स्प्रैट और ब्रैडले नामक दो अँगरेज साम्यवादियों को भारत से निर्वासित कर दिया गया। किन्तु मेरठ षड्यंत्र का आधार मुख्यतः राष्ट्रीय ही था।

कांग्रेस का नया लक्ष्य--सन् १९०६ से कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज्य चला आ रहा था। महात्मा गांधी के कांग्रेस में आने पर भी उस लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, उसकी प्राप्ति के लिए साधन के संबंध में अन्तर अवश्य हुआ। गांधीजी के आगमन से पूर्व स्वराज्य प्राप्त करने के लिए कांग्रेस की नीति

वैधानिक उपायों को काम में लाने की थी। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने शान्तिपूर्ण एवं अहिंसात्मक उपायों से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का निश्चय किया।

सन् १९२८ में कांग्रेस अधिवेशन में यह घोषणा की गई कि यदि सरकार ३१ दिसम्बर १९२९ तक सर्वदल-सम्मेलन के नेहरू संविधान को पूर्ण रूप से स्वीकार कर ले तो कांग्रेस उतने ही से सन्तुष्ट हो जावेगी अन्यथा वह अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का संगठन करेगी और देश को इस बात की सलाह देगी कि सरकार को लगान और कर देना बन्द कर दिया जाय। तत्कालीन वाइसराय लार्ड अर्विन ने ३१ अक्टूबर १९२९ को एक घोषणा द्वारा यह स्पष्ट किया कि २० अगस्त १९१७ के प्रसिद्ध वक्तव्य के अन्तर्गत सरकारी नीति का लक्ष्य औपनिवेशक स्वराज्य ही है और इसी दिशा में आगे बढ़ने के लिए सरकार ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक गोलमेज परिषद् की आयोजना करने का विचार कर रही है। इस परिषद् के विचार-विनिमय का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होने के कारण कांग्रेसियों को परितोष नहीं हुआ। अस्तु, लाहौर में पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस अधिवेशन ने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार करके पूर्ण स्वतंत्रता को भारतीय लक्ष्य घोषित किया। कांग्रेस ने फिर निर्वाचन एवं कौंसिलों के बहिष्कार की घोषणा की। २६ जनवरी १९३० को स्वतंत्रता-दिवस बनाने और प्रतिज्ञा पढ़ने के लिए नियत किया गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—भारतीय राजनीतिक वातावरण पुनः उत्साह से भर गया। चारों ओर अँगरेजी शासन के विरुद्ध निश्चित कार्यवाही करने की माँग होने लगी। सबके नेत्र साबरमती आश्रम की ओर लगे थे। वहाँ पर महात्मा गांधी भावी संग्राम की रूप-रेखा पर तल्लीनतापूर्वक विचार कर रहे थे। उत्कंठित प्रतीक्षा के बाद आन्दोलन का रूप जनता के सामने आया। गांधीजी ने नमक कानून भंग करने का निश्चय किया। १२ मार्च सन् १९३० को उनकी ऐतिहासिक दांडी यात्रा आरंभ हुई। उनके साथ ही साथ देश में चारों ओर नमक-कानून भंग किया जाने लगा। अँगरेजी सरकार युद्ध के इस विचित्र ढंग को देखकर हैरान थी। परन्तु फिर भी उसने सदा की भाँति

दमन-नीति से काम लिया और कांग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। सारे देश में गिरफ्तारियाँ हुईं और जलूसों पर लाठी-प्रहार किये गये। परन्तु देशभक्तों का उत्साह कम न हुआ। स्थान स्थान पर जलूस निकले, हड़तालें हुईं। देश के जेल हजारों स्त्री-पुरुषों से भर गये।

यद्यपि लार्ड अर्विन ने दमन नीति का आश्रय लिया था तथापि वह जानता था कि देश के लोकप्रिय नेताओं को अनिश्चित काल के लिए जेल में नहीं रखा जा सकता। अतः वह कांग्रेस के साथ समझौता करने के लिए लालायित था। सप्रू और जयकर ने मध्यस्थ का कार्य किया परन्तु कोई समझौता न हो सका। सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चलता रहा। कुछ समय में विवश होकर अँगरेजी सरकार को देश के नेताओं को २६ जनवरी १९३१ में छोड़ना पड़ा।

प्रथम गोलमेज परिषद्—लन्दन में १२ नवम्बर १९३० से प्रथम गोल-मेज सभा आरंभ हुई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उन दिनों में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था। महात्मा गांधी गोलमेज परिषद् में भाग लेने के पक्ष में नहीं थे। अस्तु, गोलमेज परिषद् की बैठक हुई तो सही और उसमें नरम दल, मुस्लिम लीग और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग भी लिया, किन्तु देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था कांग्रेस के बहिष्कार के कारण उस बैठक का मूल्य बहुत घट गया।

गांधी-अर्विन समझौता—६ फरवरी १९३१ को गोलमेज परिषद् के भारतीय नेता सप्रू, जयकर, श्रीनिवास शास्त्री आदि भारतवर्ष वापस आये और गांधीजी एवं कांग्रेस कार्यकारिणी को सम्पूर्ण वार्ता से अवगत कराने के लिए इलाहाबाद आये। विचार-विनिमय के पश्चात् १७ फरवरी को गांधीजी वाइसराय से मिले, जिसके परिणामस्वरूप ३१ मार्च, सन् १९३१ को गांधी-अर्विन समझौता (Gandhi Irwin Pact) हो गया। इसके अनुसार सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और सम्पूर्ण राजनीतिक बन्दी मुक्त कर दिये गये। चारों ओर द्वितीय गोलमेज परिषद् की तैयारी होने लगी। अप्रैल सन् १९३१ में लार्ड अर्विन त्याग-पत्र देकर चले गये और उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन वाइसराय होकर भारत आये।

कीं और लाठी-प्रहार किये। अन्त में मई १९३३ को महात्मा गांधी ने अनशन करना प्रारंभ किया। २१ दिन के पश्चात् वे छोड़ दिये गये और पुनः संधि-वार्ता प्रारंभ हुई। अन्त में सन् १९३४ में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया।

सन् १९३५ के ऐक्ट की प्रतिक्रिया—जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है सन् १९३५ के ऐक्ट के दो भाग थे—एक, भारतीय संघ की स्थापना से संबंधित था और दूसरा, प्रान्तीय स्वाधीनता से। इस ऐक्ट में सरकार ने लोकतंत्रीय राष्ट्रीयता के प्रवाह को रोकने का फिर प्रयत्न किया था। देशी नरेश लोकतंत्र के विरुद्ध थे और मुसलमान साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ रहे थे। सरकार ने प्रस्तावित शासन-व्यवस्था में देशी नरेशों और मुसलमानों को अत्यधिक महत्त्व दिया था। वस्तुतः सरकार ने प्रस्तावित संघ के द्वारा अँगरेजों, मुसलमानों और देशी नरेशों के हितों का संरक्षण किया था। अस्तु, कांग्रेस ने संघ योजना का तीव्र विरोध किया।

दूसरी ओर प्रान्तीय स्वधीनता की योजना भी अत्यन्त असन्तोषजनक थी। प्रान्तीय गवर्नरों को मंत्रिमंडल के कार्य में हस्तक्षेप करने के लिए और उनके मत की उपेक्षा करने के लिए विशेषाधिकार दिये गये थे। उनकी पृष्ठभूमि में जनता के प्रतिनिधियों के लिये लोकतंत्रीय एवं उत्तरदायी शासन चलाना असंभव था। फलतः कांग्रेस ने प्रान्तों से संबंधित योजना की भी तीव्र आलोचना की।

निर्वाचन और मन्त्रिमंडलों की स्थापना—कांग्रेसी नेताओं ने परस्पर वाद-विवाद के बाद चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया। सन् १९३६-३७ में निर्वाचन हुए। साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों में कांग्रेस की और साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों में मुस्लिम लीग की भारी विजय रही। मद्रास, बिहार, उड़ीसा मध्य प्रान्त और उत्तर प्रदेश में कांग्रेस प्रतिनिधि, पूर्ण रूप से बहुमत में निर्वाचित हुए। बम्बई, सीमाप्रान्त, बंगाल और आसाम में वे अन्य किसी भी पार्टी से अधिक संख्या में थे। मुस्लिम लीग किसी भी प्रान्त में इतने बहुमत में न थी कि स्वतंत्र रूप से मंत्रिमंडल बना सकती।

निर्वाचन ने कांग्रेस की लोकप्रियता और उसके प्रतिनिधिपूर्ण स्वरूप को सुस्पष्ट कर दिया। निर्वाचन के बाद कांग्रेस ने गवर्नरों के विशेषाधिकारों के रहते हुए मंत्रिमंडल बनाने से इनकार कर दिया। वैधानिक रूप से जटिल स्थिति थी। अन्य दल मंत्रिमंडल नहीं बना सकते थे। सरकार इस बात का आश्वासन देने को भी तैयार नहीं थी कि गवर्नरों के विशेषाधिकारों का उपयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में ही किया जावेगा। कांग्रेस अपने निश्चय पर दृढ़ रही। बाद में वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने आश्वासन दिया और कांग्रेस ने पद ग्रहण किया। ८ बहुमत कांग्रेस प्रान्तों में कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडल बनाये। अन्य प्रान्तों में मुस्लिम लीग और दूसरे दलों के संयुक्त मंत्रिमंडल बने। इस प्रकार सन् १९३७ में प्रान्तीय शासन की नई व्यवस्था आरंभ की गई। इसके बाद संघीय शासन की व्यवस्था पर ध्यान दिया जाता, किन्तु यूरोपीय महायुद्ध आरंभ हो जाने से उस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई।

मुस्लिम लीग की कुटिल राजनीति—लीग की नीति के कारण कांग्रेसी बहुमत प्रान्तों में कांग्रेस लीग के संयुक्त मंत्रिमंडल न बन सके। इस पराजय से मुस्लिम लीग चिढ़ गई और उसने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को बदनाम करना प्रारंभ किया। उसने उन पर मुस्लिम जनता के उत्पीड़न एवं मुस्लिम हितों की हत्या करने के आरोप लगाये। मुसलमानों में प्रचार किया गया कि 'हिन्दू कांग्रेस' के शासन के अन्तर्गत उनकी सभ्यता, उनकी संस्कृति एवं उनका धर्म खतरे में है। इन झूठे आरोपों से क्षुब्ध होकर कांग्रेस राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने निष्पक्ष जाँच का प्रस्ताव रखा। परन्तु जिन्ना ने उसे अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग तो कांग्रेस को असत्य आरोप लगाकर बदनाम करना चाहती थी। इस कार्य में उसे आशातीत सफलता मिली। कांग्रेस समझौते के लिए जितना ही अधिक प्रयत्न करती थी मि० जिन्ना उतनी ही अधिक अपनी माँगें बढ़ाये जाते थे। इस हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के चक्कर में पड़कर कांग्रेस ने बहुधा बहुमत जाति की उपेक्षा भी की। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू महासभा तथा अन्य हिन्दू संगठनों ने कांग्रेस पर हिन्दू-विरोधी नीति का अवलम्ब लेने एवं मुसलमानों के तुष्टीकरण के आरोप लगाये। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य कम होने के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

महायुद्ध का आरम्भ--१ सितम्बर १९३९ को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और इँगलैड ने ३ सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। इस प्रकार यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। भारत अँगरेजों के अधीन था और अँगरेजी सरकार ने उसकी ओर से भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध घोषित करने के संबंध में सरकार ने भारतीय प्रतिनिधियों से कोई परामर्श नहीं किया। प्रान्तों में जनता के चुने हुए मंत्रीगण काम कर रहे थे। किन्तु इन लोगों से और केन्द्र तथा प्रान्तों की धारा-सभाओं से बिना कुछ पूछे ही भारत को युद्ध में सम्मिलित कर दिया गया। यह घोषणा भारतवर्ष के लिए अपमानजनक थी। अतः कांग्रेस ने इसका विरोध किया और कहा कि भारतवर्ष को युद्ध में सम्मिलित करने के पूर्व अँगरेजी सरकार अपने युद्ध के उद्देश्यों को घोषित करे। गवर्नर-जनरल से कोई सन्तोषजनक उत्तर न पाकर अपने विरोध-प्रदर्शन के हेतु २२ अक्टूबर १९३९ के कांग्रेस कार्य-कारिणी के प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। अतः प्रान्तों का शासन ऐक्ट की धारा नं० ९३ के अनुसार गवर्नरों के अधिकार में आ गया। गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल यथावत् काम करते रहे।

पाकिस्तान की माँग--कांग्रेस मंत्रिमंडल के पद-त्याग से श्री जिन्ना को अत्यंत हर्ष हुआ। उन्होंने २२ दिसम्बर १९३९ को मुक्ति दिवस मनाने के लिए मुसलमानों को सलाह दी।

कांग्रेस की सन्तुष्टीकरण की नीति और अँगरेजी सरकार के प्रोत्साहन के कारण जिन्ना की माँगें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थीं। अन्त में मार्च सन् १९४० को उन्होंने लाहौर प्रस्ताव के द्वारा पाकिस्तान की माँग उपस्थित की। उस दिन से हिन्दू-मुस्लिम एकता असंभव ही हो गई।

कांग्रेस का व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा-आन्दोलन--कांग्रेस युद्ध के संबंध में सरकारी नीति के विरोध में थी। दूसरी ओर वह, जर्मनी और इटली के फासिज्म के पूर्ण विरोध में थी। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने देश को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा-आन्दोलन द्वारा सरकार के प्रति अपना विरोध प्रकट करने की सलाह दी। गांधीजी के आदेश से विनोवा भावे ने इस आन्दोलन को आरंभ किया। इस प्रकार सन् १९४० में विभिन्न कांग्रेसी नेताओं ने एक एक करके

भारत-विभाजन की तैयारी
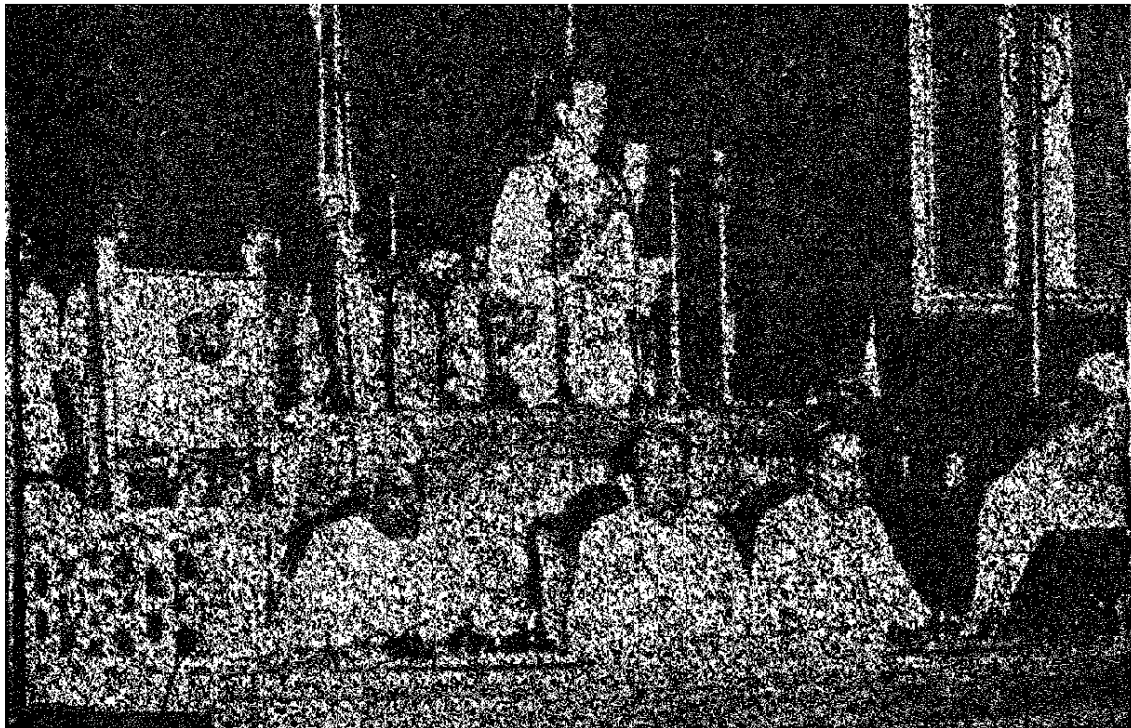
लार्ड माउन्टबटन विधान-परिषद् में

अँगरेजी युद्ध नीति का नैतिक स्तर पर विरोध किया और सरकार उनको क्रमशः गिरफ्तार करती गई। सन् १९४१ में ये लोग अपने कारावास की अवधि समाप्त कर फिर देश के राजनैतिक मंच पर आ गये। भारत के भविष्य के संबंध में सरकार अब भी अस्पष्ट थी। अस्तु, युद्ध के प्रति कांग्रेस का असहयोग और विरोध बढ़ता गया।

क्रिप्स मिशन––सन् १९४१ के अन्त तक यूरोपीय स्थिति भयंकर हो गई। जर्मनी ने लगभग सम्पूर्ण यूरोप को पदाक्रान्त कर डाला। इन्हीं दिनों जर्मनी और इटली की ओर से जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसकी सेनाओं ने द्रुत गति से पूर्वी एशिया पर अधिकार करना आरंभ किया। इस प्रकार भारत की पूर्वी सीमा के लिए खतरा उपस्थित हो गया। अतः अँगरेजों को कांग्रेस के सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने मार्च १९४२ में समझौता करने के लिए मजदूर-दल के एक प्रधान नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतवर्ष भेजा।

क्रिप्स-योजना ने योद्धोत्तर काल में भारतीय संघ की स्थापना का आश्वासन दिया। किन्तु इस संघ से कोई भी ब्रिटिश भारतीय प्रान्त अथवा देशी राज्य पृथक् भी रह सकता था। कांग्रेस की दृष्टि से यह व्यवस्था अत्यन्त असंतोष-जनक थी। दूसरी ओर लीग को पाकिस्तान की दिशा में प्रोत्साहन तो मिला किन्तु उसने प्रस्तावों की शब्दावली को अस्पष्ट और असंतोषजनक बताया।

क्रिप्स-योजना का दूसरा भाग तात्कालिक व्यवस्था के संबंध में था। ब्रिटिश सरकार रंचमात्र भी सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। उसने भारतीय प्रतिनिधियों से केवल परामर्श करने की तत्परता दिखाई। किन्तु इससे अधिक कुछ नहीं। कांग्रेस युद्ध में सहयोग देन के लिए, परिस्थितियों के अनुकूल वास्तविक सत्ता चाहती थी। अन्य दलों की अन्य आपत्तियाँ थीं। भारतवर्ष के किसी भी दल ने उनकी योजना को स्वीकार न किया। अतः १३ अप्रैल १९४२ को वे इँगलैंड वापस चले गये। देश में पुनः असंतोष छा गया।

महायुद्ध और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी––भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना सन् १९२४ में ही हो गई थी किन्तु द्वितीय महायुद्ध के पहले तीन वर्षों तक वह बराबर अवैध रही। गुप्त रूप से उसका काम होता रहता था, किन्तु उसका कोई विशेष प्रभाव न था। जून १९४१ में रूस अँगरेजों की ओर

से युद्ध में सम्मिलित हो गया। इस पर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी जो आरंभ में द्वितीय महायुद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कह रही थी अब उसे लोक-युद्ध कहने लगी। पार्टी के नेताओं ने युद्ध में सहयोग देने की नीति अपनाई। सरकार ने इसका लाभ उठाया और कम्यूनिस्ट पार्टी को वैध घोषित कर दिया। कम्यूनिस्ट पार्टी जो पहले मजदूरों को हड़ताल करने के लिए गुप्त रूप से उत्तेजित करती थी अब हड़तालों को रोकने में प्रमुख भाग लेने लगी। केवल यही नहीं, उसने राष्ट्रीय कांग्रेस की युद्ध-विरोधी नीति का प्रबल विरोध किया। कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति के कारण सरकार को अपनी युद्ध-संबंधी तैयारियों में बहुत बड़ी सहायता मिली।

सन् १९४२ की ऐतिहासिक क्रांति—क्रिप्स-वार्ता से कांग्रेस को यह विश्वास हो गया कि अँगरेजी सरकार सीधे ढंग से सत्ता हस्तान्तरित न करेगी। उधर मुस्लिम लीग के सहयोग की भी उसे आशा न रही, क्योंकि वह अपनी पाकिस्तान की माँग पर अटल थी। उसके प्रचार ने श्री राजगोपालाचार्य ऐसे कांग्रेसी नेता को भी झुका लिया था। वे मुस्लिम लीग को पाकिस्तान देने पर सहमत हो गये और इसके लिए उन्हें कांग्रेस से पद-त्याग करना पड़ा। परन्तु महात्मा गांधी पाकिस्तान को अव्यवहार्य समझते थे। अतः उन्होंने अब मुस्लिम लीग के सहयोग के बिना ही अँगरेजी सरकार के विरुद्ध संग्राम करने का निश्चय किया।

८ अगस्त १९४२ को महात्मा गांधी की सलाह से बम्बई में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। परन्तु अँगरेजी सरकार इतनी सुगमता से भारत छोड़ने के लिए प्रस्तुत न थी। उसने दमन-नीति से काम लिया। प्रस्ताव पास होने के दूसरे ही दिन समस्त कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये। सम्पूर्ण कांग्रेसी सस्थाएँ गैर-कानूनी घोषित कर दी गईं। अँगरेजों के इस अन्याय पूर्ण कार्य से सारे देश का धैर्य जाता रहा और जनता ने अँगरेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

सारा वातावरण 'भारत छोड़ो' के उद्घोष से गूंज उठा। क्षोभ और क्रोध में आकर भारतवासियों ने अंगरेजी शासन को पूर्णतया ध्वस्त कर देने का प्रयास किया। उहोंने स्थान स्थान पर रेलवे स्टेशनों, डाकखानों तथा सरकारी दफ्तरों को लूटना और जलाना प्रारंभ किया। स्थान स्थान पर तार काटे गये

और पटरियाँ उखाड़ दी गईं। बलिया, सतारा और बिहार तथा बंगाल के कुछ स्थानों में अँगरेजी सत्ता कुछ समय के लिए लुप्त हो गई। दो-चार दिन तो ऐसा प्रतीत हुआ कि विदेशी सत्ता अपनी अन्तिम श्वास ले रही है। परन्तु अँगरेजी सरकार ने आन्दोलन का अत्यधिक बर्बरता से दमन किया। स्थान स्थान पर गिरफ्तारियाँ की गईं, निशस्त्र जनता पर लाठियाँ और गोलियाँ बरसाई गईं। उनके घर और खेत फूंक दिये गये। ऐसे निर्मम दमन के उदाहरण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे। नौकरशाही की संगठित बर्बरता के समक्ष नेतृत्वहीन, अस्त्रहीन एवं संगठनहीन जनता दबा तो अवश्य दी गई; परन्तु उसके हृदय में अँगरेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की जो ज्वाला धधक रही थी वह शान्त न हो सकी।

इस देशव्यापी आन्दोलन का मुस्लिम लीग और कम्यूनिस्ट पार्टी ने विरोध किया और सरकार का साथ दिया। जिस समय समस्त देश जीवन-मरण के संग्राम में व्यस्त था, उस समय भी जिन्ना महोदय अपनी साम्प्रदायिकता का राग अलापते रहे और भारतीय कम्यूनिस्ट लोकयुद्ध की रट लगाते रहे।

कांग्रेस समाजवादी दल १९४२ की क्रान्ति—कांग्रेस संगठन के अन्तर्गत सन् १९३४ में जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन और अशोक मेहता आदि के प्रयत्नों से कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हो गई थी। साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में बहुत सी विचारधाराओं को एक साथ मिलकर काम करने का अवसर था। पहली बात थी विदेशी सत्ता का अन्त; तदुपरान्त नये भारत में समाजवाद की स्थापना का प्रश्न था। यह दल कांग्रेस के अन्तर्गत होते हुए भी गांधीवादी नहीं था और हिंसात्मक उपायों को काम में लाने से भी कोई संकोच नहीं था।

सन् १९४२ की जन-क्रान्ति के संचालन का श्रेय मुख्यतः इस समाजवादी दल को ही था। इस दल के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने सन् १९४२ में फरार होकर गुप्त रूप से कार्य किया। इनमें अच्युत पटवर्धन और अरुणा आसफअली का प्रमुख स्थान था। अस्तु, समाजवादी दल के समर्थकों और उससे सहानुभूति रखनेवालों ने सन् १९४२ की क्रान्ति को आगे बढ़ाने में बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु साधनाभाव और सरकारी दमनचक्र के सामने वह शिथिल पड़ गई।

भारतीय राज्यनीति के अगले तीन वर्ष——दमन नीति के परिणामस्वरूप देश में घोर असंतोष छा गया। देश का बच्चा बच्चा अँगरेजी शासन का कट्टर विरोधी हो गया। प्रकटतः राष्ट्रीय जीवन दब गया; किन्तु अंदर ही अन्दर तीखापन बराबर बढ़ता गया। सन् १९४३ और १९४४ में सारा देश एक बड़े कारागार के समान प्रतीत होता था। सरकार ने समाचार-पत्रों का गला घोंट दिया था। कांग्रेसी नेता और कार्यकर्त्ता जेल में बन्द थे और कांग्रेस संस्था अवैध थी। इन दिनों राष्ट्रीय जीवन लुप्त सा हो गया था। परन्तु अँगरेजी सरकार जानती थी कि इस प्रकार लोकप्रिय नेताओं को जेल के सींकचों के भीतर बन्द करके तलवार के जोर से अधिक दिनों तक शासन न चल सकेगा। साथ ही सरकार युद्ध-काल में कांग्रेसियों के सामने झुकना नहीं चाहती थी। सन् १९४३ में गांधीजी ने, जो आगाखाँ महल पूना में सरकारी बन्दी थे, २१ दिन का अनशन किया। उपवास के दिनों में गांधीजी की दशा बहुत बिगड़ गई और चारों ओर गांधीजी को छोड़ देने की माँग हुई, पर वाइसराय लिनलिथगो ने झुकना स्वीकार नहीं किया। इसी प्रश्न पर वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् के तीन सदस्यों——एम० एस० अणे, नलिनीरंजन सरकार और एच० पी० मोदी ने त्याग-पत्र दे दिया। देश की भावनाओं को सर तेजबहादुर सप्रू, जयकर आदि नेताओं ने जो किसी दल से संबंधित नहीं थे, व्यक्त किया।

सन् १९४४ में लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वैवेल भारतवर्ष के वाइस-राय नियुक्त हुए। इसी समय महात्मा गांधी की अस्वस्थता के कारण उनको जेल से छोड़ दिया गया। स्वस्थ होने पर गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर मि० जिन्ना से कई बार बातचीत की। यह वार्तालाप श्री राजाजी के कुछ प्रस्तावों पर अवलंबित थी, किन्तु समस्या का हल न हो सका। सरकार के साथ पुनः संधि-वार्ता प्रारंभ हुई। लार्ड वैवेल ने दिल्ली में एक सभा की। परन्तु मुस्लिम लीग के हठ करने पर कि वाइसराय की कार्यकारिणी के सब मुस्लिम सदस्य लीग द्वारा ही मनोनीत हों, वह सभा असफल रही।

शिमला सम्मेलन——भारतीय राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के लिए अँग-रेजी सरकार ने जून १९४५ में कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों और अन्य बड़े बड़े कांग्रेसी नेताओं को छोड़ दिया। इस समय तक जर्मनी और इटली की हार हो

चुकी थी और जापानी सेनाएँ भी पीछे हट रही थीं। इन्हीं दिनों इँगलैंड में नया निर्वाचन हुआ जिसमें विंस्टन चर्चिल का अनुदार दल हार गया और उसके स्थान पर एटली का मजदूर-दल का मंत्रिमंडल स्थापित हुआ। इस मजदूर मंत्रि-मंडल ने भारतीय राजनीतिक समस्या पर विचार-विनिमय करने के हेतु वाइस-राय लार्ड वैवेल को इँगलैंड बुलाया। परामर्श करने के बाद वे भारत वापस आये और भारतीय राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए उन्होंने शिमला में एक सम्मेलन किया। इसमें सभी प्रमुख दलों के नेता सम्मिलित थे।

इस सम्मेलन में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया गया। इस संबंध में भारतीय धारा-सभा के कांग्रेस दल के नेता भूला-भाई देसाई और लीग दल के नेता लियाकत अली खाँ में पहले बातचीत हो चुकी थी और राष्ट्रीय गति-रोध को दूर करने के लिए भूलाभाई ने कांग्रेस-लीग समता को स्वीकार कर लिया था। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस-लीग समता के आधार को बदलकर उसे सवर्ण हिन्दू-मुस्लिम समता कर दिया। अस्तु, कांग्रेस, किसी मुस्लिम प्रतिनिधि को नहीं चुन सकती थी। आधार की इस विकृति से कांग्रेस को सवर्ण हिन्दुओं की साम्प्रदायिक संस्था का रूप देने का प्रयत्न किया गया। फलतः शिमला कान्फ्रेंस भंग हो गई।

सुभाषचन्द्र बोस और आजाद हिन्द फौज—सन् १९३९ में कांग्रेस राष्ट्रपति का पद छोड़ने के बाद सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस के ही अन्तर्गत फार्वर्ड ब्लाक नामक एक दल की स्थापना की थी। बोस, विशुद्ध गांधीवादी अहिंसात्मक संघर्ष के कार्यक्रम से सन्तुष्ट नही थे और वे सशस्त्र संघर्ष के प्रबल समर्थक थे। अस्तु, सुभाष बाबू के कार्यक्रम पर सरकार की कठोर दृष्टि थी। युद्ध आरंभ होने के बाद सरकार ने उनको कलकत्ते में उन्हीं के घर में नजरबन्द कर दिया। किन्तु वे वेष बदल कर वहाँ से निकल गये और अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुँचे। बाद में जापान पहुँचे और उन्होंने जर्मनी-जापान की सहायता से भारत को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया। जब जापानी सेना ने मलाय और बर्मा पर अधिकार कर लिया तो उन्होंने वहाँ बसे हुए भारतीयों की सहायता से आजाद हिन्द फौज बनाई। सुभाष बोस के देशभक्तिपूर्ण प्रचार के प्रभाव में आकर अँगरेजों की ओर से लड़नेवाली भारतीय सेनाओं के

बहुत सी टुकड़ियाँ भी आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गईं। इस सेना में हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख सभी सम्मिलित थे। उसकी अनन्य देशभक्ति पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु जापानियों के साम्राज्यवादी उद्देश्यों के समक्ष उसके स्वतंत्रता प्राप्त करने के लक्ष्य की पूर्ति होना संभव नहीं था। जापानी सेनाओं के छिन्न-भिन्न होने पर आजाद हिन्द फौज भी छिन्न-भिन्न हो गई। उसके सैनिकों को बन्दी बनाया गया। बाद में जब उन पर अभियोग चलाया गया तो भारत भर में बड़ा रोष छा गया। भारतीय जनता की पृष्ठभूमि में अँगरेजी सरकार ने आजाद हिन्द फौज के लगभग सभी सैनिकों को छोड़ दिया। कुछ लोगों को पाशविक व्यवहार के अपराध में दंड दिया गया।

पार्लियामेंट का शिष्ट मण्डल—सन् १९४५ में कांग्रेसी नेताओं के छूटने के बाद भारतीय राष्ट्रीयता फिर सक्रिय हो गई। विदेशी चंगुल से छूटने की बलवती इच्छा फिर देश भर में व्याप्त होने लगी। राजनीतिक गतिरोध से तीव्र असन्तोष बढ़ रहा था। ऐसी दशा में सम्राट् सरकार भी फिर प्रयत्न करने के लिए विवश हुई। अस्तु, मजदूर मंत्रिमंडल ने भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए २ जनवरी सन् १९४६ को पार्लियामेंट के १० सदस्यों का एक दल (Parliamentary Delegation) भारतवर्ष भेजा।

यह दल देश की विभिन्न पार्टियों के नेताओं से मिला और उनके विचारों से अवगत हुआ। अन्त में उसने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को दी। इस रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने पुनः एक दूसरा दल भारतवर्ष में भेजा जो इतिहास में कैबिनेट-मिशन के नाम से प्रख्यात हुआ।

कैबिनेट-मिशन—कैबिनेट-मिशन, मार्च १९४६ में भारत आया और उसने भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने का यत्न किया, परन्तु असफल रहा। कांग्रेस भारत के विभाजन के विरुद्ध थी और आन्तर्कालीन अवधि के लिए वास्तविक सत्ता का हस्तान्तरण चाहती ी। भारतीय शासन की अन्तिम रूप-रेखा भारतीय प्रतिनिधियों की संविधान ।रिषद् द्वारा निश्चित होनी थी। दूसरी ओर मुस्लिम लीग पाकिस्तान की ।ाँग पर अड़ी हुई थी। दोनों दलों में समझौता न होने पर ब्रिटिश सरकार ने

भारतवर्ष के सामने स्वयं एक योजना उपस्थित की। इस योजना के द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इसके अनुसार भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों को तीन भागों में संगठित किया गया। एक में सीमाप्रान्त, पंजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बिलोचिस्तान, दूसरे में बंगाल और आसाम तथा तीसरे में शेष प्रान्त रखे गये। योजना ने इन तीनों भागों को एक संघीय शासन के अन्तर्गत रखने की व्यवस्था की। तीनों भाग अपने आन्तरिक शासन में पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते परन्तु रक्षा, यातायात एवं विदेशी नीति के विषय संघ शासन के अधीन रहते। सम्पूर्ण देश के लिए संविधान बनाने के हेतु एक संविधान सभा (Constituent Assembly) के निर्माण की व्यवस्था बनाई गई। यह सम्पूर्ण दीर्घकालीन व्यवस्था थी। जब तक यह कार्यरूप में परिणत न हो सके तब तक के लिए शासन-संचालन के हेतु एक अन्तर्कालीन सरकार (Interim Government) बनाने की व्यवस्था की गई। परन्तु कांग्रेस और लीग में पुनः मतभेद उत्पन्न हो गया। लीग इस बात के लिए तैयार नहीं हुई कि कांग्रेस, अन्तर्कालीन सरकार के लिए किसी भी मुस्लिम प्रतिनिधि को चुने। अन्त में लार्ड वैवेल ने तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू से अन्तर्कालीन सरकार बनाने के लिए कहा। २ सितम्बर १९४६ को इस अन्तर्कालीन सरकार ने पद ग्रहण किया।

मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही—अपने अभिलषित लक्ष्य को न मिलते देखकर मुस्लिम लीग ने प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का निश्चय किया। उसके लिए १६ अगस्त का दिन निश्चित किया गया। परन्तु उसके प्रारम्भ होते ही कलकत्ते में भीषण नर-हत्या प्रारंभ हो गई। मुसलमानों ने संगठित रूप से हिन्दुओं के जन-धन का विनाश करना प्रारम्भ किया। ४ दिनों तक भीषण हत्या हुई। इसमें हिन्दुओं ने भी संगठित रूप से प्रतिहिंसात्मक कार्य किये। लगभग ३,००० व्यक्ति मारे गये और लाखों रुपयों की सम्पत्ति नष्ट हुई। इस नर-हत्या का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मुस्लिम लीग पर था। उसके नेताओं ने अपने उग्र भाषणों से मुसलमानों को प्रतिहिंसात्मक कार्यों के लिए उत्तेजित किया था। मुस्लिम लीग की राजनीति वैधानिक क्षेत्र को छोड़कर हिंसात्मक क्षेत्र में आ

गई थी। लीग के उत्तेजनात्मक नारे—मारेंगे, मर जायेंगे, पाकिस्तान बनायेंगे—से हिंसात्मक कार्य अवश्यंभावी हो गया था।

नोआखाली में कलकत्ते के हत्याकाण्ड की पुनरावृत्ति हुई। वहाँ पर भी मुसलमानों ने हिन्दुओं की निर्मम हत्या करना प्रारंभ किया। गाँव-गाँव में हिन्दू ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारे गये, उनकी स्त्रियों को अपमानित किया गया। मुस्लिम गुण्डों ने छोटे छोटे अबोध बच्चों को भी न छोड़ा। चारों ओर हाहाकार छा गया।

बिहार में नोआखाली की प्रतिक्रिया हुई। वहाँ पर हिन्दुओं ने नोआखाली का बदला चुकाया। गाँव-गाँव में मुसलमानों की हत्या की जाने लगी। परन्तु कांग्रेस सरकार की कठोरता से वहाँ का दंगा शीघ्र ही शान्त कर दिया गया। इसी प्रकार बिहार की गाथा पंजाब में दुहराई गई। सारांश में मुस्लिम लीग की हिंसात्मक नीति ने सम्पूर्ण देश को रक्त-रंजित कर दिया।

केन्द्रीय सरकार में लीग का प्रवेश—कांग्रेस द्वारा अन्तर्कालीन सरकार बन जाने पर लीग को कुछ निराशा हुई। लार्ड वैवेल लोग को केन्द्रीय शासन में सम्मिलित करने के लिए बराबर प्रयत्नशील थे। अस्तु, कुछ समय बाद मुस्लिम लीग ने भी अन्तर्कालीन सरकार में अपने प्रतिनिधि भेज दिये। इन प्रतिनिधियों ने फिर गतिरोध की नीति अपनाई। पं० जवाहरलाल नेहरू अन्तर्कालीन सरकार के काम को संयुक्त विचार-विनिमय और संयुक्त उत्तरदायित्व के अनुसार चलाना चाहते थे। किन्तु लीग की नीति से उलझनें बढ़ने लगीं। संविधान ।रिषद् ने दिसम्बर १९४६ में अपना कार्य आरंभ किया, किन्तु मुस्लिम लीग ने उसमें अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे। पाकिस्तान की माँग को ध्यान में रखते हुए लीग ने दो विधान-परिषदों की माँग की रट लगा रखी थी।

ब्रिटिश सत्ता का अन्त और पाकिस्तान का जन्म—शासन में गतिरोध और भीषण साम्प्रदायिक दंगों के कारण बिटिश मंत्रिमंडल ने समझ लिया कि भारतीय राजनीतिक समस्या का हल बिना पाकिस्तान की स्थापना के नहीं हो सकता। दूसरी ओर राजनीतिक जाग्रति और साम्राज्यवाद-विरोधी दल की शक्ति से यह स्पष्ट हो गया कि भारत से ब्रिटिश सता का प्रत्याहरण अविलंब किया जावे। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी भारत में अँगरेजी राज्य

के बनाये रखने के प्रतिकूल थी। अस्तु, फरवरी १९४७ को मजदूर मंत्रि-मंडल की ओर से पार्लियामेंट में यह घोषित किया गया कि जून १९४८ तक भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा लिया जावेगा। इसके अतिरिक्त लार्ड वैवेल को वापस बुलाया गया और उनके स्थान पर लार्ड लुई माउण्टबेटेन को नियुक्त किया गया। पाकिस्तान के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की भाषा कूटनीतिक दृष्टि से अस्पष्ट ही रखी।

लार्ड माउण्टबेटेन ने भारत आकर विभिन्न दलों से वार्ता की। शासन का गतिरोध बढ़ता जा रहा था। हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष चारों ओर दिखाई दे रहा था। साम्प्रदायिकता का विष सरकारी विभागों और कर्मचारियों में अत्यन्त विकट रूप में प्रदर्शित हो रहा था। अस्तु, माउण्टबेटेन ने कांग्रेस और लीग की स्वीकृति से ३ जून १९४७ को भारत-विभाजन की योजना प्रकाशित की। इस योजना के अनुसार सीमाप्रान्त, सिन्ध, पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान और शेष ब्रिटिश भारत, भारतीय संघ के अन्तर्गत रखा गया। तत्कालीन परिस्थितियों में जून १९४८ तक रुकना असंभव था। अतः भारत के विभाजन और ब्रिटिश सत्ता के प्रत्याहरण के लिए १५ अगस्त सन् १९४७ का दिन निश्चित किया गया।

भारत से ब्रिटिश सत्ता के बिदा होने पर देशी राज्यों की क्या स्थिति होगी? इस प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी और इस संबंध में ब्रिटिश सरकार की नीति किस प्रकार विकसित हुई इसका यथास्थान वर्णन किया गया है। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ३ जून की योजना ने देशी राज्यों को दो में से किसी एक डोमिनियन में सम्मिलित होने के लिए जोर दिया।

भावी भारत का संविधान बनाने के लिए दिल्ली में संविधान सभा ने दिसम्बर १९४६ से कार्य करना आरंभ कर ही दिया था। इस सभा में धीरे धीरे देशी राज्यों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे। कुछ राज्य सम्मिलन संधि के अनुसार भारतवर्ष में सम्मिलित हो गये और वे अपने आन्तरिक शासन में द्रुत गति से लोकतंत्र की ओर बढ़ने लगे। कुछ ऐसे राज्य भी थे जो भारत में तत्काल सम्मिलित न हुए और वार्तावधि तक भारत-सरकार के साथ उनका संबंध एक अस्थायी समझौते के अनुसार चलता रहा।

भारत में ब्रिटिश सत्ता का वैध रूप में अन्त करने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट ने जुलाई १९४७ में भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट (Indian Independence Act) पास किया। इस ऐक्ट ने १५ अगस्त १९४७ को भारत से ब्रिटिश सत्ता के प्रत्याहरण को वैध आधार दिया। इस ऐक्ट ने यह भी स्पष्ट किया कि भारत और पाकिस्तान जो १५ अगस्त के बाद औपनिवेशिक राज्य के रूप में काम करेंगे, यदि चाहें तो ब्रिटिश कामनवैल्थ से अलग भी हो सकते हैं।

३ जून और १५ अगस्त १९४७ के बीच मे विभाजन की तैयारी की गई। अन्त में हर्ष और शोक के वातावरण में १५ अगस्त १९४७ को एक ओर तो विदेशी सत्ता का अन्त हुआ और दूसरी ओर दो औपनिवेशिक राज्यों---भारत और पाकिस्तान का जन्म हुआ।

१५ अगस्त के बाद---पं० जवाहरलाल नेहरू भारतीय संघ के प्रथम प्रधान मंत्री और सरदार वल्लभ भाई पटेल उप-प्रधान मंत्री बनाये गये। औपनिवेशिक राज्य के नाते भारतीय संघ के गवर्नर जनरल पद का भार लार्ड माउण्टबेटेन को दिया गया। डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में संविधान परिषद् अपना काम यथासंभव शीघ्रता से करती रही। दूसरी ओर जिन्ना स्वयं पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल बन गये। लियाकत अली को पाकिस्तान का प्रधान मंत्री बनाया गया।

स्वतंत्र भारत की नई सरकार के सम्मुख बड़े बड़े प्रश्न खड़े हो गये। पाकिस्तान में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और पश्चिमी पंजाब से हिन्दुओं ने बहुत बड़ी संख्या में भागना प्रारंभ किया। इन शरणार्थियों को फिर से बसाने के लिए भारत-सरकार को प्रचुर धन व्यय करना पड़ा। अन्य समस्याओं की अन्यत्र चर्चा की गई है।

गांधीजी की हत्या---मुस्लिम लीग की हिंसात्मक नीति की प्रतिक्रिया भारतीय संघ में भी हुई। देश की साम्प्रदायिक संस्थाओं ने जोर पकड़ा और स्थान स्थान पर विद्वेष के बादल उमड़ने लगे। महात्मा गांधी ने इसे शान्त करने का सराहनीय प्रयास किया और अन्त में इसी कारण अपने प्राण भी खो दिये। ३० जनवरी १९४८ को नाथूराम विनायक गोडसे नामक महाराष्ट्रीय युवक ने बिड़ला भवन (दिल्ली) में प्रार्थना-सभा की ओर जाते हुए महात्मा गांधी

की पिस्तौल से हत्या कर डाली। इस समाचार को पाकर सारा देश शोक-सागर में डूब गया। महात्माजी के देहावसान से भारतवर्ष की भारी क्षति हुई। यद्यपि महात्मा गांधी अब शरीर रूप में नहीं हैं, परन्तु उनका यश संसार में सदैव विद्यमान रहेगा। उन्होंने भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिए जो-जो बलिदान एवं त्याग किये वे किसी से छिपे नहीं हैं। संसार में सत्य और अहिंसा का जो संदेश उन्होंने पीड़ित मानवता को सुनाया वह अजर-अमर है।

गांधीजी की देन--जिस समय महात्मा गांधी ने भारतवर्ष के राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय भारतीय राष्ट्रीय चेतना की शैशवावस्था थी। परन्तु उनके संरक्षण एवं पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत वह उत्तरोत्तर संवर्धित होती गई, यहाँ तक कि अन्त में निरंकुश अँगरेजी शासन से भी सफलतापूर्वक मोर्चा लेने में समर्थ हुई। सन् १९२० के पश्चात् भारतीय शासन विधान के विकास का इतिहास महात्मा गांधी की राजनीतिक सफलताओं की कहानी है। उन्होंने अपने सत्य और अहिंसा के सन्देश से निराश जनता में जीवन फूंक दिया। वह उठी और अपने जन्मसिद्ध अधिकार स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अधिकाधिक व्यग्र होने लगी। भारतवर्ष की स्वतंत्रता-प्राप्ति का अधिकांश श्रेय महात्मा गांधी के सफल नेतृत्व को ही है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को उन्होंने जन-आन्दोलन बनाया। सर्वसाधारण को उन्होंने राजनीतिक चेतना दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने संसार के सम्मुख अहिंसात्मक आन्दोलन का एक नया शस्त्र उपस्थित किया। उससे उनकी राजनीतिक मौलिकता प्रकट होती है।

भारत का नया संविधान--भारतीय संविधान-सभा ने २६ नवम्बर १९४९ को भारतीय संविधान को "अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित" किया। इस संविधान के अनुसार २६ जनवरी १९५० से भारत एक "सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" (Sovereign Democratic Republic) है।

नागकरिता (Citizenship)--संविधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जो भारत में जन्मा हो अथवा जिसके माता-पिता भारत में जन्मे हों अथवा जो संविधान के कार्यान्वित होने से ठीक पहले कम से कम पाँच वर्ष तक भारत का निवासी रहा हो, भारत का नागरिक है।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)—संविधान में भारत के प्रत्येक नागरिक को समान कानूनी अधिकार और संरक्षण प्रदान किये हैं। धर्म, जाति, संप्रदाय, लिंग अथवा जन्म स्थान के आधार पर कोई भेद नहीं किया गया। सभी नागरिकों को वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का, शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार दिया गया है। अस्पृश्यता का आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। भारत का प्रत्येक नागरिक भारत के किसी भी भाग में आ-जा सकता है, बस सकता है और धनोपार्जन अथवा कोई भी कारबार कर सकता है। प्रत्येक नागरिक का जीवन और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का संरक्षण किया गया है। प्रत्येक नागरिक को शोषण के विरुद्ध अधिकार दिया गया है। सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता दी गई है। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार का भी संरक्षण किया गया है। इन मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए संविधान उपचारों की व्यवस्था की गई है।

भारतीय शासन दो भागों में विभाजित किया गया है—एक भारतीय संघ से संबंधित है और दूसरा अंगभूत राज्यों से।

राष्ट्रपति (President)—संघ की कार्यकारिणी सत्ता राष्ट्रपति में निहित की गई है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति भारतीय संघ की समस्त सेनाओं का भी सर्वोच्च सेनापति है। एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था की गई है। इस निर्वाचक-मण्डल की सदस्यता, संघ और अंगभूत राज्यों की धारा-सभाओं के सभी निर्वाचित सदस्यों को प्रदान की गई है। राष्ट्रपति की पदावधि पाँच वर्ष है। राष्ट्रपति के पद के लिए किसी व्यक्ति का दुबारा निर्वाचन भी किया जा सकता है। संविधान ने एक उप-राष्ट्रपति के पद की भी व्यवस्था की है।

मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers)—राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है। प्रधान मंत्री की नियुक्ति का अधिकार

राष्ट्रपति को दिया गया है। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति प्रधान मंत्री के परामर्श पर अविलंबित है ।

संसद (Parliament)—संघ की संसद में दो सदनों की व्यवस्था है—(१) राज्य-परिषद् (Council of State); (२) लोक-सभा (House of the People)। राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या, संविधान के अनुसार २५० से अधिक नहीं हो सकती। इनमें से राष्ट्रपति को १२ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है। अन्य सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार, अंगभूत राज्यों की धारा-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों को दिया गया है।

लोक-सभा के सदस्यों की संख्या ५०० से अधिक नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष रीति, वयस्क मताधिकार के आधार पर इन सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की गई है।

संघीय विषयों पर कानून बनाने और शासन-नीति के नियंत्रण का अधिकार संसद में निहित है ।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)—संविधान ने भारत के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की है। इस न्यायालय में मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त सात अन्य न्यायाधिपतियों को स्थान दिया गया है। उल्लिखित विनियमों के अन्तर्गत इन न्यायाधिपतियों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति में निहित है। कोई भी न्यायाधिपति पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद पद धारण नहीं कर सकता। न्याय-संबंधी सभी विषयों में इस न्यायालय को भारतीय संघ के अन्तर्गत सर्वोच्च अधिकार है। संविधान के किसी भी खंड की व्याख्या के संबंध में इस न्यायालय का निर्णय अन्तिम है।

अंगभूत राज्य—पुराने ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों की शासन-व्यवस्था केन्द्रीय ढंग पर ही की गई है। इन प्रान्तों को संविधान ने 'राज्य' नाम दिया है। प्रत्येक राज्य की कार्यकारिणी सत्ता गवर्नर में निहित है। पुराने देशी राज्यों के सम्मिलन से जो नये राज्य बने हैं, उनकी कार्यकारिणी सत्ता राजप्रमुख में निहित की गई है। प्रत्येक गवर्नर अथवा राजप्रमुख को उसके कार्य-सम्पादन में सहायता देने के लिए मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था है। इस मंत्रिपरिषद् के प्रधान को मुख्य मंत्री का पद दिया गया है। प्रत्येक राज्य के लिए धारा-

सभा की व्यवस्था की गई है। संविधान ने इनके कार्य-काल और इनकी कार्य-पद्धति का स्पष्टीकरण कर दिया है।

संविधान ने अपनी एक अनुसूची में कुछ ऐसे राज्यों की भी गणना की है जिनके शासन का अधिकार स्वयं राष्ट्रपति में निहित है। राष्ट्रपति के नाम-पर इन राज्यों के शासन का अधिकार चीफ कमिश्नरों को सौंपा गया है।

गवर्नर अथवा राजप्रमुख के अधीन प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था है अथवा उसके समीपवर्ती अन्य राज्य के उच्च न्यायालय को उस राज्य में भी क्षेत्राधिकार दिया गया है।

संयुक्त नर्वाचन व्यवस्था—नये संविधान में वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था है। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की कुटिल व्यवस्था का अन्त कर दिया गया है। किन्तु हरिजनों, परिगणित आदि जातियों (Scheduled Tribes) और एंग्लो-इंडियन समुदाय को केवल दस वर्ष के लिए विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया है।

अध्याय ३५

देशी राज्य

(१८५७-१९३५ ई०)

अँगरेजों की नीति का सिंहावलोकन--हम पिछले अध्यायों में सन् १८५७ की क्रान्ति तक अँगरेजों एवं देशी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन कर चुके हैं। इस अध्याय में हम उसी सम्बन्ध का तत्पश्चात् उल्लेख करेंगे। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, देशी राज्यों ने भारतीय क्रान्ति में अँगरेजों का साथ दिया उनकी मूल्यवान् सहायता एवं सहयोग के बल से ही अँगरेजी राज्य ध्वस्त होते-होते बचा। इसकी प्रतिक्रिया होना आवश्यक था। क्रान्ति के पूर्व अँगरेज देशी राज्यों को यथाशक्ति लुप्त करके अपना राज्य-विस्तार करना चाहते थे। वे सदा देशी नरेशों को सिंहासनाच्युत करके उनके राज्य को हड़पना चाहते थे। राज्य-विस्तार की यह नीति लार्ड डलहौजी के समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। परन्तु सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् अँगरेजों को अपनी इस नीति का त्याग करना पड़ा। उन्होंने क्रान्ति के आपत्काल में देशी राज्यों की सहायता का मूल भली भाँति समझ लिया था। अतः देशी नरेशों को विश्वास दिलाने के लिए महारानी विक्टोरिया ने अपने घोषणा-पत्र में स्पष्टतया राज्य-विस्तार की पुरानी नीति के परित्याग का उल्लेख किया और नरेशों को वचन दिया कि अँगरेजी शासन उनके राज्यों को अक्षुण्ण रक्खेगा तथा उनके साथ की गई पुरानी सन्धियों का सत्यतापूर्वक पालन करेगा। इसके बदले में देशी राज्यों से और अधिक स्वामिभक्ति की आशा की गई। फलतः देशी राज्यों की स्थिति तो सुरक्षित हो गई, परन्तु उनकी स्वतन्त्रता पहले से भी कम हो गई। उनके आन्तरिक शासन में अँगरेजी हस्तक्षेप बढ़ गया। सम्पूर्ण भारतवर्ष पर (जिसमें देशी राज्य अविच्छिन्न रूप से सम्मिलित थे।)

अपनी सर्वोच्च सत्ता प्रदर्शित करने के हेतु महारानी विक्टोरिया ने 'कैसर-ए-हिन्द' की उपाधि धारण की।

अपनी सर्वोच्च सत्ता को तार्किक आधार देने के लिए अँगरेजों ने इस बात का प्रचार करना प्रारम्भ किया कि उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सत्ता मुगल-सम्राट् से प्राप्त की है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रचार ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णरूपेण भ्रामक एवं असत्य था। अँगरेजों के आगमन तक मुगल-सम्राट् की सार्वदेशिक सत्ता अतीत की कहानी बन चुकी थी। अँगरेजों ने तो भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र देशी राज्यों को पराजित करके ही शासनाधिकार प्राप्त किया था। अतः वे मुगल-सम्राट् के उत्तराधिकारी नहीं कहे जा सकते थे।

कम्पनी के शासन का अन्त होने पर लार्ड कैनिंग ने 'क्राउन' (Crown) अर्थात् इंगलैंड के बादशाह की ओर से देशी राज्यों को अनेक सनद एवं आज्ञा-पत्र दिये। इनके द्वारा उसने उनके गोद लेने के अधिकार को स्वीकृत कर लिया तथा उनके राज्यों को अक्षुण्ण रखने का आश्वासन दिया। परन्तु साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि अँगरेजों की पूर्वाज्ञा के बिना कोई भी उत्तराधिकार न्यायसंगत न माना जायगा तथा कुशासन होने पर अँगरेज राज्य के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकेंगे। कुशासन, अराजकता एवं स्वामिभक्तिहीनता आदि कारणों के उपस्थित होने पर अँगरेजों को अधिकार होगा कि वे आवश्यकतानुसार राज्य को दण्डित करें। ऐसी स्थिति में वे देशी राज्य को अँगरेजी राज्य में भी मिला सकेंगे। इस प्रकार यद्यपि अँगरेजों ने देशी राज्यों को अक्षुण्ण रखने का आश्वासन तो दिया, परन्तु उसके साथ ही साथ उनके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। परिणामतः देशी राजाओं की सत्ता नगण्य हो गई। वे मुख्यतया अँगरेजी रेजीडेण्ट एवं उनके द्वारा निर्वाचित दीवानों पर आश्रित हो गये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि देशी राज्यों में बहुधा कुशासन व्याप्त रहता था। परन्तु इसका उत्तरदायित्व विशेषतया अँगरेजों पर ही था। उनकी सहायक-सन्धि की नीति ने देशी राजाओं को अकर्मण्य बना दिया था। अँगरेजी सेनाओं के बल पर टिकी हुई उनकी 'गद्दी' बहुधा प्रजा के सुख-दुःख के प्रति उदासीन रहती थी। उन्हें आन्तरिक विप्लव तथा बाह्य आक्रमण

की चिन्ता न रही थी। अतः राजकीय कार्यों से विमुख होकर प्रायः आमोद-प्रमोद में ही काल-यापन करते थे। राज्य की आय का अधिकांश अँगरेजी सेना एवं अँगरेज अफसरों के वेतन तथा पुरस्कार-उपहारादि में ही व्यय हो जाता था। इस प्रकार आर्थिक स्थिति के शोचनीय होने पर कुशासन का होना स्वाभाविक था। सबसे खराब स्थिति जनता की थी। वह नितान्त अधिकारहीन हो गई। राजाओं को उत्तरदायित्वहीन शासनाधिकार मिलने का परिणाम और हो ही क्या सकता था?

जब कम्पनी के पश्चात् 'क्राउन' के हाथ में सत्ता आई तो परिस्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ। अब केन्द्रीय सरकार ने राज्यों की जनता की ओर अपना कुछ उत्तरदायित्व समझा। लार्ड मेयो ने घोषित किया कि यदि अँगरेजी सरकार देशी राजाओं को सहायता देती है तो इसके बदले में वह उनसे सुशासन की आशा करती है। इसी प्रकार लार्ड कर्जन ने सन् १८९९ में एक वक्तव्य में कहा था कि देशी राज्य अँगरेजी राज्य के अविच्छिन्न अंग हैं। उनका शासन अनुत्तरदायित्वपूर्ण शासन करके सम्राट् का स्वामिभक्त नहीं रह सकता। उसे जनता का स्वामी और सेवक दोनों होना चाहिए।

परन्तु इस नवीन नीति का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि अँगरेजों को देशी राज्यों में हस्तक्षेप करने का एक नवीन द्वार मिल गया। जनहित की रक्षा के बहाने अथवा कुशासन को दूर करने के बहाने वे देशी नरेश को प्रत्येक अवसर पर आतंकित कर सकते थे। पुनः इस नीति के अन्तर्गत सब राज्य चाहे छोटे हों अथवा बड़े, समान हो गये। डलहौजी का देशी राज्यों का त्रिविध विभाजन जाता रहा। अँगरेजों की सर्वोच्च सत्ता ने देशी राज्यों के विरुद्ध समान रूप से निम्नलिखित अधिकारों का प्रतिपादन किया :—

उत्तराधिकार—पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि किस प्रकार कम्पनी ने देशी राज्यों के उत्तराधिकार के प्रश्न को अपने अधिकार-क्षेत्र में कर लिया था। कुछ समय के पश्चात् अँगरेजी सरकार ने घोषित किया कि उसकी पूर्वाज्ञा के बिना कोई भी उत्तराधिकार न्यायसंगत न होगा। परन्तु बड़े-बड़े देशी राज्यों ने आज तक उसके इस विशेषाधिकार को स्वीकृत नहीं किया था। अँगरेजी सरकार इस बात को मानती रही थी। परन्तु कुछ

पारस्परिक सहयोग—सन् १८९९ में अपने ग्वालियर के भाषण में लार्ड कर्जन ने घोषित किया था कि मैं देशी नरेशों को अपना सहयोगी समझता हूँ। परन्तु इस कूटनीतिक कथन ने देशी नरेशों को अनेक नये बन्धनों में बाँध दिया। सहयोगी के नाते अब उन्हें आवश्यकतानुसार अँगरेजों को धन-जन की सहायता देनी पड़ी। अब उन्हें अपने खर्च पर अपने राज्यों में 'इम्पीरियल सर्विस ट्रूप्स' (Imperial Service Troops) रखने पड़े। इनकी सैनिक-शिक्षा के लिए अँगरेज अफसर नियुक्त किये गये। इन सेनाओं ने सन् १९१४ और १९३९ के महायुद्धों में अँगरेजों की महत्त्वपूर्ण सहायता की। स्वयं अनेक देशी नरेश अँगरेजों के पक्ष से संग्राम में सम्मिलित हुए।

इसी प्रकार अँगरेजों ने रेल और तार बनाने के लिए देशी राज्यों की भूमि का एक बड़ा भाग अपने अधिकार में कर लिया। कुछ राज्यों के पास अपनी रेलें थीं, परन्तु अधिकतर राज्यों में अँगरेजों की बनवाई हुई ही रेलें विद्यमान हैं।

अपेक्षा कृत उदार नीति—सन् १९०६-४७ लार्ड वेलेजली तक अँगरेजी शासन ने साधारणतया देशी राज्यों को अपने प्रभाव में रखने अथवा उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ाने की नीति का अवलम्बन लिया था। उसके पश्चात् उन्होंने साम्राज्य-विस्तार करना प्रारम्भ किया। उन्होंने प्रत्येक अवसर का लाभ उठाकर देशी राजवंश को हटाकर अथवा पेंशन देकर उसके राज्य को अँगरेजी शासन के अन्तर्गत करने की चेष्टा की। यह नीति सन् १८५७ की क्रान्ति तक रही। क्रान्ति के पश्चात् अँगरेजों को अपनी साम्राज्य-विस्तार-कारिणी नीति का त्याग करना पड़ा। उन्होंने देशी राज्यों को अक्षुण्ण रखने का वचन दिया, परन्तु इसके साथ ही साथ उन्हें अधिकाधिक केन्द्रीय शासन के प्रभुत्व में करने का प्रयत्न किया। सन् १९०५ तक देशी राज्य यथाशक्ति अँगरेजी प्रभुत्व के अन्तर्गत कर लिये गये। तत्पश्चात् उनके प्रति अपेक्षाकृत उदार नीति का आश्रय लिया गया। इसका विशेष कारण राष्ट्रीयता का उदय था। बंग-विच्छेद के प्रश्न ने भारतवर्ष में राजनैतिक चेतना को जागृत कर दिया था। कांग्रेस के आन्दोलन ने उसे और भी बल प्रदान किया। अतः राष्ट्रीयता का सामना करने के लिए अँगरेजों ने देशी राज्यों को अपने पक्ष

में करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम इस नीति का प्रतिपादन लार्ड मिण्टो ने किया था। उसने सन् १९०९ के अपने उदयपुर-भाषण में घोषित किया कि भविष्य में अँगरेजी शासन देशी राज्य के प्रति किसी एक समान रूप से निर्धारित नीति पर ही कार्य न करेगा। आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न देशी राज्यों के साथ भिन्न-भिन्न नीतियों का भी उपयोग किया जा सकेगा।

पुनः अँगरेजी नीति में एक और परिवर्तन हुआ। अभी तक प्रत्येक देशी राज्य अन्य राज्यों से यथासम्भव रूप से अलग रक्खा जाता था, परन्तु अब अँगरेजी शासन ने उनके पारस्परिक सम्बन्ध की आज्ञा दे दी। स्वयं अँगरेज अपनी नीति के निर्धारण में इन राज्यों से परामर्श लेने लगे। इस प्रकार अँगरेजों ने देशी नरेशों को अपना विश्वासपात्र बनाना प्रारम्भ किया।

देशी राज्य सम्पूर्ण भारतवर्ष के $\frac{2}{5}$ क्षेत्रफल में फैले हुए थे। इनकी जनसंख्या भारतवर्ष की जनसंख्या की $\frac{1}{5}$ थी। इन राज्यों का ब्योरा निम्न प्रकार था :—

(१) जम्मू और काश्मीर का राज्य, (२) पंजाब के ३४ राज्य, (३) उत्तर प्रदेश के तीन राज्य, (४) बिहार और उड़ीसा के २६ राज्य, (५) बंगाल, आसाम और उत्तर-पूर्व के ४ राज्य, (६) धुर पश्चिम में २ राज्य (७) राजपूताना के २१ राज्य, (८) ग्वालियर, (९) मध्यभारत के ९० राज्य, (१०) मध्यप्रान्त के १५ राज्य, (११) बड़ौदा, (१२) बम्बई के ५ राज्य, (१३) हैदराबाद, (१४) मैसूर, (१५) मद्रास के ५ राज्य।

अँगरेजों की उपर्युक्त नीति के अनुसार सन् १९२१ में नरेन्द्र-मण्डल (Chamber of Princes) की स्थापना हुई। इसमें १२० सदस्य थे। वायसराय इसका प्रधान होता था। इस मण्डल की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य होती थी। यह वायसराय द्वारा उपस्थित किये गये मामलों पर विचार-विनिमय करती थी।

निजाम को लार्ड रीडिंग का पत्र—मार्च १९२६—अँगरेजों की पक्षपातपूर्ण नीति से उत्साहित होकर निजाम ने तत्कालीन वायसराय लार्ड रीडिंग के पास एक पत्र भेजा था जिसमें उसने उल्लेख किया कि अँगरेजों के साथ हुई सन्धियों के अतिरिक्त अन्य बातों में निजाम-राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है।

इसके उत्तर में लार्ड रीडिंग ने निजाम के पास जो पत्र भेजा उससे सम्पूर्ण देशी राज्य आतंकित हो गये। इस अवसर पर वायसराय ने स्पष्ट कर दिया कि अँगरेजी शासन के विरुद्ध कोई भी देशी राज्य स्वतन्त्रता का दावा नहीं कर सकता। सर्वोच्च सत्ता होने के कारण अँगरेजी शासन का देशी राज्यों के प्रत्येक विषय--आन्तरिक एवं बाह्य--पर पूर्ण नियन्त्रण है। इस घोषणा को सुनकर देशी नरेशों को विशेष चिन्ता हुई। उन्हें यह भय हुआ कि यदि केन्द्रीय सरकार में जनता का पर्याप्त प्रतिनिधित्व पहुँचा तो वह उनके राज्यों की निरंकुशता के विरुद्ध भी हस्तक्षेप करने के हेतु अँगरेजी सरकार को प्रोत्साहित करेगा। इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के हेतु नरेन्द्र-मण्डल ने सन् १९२६ में एक समिति बनाई। इसके विचार-विनिमय के परिणाम-स्वरूप सन् १९२७ में बटलर कमेटी (Butler Committee) का निर्माण हुआ। इसके सभापति सर हरकोर्ट बटलर (Sir Harcourt Butler) थे।

देशी नरेशों की भाँति अँगरेज सरकार भी देशी राज्य को जन-मत के प्रभाव से दूर रखने के लिए चिन्तित थी। अतः सम्पूर्ण भारत से देशी राज्यों को पृथक् रखने के लिए उन्होंने एक नवीन नीति का निर्माण किया। इसके अनुसार बटलर-कमेटी ने प्रतिपादित किया कि देशी राज्यों का सम्बन्ध अँगरेजी सम्राट् (Crown) के साथ है, न कि भारतीय अँगरेजी राज्य के साथ। इस नीति ने भारतवर्ष और देशी राज्यों के बीच 'एक चीन की दीवार' खड़ी कर दी। इसका मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष और देशी राज्य के सम्भावित यूनियन पर कुठाराघात करना था।

देशी राजा तो इस नीति से अवश्य प्रसन्न हुए क्योंकि इसने उनकी निरंकुशता की रक्षा की, परन्तु भारतीय जन-मत को इस राजनीतिक चाल से बड़ा क्षोभ हुआ। अब देशी नरेशों की अनुमति के बिना देशी राज्य किसी भी भारतीय संघ-शासन में सम्मिलित होने के लिए बाध्य न किये जा सकते थे। सन् १९३५ के ऐक्ट की अनेक धाराएँ इसी परिस्थिति के कारण बनाई गई थीं।

स्थिति-परिवर्तन--परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रही। ब्रिटिश भारतवर्ष में उत्तरोत्तर राष्ट्रीय आन्दोलन सबल होता गया। देशी नरेशों ने

यथाशक्ति अपने राज्यों को इस आन्दोलन से दूर रखने की चेष्टा की। इसके लिए उन्होंने बल-प्रयोग भी किया। परन्तु अधिकारों की माँग संक्रामक होती है। वह मनुष्यकृत अथवा, कृत्रिम विभाजनों द्वारा नहीं रोकी जा सकती। शीघ्र ही भारतीय चेतना देशी राज्यों को भी आक्रान्त करने लगी। वहाँ भी उत्तरदायी शासन की माँग होने लगी। अखिल भारतीय स्टेट्स कांग्रेस ने उसे और भी अधिक प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया। इस सार्वजनिक माँग के सम्मुख देशी राज्यों को परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक रूप में झुकना पड़ा। यत्र-तत्र राज्यों में धारा-सभाओं का निर्माण हुआ अथवा परामर्शदाताओं में जनता के प्रतिनिधि रखने की भी व्यवस्था की गई। यद्यपि देशी नरेश अपने निरंकुश अधिकारों को छोड़ना नहीं चाहते थे तथापि यह निश्चित हो गया था कि वायु उनके विरुद्ध चल रही है। अन्त में ब्रिटिश भारतवर्ष में होनेवाली घटनाओं ने सारी परिस्थिति में आमूल परिवर्तन कर दिया।

भारतवर्ष में उत्तरोत्तर बलवती होनेवाली राष्ट्रीय चेतना का वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। स्वतन्त्रता-संग्राम की उग्रता ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतवर्ष में अँगरेजी शासन अधिक दिनों तक नही टिक सकता। अतः देशी राज्यों का भविष्य भी राजनीतिक विचार विनिमय का एक प्रमुख विषय हो गया। यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश भारतवर्ष से अँगरेजी शासन हटने के साथ-साथ वह देशी राज्यों से भी हटेगा। उस समय देशी नरेशों का क्या हो ? क्या स्वतन्त्र रहें अथवा भारतीय संघ में सम्मिलित हों। ये प्रश्न शीघ्र ही भारतीय राजनीतिक दृष्टिकोण के सम्मुख उपस्थित हो गये।

भारतीय राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए जब कैबिनेट मिशन (Cabinet Mission) भारतवर्ष आया तो उसने देशी राज्यों के प्रश्न को भी विचारार्थ लिया। अपनी घोषणाओं में उसने यह स्पष्ट कर दिया कि अँगरेजों के जाने के पश्चात् उनकी सर्वोच्च सत्ता (Paramount Power) देशी राज्यों को न दी जा सकेगी। अतः भारतवर्ष में उनके स्वतन्त्र रहने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उन्हें तो भारतीय संघ में सम्मिलित होना ही होगा। हाँ, सम्मिलन किन शर्तों पर हो, यह भारतीय संघ और देशी राज्य के पारस्परिक विचार-विनिमय पर निर्भर होगा। स्थूल रूप से विदेशी नीति

संरक्षा, यातायात के प्रश्न संघ के अधीन होंगे और अन्य विषयों में देशी राज्य स्वतन्त्र होंगे। इस प्रकार अँगरेजों ने सम्पूर्ण परिस्थिति को स्पष्ट कर दिया। २० फरवरी, सन् १९४७ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने भी इसी आशय की घोषणा की।

अन्त में जब ३ जून सन १९४७ को विभाजन की योजना प्रकाशित की गई तो उसने भी उपर्युक्त नीति का ही अवलम्बन लिया। उसने भी भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखते हुए देशी राज्यों को दो में से किसी एक डोमीनियन में सम्मिलित होने की सम्मति दी।

अन्त में १५ अगस्त, सन् १९४७ को भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्रदान की गई। उस अवसर पर भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट (Indian Independence Act) ने स्पष्ट कर दिया कि आज अँगरेजी शासन और देशी राज्यों के साथ की गई सम्पूर्ण प्राचीन सन्धियों का अन्त होता है। यद्यपि अब देशी राज्य अपना भविष्य निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र हैं, परन्तु उन्हें एक-न-एक डोमीनियन में सम्मिलित होना चाहिए। इस प्रकार इस ऐक्ट ने स्पष्ट कर दिया कि देशी राज्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व अव्यवहार्य है। उन्हें पाकिस्तान अथवा भारतवर्ष में सम्मिलित होना ही पड़ेगा।

स्टेटस डिपार्टमेन्ट—स्वतन्त्र होने के पश्चात् ५ जुलाई, सन् १९४७ को भारतीय सरकार ने देशी राज्यों के लिए एक विभाग (States Department) स्थापित किया। दोनों डोमीनियन सरकारों ने विचार-विनिमय के पश्चात् देशी राज्यों से सम्पर्क स्थापित किया। अनेक देशी राज्य सम्मिलन-सन्धि (Instrument of Accession) के अनुसार भारतवर्ष में सम्मिलित हो गये। कुछ राज्य तत्काल सम्मिलित न हुए और वार्ताविधि तक उन्होंने भारतीय सरकार के साथ एक समझौता (Stand still Agreement) कर लिया। धीरे-धीरे देशी राज्यों ने भारतीय विधान-परिषद् में अपने प्रतिनिधि भेजना स्वीकार किया। इनमें कोचीन-बड़ौदा, पटियाला, जयपुर, ग्वालियर, बीकानेर, जोधपुर और रीवाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

परन्तु इसी समय ट्रावनकोर, हैदराबाद और काश्मीर ने भारतीय संघ

ना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया।
शी नरेश दो दलों में विभक्त हो गये---एक वे जो संघ में सम्मिलित
क्ष में थे और दूसरे वे जो स्वतन्त्र रहना चाहते थे। इस मतभेद के
-स्वरूप ५ जून, सन् १९४७ को नरेन्द्र-मण्डल भंग कर दिया गया।
काल की प्रगति से भयभीत होकर अन्त में ट्रावन्कोर भी संघ में
म्मलित हो गया।

केवल दो राज्य---काश्मीर और हैदराबाद---ऐसे थे जिन्होंने भारतीय सरकार को विशेष व्यग्र किया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काश्मीर की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वह भारतवर्ष, पाकिस्तान और रूस की सीमा पर स्थित है। अतः भारत-सरकार और पाकिस्तान सरकार दोनों ही उसे अपने राज्य के अन्तर्गत करना चाहती थीं। परन्तु काश्मीर राज्य में शेख अब्दुल्ला की नेशनल मुस्लिम कान्फरेंस जिन्ना की साम्प्रदायिक नीति की कट्टर विरोधी थी। मुस्लिम-बहुमत काश्मीर पर उसी का प्रभाव था। अतः पाकिस्तान को जब वैधानिक रूप से काश्मीर-प्राप्ति की आशा न रही तो उसने बल-प्रयोग करना चाहा। उसकी सेनाओं ने २२ अक्टूबर, सन् १९४७ को काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। भयभीत होकर काश्मीर नरेश भारतीय संघ में सम्मिलित हो गया और उससे सैनिक सहायता माँगी। अपने अधीनस्थ राज्य की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझकर भारतीय सरकार ने शीघ्र ही अपनी सेनाएँ काश्मीर भेजीं। इस प्रकार दोनों देशों में अघोषित युद्ध होने लगा। इस युद्ध के अवश्यंभावी दुष्परिणामों को समझकर भारत-सरकार ने काश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख उपस्थित किया। उसकी सम्मति के अनुसार दोनों देशों ने काश्मीर में युद्ध करना तो बन्द कर दिया है, परन्तु अभी कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है। इस समय भारत-अधिकृत काश्मीर में बख्शी गुलाम-मुहम्मद की जनतन्त्रात्मक सरकार काम कर रही है। काश्मीर ने अपने प्रतिनिधियों को भारतीय विधान-परिषद् में भी भेजा है।

इसी प्रकार हैदराबाद का प्रश्न भी जटिल हो गया। वह भारतवर्ष में सम्मिलित न हुआ। भारतीय सरकार ने समझौते का यथाशक्ति प्रयत्न किया, परन्तु उसका कोई परिणाम न हुआ। वहाँ का निजाम वास्तव में रजाकार नामक

साम्प्रदायिक संस्था के हाथ की कठपुतली हो गया था। रजाव कासिम रिजवी नामक व्यक्ति ही हैदराबाद का वास्तविक शासव अपनी साम्प्रदायिक नीति से जनता का उत्पीड़न करना प्रारम्भ कि साम्प्रदायिकता ने चारों ओर हत्या, अग्निकाण्ड और बलात्कार करन किया। अन्त में विवश होकर भारतवर्ष को नागरिक अधिकारों की लिए सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। १३ सितम्बर, सन् १९४८ को भार सेनाओं ने चार दिशाओं से हैदराबाद पर आक्रमण किया। ४ दिन के पश्चात् हैदराबाद ने हथियार डाल दिये और १७ सितम्बर सन् १९४८ को आत्म-समर्पण कर दिया। तत्पश्चात् वहाँ पर मेजर-जनरल चौधरी की अध्यक्षता में सैनिक शासन कायम हुआ। इस शासन ने साम्प्रदायिकता और साम्यवाद की बर्बरता से नागरिकों की रक्षा की और राज्य में व्यवस्था स्थापित की। अब हैदराबाद में उत्तरदायी शासन स्थापित हो गया है।

इस प्रकार समस्त देशी राज्यों को संघ के अन्तर्गत करने के पश्चात् स्टेट्स-विभाग ने उनकी शासन-व्यवस्था का प्रबन्ध करना प्रारम्भ किया। इस दिशा में भारतवर्ष के गृहमंत्री एवं उप-प्रधान मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपूर्व कार्यकुशलता प्रदर्शित की। उनकी प्रेरणा, निर्णयकारिता एवं परिश्रम-शीलता के परिणाम-स्वरूप अनेक राज्यों ने भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखते हुए आपस में अनेक संघों का निर्माण कर लिया है। इन संघों का सर्वप्रधान राजप्रमुख कहलाता है। जो उस संघ में सम्मिलित सर्वप्रमुख राज्य का नरेश होता है। इस नवीन प्रणाली के अन्तर्गत राज्यों में धारा-सभाओं का निर्माण भी हो गया है और उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की व्यवस्था की जा रही है। अनेक ऐसे छोटे राज्य भी थे जिनका कोई संघ नहीं बन सकता था। अतः वे निकटस्थ प्रान्त से मिला दिये गये। उत्तर प्रदेश के तीनों राज्यों का यही हाल हुआ। कुछ ऐसे भी थे जिनका शासन केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार देशी राज्यों की समस्या बड़ी सफलतापूर्वक हल की गई। वास्तव में हम यदि इसे 'रक्तहीन क्रान्ति' कहें तो अनुचित न होगा।

अध्याय ३६

सीमा-नीति

(१६००—४७)

अग्रगामी नीति के परिणाम—लार्ड एलगिन पठान दलों को अँगरेजी सरकार के अधीनस्थ करना चाहता था परन्तु देश पर अधिकार करने की उसकी इच्छा न थी। सन् १८९० में देराइस्माइल खाँ के डिप्टी कमिश्नर ब्रूस (Bruce) ने महसूदों को रोकने के लिए एक फौजी चौकी बनाने का प्रस्ताव किया। इसके बाद फिर उसने एक फौजी स्टेशन वाना में बनाने का अनुरोध किया। ब्रूस की धारणा थी कि वजीरिस्तान को शान्त करना बहुत आवश्यक है। इसी लिए उसने कहा कि सारे इलाके में गोमल से कुर्रम तक सड़कें और मार्ग बन जाने चाहिएँ। लार्ड एलगिन की राय थी कि ऐसी चौकी बनाई जायँ जिनके द्वारा भली भाँति रक्षा हो सके। इस बात में लार्ड एलगिन की कौंसिल उसके साथ सहमत न थी। परन्तु भारत-सचिव ने भारत-सरकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि चारों ओर विद्रोह खड़ा हो गया। पहले महसूदों ने अँगरेजी सीमा-कमीशन के डेरे पर छापा मारा जिसके लिए उन्हें दण्ड दिया गया। अठारह मास के अन्दर टोची के उत्तर भाग में जितने दल थे सबने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। मुल्लाओं ने लोगों को खूब भड़काया। मोहमंदों ने भी विद्रोह किया और ओरकजाई और अफरीदियों ने खैबर के किलों पर अधिकार कर लिया। इन विद्रोहों के दो कारण थे—एक तो अग्रगामी नीति, दूसरे धार्मिक कट्टरता। यह भी असत्य नहीं है कि अफगानिस्तान का अमीर अब्दुर्रहमान भी इस नीति से सशंकित हो गया था। सन् १८९७ में कट्टरता ऐसी फैली कि अनेक स्थानों में उपद्रव हुए। इन उपद्रवों का कारण लार्ड लैन्सडाउन और लार्ड एलगिन की नीति भी थी।
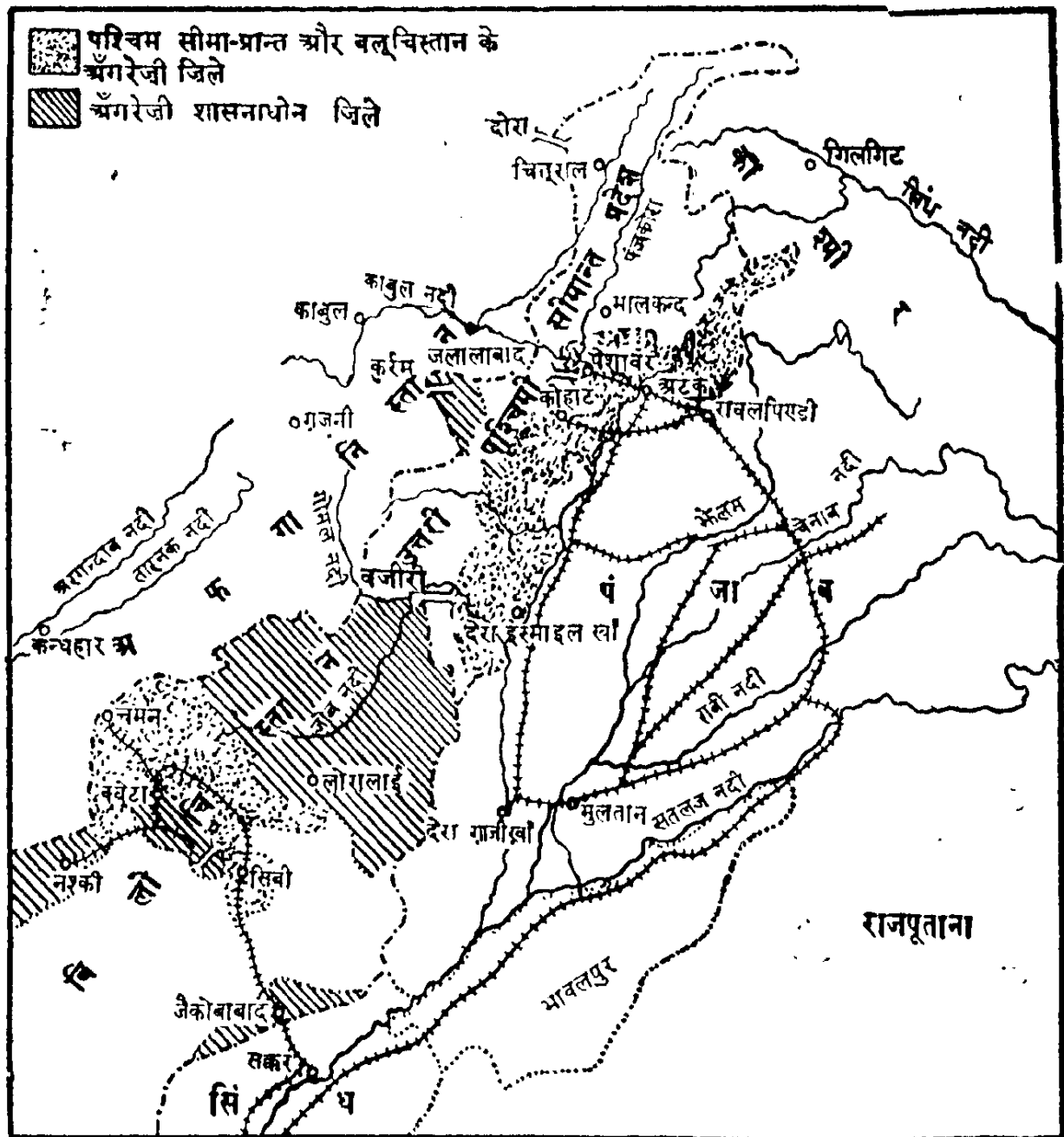
सीमा-प्रदेश निवासी पठान इस अग्रगामी नीति से भयभीत हुआ। स्थान-स्थान पर किले बन गये जिनमें अँगरेजी सैनिक रक्षा के हेतु नियुक्त किये गये। सड़कें बनाई गईं। सीमा-स्तम्भ जगह-जगह पर खड़े किये गये और लोगों को स्मरण दिलाने लगे कि तुम्हारी स्वाधीनता का अन्त हो गया। अग्रगामी नीति का परिणाम भयंकर हुआ। डेविस लिखता है कि मेरी सम्मति में १८९७ के उपद्रवों का मुख्य कारण पठान इलाके में अँगरेजों का सैनिक प्रवेश था और वहाँ के निवासियों को यह बात पसन्द न थी कि अँगरेजों का प्रभाव उनके भू-भाग में बढ़े।

जिस समय लार्ड कर्जन भारत में आया बहुत से दलों को दण्ड दिया जा चुका था। उपद्रव भी शान्त हो गये थे। सीमा पर शान्ति दिखाई देती थी परन्तु वास्तव में सारे प्रदेश में असन्तोष था। खैबर के अफरीदी अपना भत्ता माँग रहे थे। अँगरेजी सैनिक किलों में पड़े हुए थे। जो थाने बनाये गये वे सब खतरे में थे और उन्हें सुरक्षित रखना कठिन हो गया था। सरकार ने जिस नीति का अनुशीलन किया उसके दुष्परिणाम दिखाई दे रहे थे। सन् १८९८ में भारत-सचिव लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने सीमा-नीति को निर्दिष्ट करने के लिए कई प्रस्ताव किये जिनमें से मुख्य तीन थे--(१) फिरकों (Tribes) के लाके से दूर रहना; (२) अच्छी सेना एकत्रित करना; (३) खैबर की रक्षा करना जिससे यातायात की पूर्ण सुविधा रहे। ये प्रस्ताव स्वीकृत हुए और अब अग्रगामी नीति की जगह हस्तक्षेप करने की नीति का आदेश किया गया।

लार्ड कर्जन ने पेशावर में एक दरबार किया जिसमें बहुत से खान और सरदार एकत्रित हुए। वायसराय ने उन्हें आश्वासन दिया कि हम धर्म एवं स्वाधीनता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहते और हमारा विचार रुपया देने का है यदि मार्ग और दर्रे खुले रक्खे जायँगे और जिन लोगों ने अपराध किये हैं वे दण्डित किये जायँगे।

लार्ड कर्जन की सीमा-नीति--लार्ड कर्जन ने सीमा-नीति के पालन में भारत-मंत्री हैमिल्टन (Hamilton) के आदेशों और सिद्धान्तों को अपनाया था। उन्नीसवीं शताब्दी में अँगरेज शासकों की अग्रगामी (Forward Policy) नीति के कारण सीमाप्रान्त की अवस्था अशान्तिमय हो गई थी।

सीमा-नीति के अपनाने में लार्ड कर्जन ने मध्यम मार्ग ग्रहण किया। वह अँगरेजी राज्य की सीमा को चितराल के आगे नहीं बढ़ाना चाहता था। वह केवल चितराल पर ही पूर्ण आधिपत्य कर साम्राज्यवादी नींव को स्थायी बनाने के पक्ष में था।

सीमा-प्रान्तों की नीति के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन की नीति दो सिद्धान्तों पर आश्रित थी। प्रथम सीमा-प्रान्तों की रक्षा करना और शासन को सुचारु रूप से संगठित कर, उसकी एक इकाई बनाना, द्वितीय, वह उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त (North-West Frontier) की स्थापना कर, सीधे उसे भारत-सरकार के शासन के अन्तर्गत लाना चाहता था।

अपनी इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए, कर्जन ने आते ही, अँगरेजी फौजों को चितराल के आगे के स्थानों से हटा दिया। पहाड़ी प्रदेश की रक्षा के लिए उसने उसी प्रदेश के मनुष्यों की एक सेना का संगठन किया। इस सेना की रक्षा तथा सहायता के लिए उसने समीपवर्ती अँगरेजी राज्य की सीमा के अन्तर्गत अँगरेजी फौज को स्थापित किया। साथ ही उसने फौजों के यातायात के साधनों का भी सुधार किया। वास्तव में लार्ड कर्जन की यह नीति सिन्ध में अपनाई गई मेजर सैन्डीमन (Sandeman) की नीति के समान ही थी। सीमा-प्रान्त के लोगों को सेना में भर्ती करने से उनकी आर्थिक दशा का सुधार हुआ। अँगरेजी राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति भी बढ़ गई।

सन् १९०४ तक लार्ड कर्जन की सीमा-नीति पूर्ण रूप से कार्यान्वित हो गई थी। अँगरेजी फौजों को हटा कर उसी प्रदेश के मनुष्यों की सेना का संगठन हो गया था। बड़ी रेलवे लाइन द्वारा नौशेरा और दुरगाई, पेशावर और जमरूद को मिला दिया गया था। बन्नू और देरा इस्माइल खाँ में अस्थायी फौजी दस्तों को स्थापित कर दिया था। इसी समय क्वेटा-नुश्की रेलवे की योजना तैयार हुई जो सन् १९०५ में पूरी हुई। इस प्रकार लार्ड कर्जन ने सीमा-प्रान्त में शान्ति स्थापित की जो उसकी नीति की सफलता की द्योतक है।

पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त की स्थापना—सन् १८९८ में भारत मंत्री ने लिखा था कि "सम्राट् की सरकार की राय में सीमा-प्रान्त का तात्कालिक प्रबन्ध सन्तोषप्रद नहीं है। इसलिए पंजाब के सीमावर्ती प्रदेश की जातियों से

सरकार का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जाय, ताकि वे जातियाँ भारत सरकार के नियंत्रण और संरक्षता में आ जायँ।"

अभी तक इन सीमा-स्थित प्रदेशों का शासन पंजाब-सरकार द्वारा ही चलता था। परन्तु अब सरकार को एक भिन्न सीमा-प्रान्त की स्थापना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे सम्पूर्ण अँगरेजी राज्य की रक्षा हो सके। भिन्न सीमा-प्रान्त बनाने की योजना नई नहीं थी। इसके पूर्व बार्टल फ्रेरे (Bartle Frere) लार्ड रोबर्ट्स (Lord Roberts) सैन्डीमन (Sandeman) लिटन (Lytton) आदि व्यक्ति इस पर विचार कर चुके थे। किन्तु इस योजना को साकार रूप देने का श्रेय लार्ड कर्जन को ही है; क्योंकि उसकी दृष्टि में सीमा-प्रान्त की स्थापना "साम्राज्यवादी इमारत की मेहराब का बुनियादी पत्थर था।" अपनी इस नीति का अनुसरण करते हुए उसने भिन्न सीमा-प्रान्त की स्थापना की, जिसका शासन-प्रबन्ध भारत-सरकार द्वारा नियुक्त चीफ कमिश्नर के सुपुर्द कर दिया गया। रेवेन्यू और जुडीशल कमिश्नर, शासन-प्रबन्ध के चीफ कमिश्नर की सहायता के लिए नियुक्त किये गये।

यह नया प्रान्त पाँच जिलों को मिलाकर बनाया गया था। ये थे हजारा, पेशावर, कोहाट, बन्नू व देराइस्माइल खाँ।

इस नये प्रान्त की स्थापना होने में चार प्रकार की आपत्तियाँ थीं।

(१) मालगुजारी-प्रणाली (Revenue System) का अस्त-व्यस्त हो जाना।

(२) प्रादेशिक-प्रबन्ध की नये सिरे से व्यवस्था करने की आवश्यकता होना।

(३) पंजाब-सरकार के अफसरों को शासन-सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण करने से वंचित करना।

(४) अग्रगामी नीति (Forward Policy) को जिसके कारण सीमावर्ती प्रदेशों में अशान्ति उत्पन्न हुई थी, प्रोत्साहन मिलना।

लार्ड कर्जन ने इस नीति के आलोचकों को मुँहतोड़ उत्तर देकर शान्त कर दिया।

इसके पश्चात् सन् १९०५ में फारस की आन्तरिक दशा अस्त-व्यस्त हो गई। रूस पुनः फारस की खाड़ी पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए कटिबद्ध हुआ परन्तु इँगलैंड और रूस दोनों ने मिल-जुलकर सन् १९०७ के सम्मेलन में अपने अपने प्रभाव-क्षेत्र निश्चित कर लिये। इस प्रकार फारस, अँगरेजी प्रभाव-क्षेत्र, रूस-प्रभाव-क्षेत्र और तटस्थ-क्षेत्र तीन भागों में विभाजित हो गया। इसके साथ ही प्रत्येक देश ने यह प्रतिज्ञा की कि वह अपने प्रभाव-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभाव-क्षेत्र की सीमा में अपने देश की उन्नति के लिए व्यापारिक, राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अनुचित उपायों को ग्रहण नहीं करेंगे। इस अनुबन्ध के अधीन फारस का दक्षिणी-पूर्वी भाग इँगलैंड के अधिकार में, और फारस का समस्त उत्तरी प्रदेश रूस के अधिकार में चला गया।

भारत की वैदेशिक नीति—विश्व की आधुनिक राज्य-व्यवस्था में भारत की विदेशी नीति मूलतः व प्रधानता अपने हितों की रक्षा तथा उनकी वृद्धि की दृष्टि से ही निर्धारित होनी चाहिए। यद्यपि वह विश्व में सुरक्षा और शान्ति स्थापित करने के लिए पूर्ण सहयोग दे रहा है, किन्तु इस नीति के अपनाने में हमें अपने मूल-भूत हितों को जो सर्वोपरि है, नहीं भूलना चाहिए। भारत की विदेशी नीति की सफलता उसके नैतिक तथा भौतिक दृष्टिकोण पर निर्भर है। यही भारत का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहेगा, जो उसकी सैनिक प्रभुता और औद्योगिक तथा आर्थिक विकास का द्योतक है। हमें विश्व के किसी राष्ट्र के प्रति द्वेष, घृणा और ईर्ष्या नहीं है, किन्तु हम विश्व-शान्ति की वृद्धि के लिए अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करने को सदैव तैयार हैं। इँगलैंड का भारत के साथ प्राचीन सम्बन्ध है। इसीलिए पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र राष्ट्र-संघ (Commonwealth of Nations) में सम्मिलित होना स्वीकार किया है। इस नीति का विरोध भी हुआ है। परन्तु वास्तव में ऐसा नही प्रतीत होता कि यह हेल-मेल भारतीय हितों के लिए अनिष्टकारी होगा।

संसार इस समय दो भागों में विभक्त है—एक भाग में अमेरिका और इँगलैंड शक्तिशाली राष्ट्र हैं, दूसरे में रूस का प्रभुत्व है। दोनों में पारस्परिक संघर्ष है। दोनों में सिद्धान्त रूप से भी महान् भेद है। भारत किसी भी भाग में सम्मिलित नहीं होना चाहता, वह सबसे मेल रखना चाहता है। उसके सिद्धान्त हैं, सत्य,

अहिंसा, सहिष्णुता। अपनी परराष्ट्र-नीति में भी भारत इन्हीं सिद्धान्तों का अनुशीलन करना चाहता है। पाकिस्तान से भी वह झगड़ा नहीं करना चाहता। प्रधान मंत्री ने कई बार कहा है कि हम झगड़ों का न्यायपूर्वक निर्णय कराना चाहते हैं। न हम किसी के साथ अन्याय करना चाहते है न किसी की जबर्दस्ती को सहन कर सकते हैं। अन्य देशों के साथ भी भारत का यही बर्त्ताव है। इण्डोनेशिया, इण्डोचीन आदि देशों के स्वतंत्रता-संग्राम के प्रति हमारा दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण रहा है। समय प्रगतिशील है। कोई नहीं कह सकता भविष्य में क्या होगा। परन्तु इतना अवश्य है कि भारत किसी की अधीनता स्वीकार न करेगा, न अपनी परराष्ट्र-नीति में पराश्रित होगा और न किसी का पिछलग्गू बनकर कार्य करेगा।

अध्यय ३७

आर्थिक जीवन

रेल यातायात--भारतीय रेलों का इतिहास सन् १८५३ से आरंभ होता है। उस वर्ष जी० आई० पी० रेलवे कम्पनी ने थाना और बम्बई के बीच में देश की सबसे पहली रेलवे लाइन खोली। अगले वर्ष, १८५४ में, ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी ने कलकत्ते से केवल ३७ मील दूर तक रेल यातायात आरंभ किया। सन् १८५६ में म ास से अर्काट तक रेलवे लाइन खोली गई। लगभग एक शताब्दी के बाद, आज समस्त भारतीय रेलगाड़ी की लम्बाई ४२,००० मील है।

आरंभ में रेलवे यातायात की व्यवस्था प्राइवेट कम्पनियों के हाथों में थी। भारतीय रेलमार्ग उन्हीं कम्पनियों की सम्पत्ति थे। इसका कारण यह था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी, जिसके हाथों में उस समय भारतीय शासन की बागडोर थी, उस दायित्व को स्वयं लेने के लि े तैया र नहीं थी। किन्तु तत्कालीन भारतीय सरकार इँगलैंड के व्यापारिक हितों के कारण रेल यातायात के पक्ष म थी। अस्तु उसने ब्रिटिश व्यापारिक कम्पनियों को इस दिशा में प्रोत्साहन दिया। भारतीय सरकार ने उन कम्पनियों को लगी हुई पूँजी पर ५ प्रतिशत ल भांश की प्रत्याभूति दी। इसका परिणाम यह हुआ कि रेलवे कम्पनियों ने पटरियाँ बिछाने, व्यवस्था और सचालन करने में मितव्ययिता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार बहुत वर्षों तक रेलवे कम्पनियों को नियत लाभांश की दृष्टि से घाटा रहा। सरकार ने अपने आश्वासनों के अनुसार, उस कमी भारतीय राजस्व से पूरा किया। भारत-सरकार की इस नीति के कारण भारत की निर्धन जनता को अनावश्यक रूप से यह आर्थिक भार उठाना पड़ा। दूसरी ओर रेलवे कम्पनियों का लाभांश तो सुरक्षित था ही, अतः उन्होंने यात्रियों की सुविधाओं की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है भारत में रेलमार्गों को खोलने का उद्देश्य ब्रिटिश व्यापारिक

हितों को प्रोत्साहन देना था। रेल यातायात ने इँगलैंड में मशीनों से बने हुए माल को भारतीय बाजारों तक पहुँचाने में सहायता दी और दूसरी ओर कच्चे माल को देश के भीतरी भागों से बन्दरगाहों तक पहुँचाया। इस रूप में रेलों ने पुराने भारतीय धंधों को नष्ट करने में सहायता दी। हाथ का बना हुआ माल, विदेशी मशीनों के माल से महँगा पड़ता था। जब रेलों के माध्यम से सस्ता विदेशी माल स्थान-स्थान पर पहुँचने लगा तो देशी माल उसके सामने टिक न सका। फलतः कृषि का भार बढ़ा और इस प्रकार रेलों ने देश की निर्धनता बढ़ाने में योग दिया और दूसरी ओर देश से धन-निकास में सहायता दी।

निष्पक्ष ऐतिहासिक विवेचन के लिए यह कहना अनिवार्य है कि रेलों के संबंध में सरकारी दृष्टिकोण चाहे जो रहा हो किन्तु उससे देश को परोक्ष रूप से कई लाभ हुए। रेलों के कारण भारत के विभिन्न प्रदेशवासी एक दूसरे के अधिक निकट आये, देश देश में राजनीतिक ऐक्य की अनुभूति हुई और अखिल भारतीय कांग्रेस का संगठन करना संभव हुआ। दुर्भिक्ष के दिनों में रेलों ने पीड़ित स्थानों के लिए खाद्य-पदार्थों को शीघ्रता से पहुँचाने में सहायता दी। इसके अतिरिक्त, बाद में जब देश उद्योगीकरण की ओर अग्रसर हुआ तो उसे रेलवे यातायात का अभाव बहुत नहीं खला।

इस समय भारत का सारा रेलवे यातायात भारत-सरकार के नियंत्रण में है। प्राइवेट कम्पनियों से रेलवे व्यवस्था को अपने नियंत्रण में लेने की सरकारी नीति सन् १८८० में आरंभ हुई। उस वर्ष भारत-सरकार ने ईस्ट इंडियन रेलवे को अपने अधिकार में ले लिया। सन् १८८४ में ईस्टर्न बंगाल रेलवे, सरकार के नियंत्रण में आ गई। यही क्रम बराबर चलता रहा और अब रेलें राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। यात्रा में सुविधाओं की दृष्टि से भारतीय रेलें बहुत पिछड़ी हुई हैं। देश के क्षेत्रफल को देखते हुए भारतीय रेलमार्गों की लम्बाई बहुत कम है। इसके अतिरिक्त रेलवे इंजनों के लिए भारतवर्ष को विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। राष्ट्रीय सरकार ने इस दिशा में पग बढ़ाया है। एक कारखाना सरकार ने स्वयं खोला है और दूसरा कारखाना जमशेदपुर में टाटा कम्पनी के अन्तर्गत खोला गया है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में भारत इस दिशा में अपनी आवश्यकता स्वयं ही पूरी कर सकेगा।

सड़कें—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में पक्की सड़कों का विस्तार लगभग नगण्य था। लार्ड विलियम बेंटिक ने उत्तर भारत में सड़क-व्यवस्था सुधारने का कुछ प्रयत्न अवश्य किया था किन्तु इस दिशा में सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रगति लार्ड डलहौजी के राज्य काल में हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक सड़कों की स्थिति अपेक्षाकृत काफी सुधर चुकी थी। उस समय भारत में पक्की सड़कों की लम्बाई ३७,००० मील और अन्य सड़कों की लम्बाई लगभग १,३६,००० मील थी। अब, आधी शताब्दी बाद (विभाजित) भारत में सभी प्रकार की सड़कों की लम्बाई लगभग २ लाख ३० हजार मील है। इस विस्तार में ३६ प्रतिशत सड़कें पक्की हैं और शेष ६४ प्रतिशत में से २५ प्रतिशत मोटर चलाने योग्य भी नहीं हैं।

भारत जैसे विस्तृत देश के लिए सड़कों का वर्तमान विस्तार अत्यल्प है। बड़े बड़े नगर एक दूसरे से पक्की सड़कों द्वारा जुड़े हुए हैं; किन्तु देश के भीतरी भाग में पहुँचने के लिए आज के युग में भी अत्यन्त असन्तोषजनक व्यवस्था है। बहुत से ऐसे गाँव तथा छोटे कस्बे हैं जहाँ पहुँचने के लिए रेल अथवा मोटर यातायात का कोई प्रबंध नहीं है। इन स्थानों में बोझ ढोने के लिए मजदूरों, जानवरों अथवा बैलगाड़ियों का उपयोग किया जाता है। आज भी उन स्थानों में पैदल चलकर अथवा बैलगाड़ियों की सहायता से ही पहुँचा जा सकता है। वर्षा काल में ये मार्ग भी दुर्गम हो जाते हैं।

प्रथम महायुद्ध से पहले देश में मोटर यातायात बहुत सीमित और पिछड़ा हुआ था। उसके बाद अपेक्षाकृत काफी वृद्धि हुई है। यात्रियों के लिए मोटर बस लारियों का उपयोग अधिकाधिक होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त माल ढोने के लिए मोटर ट्रक का उपयोग भी द्रुत गति से बढ़ रहा है। बहुत से स्थानों में मोटर यातायात रेलवे यातायात की बराबरी कर रहा है। इधर, भारत के कुछ राज्यों ने मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई है। मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश ने इस नीति को क्रमशः व्यवहार में लाना भी आरंभ कर दिया है।

सड़कों के विस्तार के सम्बन्ध में अँगरेजी सरकार की नीति साधारणतया उपेक्षापूर्ण थी। सरकारी योजनाओं में उसका स्थान लगभग अन्तिम होता

था। इसके अतिरिक्त मोटर यातायात को प्रोत्साहन देन से रेलों पर प्रति-कूल प्रभाव पड़ने का डर था। किन्तु देश के बहुत से भाग ऐसे भी थे जहाँ रेल और मोटर की प्रतियोगिता का कोई प्रश्न नहीं था और यातायात के दोनों साधन एक दूसरे के सहायक हो सकते थे। फिर भी इस दिशा में कुछ कागजी योजनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया गया। राष्ट्रीय सरकार इस ओर यत्नशील है किन्तु अर्थाभाव के कारण इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई। अस्तु, देश का बहुत बड़ा भाग अब भी मोटर यातायात की सुविधा और लाभ से वंचित है और वह यातायात के मध्यकालीन साधनों से ही अपना काम चला रहा है।

नौवहन (Navigation)--उत्तर भारत के समतल मैदानों में बहनेवाली बड़ी बड़ी नदियाँ और नहरें नौवहन के उपयुक्त अवश्य रही हैं किन्तु उनके यातायात को उन्नत करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया।

सन १८२८ में, पहली बार, लार्ड विलियम बेंटिक ने गंगा नदी में स्टीमर यातायात की व्यवस्था की। इसके बाद कलकत्ते और इलाहाबाद के बीच में यात्री और माल ढोने के लिए स्टीमरों को काम में लाया गया। पुराने ढंग की नावों की तुलना में स्टीमर व्यवस्था सुविधाजनक और तेज थी। उनके कारण महीनों की यात्रा सप्ताहों में पूरी होने लगी। किन्तु खर्चीली और धीमी होने के कारण व्यवस्था रेल और मोटर यातायात के युग में टिक न सकी और कालान्तर में समाप्त हो गई।

सिंधु और ब्रह्मपुत्र नदियों में भी नौवहन के लिए स्टीमरों का उपयोग किया गया किन्तु गंगा नदी की भाँति सिंधु में भी नियमित नौवहन की व्यवस्थ चल नहीं सकी। ब्रह्मपुत्र के नौवहन को रेलों की प्रतियोगिता का सामन नहीं करना पड़ा और वहाँ की स्टीमर-व्यवस्था बराबर चलती रही। ब्रह्मपु में समुद्र से ८०० मील दूर दिब्रूगढ़ तक स्टीमर जा सकते हैं। अस्तु याता यात के अन्य साधनों की पिछड़ी हुई दशा में ब्रह्मपुत्र की स्टीमर व्यवस्थ ने आसाम प्रदेश की आर्थिक प्रगति में विशेष सहायता दी।

डाक, तार और टेलीफोन--उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यातायात साधनों की भांति डाक व्यवस्था की भी दुर्दशा थी। साधारणतया डाक

जानेवालों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल जाना होता था। जहाँ संभव था, वहाँ घोड़ागाड़ियों से काम लिया जाता था। एक निश्चित दूरी के बाद, वाहक नौकर और घोड़े बदल दिये जाते थे। किन्तु घोड़ागाड़ियों का उपयोग भी कुछ गिने चुने स्थानों के बीच में ही होता था। वर्षा-काल में वह भी असभव हो जाता था। इन्हीं कठिनाइयों के कारण प्रत्येक प्रेसीडेन्सी की अपनी पृथक् डाक व्यवस्था थी। डाकखानों की संख्या बहुत थोड़ी थी। सन् १८३६ में सारे भारतवर्ष में कुल २७६ डाकखाने थे। कलकत्ते से बम्बई तक एक पत्र पहुँचने में ११ दिन लगते थे। प्रान्तीय आधार पर संगठन होने के कारण देश में डाक की दर भी एक सी नहीं थी। दूसरी ओर तत्कालीन व्यवस्था के कारण वह दर अनिवार्य रूप से बहुत महँगी थी।

यातायात के साधनों के सुधरने पर डाक व्यवस्था में भी सुधार हुआ। सारे देश के डाकखाने केन्द्रीय नियंत्रण में आ गये। पहले नकद मूल्य लिया जाता था; अब डाक के लिए टिकट व्यवस्था का आरम्भ किया गया। प्रत्येक साधारण पत्र के लिए डाक की दर आधा आना कर दी गई। इसी दर पर वह पत्र देश के किसी भी भाग में भेजा जा सकता था। जैसे-जैसे रेल देश भर में फैलती गई वैसे ही डाक व्यवस्था निश्चित, नियमित और तेज होती गई। डाकखानों ने क्रमशः पार्सल, वी० पी० और मनीआर्डर की सुविधाएं प्रदान कीं। सन् १८६७-६८ में देश में २२०५ डाकखाने थे। सन् १९११-१२ में डाखानों की संख्या बढ़कर लगभग १९,००० हो गई। इस समय डाक की सुविधाएँ देश के सभी भागों और सभी बड़े गाँवों तक को सुलभ हैं। किन्तु जिन स्थानों में रेल और मोटरों की पहुँच नहीं है वहाँ पर डाक पहुँचने में काफी देर लग जाती है। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे गांवों में, जिनकी संख्या लाखों में है, डाकखाने न होने के कारण वहां की जनता उसकी सुविधाओं से वंचित है।

तार (Telegraph) व्यवस्था का आरंभ सन् १८५४ में हुआ। उस र्ष कलकत्ते से आगरे तक टेलीग्राफ लाइन खोली गई। सन् १८६०-६१ तक लीग्राफ लाइन का विस्तार लगभग ११,००० मील हो गया और सारे देश के ारघरों की संख्या १४५ तक पहुँच गई। सन् १९११-१२ में भारत में २,९५८ ारघर थे और ेलीग्राफ लाइन की लम्बाई लगभग ७७,००० मील थी।

इस समय तक तारघरों की संख्या और टेलीग्राफ लाइन की लम्बाई में काफी वृद्धि हो गई है और उससे देश के व्यावसायिक और मामाजिक सम्पर्क में विशेष सुविधा आ गई है। किन्तु भारत जैसे महादेश के लिये अभी इस दिशा में बहुत आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

भारतीय जीवन में टेलीफोन ने डाक और तार के बहुत बाद में प्रवेश किया है। अधिक व्ययपूर्ण होने के कारण साधारण स्थिति के मनुष्यों के लिये स्वयं टेलीफोन रखना संभव नहीं है। इसी कारण उसका विस्तार सरकारी विभागों, उद्योगपतियों और व्यापारियों तक ही सीमित है। बम्बई, कलकत्ता मद्रास, दिल्ली, कानपुर आदि बड़े औद्योगिक तथा व्यावसायिक नगरों में स्थानीय काम के लिए उसका उपयोग व्यापक होता जा रहा है किन्तु भिन्न नगरों के बीच उसका उपयोग साधारणतया सरकारी और व्यापारिक कामों के लिए ही होता है। इस संबंध में यह कहना आवश्यक है कि टेलीफोन की सुविधाओं के कारण भारतीय व्यवसाय के क्षेत्र में उसका विस्तार द्रुतगति से हो रहा है। जहाँ तक भारतीय गाँवों और छोटे नगरों का प्रश्न है, आज भी इस आधुनिक सुविधा से कोसों दूर है।

साहूकार और बैंक—भारत में पश्चिमी ढंग की आधुनिक बैंक-व्यवस्था का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्यकाल में हुआ। उससे पहले सारे देश में वर्तमान बैंकों का काम देश का साहूकार वर्ग करता था। इन साहूकारों को देश के विभिन्न भागों में महाजन, सर्राफ, मारवाड़ी, मुलतानी चेट्टी आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। ये साहूकार लोग स्वयं वाणिज्य-व्यवसाय करते थे और साथ ही आवश्यकता पड़ने पर दूसरों को ऋण देते थे। आपत्ति काल में तत्कालीन सरकार भी बड़े बड़े साहूकारों से आर्थिक सहायता लेती थी। वाणिज्य के प्रमुख केन्द्रों में ये लोग सौदों का भुगतान कराते थे। इन साहूकारों की देश भर में साख थी और उनकी हुंडियों को कहीं भी भुनाया जा सकता था। अठारहवीं शताब्दी में स्वयं ईस्ट इंडिया कम्पनी भी ऋण और भुगतान के लिये भारतीय साहूकारों का आश्रय लेती थी।

आधुनिक बैंकों के अस्तित्व में आ जाने पर भी देश के आर्थिक संगठन में साहूकारों का स्थान महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। बैंकों की सुविधायें सभी जगह और सभी के लिए सुलभ नहीं हैं। अस्तु, आज भी किसानों, कारीगरों और छोटे-छोटे व्यापारियों को अनेक अवसरों पर अपना काम चलाने के लिए अपने गाँव या कस्बे के महाजन की शरण लेनी होती है। इन लोगों की ब्याज की दर मँहगी और अनिश्चित होती है और उसके परिणाम देश की निर्धन जनता के लिए, जो उनकी शरण लेती है, भयंकर सिद्ध हुए हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक आधुनिक बैंकों का जन्म नहीं हुआ था। सन् १८०६ में बैंक आव बंगाल' की स्थापना हुई। सन् १८४० ई० में 'बैंक आव बाम्बे' का जन्म हुआ। सन् १८४३ में मद्रास का प्रेसीडेन्सी बैंक अस्तित्व में आया। सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सियों के बैंकों को मिलाकर एक अखिल भारतीय बैंक बनाया गया जो 'इंपीरियल बैंक आव इंडिया' ने नाम से प्रसिद्ध है। प्रेसीडेंसी बैंकों की भांति इंपीरियल बैंक पर भी सरकारी नियंत्रण बना रहा। सन् १९३५ में 'रिजर्व बैंक' की स्थापना हो जाने पर इम्पीरियल बैंक के सम्बन्ध में सरकारी नियंत्रण कम हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रेसीडेन्सी बैंकों की शाखाये कुछ गिने चुने स्थानों पर ही थीं। उनका संगठन अर्ध-सरकारी था और उन पर अनेक नियंत्रण थे। अस्तु, देश के यूरोपीय और भारतीय व्यापारी वर्ग ने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ज्वाइण्ट स्टाक बैंकों (Joint Stock Banks) की स्थापना की दिशा में पग बढ़ाया। क्रमशः बहुत से बैंकों की स्थापना की गई किन्तु उनमें से अधिकाँश कुछ ही वर्षों में बन्द हो गये। फलतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रमुख ज्वाइण्ट स्टाक बैंकों की परिदत्त पुँजी का कुल परिमाण केवल ८२ लाख रुपया था। किन्तु व्यापार, अनुभव और पूँजी में जैसे-जैसे वृद्धि होती गई, इस दशा में प्रयत्न भी उसी प्रकार बढ़ते ही गये। स्वदेशी आन्दोलन ने भी नये बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। उस समय बहुत से ऐसे बैंकों की स्थापना की गई जिनका आधार खोखला था। फलतः बहुत से बैंक फिर बन्द हो गये। अस्तु, इन बैंकों की वर्तमान स्थिति यह है कि वाणिज्य के साथ ही साथ उनका संगठन उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है। उनकी शाखाओं की संख्या बहुत

बढ़ गई है और व्यापारी वर्ग लेन-देन के काम में उनका अधिकाधिक उपयोग करने की ओर प्रवृत्त हो रहा है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी भारत जैसे विशाल देश के लिए बैंकों का वर्तमान विस्तार अपर्याप्त है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि इस दिशा में केवल ठोस आधार पर ही आगे बढ़ने का प्रयत्न किया जावे।

अन्त में, इस विवरण को समाप्त करने से पहले दो प्रकार के बैंकों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। देश के आयात-निर्यात व्यापार में मुद्रा-विनिमय का काम एक्सचेंज बैंकों के हाथों में है। ये बैंक विदेशी बैंकों की भारतीय शाखाओं के रूप में काम करते हैं। दूसरे प्रकार के वे बैंक है जो सहयोग आन्दोलन की छाया में पनप रहे हैं। सरकार के सहयोग समिति विभाग के अन्तर्गत समिति के सदस्यों की सहायता के लिए, उन्हीं की पूँजी पर इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए समुचित ध्यान दिया जा रहा है।

आधुनिक भारत में कृषि की दशा--आधुनिक युग के आरम्भ में भारत का आर्थिक जीवन बहुत कुछ संतुलित था। देश की जनता कृषि के साथ साथ अनेक प्रकार के उद्योग-धंधों में लगी हुई थी। किन्तु जब विदेशों से मशीनों का बना हुआ सस्ता माल भारतीय बाजारों में आने लगा और स्वदेशी हाथ क बना हुआ माल उसकी बराबरी न कर सका तो भारतीय धंधों का धीरे धीं ह्रास होने लगा। इसकी प्रतिक्रिया कृषि पर हुई और धरती का भार बढ़ने लगा जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यातायात के साधनों में सुधार से भी घरेल उद्योगों के नष्ट होने और कृषि का बोझ बढ़ने में ही सहायता मिली। देश क अँगरेजी सरकार की नीति भी इसी पक्ष में थी कि भारत से इँगलैंड के कारखान को कच्चा माल अधिकाधिक परिमाण में पहुँचे और इँगलैंड का बना हुआ मा भारतीय बाजारों में अधिकाधिक बिके। इस प्रकार सरकारी नीति ने भारतीय जीवन की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति की जान-बूझकर उपेक्षा की खेती के लिए जमीन की माँग बढ़ने लगी। ऐसी दशा में जमीन के लगान बढ़ना स्वाभाविक ही था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो अधिकाधिक जनता खेती की ओर झुकी और दूसरी ओर खेती से निव करना भी कठिन हो गया। देश में गरीबी और बेकारी द्रुतगति से बढ़ने लगी।

उपर्युक्त समस्या को हल करने के दो साधन थे। एक तो यह कि देश में उद्योगीकरण हो और इस प्रकार धरती का भार कम हो और देश का धन-निकास (Economic drain) रुके। दूसरा यह, कि खेती के ढंग में उन्नति की जाय और उत्पादन को बढ़ाया जाय। अँगरेजी सरकार ने अन्त तक भारत के उद्योगीकरण को यथासंभव रोकने का ही प्रयत्न किया। दूसरी ओर कई कारणों से खेती के ढंग में भी उन्नति नहीं की जा सकी। पहला कारण यह था कि भारतीय किसान अशिक्षित था और वह पश्चिमी देशों की वैज्ञानिक पद्धति से अनभिज्ञ रहा। दूसरा कारण यह था कि सरकार ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक स्वयं कृषि को उन्नत करने की दिशा में भी कोई काम नहीं किया। तीसरा कारण यह था कि भारतीय उत्तराधिकार नियमों के कारण हर पीढ़ी में खेतों का विभाजन होता जाता था और विभिन्न स्थानों पर बिखरे हुए खेतों की देख-रेख करना असंभव था। यदि खेत एक चक और बड़े होते तो उन पर आधुनिक यंत्रों का उपयोग किया जा सकता था, किन्तु भारतीय खेतों की स्थिति ही भिन्न थी। अन्तिम कारण यह था कि जो किसान कुछ आगे भी बढ़ना चाहते थे वे अर्थाभाव से दबे हुए थे। सारांश यह है कि विभिन्न कारणों से भारतीय कृषि का पिछड़ापन दूर नहीं किया जा सका। आज भी हमारी कृषि में साधारणतया आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों का कोई उपयोग नहीं होता। अन्य उन्नत देशों का उत्पादन हमारे यहाँ से कई गुना अधिक है। इसके अतिरिक्त जन-संख्या में असाधारण वृद्धि होने के कारण, भारत कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भयंकर खाद्य-संकट का सामना कर रहा है।

कृषि-विभाग और शिक्षा—वैज्ञानिक आधार पर कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न लार्ड कर्जन के राज्य-काल में हुआ। सन् १९०४ में पूसा में कृषि अनुसंधानशाला (Imperial Institute of Agriculture) की स्थापना की गई। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के परिश्रम के फलस्वरूप केन्द्रीय और प्रान्तीय कृषि-विभाग का, जो पिछली दशाब्दियों से निरर्थक रूप में बने हुए थे, सही दिशा में पुनर्संगठन हुआ। क्रमशः कृषि-विज्ञान की शिक्षा के लिए स्कूलों और कालेजों की व्यवस्था की गई। इस समय देश के विभिन्न प्रान्तों में बहुत से कालेजों में कृषि-संबंधी शिक्षा दी जा रही है।

इनमें पूना, कोयम्बटूर, बयटला, नागपुर, कानपुर, और लायलपुर के कृषि-कालेजों की स्थापना और व्यवस्था का श्रेय सरकार को है। कृषि-ज्ञान के प्रसार और प्रचार के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। किन्तु जैसा कि 'आधुनिक भारत में कृषि की दशा' के संबंध में बताया जा चुका है, अभी भारत कृषि के क्षेत्र में बहुत पिछड़ा हुआ है और अधिकाँश कृषक वर्ग पहले की ही भांति विज्ञान की देन से लगभग पूर्णतः अपरिचित हैं।

बन्दोबस्त और लगान––ईस्ट इंडिया कम्पनी को सन् १७६५ में 'दीवानी' का अधिकार मिला। उस समय किसानों का सरकार से सीधा संबंध नहीं था। सरकार और किसानों के बीच में एक तीसरा वर्ग उठ खड़ा हुआ था जो सरकार को मालगुजारी वसूल करके देता था। यह वर्ग जमींदारों का था। आरंभ में तो मालगुजारी वसूल करने का अधिकार नीलाम किया जाता था किन्तु तत्कालीन दुर्व्यवस्था में जमींदारों को मालगुजारी वसूल करने के काम के लिए पैतृक अधिकार दे दिया गया। ये लोग किसानों से मनमानी लगान लेते थे और उसे बड़ी कठोरता मे वसूल करते थे। सन् १७९३ में लार्ड कार्नवालिस की सरकार ने भारतीय भूमि-व्यवस्था की दिशा में पग बढ़ाया। सरकार ने इँगलैंड के आधार पर बंगाल, बिहार, उत्तरी मद्रास और यू० पी० के कुछ जिलों में स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था की। बाद में सरकार ने भारत के अन्य भागों में उस व्यवस्था को अपनाना वाँछनीय नहीं समझा। उस समय से सारे देश में यही दो प्रकार की भूमि-व्यवस्थाएँ चली आ रही हैं। इसी संदर्भ में यह कहना आवश्यक है कि सरकारी बन्दोबस्त में खेत जोतनेवाले किसानों की स्थिति और सुरक्षा का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। फलतः वे लोग कष्ट पाते रहे। कालान्तर में सरकार उनके परिवारों और उनकी समस्याओं की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य हुई और उसने भूमि पर उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए तथा उनके लगान को निश्चित करने के लिए विभिन्न कानून बनाये। इस प्रकार वर्तमान स्थिति यह है कि अस्थायी बन्दोबस्त के जिलों में एक एक करके हर ३० वर्ष बाद जिले की आर्थिक जाँच होती है और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार लगान और मालगुजारी का निश्चय कर दिया जाता है।

दुर्भिक्ष––भारत में कृषि, वर्षा पर निर्भर रहती है। वर्षा के अभाव में देश

को दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ता है। भारतीय इतिहास के सभी युगों में दुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ है किन्तु आधुनिक भारत के दुर्भिक्षों में उनका अत्यन्त भयंकर रूप सामने आया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है विभिन्न कारणों से भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग अपनी आजीविका के लिए खेती पर निर्भर हो गया था। अस्तु, वर्षा के अभाव में किसान और खेतों के मजदूर बेकार हो जाते थे। उनकी आय का साधन समाप्त हो जाता था। अच्छे वर्षों म भी खेती से उनका निर्वाह कठिनाई से होता था। अतः पीड़ित लोगों के पास आश्रय लेने के लिए पिछला बचा हुआ धन अथवा अन्न भी नहीं होता था। इस प्रकार, अन्य स्थानों से अन्न का प्रबंध होने पर भी वे उसे खरीद नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त दुर्भिक्ष से केवल मनुष्यों पर ही प्रभाव नहीं पड़ता था वरन् पशुओं पर भी उसका प्रकोप होता था। फलतः प्रत्येक दुर्भिक्ष में लाखों आदमी और लाखों जानवर मर जाते थे। सन् १७७० में बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा, सन् १७८६ में पंजाब में उसका प्रकोप हुआ और सन् १८३७-३८ में पश्चिमी यू० पी० को उसका आघात सहना पड़ा, किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार ने पीड़ितों को सहायता पहुंचाने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। यह सच है कि उस समय तक यातायात की सुविधाएँ नहीं थीं। किन्तु सरकार ने उस दिशा में पग बढ़ाने को अपना कर्त्तव्य ही नहीं समझा। सन् १८६६-६७ में उड़ीसा को अकाल का सामना करना पड़ा। उस समय तक यातायात की दशा सुधर गई थी, किन्तु सरकार के पास दुर्भिक्ष-संबंधी कोई नीति ही नहीं थी। हाँ, इन अकालों का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि सरकार ने सिंचाई-योजनाओं की ओर ध्यान देना अपना कर्तव्य समझा। वस्तुतः अकाल की समस्या का हल सिंचाई के साधनों को उन्नत करने में था। इसके अतिरिक्त देश में अन्न का अभाव नहीं होता था। प्रश्न उसे पीड़ित स्थान तक पहुंचाने का था। उसके लिए सरकारी संगठन की आवश्यकता थी। इस संबंध में सजग हो जाने पर भी सन् १८९९-१९०० में अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष से बम्बई प्रेसीडेन्सी और अन्य पीड़ित स्थानों की रक्षा न की जा सकी। सन् १९१२ में अकाल का फिर प्रकोप हुआ किन्तु उस समय उसका सामना करने के लिए समुचित ध्यान दिया गया। किन्तु १९४४ में बंगाल का अकाल, समाजद्रोही व्यापारियों की लोलुपता

का परिणाम था। अब यातायात की समस्या नहीं रही और दुर्भिक्ष संबंधी नई नीति का आधार पीड़ित जनता को बेकारी दूर करने का है।

सिंचाई और नहरें—दुर्भिक्ष से बचने के लिए और कृषि की दशा सुधारने के लिए सिंचाई के साधनों को उन्नत करना आवश्यक था। बहुत सी उपजाऊ जमीन सिंचाई के साधनों के प्रभाव में बेकार पड़ी हुई थी। अस्तु, धीरे धीरे इस दिशा में पग बढ़ाया गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य-काल में इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। केवल कुछ पुरानी नहरों (पश्चिमी जमुना नहर, पूर्वी जमुना नहर और गंगा नहर) की जीर्ण दशा का सुधार किया गया और पंजाब में बारी दोआब नहर का निर्माण कराया गया। इन्हीं दिनों दक्षिण भारत में कुछ पुराने बाँधों की मरम्मत भी की गई। सन् १८६० के बाद भारत की अँगरेजी सरकार ने इस ओर अधिक ध्यान दिया। देश के विस्तार और उसकी आवश्यकता को देखते हुए ये प्रयत्न भी अत्यन्त अपर्याप्त थे, किन्तु विभिन्न कारणों से सरकार इस ओर अधिकाधिक यत्नशील होती गई। वर्तमान स्थिति यह है कि भारत के विभिन्न प्रान्तों में नहरों, तालाबों और बिजली के कुओं से कई करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। जहाँ सिंचाई के उपर्युक्त साधनों की सुविधा नहीं है, वहाँ सरकार ने किसानों को 'तकावी' ऋण देकर सादा कुएँ बनाने को प्रोत्साहित किया है। अविभाजित भारत में पंजाब के नहर-उपनिवेशों और सक्खर के नहर प्रदेश का सिंचाई की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था, किन्तु अब वे प्रदेश पाकिस्तान के अन्तर्गत हैं। अस्तु सारांश यह है कि विगत एक शताब्दी में सिंचाई के साधनों की भारत में उल्लेखनीय उन्नति हुई है। इसके अतिरिक्त केन्द्र और प्रान्त की वर्तमान सरकारें सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाने और बिजली पैदा करने की अनेक योजनाओं को कार्यान्वित कर रही हैं। आशा की जाती है कि उन योजनाओं के पूरा हो जाने पर उनके फल-स्वरूप देश का आर्थिक स्तर बहुत ऊँचा उठ जावेगा।

खानें, उद्योग और वाणिज्य—भारत-सरकार बहुत काल तक देश के व्यापार में हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाती रही जिसके कारण देश के अपार साधनों का कोई विकास न हो सका और न उद्योगीकरण की दिशा में ही

कोई विशेष प्रयत्न किया जा सका। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही यातायात की दशा सुधरने पर कोयले की खानों की खुदाई आरंभ हुई। बाद में वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई। सन् १८५५ में एक अँगरेज उद्योगपति ने हुगली के किनारे सबसे पहली जूट मिल स्थापित की। उससे पहले सारा कच्चा जूट विदेशों को चला जाता था। अब अँगरेज उद्योगपतियों ने भारत में ही माल तैयार करना आरंभ किया। लगभग इन्हीं दिनों ब्रोच में एक अमेरिकन ने कपड़े की मिल खोली। विदेशी उद्योगपतियों को भारत में माल तैयार करना सस्ता पड़ता था। एक बार मार्ग खुल जाने पर इन क्षेत्रों में भारतीय उद्योगपति भी प्रवेश कर सकते थे और उन्होंने प्रवेश भी किया, किन्तु सरकारी प्रोत्साहन और अनुभव के अभाव में विशेष प्रगति न की जा सकी। इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक भारत का औद्योगिक विकास जूट, कपड़ा और कागज की मिलों तक ही सीमित था। खनिज सम्पत्ति का निकास बढ़ गया था, किन्तु उसका लाभ ब्रिटेनवासी उठाते थे। इन खनिजों को शोधने की भारत में कोई व्यवस्था नहीं थी।

परन्तु बीसवीं शताब्दी में जब औद्योगिक विकास की माँग के साथ राजनीतिक हलचल आरंभ हो गई जब गरीबी ने चारों ओर अपना साम्राज्य जमा लिया और जब जीविका कमाने का कोई रास्ता न मिलने के कारण जनता में आर्थिक असंतोष की प्रचण्ड लहरें उठने लगी तो विवश होकर भारत-सरकार को अपनी अकर्मण्यता की नीति को छोड़ना पड़ा। फिर भी वह औद्योगिक शिक्षा इत्यादि बातों की ओर से उदासीन हो रही। सन १९१४-१८ में महायुद्ध छिड़ने पर सरकार को सैनिक आवश्यकता से विवश होकर औद्योगिक विकास के लिए सक्रिय नीति अपनानी पड़ी। सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया और उसकी सिफारिशों के आधार पर एक राजकीय विभाग खोला गया। साथ-साथ प्रत्येक प्रान्त में भी औद्योगिक विभाग की स्थापना की गई ताकि केन्द्र और प्रान्त मिल-जुलकर काम कर सकें।

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इस बात पर जोर दिया था कि न्याय के आधार पर भारतवासियों को अपनी आयात-निर्यात नीति को निर्धारित करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस संबंध में सरकार ने एक कमीशन की नियुक्ति की

और उसकी सिफारिशों के अनुसार देश के उद्योग-धंधों के संरक्षण के सम्बन्ध में विचार करने के लिए एक आयात बोर्ड की स्थापना की। इस बोर्ड की सिफारिशों के आधार पर स्टील और लोहा, सूती धंधा, कागज, दियासलाई और चीनी के उद्योगों को संरक्षण दिया गया।

भारत की औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति के लिए सरकार ने बहुत से समझौते किये और विदेशों में भारतीय ट्रेड कमिश्नर नियुक्त किये। औद्योगिक अन्वेषण और शिक्षा के लिए सुविधाएँ देने का प्रयत्न भी किया गया। प्रान्तीय सरकार भी औद्योगिक विकास के संबंध में अपनी योजनाएँ कार्यान्वित कर रही थी, किन्तु इन सबमें कोई सामंजस्य नहीं था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना उचित है कि परिस्थितियों से विवश होकर सरकार की ओर से जो कुछ किया जा रहा था वह भारत जैसे देश के लिए जो औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था, अत्यन्त अपर्याप्त था।

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वाधीनता प्राप्त होने पर लोक-प्रिय सरकारों ने इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए योजनाओं की ओर ध्यान दिया। इंडियन नेशनल कांग्रेस ने भी पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की। अभी इस दिशा में कोई प्रगति हो भी नहीं पाई थी कि दूसरा महायुद्ध आरंभ हो गया। वाइसराय ने लोकप्रिय मंत्रिमंडलों से परामर्श लिये बिना ही भारत की ओर से युद्ध घोषित कर दिया। फलतः आठ प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिया।

युद्ध की आवश्यकताओं ने भारत के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया। विभिन्न उद्योगों को सहायता दी गई। हथियार गोला, बारूद, बिजली के तार इत्यादि युद्ध के लिए आवश्यक पदार्थों को बनानेवाले बहुत से कारखाने खोले गये। उन्नत औद्योगिक शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान की गई।

भारत-सरकार ने द्वितीय युद्ध समाप्त होते ही अपनी आर्थिक नीति की प्रथम घोषणा की। ६ अप्रैल, १९४५ की इस घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया गया कि इंजन बनानेवाले, लोहा व फौलाद, कोयला और मुख्य रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करनेवाले तथा मशीन-पुर्जे, रेडियो और जहाज बनानेवाले

उद्योग-धंधों की व्यवस्था एवं नियंत्रण को सरकार अपने हाथों में रखेगी। अन्य उद्योग-धंधे व्यक्तिगत रूप से चलाये जा सकते हैं।

दो वर्ष बाद राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई और उसने बड़े और महत्त्वपूर्ण उद्योग के संबंध में अपनी नीति राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) के पक्ष में व्यक्त की। किन्तु परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीयकरण दस वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया।

सरकारी नीति के उपर्युक्त इतिहास की पृष्ठभूमि में भारत ने पिछली आधी शताब्दी में उद्योगीकरण की ओर भारी प्रगति की है। जूट, कपड़े और कागज के उद्योगों की चर्चा की जा चुकी है। सन् १९०७ में जमशेदजी टाटा के परिश्रम के फलस्वरूप देश का 'लोहा और इस्पात' उद्योग आरंभ हुआ। धीरे धीरे चीनी के उद्योग का विकास हुआ। ऊनी कपड़े की मिलों और रासायनिक उद्योगों की स्थापना हुई। किन्तु विभिन्न कारणों से भारत में विभिन्न प्रकार की मशीनें बनाने के उद्योगों का कोई विकास नहीं हुआ। फलतः भारत को सभी मिलों, कारखानों और उद्योगों की मशीनों के लिए अभी तक विदेशों का मुँह ताकना पड़ता है। राष्ट्रीय सरकार प्रोत्साहन दे रही है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही मोटर, इंजन, जहाज, हवाई जहाज, विभिन्न प्रकार की मशीनें, रासायनिक पदार्थ आदि की आवश्यकताएँ बहुत कुछ हद तक देश में पूरी होने लगेंगी। खनिज उत्पादन और शोधन का उद्योग भी उन्नति कर रहा है। भारत की औद्योगिक स्थिति में परिवर्तन के साथ ही भारतीय वाणिज्य का स्वरूप भी बदलता जा रहा है। पहले देश से कपास, जूट, चाय, कहवा, गेहूँ और तिलहन का निर्यात होता था। अब वाणिज्य में कच्चे माल के निर्यात का अनुपात घट गया है। दूसरी ओर भारत का आयात विभिन्न प्रकार की मशीनों और रासायनिक पदार्थों की ओर केन्द्रित होता जा रहा है।

औद्योगिक श्रम की समस्या—भारत के उद्योगीकरण के साथ साथ पूंजीवाद और श्रम की समस्याओं का भी आरंभ हुआ। मिल-मालिक उद्योगीकरण की दौड़ में जल्दी से जल्दी आगे बढ़ना चाहते थे और उन्होंने मजदूरों की दशा पर ध्यान देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा। आधुनिक उद्योगवाद के अभिशापों से मजदूरों को बचाने के लिए सरकार ने भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

मिल-मजदूरों को बारह घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ता था। दोपहर में केवल आधे घंटे की छुट्टी मिलती थी। स्त्रियों को भी लगभग उतने ही समय काम करना पड़ता था। छोटे बच्चे भी मजदूरी के लिए भर्ती किये जाते थे। इन मजदूरों का वेतन बहुत कम होता था। उनके रहने के मकानों की कोई ठीक व्यवस्था नहीं थी। मजदूर-बस्तियाँ गन्दी और अस्वास्थ्यकर होती थीं। चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं था। मजदूरों के बच्चों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। उनके लिए मनोरंजन के साधनों का अभाव था। उनके जीवन की नैतिक दशा बराबर बिगड़ती गई। दशाब्दियों तक यही क्रम चलता रहा। उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस दिशा में पूंजीपति आँखें बन्द किये रहे। सरकार भी हाथ पर हाथ रखे बैठी रही और मजदूरों ने भी कोई उल्लेखनीय हलचल नहीं की। पर मजदूर वर्ग बराबर जगता गया। कष्टों की सामूहिक अनुभूति बढ़ती गई। धीरे धीरे मजदूरों के संगठन बनने लगे। आरंभ में ये संगठन छोटे, स्थानीय और पिछड़े हुए थे।

प्रथम महायुद्ध के समय महँगाई के कारण मजदूरों का जीवन और भी दयनीय हो गया। पूंजीपतियों ने अपार धन संग्रह किया, किन्तु उन्होंने श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। फलतः मजदूरों में अशान्ति बढ़ी। हड़ताल के हथियार का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। संयुक्त प्रयत्न और संगठन की सामर्थ्य से सफलताएँ भी हुई और मजदूर संगठन दृढ़तर होते गये।

सन् १९२० में इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया। उस वर्ष अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गई। मजदूर आन्दोलन के फलस्वरूप मिल-मालिकों और मजदूरों के पारस्परिक संबंध की समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई कि सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन्स ऐक्ट पास किया गया और मजदूर संगठनों को वैध रूप में काम करने का अधिकार मिला। इस समय तक देश में कम्यूनिस्ट पार्टी गुप्त रूप से काम करने लगी थी। उसने ट्रेड यूनियन कांग्रेस में प्रवेश किया और कुछ ही समय में उस पर अधिकार कर लिया। समय समय पर अन्य प्रतियोगी संस्थाएँ भी खोली गई किन्तु ट्रेड यूनियन कांग्रेस का प्रभाव बराबर बना रहा। यह ट्रेड यूनियन कांग्रेस अब भी कम्यूनिस्ट पार्टी के ही प्रभाव में है। पिछले कुछ वर्षों से इंडियन नेशनल कांग्रेस ने मजदूरों के लिए एक नया

संगठन बना दिया है जो इंडियन नेशनल ट्रेड़ यूनियन कांग्रेस के नाम से काम कर रहा है। अस्तु, मजदूर-आन्दोलन और संगठन के कारण, सार्वजनिक जाग्रति की पृष्ठभूमि में सरकार ने मजदूरों की दशा सुधारने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कानून बनाये हैं और मिल-मालिकों ने भी उन्हें अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं। पहले की अपेक्षा मजदूरों का जीवन बहुत सुधर गया है, किन्तु आधुनिक उद्योग-व्यवस्था की बहुत सी समस्याएँ अब भी हल करने को पड़ी हुई हैं।

अध्याय ३८

समाज और संस्कृति

शिक्षा—लार्ड कर्जन के समय तक आधुनिक शिक्षा का किस प्रकार विकास हुआ इसकी चर्चा की जा चुकी है। शिक्षा-व्यवस्था में सुधार के प्रयत्नों का यह फल हुआ कि विश्वविद्यालयों का संविधान दोहराया गया। उनको अध्यापन-सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये। सरकार ने २५ लाख रुपए का अनावर्ती अनुदान दिया और उसकी सहायता से कालेजों की इमारतें बढ़ाई और सुधारी गईं और उनके पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं को उन्नत किया गया। स्थायी आर्थिक सहायता से कालेजों में अध्यापकों की संख्या बढ़ाई गई और अधिक कक्षाएँ खोली गई ताकि उनमें विद्यार्थियों की संख्या अधिक न हो और अध्यापक तथा विद्यार्थियों में घनिष्टतर सम्पर्क स्थापित हो। पाठ्य-क्रम में सुधार और संशोधन किया गया। विचाराधीन युग में माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षा में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

सन् १९१० तक शिक्षा-विभाग केन्द्रीय सरकार के गृह-विभाग के अन्तर्गत था, किन्तु उस वर्ष उसे एक नये पृथक् विभाग के अन्तर्गत कर दिया गया। सन् १९११ में शिक्षा की उन्नति के लिए ९० लाख रुपए का विशेष अनावर्त अनुदान दिया गया। उसी वर्ष दिल्ली दरबार में सम्राट् की घोषणा के फल-स्वरूप ५० लाख रुपये का स्थायी वार्षिक अनुदान स्वीकार किया गया। इन्हीं दिनों विभिन्न कारणों से सरकार ने डाक्टरी, इंजीनियरिंग, कृषि, पशु-चिकित्सा, टेकनिकल और व्यावसायिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। नई संस्थाएँ खोली गईं; पुरानी संस्थाओं का सुधार किया गया। किन्तु इस विस्तार से भारतीय जनमत सन्तुष्ट नहीं था। एक ओर विद्यार्थियों की संख्या द्रुतगति से बढ़ रही थी। दूसरी ओर अधिकांश शिक्षा निरुपयोगी सिद्ध हो रही थी। टेकनिकल शिक्षा अत्यन्त सीमित और मुख्यतः प्रारम्भिक थी। इस प्रकार विद्यार्थियों की संख्या

में अनवरत वृद्धि के कारण विश्वविद्यालयों की दशा फिर पूर्ववत् हो गई। शिक्षा का स्तर गिर गया; अध्यापकों और विद्यार्थियों का सम्पर्क कम हो गया; और कार्य-संचालन शिथिल हो गया। अस्तु, सरकार ने सन् १९१७ में सैडलर कमीशन की नियुक्ति की और उसे शिक्षा-व्यवस्था में सुधार के हेतु अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करने का दायित्व सौंपा।

सन् १९१९ में माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों ने शिक्षा को प्रांतीय विषय बना दिया। इस पृष्ठिभूमि में केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों से इस बात की सिफारिश की कि वे उक्त कमीशन के सुझावों को रूप दें। इस सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसके बाद विश्वविद्यालय-सम्बन्धी जितने ऐक्ट बने है, उनमें उस कमीशन की सिफारिशों को बहुत कुछ मान्यता दी गई है। सन् १९१७ में सारे भारत में कुल पाँच विश्वविद्यालय थे। सन् १९२२ तक उनकी संख्या बढ़कर चौदह हो गई। इसी प्रकार माध्यमिक शिक्षा और प्रारम्भिक शिक्षा में भी वृद्धि हुई। किन्तु शिक्षा-व्यवस्था की समस्याएँ और कठिनाइयाँ मूलत: यथावत् बनी रहीं। व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर अधिकाश शिक्षा निरर्थक सिद्ध हो रही थी। अर्थाभाव के कारण पर्याप्त सुधार करना सम्भव नहीं था। इस प्रकार वृद्धि तो होती रही, किन्तु वह वृद्धि बहुत हद तक गलत दिशा में हुई। सामाजिक मान्यताओं के कारण शिक्षित वर्ग, कृषि और हस्तशिल्प को हीन समझता रहा। उद्योगीकरण वाणिज्य और व्यवसाय की दिशा में एक ओर तो देश पिछड़ा हुआ था और दूसरी ओर उपयुक्त टेकनिकल शिक्षा का अभाव था। इन दोनों बातों के लिए सरकारी नीति उत्तरदायी थी।

विगत तीन दशाब्दियों में कुछ नये विश्वविद्यालय और स्थापित हो गये हैं। सन् १९४७ में राष्ट्रीय सरकार बन जाने के बाद डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षता मे एक विश्वविद्यालय कमीशन नियुक्त किया गया। अर्थाभाव के कारण उसकी सिफारिशों को भी व्यवहार में नहीं लाया जा सका। इसी अवधि में माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षा पहले से कई गुनी हो गई है। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने के लिए प्रयत्नशील है। उसके पाठ्य-क्रम में अनेक प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं। शिक्षा को अधिक उपयोगी

बनाया जा रहा है और उसके लिए पहले से गई गुना अधिक धन व्यय किया जा रहा है।

लोकतंत्रीय शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए जाग्रत नागरिकता की आवश्यकता होती है। इसी पृष्ठभूमि में प्रारम्भिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य किया जा रहा है। नई प्रारम्भिक शिक्षा, गांधीजी की वर्धा योजना पर अवलम्बित है जो 'बेसिक शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध है। नागरिकता को जाग्रत करने की ही दृष्टि से प्रौढ़-शिक्षा की ओर भी सरकार यथाशक्ति ध्यान दे रही है। टेकनिकल शिक्षा के क्षेत्र में भी सरकार यथाशीघ्र अन्य उन्नत देशों के बराबर पहुँचने को यत्नशील है। किन्तु देश की आवश्यकताओं को देखते हुए साधनों का अभाव है। इसी कारण शिक्षा-क्षेत्र की बहुत-सी समस्याएं हल करने को यथावत् पड़ी हुई हैं।

साहित्य का क्षेत्र

हिन्दी—हिन्दी-साहित्य का इतिहास बहुत पुराना है। संस्कृत के अपभ्रंश के रूप में उसका जन्म लगभग २ सहस्र वर्ष पूर्व हुआ। उसका साहित्यिक रूप आठवी शताब्दी में विकसित हुआ और अगली चार शताब्दियों में लगभग तीस लेखकों ने उसके भण्डार को भरा। 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता चंदबरदाई इन्ही लेखकों का सिरमौर और अन्तिम प्रतिनिधि था किन्तु आधुनिक हिन्दी का इतिहास अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आरम्भ हुआ। इस समय के प्रमुख लेखक थे सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ। मुस्लिम राज्यकाल में दरबारी भाषा उर्दू को बहुत ऊचा उठा दिया गया था और उसका प्रभाव चारों ओर फैल गया था, किन्तु सदासुखलाल ने शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया। इंशाअल्ला खाँ 'उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी' के लेखक के नाम से प्रसिद्ध हुए।

हिन्दी गद्य का वास्तविक विकास लल्लूजीलाल और सदल मिश्र के समय (सन् १८०३) से आरम्भ हुआ। लल्लूजीलाल के ग्रंथों में 'प्रेमसागर'. 'सिंहासन बत्तीसी', 'माधोनल' आदि उल्लेखनीय हैं। सदल मिश्र की लेखनी ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। किन्तु इन लोगों की रचनाओं में भी आधुनिक हिन्दी

गद्य का शैशव ही था। उसे सबल बनाने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८६९) को है। भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नामक साहित्यिक पत्रों की संस्थापना की और उनका सम्पादन किया। उन्होंने 'चन्द्रावली' 'विषस्य विषमौषधम्,' 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी' आदि कई मौलिक नाटक लिखे; 'विद्यासुन्दर'. 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों के अनुवाद किये; 'काश्मीर कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' के लेखक के नाते उन्होंने इतिहास के क्षेत्र में पदार्पण किया। इस प्रकार भारतेन्दु ने अपने लेखों और अपनी विभिन्न रचनाओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य को सम्पन्न किया और तरुण लेखकों को साहित्यिक प्रेरणा दी। उनके पदचिह्नों का अनुसरण करनेवालों में प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट और गदाधरसिंह का नाम उल्लेखनीय है। प्रतापनारायण मिश्र की प्रतिभा 'हठी हम्मीर' नाटक, 'संगीत शाकुंतल' और विभिन्न प्रकार के निबन्धों में प्रकट हुई। 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' का बँगला से हिन्दी अनुवाद करने का श्रेय पं० बालकृष्ण भट्ट को है। निबन्ध-लेखक और आलोचक के रूप में भी उन्होंने काफी काम किया। गदाधरसिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद किया। विचारधीन युग में ही राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला नाटक और मेघदूत काव्य का अनुवाद किया।

बाद के लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर-दास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काव्य के क्षेत्र में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जयशंकर 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हरिऔध का 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का उल्लेखनीय काव्य है। जयशंकर प्रसाद की काव्य-प्रतिभा 'आँसू'. 'लहर' और 'कामायनी' में अभिव्यक्त हुई। 'प्रसाद' जी के नाटकों में 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। सुमित्रानन्दन पंत की प्रसिद्धि 'पल्लव', 'गुंजन', 'युगान्त', 'युगवाणी' आदि में निहित है। महादेवी वर्मा की काव्य-प्रतिभा 'यामा' में साकार हुई है। हिन्दी [illegible] उपन्यासकारों में प्रेमचन्द्र का स्थान प्रमुख है।

हिन्दी का यह विकास अत्यन्त असन्तोषजनक परिस्थितियों में हुआ है।

सरकार की ओर से हिन्दी की उपेक्षा की गई और उसको हतोत्साहित किया गया। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में सरकारी काम उर्दू में किया जाता रहा है। सरकारी नौकरी के लिए उर्दू की जानकारी आवश्यक समझी जाती थी। किन्तु हिन्दी का कोई स्थान नहीं था। इस पृष्ठभूमि में हिन्दी का विकास सराहनीय है। अब हिन्दी राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा है। आशा की जाती है कि नये वातावरण में उसका साहित्य अधिकाधिक समृद्ध होगा।

बँगला--बँगला साहित्य का आरम्भ कई शताब्दियों पहले हुआ किन्तु उसके आधुनिक काल का श्रीगणेश सन् १८०० में हुआ जब कि उसी वर्ष कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। इस कालेज में बँगला के विधिवत् अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था की गई और उन्हीं दिनों छापेखानों के खुल जाने के कारण बँगला के साहित्य को प्रचार और प्रसार का अवसर मिला। आधुनिक बँगला साहित्य में पश्चिमी शिक्षा और सस्कारों का प्रभाव दिखाई देता है। काव्य के क्षेत्र में माइकेल मधुसूदन दत्त ने अँगरेजी कवि मिल्टन के आधार पर 'चतुर्दशपदी कविता' (Sonnet) और अमित्राक्षर छंद का उपयोग किया। यही छाप अन्य साहित्यिकों की रचनाओं में भी प्रतिबिम्बित होती है।

बँगला साहित्य बहुत उन्नत और सम्पन्न है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यों में उसका स्थान सबसे ऊँचा है। इस साहित्य-क्षेत्र में माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरीशचन्द्र घोष, बिहारीलाल चक्रवर्ती, तरुदत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सत्येन्द्रनाथ दत्त, रंगलाल बनर्जी, हेमचन्द्र बनर्जी, नवीनचन्द्र सेन आदि कवियों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। मधुसूदन दत्त की प्रतिभा की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति 'मेघनादवध' नामक महाकाव्य में हुई। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ की सर्वोत्तम रचनाओं का संकलन 'संचयिता' के नाम से परिचित है। यह संकलन स्वयं रवीन्द्रनाथ का किया हुआ है। गिरीन्द्र घोष की देन नाटकों के क्षेत्र में हुई है किन्तु उनकी भाषा में काव्य का लालित्य है।

गद्य के क्षेत्र में टेकचन्द्र ठाकुर, ईश्वरदत्त विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, भूदेवचन्द्र मुकर्जी, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रमेशचन्द्र दत्त आदि का नाम उल्लेखनीय है। राजा राममोहन राय इस गद्य-परंपरा के अग्रणी थे। गद्य-साहित्य में भी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्थान सर्वोपरि है। उपन्यासकार के रूप में शरत्चन्द्र चटर्जी ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम किया है।

मराठी—महाराष्ट्र में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ ही आधुनिक मराठी साहित्य का इतिहास आरम्भ हुआ। प्रसिद्ध अँगरेजी पुस्तकों का मराठी में अनुवाद करनेवालों में के० चिपलूणकर, हरीकेशव जी पठारे, सदाशिव काशीनाथ छत्रे आदि व्यक्ति अग्रणी थे। मौलिक पुस्तकों और लेखों के संबंध में राव बहादुर देशमुख, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, बाल गंगाधर तिलक, जी० जी० अगारकर, एस० एम० पराञ्जपे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद के लेखकों में प्रोफेसर फडके, श्री खाण्डेकर और काणेकर का प्रमुख स्थान है। हरी नारायण आप्टे, एन० एच० आप्टे, प्रोफेसर बी० एम० जोशी, प्रोफेसर फडके, डा० केतकर उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मराठी कवियों ने पद्य-साहित्य को भी काफी सम्पन्न बनाया है। मराठी पत्रकारिता भी उन्नत अवस्था में है।

तामिल—दक्षिण भारत की भाषाओं में सर्वप्रथम स्थान तामिल का है। तामिल का साहित्य तो बहुत पुराना है। किन्तु उसका आधुनिक युग ब्रिटिश सम्पर्क के बाद ही आरम्भ हुआ। तामिल साहित्यिकों में थण्डवरैया मुदालियर, अरूमूगा सारवन पेरूमल ऐयर, विसागा पेरूमल ऐयर ने अग्रणी का काम किया। उपन्यास के क्षेत्र में बी० जी० सूर्यनारायण शास्त्री, राजम ऐयर, माधवैया, सरवन पिलाई, वेदनायगम पिलाई, राजवेलु चेटियर आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। राजम ऐयर की सर्वोत्तम रचना है 'कमलान्बल'। सरवन पिलाई का ख्याति मोहिनांगी' पर अवलम्बित है। माधवैया की कृतियों में 'पद्मावती' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य प्रमुख भाषाओं की भाँति तामिल में भी वैज्ञानिक विषयों पर ग्रंथ-रचना की गई ह और इस क्षेत्र में तामिल साहित्यों ने पर्याप्त सफलता पाई है। तामिल साहित्य के साथ ही तामिल पत्रकारिता का भी विकास हुआ। ईसाई प्रचारकों के उद्योग से तामिल के सबसे पहले पत्र (तामिल पत्रिका) का प्रकाशन सन् १८३१ से आरम्भ हुआ। क्रमशः 'सुविशेष प्रबल विलकम', 'दीन वर्तमानी', 'देशोप...री', 'स्वदेशमित्रम्', 'नीललोचनी', 'सिद्धान्तदीपिका' आदि का जन्म हुआ। इन पत्रों में से कुछ दैनिक और कुछ मासिक हैं। सारांश यह है कि

साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में तामिल ने भारत की भाषाओं में अपने लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

उर्दू—आधुनिक उर्दू गद्य परंपरा के प्रवर्तन में गालिब और सर सैयद अहमद का नाम उल्लेखनीय है। गालिब दिल्ली के रहनेवाले थे और उच्च कोटि के उर्दू कवि थे। उनके समय तक साहित्य यहाँ तक कि पत्र-व्यवहार के क्षेत्र में भी उर्दू का उन्नत स्वरूप सामने नहीं आया था। गालिब ने उर्दू का उपयोग किया और उसके साहित्यिक स्तर को एकदम ऊँचा उठा लिया। उनके पत्रों का संकलन 'उर्दू-इ-मुअल्ला' के नाम से प्रकाशित हुआ है और इससे उर्दू के साहित्यिक सौन्दर्य का आरंभिक परिचय मिलता है। सर सैयद की भाषा सरल और प्रभावोत्पादक थी। तहजीब-उल-अखलाक नामक अपने पत्र में वे विभिन्न विषयों पर लेख लिखते थे। बहुत से लोगों ने उनकी शैली का अनुकरण किया। इसके अतिरिक्त उर्दू को उन्नत करने में मोहसिन-उल-मुल्क, गालिब के शिष्य मौलवी अल्ताफ हुसैन 'हाली' और मौलाना शिबली का ऊंचा स्थान है। गद्य और पद्य में हाली की प्रतिभा का परिचय 'हयात-जाविद', 'यादगारे गालिब' और 'दीवान' में मिलता है। शिबली की रचनाओं में 'सिरातुन्नवी' और 'शैर-उल-अजम' का विशेष स्थान है।

उर्दू का दूसरा केन्द्र था लखनऊ और वहाँ के प्रसिद्ध लेखक थे पं० रतन-नाथ शरशार और मौलवी अब्दुल हलीम। ये दोनों व्यक्ति उपन्यासकार थे। इनके अतिरिक्त मौलाना मुहम्मद हुसैन ने भी उर्दू गद्य के क्षेत्र में बहुत काम किया। उनकी रचनाओं में 'नईरंगे-ख्याल', 'कसम-हिन्द' और 'दरबारे-अकबरी' का काम उल्लेखनीय है। इन कृतियों में, पश्चिमी शिक्षा की छाप दिखाई पड़ती है। अन्य भाषाओं की भाँति उर्दू गद्य के भंडार में अनुवादित पुस्तकों का भी बहुत बड़ा भाग है। साथ ही उर्दू पत्रकारिता ने भी विशेष प्रगति की है। साहित्यिक पत्रों में 'दिल गुदाज', 'आरिफ', 'मखजन', 'जमाना', 'अदबी दुनिया' आदि का प्रमुख स्थान रहा है।

उर्दू-काव्य के क्षेत्र में गालिब के अतिरिक्त मौलवी अल्ताफ हुसैन 'हाली', अकबर (इलाहाबादी), डा० सर मुहम्मद इकबाल, 'हाफिज' (जालंधरी) और 'जोश' मलीहाबादी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। हाली की कविताएं

प्रकृति सौन्दर्य और सामाजिक समस्याओं से संबंधित हैं। 'अकबर' इलाहाबादी ने भी उन्नति, सभ्यता और संस्कृति की समस्याओं पर अपने विचारों को व्यक्त किया है। जिन दिनों भारतवासी अँगरेजी सभ्यता की धारा में बहे जा रहे थे, उस समय अकबर ने उन्हें अपनी परम्पराओं के प्रति निष्ठा बनाये रखने की सलाह दी। जीवन के दृष्टिकोण और सामाजिक समस्याओं के संबंध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम किया सर मुहम्मद इकबाल ने। उनकी विचारधारा के भी दो पक्ष सामने आये। आरम्भ में उनकी रचनाओं में उदार राष्ट्रीयता समाई हुई थी, किन्तु बाद में वह संकीर्णता से कलुषित हो गई। अस्तु, इस स्थान पर यह याद दिलाना उचित प्रतीत होता है कि 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' नामक गीत इकबाल का ही बनाया हुआ है।

अँगरेजी—भारतीय शिक्षा का माध्यम हो जाने पर अँगरेजी की स्थिति धीरे-धीरे बदलती गई। बहुत से भारतवासी अपना सारा काम उसी भाषा में करने लगे। ऐसी दशा में भारतवासियों की साहित्यिक प्रतिभा अँगरेजी के क्षेत्र में भी प्रतिबिम्बित हुई। 'मेघनादवध' के लेखक माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपना काव्य-जीवन अँगरेजी छंद लिखकर ही आरम्भ किया था। भाषा-लालित्य की दृष्टि से उनके ये अँगरेजी छंद बहुत उच्च कोटि के थे। तरुदत्त की रचनाएँ इतने उन्नत स्तर की थीं कि उनको भारतीय कीट्स कहा जाता है। इस भारतीय महिला ने केवल अँगरेजी में ही नहीं, वरन् फ्रांसीसी भाषा में भी उच्च कोटि की काव्य-रचना की। अस्तु, अँगरेजी के अन्य भारतीय साहित्यकारों में भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रमुख स्थान है। श्रीमती नायडू की सर्वप्रथम कृति 'गोल्डेन थ्रेशोल्ड' (Golden threshold) सन् १९०५ में प्रकाशित हुई। सात वर्ष बाद 'बर्ड ऑफ टाइम' (Bird of Time) प्रकाशित होने पर उन्होंने अँगरेजी के साहित्यकों का स्थायी आदर प्राप्त कर लिया। उनकी सुललित शब्दावली वस्तुतः सराहनीय है। अँगरेजी गद्य के क्षेत्र में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, श्री गोखले, मालवीय जी, गाँधी जी आदि की परिष्कृत भाषा उनकी विभिन्न रचनाओं में अभिव्यक्त होती है। अँगरेजी पत्रकारिता का उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

अन्य भाषाएँ—भारत की अन्य भाषाओं में तेलगू, कन्नड़, मलयालम और गुजराती की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। इन सभी भाषाओं का पर्याप्त विकास हुआ है और सभी ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ने का प्रयास किया है। इन सभी भाषाओं में गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास और पत्रकारिता के क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ा जा रहा है।

मुद्रण—यह एक आश्चर्य की बात है कि भारतवासियों ने संस्कृत साहित्य के सम्पन्न और पूर्ण रूप से विकसित हो जाने के बाद भी शताब्दियों तक न तो मुद्रण-कला का स्वयं ही आविष्कार किया और न अन्य देशों से ही उसे सीखने का प्रयत्न किया। वे लोग 'श्रुत' और हस्तलिखित साहित्य से ही सन्तुष्ट रहे।

भारत में मुद्रण-कला का सर्वप्रथम उपयोग पुर्तगाली ईसाई प्रचारकों ने किया। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में गोआ में सबसे पहली पुस्तकें छपीं। ये पुस्तकें ईसाई-धर्म से संबंधित थीं। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक कुछ अन्य स्थानों में भी छापेखाने खुल गये और भारतीय भाषाओं में पुस्तकें छपने लगीं।

ब्रिटिश भारत का सबसे पहला छापाखाना सन् १६७४ में बम्बई में खोला गया। इसके अक्षर रोमन लिपि के थे। इस छापेखाने का उद्देश्य हिन्दू धार्मिक साहित्य को छापना था। सन् १७७८ में सरकार ने प्रचलित भाषाओं की साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए हुगली में एक प्रेस स्थापित किया। इसका श्रेय सर चार्ल्स विल्किन्स नामक एक अगरेज अफसर को था। इस प्रेस ने सबसे पहले बँगला का एक व्याकरण मुद्रित किया। विशुद्ध रूप से सरकारी काम के लिए एक प्रेस पहले से ही काम कर रहा था। धीरे-धीरे व्यक्तिगत छापेखाने भी अस्तित्व में आये। सन् १७८० में 'बंगाल गजट' नामक सबसे पहला समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष बम्बई में रुस्तम जी केरस्पजी नामक एक पारसी ने अँगरेजी छापाखाना खोला। सन् १७८९ में 'बाम्बे हेराल्ड' नामक बम्बई के सर्वप्रथम अँगरेजी समाचार-पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। गैर-सरकारी आधार पर, भारतीय भाषाओं में मुद्रण करने-वाला सबसे पहला प्रेस, ईसाई प्रचारक डा० केरी ने सन् १७९८ में खोला।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में मुद्रण-कला ने आरम्भ होने के बाद भी पहले २५० वर्षों में कोई विशेष प्रगति नहीं की। सन् १८०१ में उन्नत बँगला गद्य पढ़ाने के लिए एक भी पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। इस बात से ही तत्कालीन परिस्थितियों का अनुमान किया जा सकता है।

अगले बीस वर्षों में अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ और सन् १८४० तक भारत के प्रमुख केन्द्रों में मुद्रण-उद्योग ने अपने आपको सुस्थापित कर लिया। इस क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगति होती गई और आज सारे देश में पुस्तकों, समाचार-पत्रों और विभिन्न प्रकार के प्रकाशनों का व्यापक उपयोग हो रहा है। समाचार-पत्रों के विकास का विवरण राष्ट्रीय जीवन के संदर्भ में दिया गया है।

हिन्दू-समाज––प्राचीन भारत में हिन्दू-समाज ने अपना संगठन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर किया था। भाई, भतीजे आदि, सब मिलकर संयुक्त रूप से रहते थे। कुटुम्ब का संचालन आयु, अनुभव और पद में बड़े सदस्य के हाथों से होता था। पारिवारिक आजीविका, पारस्परिक सहयोग पर अवलम्बित थी। सामाजिक संगठन में स्त्री जाति का मान और समुचित स्थान था। पर्दे की प्रथा अपरिचित थी। विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद परिपक्व अवस्था में नवयुवक-गण विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे। समाज-व्यवस्था, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको संतुलित करने में समर्थ थी। सामाजिक संगठन लचीला था।

कालान्तर में, धार्मिक नैतिक आधार के लुप्त हो जाने पर, राजनैतिक पराधीनता के वातावरण में हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था विकृत हो गई और उसमें विकास तथा प्रगति के द्वार बन्द हो गये। वर्ण-व्यवस्था की दयनीय दशा हो गई। विभिन्न जातियों में अनेक उपजातियाँ हो गईं। समाज के अविवेक ने उनके बीच की रेखाओं को मिटाने के स्थान पर उन्हें अलंघ्य खाइयों के रूप में परिणत कर दिया। अस्पृश्यता का कलंक मानवता का उपहास करने लगा। पुरोहितवाद, कर्मकाण्ड और विकृत परम्पराओं के भँवर में पड़कर हिन्दू-समाज बहु-विवाह, बाल-विवाह, बाल-विधवा, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, शिशु-हत्या और रूढ़वादिता के बोझ से डूबने लगा। आधुनिक युग के आरम्भ में हिन्दू-समाज की ऐसी ही दशा थी।

धार्मिक सुधार-आंदोलन और आधुनिक शिक्षा ने हिन्दू-समाज-व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। वस्तुतः हिन्दुओं का धार्मिक तथा सामाजिक संगठन परस्पर गुँथा हुआ था। इस प्रतिक्रिया में नये आर्थिक ढाँचे की प्रवृत्तियों ने भी योग दिया। इन बातों के फलस्वरूप सामाजिक जीवन क्रमशः सुधरने लगा।

आरम्भ में वर्ण-व्यवस्था के बंधनों के अनुसार विभिन्न जातियों तथा उपजातियों में परस्पर खान-पान, विवाह और सामाजिक समागम वर्जित था। विदेश-यात्रा निषिद्ध थी। विदेश जानेवालों को प्रायश्चित्त करना होता था अथवा उनके कुटुम्ब को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शिक्षित वर्ग ने क्रमशः इन नियमों की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया। आर्थिक परिस्थितियों के प्रहार से विवश होकर सभी लोग विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को स्वतंत्रतापूर्वक करने लगे। आधुनिक औषधियों के सेवन, नलों के पानी, यात्रा और प्रवास की आवश्यकताओं ने जातीय छुआछूत और खान-पान के बंधनों को शिथिल किया। धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे। वर्तमान स्थिति यह है कि वर्ण-व्यवस्था के बन्धन पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गये हैं किन्तु उनका अस्तित्व अब भी बना हुआ है। विभिन्न जातियों में पारस्परिक खान-पान में कोई विशेष झिझक नहीं है। किन्तु विवाह के क्षेत्र में जातीय बन्धन बहुत हद तक बने हुए हैं।

वर्ण-व्यवस्था का सबसे अधिक विकृत स्वरूप, अछूत वर्ग की समस्याओं में व्यक्त हुआ। अछूत कहे जानेवाले लोग हिन्दू-समाज के अंग होते ए भी हिन्दू-समाज में बहिष्कृत थे। वे हिन्दू मंदिरों में घुसकर हिन्दू देवताओं की उपासना करने से वंचित थे। कुछ स्थानों में विशेषकर दक्षिण में सवर्ण हिन्दू उन अछूतों की छाया-मात्र का स्पर्श हो जाने पर अपने आपको अपवित्र समझने लगते थे। उनका आत्म-सम्मान लुप्त हो गया था। निर्धनता और अशिक्षा ने उनका नैतिक स्तर भी गिरा दिया था। उच्छिष्ट भोजन पाकर भी वे अपने आपको धन्य समझने लगते थे।

इस अछूत वर्ग की दशा सुधारने का सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न ईसाई प्रचारकों और आर्य-समाज के सुधारकों ने किया। ईसाइयों की सहानुभूति से बहुत से हरिजन ईसाई हो गये। आर्य-समाज ने 'शुद्धि' द्वारा उनमें से बहुतों

को फिर हिन्दू परिधि में ले लिया। दूसरी ओर स्वयं हरिजन लोग भी अपने मानवीय अधिकारों के लिए आन्दोलन करने लगे। श्री गोखले और बाद में गांधीजी ने स्वयं उनका पक्ष लिया। उनकी दशा पहले से सुधर गई है। सार्वजनिक स्थानों के उपयोग का उन्हें समान अधिकार है। आपत्ति करने-वालों को सरकारी नियमानुसार दंड दिया जा सकता है। बहुत से मंदिरों के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये हैं। अन्य मंदिरों में भी हरिजन-प्रवेश पर प्रनिबन्ध क्रमशः दूर होता जा रहा है। रेल-यात्रा और आधुनिक यातायात के साधनों ने छुआछूत को मिटा दिया है। किन्तु उनकी आर्थिक दशा अब भी बहुत असंतोषप्रद है।

परिवर्तित परिस्थितियों में कुटुम्ब-व्यवस्था भी बदल गई है। परिवार के विभिन्न सदस्यों को निजी नौकरी, वाणिज्य अथवा उद्योग के कारण विभिन्न स्थानों में रहना पड़ता है। आय और श्रम में विभिन्नता के कारण प्रचलित उदारता और सहयोग का अन्त होता जा रहा है। व्यक्तिवाद की वृद्धि हो गई है। अस्तु, संयुक्त कुटुम्ब की व्यवस्था द्रुत गति से लुप्त होती जा रही है।

स्त्रियों का जीवन—यह संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक युग के आरम्भ में परम्पराओं ने स्त्रियों की दशा दयनीय बना दी थी।

बहुत-सी ऐसी जातियाँ थीं जिनमें दहेज और विवाह की प्रथा के कारण लड़कियों का जन्म ही एक अभिशाप माना जाता था। इन समुदायों में नवजात बच्चियों की हत्या कर दी जाती थी। सुधार, सार्वजनिक जाग्रति और [illegible]ारा कठोरता के कारण शिशु-हत्या की यह प्रथा अब समाप्त [illegible] गई है।

दूसरी ओर हिन्दू-समाज में लड़कियों को बड़े [illegible]ादर की दृष्टि से देखा जाता था। माता-पिता उन्हें धरोहर के रूप में प[illegible]लते थे। किन्तु सामाजिक परम्पराएँ ऐसी बन गई थीं कि उनको छोटी अ[illegible]वस्था में भी लड़कियों का विवाह कर देना पड़ता था। नासमझ बालक [illegible]ार बालिकाओं के इस गठबंधन का दुष्परिणाम बालिकाओं को ही भ[illegible]तना पड़ता था। अल्पायु में ही वे माँ बन जाती थीं। इस घटनाक्रम [illegible] उन्हें स्वास्थ्य का बलिदान देना होता था। उनकी सन्तान दुर्बल [illegible]ती थी, पति की अकाल मृत्यु के कारण बहुत-सी लड़कियाँ बाल-[illegible]विधवा हो जाती थीं। सती-प्रथा और लार्ड विलियम बैंटिक के सरकार द्वारा

उसके अन्त की चर्चा पहले की जा चुकी है। अस्तु, विधवा-विवाह वर्जित होने के कारण इन बालिकाओं को सारा जीवन वैधव्य में ही व्यतीत करना होता था। सम्पत्ति के उत्तराधिकार-संबंधी नियम भी उनके प्रतिकूल थे। वे आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर रहती थीं।

इन विधवाओं का जीवन साधारणतया बड़ा दुखपूर्ण होता था। आजीवन वैधव्य से बचने के लिए बहुत-सी स्त्रियाँ गलत दिशाओं में आगे बढ़ने लगती थीं जिसके फलस्वरूप सामाजिक गुत्थियाँ अधिकाधिक उलझती जाती थीं।

सुधारकों ने इस ओर भी ध्यान दिया। एक ओर तो बाल-विवाह का अन्त करने का प्रयत्न किया गया और दूसरी ओर विधवा-विवाह को सामाजिक दृष्टि से निष्कलंक बताकर प्रोत्साहन दिया गया। इन सुधारों की प्रवृत्तियों का सरकार ने लाभ उठाया और वैवाहिक आयु को बढ़ाया। किन्तु परम्पराओं और रूढ़ियों के चक्कर में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। जागृत शिक्षित वर्ग, नई आर्थिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में सही दिशा में आगे बढ़ने लगा किन्तु अधिकांश अपढ़ जनता में बाल-विवाह की प्रथा प्राय: बनी रही। दूसरी ओर उच्चतर वर्गों में विधवा-विवाह को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता, किन्तु इतर वर्गों में विधवा स्त्रियाँ साधारणतया पुनर्विवाह कर सकती हैं।

यह बताया जा चुका है कि आधुनिक युग में पर्दे की प्रथा हिन्दू-समाज में भी घुस आई थी। सामान्य जागृति, शिक्षा आदि के प्रभाव से धीरे-धीरे उसका अन्त हो रहा है। दक्षिण भारत में यह प्रथा अस्तित्व में ही नहीं आई थी।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त हिन्दू-समाज में एक दोष और था। सामाजिक परम्परा के अनुसार विभिन्न बहानों की आड़ में हिन्दू-पति, अपनी पत्नी के जीवित रहते हुए भी अन्य विवाह कर सकता था। इस विषय में भी सामाजिक दृष्टिकोण बदल गया है और यह प्रथा समाप्त हो गई है।

इस विवरण को पूर्ण करने के लिए यह उल्लेख करना आवश्यक है कि स्त्री-समाज की जाग्रति द्रुति गति से बढ़ रही है। यदि एक ओर निर्धन पुरुषों की भाँति उसी वर्ग की स्त्रियाँ अपनी आजीविका के लिए मिलों में मजदूरी और खेतों में काम कर रही हैं तो दूसरी ओर पढ़ी-लिखी महिलाएं विद्यालयों और अस्पतालों का संचालन कर रही हैं, प्रान्तीय तथा भारतीय सिविल सर्विस

में प्रवेश कर रही हैं, और देश तथा विदेशों में भारत के राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। साहित्य, शासक और स्वदेश के क्षेत्र उनके लिए समान रूप से खुले हुए हैं।

भारतीय मुसलमान—अधिकांश भारतीय मुसलमान, भारतीय हिन्दुओं की ही सन्तान हैं। एक, दो या अधिक पीढ़ियों पहले उनके मत-परिवर्तन से इस तथ्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता था कि वे मूलतः भारतीय ही हैं। किन्तु भारत के राजनीतिक रंगमंच पर शासक के रूप में आनेवाले मुसलमान विदेशी थे। उनके आचार-विचार में अरब, ईरान तथा मध्य एशिया की परम्पराएँ घुसी हुई थीं। उनकी समाज-व्यवस्था उन्हीं देशों के नमूने पर बनी हुई थी। सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम छुआछूत और जातीय भेदभाव से तो मुक्त था, किन्तु बहु-विवाह, बाल-विवाह और पर्दे की प्रथा उनमें पहले से ही प्रचलित थी। धीरे-धीरे सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में और बहुत-सी कुरीतियाँ भी प्रवेश कर गईं।

आधुनिक युग के सामान्य जाग्रति के साथ भारतीय मुसलमानों में भी प्रतिक्रिया हुई और वे भी अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन को सुधारने के लिए प्रयत्नशील हुए। इन सुधार आन्दोलनों में सर सैयद अहमद खाँ (सन् १८१७-१८९८) और मौलवी चिरागअली (सन् १८४४-१८९५) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सर सैयद ने इस्लाम और भारतीय मुसलमानों की अनेक प्रकार से सेवा की। वे केवल उर्दू गद्य के ही लेखक नहीं थे वरन् समाज-सुधारक, कुरान के टीकाकार और आधुनिक शिक्षा के प्रसारक भी थे। उनके समय का मुस्लिम वर्ग यूरोपीय समाज और संस्कृति से अपने आपको दूर रखता था। उन्होंने उस खाई को दूर करने और मुस्लिम-यूरोपियन सौहार्द स्थापित करने के लिए विशेष प्रयत्न किया। तत्कालीन इस्लाम में पीरी और मुरीदी परम्परा के दोष घुस आये थे। इसके अनुसार मुस्लिम समाज इस्लाम के धार्मिक नेताओं में अंधविश्वास करने लगा था। सर सैयद ने इस प्रवृत्ति का तीव्र विरोध किया। इन बातों के अतिरिक्त सर सैयद ने कुरान की विस्तृत व्याख्या की। इस व्याख्या में उन्होंने परम्परा और अंधविश्वास का स्थान तक और ऐतिहासिक अनुभव को दिया अन्त में सर सैयद को आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों का पिछड़ापन

बहुत खलता था। उनकी दृष्टि में स्वयं मुसलमानों की ही प्रगति के लिए पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान के साथ उनका सम्पर्क आवश्यक था। अस्तु, उन्होंने सन् १८७५ में अलीगढ़ में मुस्लिम कालेज स्थापित किया। यही कालेज आज मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में काम कर रहा है। सर सैयद के सहयोगियों में पानीपत के ख्वाजा अल्ताफ हुसेन हाली, बिजनौर के मौलवी नजीर अहमद और आजमगढ़ के मौलवी शिबली नुमानी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मौलवी चिरागअली विद्याप्रेमी, प्रभावशाली लेखक और उत्साही सुधारक थे। इस्लाम की विवाह-पद्धति (निकाह) में अनेक प्रकार के दोष घुस आये थे। चिरागअली ने उनको दूर करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहु-विवाह पद्धति का प्रबल विरोध किया और अपने लेखों द्वारा उन्होंने वैवाहिक नियमों का सच्चा अर्थ समझाने का प्रयत्न किया।

मुस्लिम वर्ग में बुर्के और पर्दे के विरोध में भी प्रतिक्रिया हुई। लखनऊ के शेख अब्दुल हलीम, उर्दू के प्रसिद्ध कवि मुहम्मद इकबाल और सैयद अकबर हुसैन आदि पर्दे के कट्टर विरोधी थे। इसी प्रकार शिक्षित मुस्लिम वर्ग ने बाल-विवाह और बहु-विवाह का भी विरोध किया। धीरे-धीरे ये प्रथायें समाप्त होती जा रही हैं, किन्तु रूढ़िवादिता के कारण प्रगति बहुत धीमी है।

मि० यूसुफअली का लेख है कि मुस्लिम समाज व्यवस्था में एक दोष और है जो बहुत हद तक अब भी यथावत् बना हुआ है। सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए मुसलमानों में कुटुम्ब के ही अन्तर्गत—चचेरे भाई बहनों में—विवाह कर दिया जाता है। यह व्यवस्था वैज्ञानिक दृष्टि से भी अहितकर है।

भारतीय इस्लाम में इन आधुनिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सुधार की दिशा में और भी प्रयत्न हुए थे। ये प्रयत्न पुनरुत्थानवाद के रूप में थे। इस संबंध में शाह अब्दुल अजीज, सैयद अहमद ब्रेलवी, शेख करामात अली और हाजी शरायतुल्ला के नाम उल्लेखनीय हैं। शाह अब्दुल अजीज ने इस्लाम की शुद्धि के लिए अपने आचार-व्यवहार को पूर्णतः कुरान पर अवलम्बित करने के लिए जोर दिया। उनका कार्यकाल पिछली शताब्दी के आरम्भ में था। उनके शिष्य सैयद अहमद ब्रेलवी ने गैर-मुस्लिमों से इस्लाम की रक्षा के लिए जिहाद

कार्य किया। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन आज भी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी कार्य कर रहा है।

हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए तीसरे सुधार-आन्दोलन की अभिव्यक्ति आर्यसमाज के रूप में हुई। उसके संस्थापक, स्वामी दयानन्द सरस्वती को अंध-विश्वास, अज्ञान, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, कुरीतियों आदि का वातावरण घातक प्रतीत हुआ और उन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। हिन्दू-धर्म को दोषमुक्त करने के लिए उन्होंने अपने आपको तन-मन से लगा दिया। अस्तु, उन्होंने सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना की। इस संस्था की सहायता से उन्होंने हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन को स्वस्थ करने के लिए निरन्तर संघर्ष किया। उत्तरी भारत में, विशेषकर पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी यू० पी० के क्षेत्रों में आर्यसमाज ने बड़ी सफलता प्राप्त की। आज भी इस संस्था का प्रभाव बना हुआ है।

सन् १८७५ में ही श्रीमती ब्लैवेट्स्की और कर्नल ऑलकॉट ने मद्रास में थियासॉफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इस संस्था ने भी हिन्दू मस्तिष्क से धार्मिक हीनता की भावना को दूर करने में बहुत बड़ा योग दिया। बाद में श्रीमती बीसेण्ट ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से गीता और उपनिषदों के सन्देश को चारों ओर प्रसारित किया।

इन्हीं दिनों महाराष्ट्र में न्यायमूर्ति रानाडे और उनके कुछ मित्रों ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य भी हिन्दू-धर्म का सुधार [illegible] अन्दर उस युग में, अपने क्षेत्र में प्रार्थना समाज ने भी सत्य ज्ञान का [illegible] अनेक बार मूलतः उल्लेखनीय कार्य किया।

[illegible] ही एक चढ़ाव-उतार का

—— [illegible] ास ने पुरानी व्यवस्था पर प्रबल

[illegible] के प्रति भारतवासियों की निष्ठा घटने

[illegible] वासी पश्चिमी सभ्यता से बहुत प्रभावित हुए।

[illegible] धर्म अपनाया और वे पश्चिमी जीवन का पूर्णरूप से

[illegible] ा। उन लोगों ने भारतीय धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था

[illegible] क बताया और वे एक नए आधार पर राष्ट्रीय जीवन की स्थापना

[illegible] नें की विचाधारा में बह गए। किन्तु सभी के साथ वह प्रतिक्रिया नहीं हुई।

अध्याय ३६

उपसंहार

भारतीय शासन-विधान—भारतीय विधान अब संयुक्त-सभा द्वारा स्वीकृत हो गया है। भारत अब एक स्वाधीन प्रजातन्त्र राज्य है। उसका उद्देश्य देश में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, स्वतन्त्रता, समानता, आर्थिक सम्पन्नता स्थापित करना है। साथ ही उसके निवासियों में भ्रातृ-भाव उत्पन्न करना, देश में ऐक्य स्थापित करना और वैयक्तिक स्वाभिमान की वृद्धि करना इत्यादि भी इसके अन्तिम लक्ष्य हैं। यह पहले ही घोषित किया जा चुका है कि इस प्रजातंत्र में धार्मिक प्रेरणा से कोई राज्य का कार्य नहीं किया जायगा। सब धर्मों के अनुयायियों को पूर्ण स्वतंत्रता दी जायगी। मुसलमान, ईसाई, पारसी, हिन्दू सबके अधिकार समान होंगे। किसी के साथ धर्म के आधार पर भेद-भाव नहीं किया जायगा। पाकिस्तान के कार्यक्रम का कभी-कभी भारतीय जनता पर प्रभाव पड़ता है परन्तु हमारी सरकार उसके उद्वेग तथा क्षोभ को रोक देती है और साम्प्रदायिकता की निन्दा करती है। यही कारण है कि देश में शान्ति है और जनता के भिन्न-भिन्न अंग सुखपूर्वक जीवन-यापन कर रहे हैं। पाकिस्तान की भीषण घटनाओं का हाल सुनकर भी हिन्दू-जनता ने सरकार के साथ स... और उसकी पूर्णरूपेण सहायता की है।

केशवचन्द्र सेन का...

परन्तु हमारे देश की राजनीतिक समस्या जटिल है।

आधुनिक युग में हिं...

...को यह आशा न थी कि हमें स्वतंत्रता इतनी

रामकृष्ण और उनके शिष्य स्वामि...

...न हमारे नेता ही इतनी जल्दी इस

और विचार दोनों से ही लोगों को परम स...

...र थे। शासन के अनेक कठिन प्रश्न

में उनका देहावसान होने पर उनके शिष्यों ने रा...

...बहुत-से उच्च पदाधिकारी

की स्थापना की और उसके द्वारा उनके उपदेशों के...

...चले गये। इसलिए

विवेकानन्द ने देश-विदेश में भ्रमण किया और सक्रिय वेदां...

...भव न था;

किया। विवेकानन्द के आकर्षक व्यक्तित्व और उनकी ओजस्वी वक्...

नई परिस्थितियों के अनुरूप, हिन्दूत्व की नई अभिव्यक्ति के लिए असाधार...

परन्तु ऐसा होना अनिवार्य था। देश में इस समय खाद्य पदार्थों की बड़ी कमी है। प्रजा को घोर कष्ट हो रहा है। चीजों का मूल्य ज्यों का त्यों बढ़ा हुआ है। शासन में घूसखोरी, बेईमानी और पक्षपात चतुर्दिक् दिखाई दे रहे हैं और हमारे नवीन राष्ट्र को गहरा आघात पहुंचा रहे हैं। सरकार बराबर इन त्रुटियों के निवारण का उपाय कर रही है। परन्तु इस कार्य में जनता का सहयोग हुए बिना सफलता प्राप्त होना कठिन है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए। हमारा देश एक बहुत बड़ा महाद्वीप है। इसकी समस्याएँ जटिल और पेचीदा हैं। इन्हें सुलझाने के लिए हमें उच्च कोटि की क्षमता, सहिष्णुता तथा विचारशीलता से कार्य करना होगा। राष्ट्र का कल्याण उसके विभिन्न अंगों के सहयोग पर निर्भर है। अधिकाधिक मात्रा में इसके प्राप्त होने पर गुत्थियाँ सुलझती जायेंगी और शासन परिष्कृत होता जायगा। हमें इसी दृष्टिकोण से इन प्रश्नों पर विचार करना है। देश के कर्णधार इस समय योग्य, त्यागी, स्वार्थरहित पुरुष हैं। उन पर हमें पूरा भरोसा है और आशा है कि वे अपने अदम्य उत्साह एवं अध्यवसाय द्वारा हमारा हित सम्पादन करने में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देंगे।

देशी राज्य—अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् देशी राज्यों का प्रश्न उठा। परिवर्तन के साथ अँगरेजों की महान् सत्ता का भी अन्त हो गया। लार्ड माउण्टबैटन ने घोषित कर दिया कि देशी राज्यों को अधिकार है चाहे वे स्वतंत्र हो जायें और चाहे भारतीय संघ के साथ सम्मिलित हो जायें। देशी नरेशों ने समय की प्रगति को देखकर एकीकरण (accession) स्वीकार किया। अनेक राज्यों ने नये कार्यक्रम का समर्थन किया। कई राज[illegible] प्रचार करने में राज्य बनाये गये और उनमें उत्तरदायित्वपूर्ण [illegible]
मध्यभारत, विन्ध्यप्रदेश, राजस्थानसंघ, सौरा[illegible]
नये ढंग का शासन-प्रबन्ध चालू कि[illegible]
काश्मीर में उपद्रव हुआ और [illegible]
करना पड़ा।

जूनागढ़ का [illegible]
अँगरेजी [illegible]
क[illegible]